निकाय

हीरक जयंती

मालवीय समर्पित अंक

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय



निकाय

१९७६-१९७७

(संयुक्तांक)

मालवीय समर्पित अंक

'निकाय' पत्रिका परिवार

□ वरिष्ठ संरक्षक

डॉ० मुकुन्द लाल, रीडर, प्रबन्ध शास्त्र

□ प्रधान सम्पादक

डॉ० त्रिभुवन सिंह, भू० पू० वरिष्ठ संरक्षक

□ संयोजक

अशोक कुमार पटेल, अध्यक्ष, नगर छात्र संघ पूर्वी

□ सम्पादक मण्डल

डॉ० कमलिनी मेहता, संरक्षक, पश्चिमी निकाय

डॉ० आर० बी० सिंह, (संरक्षक रामनगर, डा० एल० डब्लू०)

डॉ० आर० के० बनर्जी, (संरक्षक, पश्चिमी निकाय)

राजेन्द्र सिंह, अध्यक्ष, दक्षिणी नगर छात्र संघ

□ साज सज्जा

ए० पी० गज्जर (प्राध्यापक, ललित कला विभाग)

□ आवरण

मुख्य पृष्ठ : विधुभूषण सिंह, बी० एफ० ए० (फाइनल)

अंतिम पृष्ठ : शोभना, बी० ए०, बी० एफ० ए० (व्यवहारिक कला)

□ विशिष्ट सम्पादन

डॉ० श्रद्धानन्द

'निकाय' नगर छात्र निकाय, का० हि० वि० वि० के लिए सीमा प्रेस, ईश्वरगंगी, वाराणसी २२१००१, दूरभाष : ५२०६२ द्वारा मुद्रित ।

सम्पादकीय

निकाय का यह संयुक्तांक 'महामना समर्पित अंक' के रूप में आपके सामने है। विश्वविद्यालय परिवार को महामना का आशीर्वाद सदैव मिलता रहा है। इसी महामना के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को उजागर करनेवाले तथ्यों को अधिकाधिक रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। यह अंक महामना के चरणों में श्रद्धा सुमन स्वरूप समर्पित है।

कहना अप्रासंगिक न होगा कि निकाय परिवार सदैव विश्वविद्यालय के गौरव के अनुरूप कार्य करने वाली बौद्धिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों का सशक्त मंच है।

प्रस्तुत अंक में अन्य सभी विषयों पर लेखादि तो पूर्व की भाँति प्रकाशित हुये ही हैं, साथ ही इसमें निकाय की विशेष उपलब्धि 'कैकेयी' नाटक को सचित्र प्रकाशित किया जा रहा है। 'निकाय' द्वारा सहयोग प्राप्त 'साहित्य-समीक्षा सिद्धांत' गोष्ठी की रपट साहित्य प्रेमियों के लिए प्रस्तुत है।

कागज और प्रकाशन सामग्री के अप्रत्याशित अभाव के कारण 'निकाय' को प्यार करनेवाले पाठकों को जो प्रतीक्षा करनी पड़ी, उसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं। पूर्व की भाँति सदैव 'निकाय' को आप सबका सहयोग मिलता रहे यही मेरी कामना है।

—त्रिभुवन सिंह

कुलपति



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-५



मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि नगर छात्र निकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अपनी पत्रिका "निकाय" का अगला, अंक युग्म अंक के रूप में प्रकाशित करने जा रहा है।

मैं इसकी सफलता की शुभ कामना करता हूँ, और मेरी यह कामना है कि प्रतिवर्ष की भाँति यह प्रकाशन भी आकर्षक हो।

एम० एल० धर
कुलपति

संयोजक की बात

'निकाय' नगरवासी वासी छात्रों का खुला मंच है। नगर-वासी छात्रों की प्रतिभा के उन्नयन में निकाय का महत्वपूर्ण हाथ रहा है चाहे खेलकूद हो या लेखन हो सबकी प्रतिभा को मुखरित करने वाला मंच है। खेलकूदके क्षेत्र में सालाना प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है तथा विजयी खेलाड़ियों को प्रोत्साहित हेतु पुरस्कार वितरण किया जाता है। पठन-पाठन के क्षेत्र में निबंध कहानी, कविता और वाद-विवाद आदि प्रतियोगिताएँ अन्तर्निकाय स्तर पर आयोजित कर पुरस्कार वितरण किया जाता है। इसी लेखन को बढ़ाने हेतु 'निकाय' पत्रिका प्रकाशित की जाती है। प्रतिभा सम्पन्न नगरवासी छात्रों के ही चलते यह पत्रिका विश्व-विद्यालय में अपने को सर्वोपरि बनाये हुई है। विगत अंकों की लोकप्रियता ने हम सबके मनोबल को ऊपर उठाया है। यह अंक 'मालवीय समर्पित अंक' के रूप में; हीरक जयन्ती के उपलक्ष्य में महामना के कमल चरणों में सुमन स्वरूप हैं। आशा है विगत अंकों की भाँति पाठकगण इसे भी अपने हृदय से लगायेंगे।

मैं अपने वरिष्ठ संरक्षक डॉ० मुकुन्द लाल, संरक्षक—डॉ० डी० एन० सिंह, डॉ० टी० एन० राय के कार्य भार ग्रहण करने पर उनका स्वागत करता हूँ। पत्रिका में डॉ० आर० बी० सिंह, श्री ए० पी० गज्जर, चंचल कुमार ने विशेष रूप से सहयोग प्रदान किया। छात्र संघ के विजयी प्रत्याशी सर्वश्री चंचल कुमार, रामाश्रय प्रसाद सिंह, एवं महेन्द्र नाथ पाण्डेय को हार्दिक बधाई। अन्त में मैं उन सभी लोगों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग दिया है।

अशोक कुमार पटेल

अनुक्रमणिका

महामना

तीर्थ स्वरूप मालवीयजी—महात्मा गाँधी ३
मालवीय जी महाराज—शिवधनी सिंह ५
मालवीय जी के व्यक्तित्व एवं विचार—ज्ञानचन्द्र पाण्डेय ६
सनातन धर्म और पं० मदन मोहन मालवीय—अनुज प्रताप सिंह १४
महिला शिक्षा की प्रगति में महामना का योगदान—आशा शर्मा २०
महामना का प्राण : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय—शान्त शर्मा हिरमेठ २३
महामना की गढ़ी यात्रा—ललित नारायण साही 'ललित' २५
भारत का नव जागरण और मालवीय जी—हृदयपाल सिंह २७
मालवीय जी—मो० क० गाँधी ३८

कला और साहित्य

शोध के क्षेत्र में हिन्दी विभाग और उसके शोध छात्रों का अवदान—डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल ४१
हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और उनका हिन्दी को योगदान—डॉ० शिवकरण सिंह ६७
का०हि०वि०वि० का स्वातन्त्र्यपूर्व हिन्दी विभाग और राष्ट्रीय चेतना—डॉ० बब्बन त्रिपाठी ७५
कवि कर्म के दायित्व बोध के संदर्भ में निराला का परवर्ती काव्य—डॉ० महेन्द्रनाथ राय ८१
आलोचना और वैज्ञानिक पद्धति—डॉ० गोपाल नारायण मिश्र ८९
आधुनिक संवेदना के परिप्रेक्ष्य में रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन—डॉ० विजयपाल सिंह ९३
साठ वर्ष के हासिये पर हिन्दी कविता का सही आदमी—नकछेद ९६
मुक्त छंद के साठ वर्ष और निराला—बाबू राम त्रिपाठी विवेक १०४
श्रीमद्भगवद्गीता का दार्शनिकत्व—रामसूरत ११०
उर्दू शायरी में बरसात—सैयद मंजर हुसैन हुसैनी ११३
समानान्तर जिन्दगी : आदमी और आदमी—अरविन्द चतुर्वेदी ११७
पसीना गुलाब होगा—डॉ० भगवती प्रसाद राय ११९

नारी सौंदर्य—कु० उषा राय ... १२३
यात्रा— ना० वि० सप्रे ... १२७
आधुनिक संदर्भ में भारतीय साहित्य शास्त्र—डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ... १३०
संरचनात्मक समीक्षा—डॉ० हरवंश लाल शर्मा ... १३७
समकालीन हिन्दी आलोचना—१९५० के बाद—डॉ० भगवती प्रसाद सिंह ... १४३
समकालीन समीक्षा : १९५० ई० के बाद—डॉ० त्रिभुवन सिंह ... १४५
उद्बोधन के स्वर—हरिश्चन्द्र त्रिपाठी ... १५२
साकेत के कुछ प्रमुख स्थल और उदात्त—मीरा खन्ना ... १५५
त्याग और शौर्य के प्राचीन स्मारक : गोवर्द्धन व देउलिया—डॉ० सुरेश भ्रमर ... १६१
ऐतिहासिक उपन्यास—रवीन्द्रनाथ राय ... १६५
यदा-यदा हि धर्मस्य ना० वि० सप्रे ... १६९
काशी पुराणों के दर्पण में—प्रदीप नारायण सक्सेना ... १७५
संस्कृत भाषा की विलक्षणता—अर्चना भार्गव ... १७७
शाकाहार एक विवेचन—डॉ० रवीन्द्र कुमार बैनर्जी ... १८१
माइकेल एंजिलो—सुशील कुमार त्रिपाठी ... २१४

कृषि विज्ञान तथा समाज-विज्ञान एवं चिकित्सा

सूखाग्रस्त क्षेत्र : समस्याएं एवं समाधान—डॉ० महातिम सिंह ... १८७
नये शैक्षिक प्रतिमान की नयी परख नयी दिशा—डॉ० एस० पी० अहलुवालिया ... १९४
नवीन शिक्षा प्रणाली (१० + २ + ३)—अकबाल नारायण सिंह ... २०
योग एवं स्वास्थ्य—डॉ० के० एन० उडप्पा एवं डॉ० रामहर्ष सिंह ... २०
मध्य गंगाघाटी के पुरातत्व पर नया प्रकाश—डॉ० पुरुषोत्तम सिंह ... २०
छात्र अध्यापकों की चिन्ताएं : एक अध्ययन—श्रीमती मीरा वर्मा ... २१७
शारीरिक शिक्षा एवं खेलकूद : समाजशास्त्रीय अध्ययन—डॉ० आर० बी० सिंह ... २२२
कार्य-परक शिक्षा के माध्यम से ही देश का विकास संभव है—लालजी 'आलोक' ... २२६
राष्ट्रीय सेवा योजना और का० हि० वि० वि०— विजय शंकर सिंह ... २
हिन्दी पत्रकारिता का विकास : कुछ सुझाव—प्रो० अंजन कुमार बनर्जी ... २३
आधुनिक भारत में राष्ट्रीय चेतना की पृष्ठभूमि : १९वीं शती—डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी ... २३४
भारत समाजवाद की ओर—डॉ० मोहन लाल तिवारी ... २४४
भारत कला भवन की एक कांस्य नटराज प्रतिमा—कु० हंसा पटेल ... २४७
काशी की प्रसिद्ध मृत्तिका कला—राजेन्द्र सिंह ... २५३
पाल चित्रशैली और एशियायी चित्रकला पर इसका प्रभाव—माहेश्वरी लक्ष्मण दास ... २५६
चिकित्सालयों में वैज्ञानिक चिकित्सा : रोगियों की अपनी इच्छा—
डॉ० अखिलेश्वर लाल श्रीवास्तव ... २६२

कहानी

कहानी अधूरी है—चंचल २७५
अपने के लिए—सुरेश भ्रमर २७७
आत्महत्या—सुदिष्ट नारायण लाल २८०
अहसास—प्रभात कुमार २८४

परिचर्चा

नव निर्माण में पत्रकारों की भूमिका—दयानन्द २११
दहेज—अत्रि भारद्वाज २१५

कविताएँ

दो कविताएँ—रामेश्वर पाण्डेय ३७
काला दर्द—अईम अख्तर ६२
एक अनुभव—राकेश कुमार दीक्षित १०६
काफिला—पन्ना प्रसाद प्रज्ञा ११२
घुटन—लालजी आलोक १६०
चौराहे का आदमी—नगेन्द्र प्रताप सिंह १६८
दो गजल—कपिल देव जुल्का १८६
दूसरी सीता—विजय कुमार श्रीवास्तव २०३
आयेगा कब मेरा प्रियतम—प्रमोदचन्द श्रीवास्तव २६१
एक और कविता —विजयराय २८८

उपलब्धि

कैकयी—डॉ० कमलिनी मेहता १
साहित्य-समीक्षा-सिद्धान्त—(संगोष्ठी) २१

अन्य

तुलसी : संदर्भ और समीक्षा ५१
मोहभंग—रविकेश मिश्र ५३
मानस चतुश्शती समारोह (उप०) ५४

भूल : गलती से पृ० २६५ से पृ० २७२ तक को पृ० संख्या छूट गयी है। पाठकगण पृ० २६४ के बाद पृ० २७३ से पढ़ें। ऐसा न समझें कि बीच का पृष्ठ जिल्दसाजी में छूट गया है। —सं०

जयतु विश्वविद्यालय काशी

जयतु विश्वविद्यालय काशी।
मातु गंग पय जाहि पियावत, मूलधर्म सुखराशी।
पालत विश्वनाथ विद्यागुरु, शंकर अज अविनाशी॥
ज्ञान – विज्ञान – प्रकाशी।
जयतु विश्वविद्यालय काशी॥

गंगा-जमुन-संगम बिच देवी गुप्त रही चपला-सी।
ईश-कृपाते सोई सरस्वती, वाराणसी प्रकाशी॥
तिमिर – अज्ञान – विनाशी।
जयतु विश्वविद्यालय काशी॥

ऋषि-मुनि-संग नृप-मंडल सोहत, उत्सव परम हुलासी।
देत असीम फलहु अरु फूलहू सब विध भारतवासी॥
लहहु विद्याधन राशी।
जयतु विश्वविद्यालय काशी॥

ॐ महामना मदन मोहन मालवीय ॐ

तीर्थ स्वरूप मालवीय जी

महात्मा गांधी*

आप जानते हैं कि मालवीय जी महाराज के साथ मेरा कितना गाढ़ संबंध है। अगर उनका कोई काम मुझसे हो सकता है तो मुझे उसका अभिमान रहता है और अगर मैं उसे कर सकूँ तो अपने को कृतार्थ समझता हूँ। इसलिए जब सर राधाकृष्णन् का पत्र मुझे मिला तो मैंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। यहाँ आना मेरे लिए तो एक तीर्थ में आने के समान है।

यह विश्वविद्यालय मालवीय जी महाराज का सबसे बड़ा और प्राणप्रिय कार्य है। उन्होंने हिन्दुस्तान की बहुत-बहुत सेवायें की हैं, इससे आज कोई इनकार नहीं कर सकता। लेकिन मेरा अपना ख्याल यह है कि उसके महान् कार्यों में इस कार्य का महत्व सबसे ज्यादा रहेगा। २५ साल पहले, जब इस विश्वविद्यालय की नींव डाली गई थी, तब भी मालवीय जी महाराज के आग्रह और खिंचाव से मैं यहाँ आ पहुँचा था। उस समय तो मैं यह सोच भी न सकता था कि जहाँ बड़े-बड़े राजा, महाराजा और खुद वाइसराय आने वाले है, वहाँ मुझ जैसे फकीर की क्या जरूरत हो सकती है। तब तो मैं "महात्मा" भी नहीं बना था। अगर कोई मुझे "महात्मा" के नाम से पुकारते भी थे तो मैं यही सोच लेता था कि महात्मा मुंशीराम जी के बदले भूल से मुझे किसी ने पुकार लिया होगा। उनकी कीर्ति तो मैंने दक्षिण अफ्रीका में ही सुन ली थी। हिन्दुतान से धन्यवाद और सहानुभूति का सन्देश भेजनेवालों में एक वे भी थे; और मैं जानता था कि हिन्दुस्तान की जनता ने उन्हें उनकी देशसेवाओं के लिए महात्मा की उपाधि दी थी। उस समय भी मालवीय जी महाराज की कृपादृष्टि मुझ पर थी। कहीं भी कोई सेवक हो, वे उसे ढूँढ़ निकालते हैं और किसी न किसी तरह अपने पास खींच ही लाते हैं। यह उनका सदा का धन्धा है।

लोग मालवीय जी महाराज की बड़ी प्रशंसा करते हैं। आज भी आपने उनकी कुछ प्रशंसा सुनी है, वे सब तरह उसके लायक हैं। मैं जानता हूँ कि हिन्दू विश्वविद्यालय कितना बड़ा विस्तार है। संसार में मालवीय जी से बढ़कर कोई भिक्षुक नहीं। जो काम उनके सामने आ जाता है, उनके लिए—अपने लिए नहीं—उनकी भिक्षा की झोली का मुँह हमेशा खुला रहता है,—वे हमेशा माँगा ही करते हैं। और परमात्मा की भी उन पर बड़ी दया है कि जहाँ जाते

---

* काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह १९४२ में दिये गये दीक्षांत भाषण का अंश।

हैं, उन्हें पैसे मिल ही जाते हैं, तिस पर भी उनकी भूख कभी नहीं बुझती। उनका भिक्षा-पात्र सदा खाली रहता है। उन्होंने विश्वविद्यालय के लिए एक करोड़ इकट्ठा करने की प्रतिज्ञा की थी। एक करोड़ की जगह डेढ़ करोड़ दस लाख रुपया इकट्ठा हो गया, मगर उनका पेट नहीं भरा। अभी-अभी उन्होंने मुझसे कान में कहा है कि आज के हमारे सभापति महाराजा साहब दरभंगा ने उनको एक खासी बड़ी रकम दान में और दी है।

मैं जानता हूँ कि मालवीय जी महाराज स्वयं किस तरह रहते हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि उनके जीवन का कोई पहलू मुझसे छिपा नहीं। उनकी सादगी, उनकी पवित्रता और उनकी मुहब्बत से मैं भलीभाँति परिचित हूँ। उनके इन गुणों में से आप जितना कुछ ले सकें, जरूर लें। विद्यार्थियों के लिए तो उनके जीवन की बहुतेरी बातें सीखने लायक हैं। मगर मुझे डर है कि उन्होंने जितना सीखना चाहिए, सीखा नहीं है। यह आपका और हमारा दुर्भाग्य है। इसमें उनका कोई कसूर नहीं। धूप में रहकर भी कोई सूरज का तेज न पा सके तो उसमें सूरज बेचारे का क्या दोष? वह तो अपनी तरफ से सबको गर्मी पहुँचाता रहता है, पर अगर कोई उसे लेना ही न चाहे, और ठण्ड में रहकर ठिठुरता फिरे तो सूरज भी उसके लिए क्या करे? मालवीय जी महाराज के इतने निकट रहकर भी अगर आपने उनके जीवन से सादगी, त्याग, देशभक्ति, उदारता और विश्वव्यापी प्रेम आदि सद्गुणों का अपने जीवन में अनुकरण न कर सके तो कहिये, आपसे बढ़कर अभागा और कौन होगा?

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

सम्पूर्ण प्राणियों के लिये जो रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति में स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, परमात्मा के तत्व को जानने वाले मुनि के लिये वह रात्रि के समान है।

—श्रीमद्भगवतगीता

संस्मरण

मालवीय जी महाराज

शिवधनी सिंह

मैं मालवीय जी महाराज के निकटतम सम्पर्क में उनकी जीवन के अन्तिम १७ वर्षों तक निजी सहायक के रूप में था। मैंने सदा उन्हें ऊँचे तपस्वी के रूप में देखा। वे आगम के ज्ञाता थे, संकल्प सिद्ध थे, वे जो- जो इच्छा करते थे, वह अवश्य पूरा होना था। वे तन-मन-धन से प्राणी मात्र के हितचिन्तक थे।

आगम ज्ञाता

मेरे गाँव से आदमी समाचार लाया था कि मेरी माता जी मरणासन्न हैं, मैं दुखी था—आँखों में आँसू थे। मालवीय जी ने पूछा—क्या बात है, इतने उदास क्यों हो? मैंने दुःख के साथ रुदन करते हुए निवेदन किया कि माँ अन्तिम दशा में है—आदमी बुलाने आया है। उन्होंने कहा माता से कोई उऋण नहीं हो सकता, तुम जरूर घर जाकर माता जी का दर्शन करो किन्तु तुम्हें इतना अधीर और उदास होने की आवश्यकता नहीं है। मुझे विश्वास है कि तुम्हारी माँ बहुत शीघ्र स्वस्थ हो जायेगी। चिन्ता मत करो।

मैं घर पहुँचा तो घर वालों को यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि, जिसकी अवस्था का अब-तब हो रहा था–उनमें न केवल अवयव में संचार की गति आई है बल्कि अवरुद्ध वाणी भी फुसफुसाहट कर रही है–कुछ देर बाद अस्फुट बोल भी रही थी। मैंने बतलाया कि तुम्हारी अन्तिम अवस्था का समाचार सुनकर मुझे आना पड़ा है। माँ ने कहा बात ऐसी ही थी–किन्तु रात में किसी ने कुछ कर दिया है अब मैं अभी नहीं मरूँगी। ३-४ दिन में माँ को पथ्य दिया जाने लगा।

यह कम आश्चर्य की बात नहीं थी कि मालवीयजी महाराज काशी में विराजमान थे। मेरी माता बलिया जिले के एक गाँव में थीं–उनकी मरणासन्न अवस्था पर भी वे दृढ़ता से आश्वासन दे रहे हैं, वह बहुत शीघ्र स्वस्थ हो जायगी–वह स्वस्थ भी हो गयी थीं। ऐसी भविष्य वाणी सन्त महात्मा ही कर सकते हैं।

मित्र-मिलन की इच्छा २० मिनट में

बात सन् १९३८ की है। मालवीय जी कलकत्ता–बिरलापार्क में थे। एक दिन लगभग ९॥ बजे दिन को भोजनोपरान्त अचानक पूछ बैठे—कई वर्ष हो गये पं० रघुनाथ दत्त व्यास का समाचार नहीं मिला। मैंने उन्हें आश्वस्त किया कि आप विश्राम करें, मैं बनारस पत्र

देकर समाचार मँगाने का प्रयत्न करता हूँ, वे बोले इसमें तो हफ्तों लग जायेगें, मैंने कहा कि तार से समाचार लेता हूँ—उन्होंने कहा–इसमें भी तो २-३ दिन लग जायँगे—फिर मैंने कहा अच्छा आप आराम करें मैं अभी टेलीफोन करता हूँ, कहकर अपने कमरे में चला गया–सोचने लगा आज एकाएक व्यास जी कैसे इनके दिमाग पर नाच रहे हैं—एक दिन भी सहन नहीं हो रहा है ? व्यास जी अच्छे कथा वाचक—महाराज के मित्रों में से थे।

मैं अपने कमरे में चिट्ठी-पत्री उलट रहा था और यह भी सोच रहा था कि व्यास जी का पता लेने के लिये बनारस-टेलीफोन को बुक करा दे–तब फाटक का दरबान आकर मुझे सूचना दी कि नीचे आपको एक आदमी बुला रहे हैं। जाकर देखा वहाँ सशरीर व्यास जी उपस्थित हैं। मैंने उनसे, मालवीय जी की मिलने की उत्सुकता का कोई जिक्र न कर, कहा अभी महाराज विश्राम करने गये हैं। अतः आपको आधा घंटा प्रतीक्षा करनी होगी। व्यास हठी भी थे; अतः मैंने यह भी कह दिया कि आपको जाने नहीं दूँगा। उन्होंने कहा यह तुम्हारा भ्रम है कि वे आराम कर रहे हैं, अरे भले आदमी वे तो मेरी चिन्ता में घुल रहे हैं; उनकी हृत्तन्त्री मिलने पर ही पहुँच गया हूँ। सब जानते हुए भी मैं चुपचाप महाराज के पास पहुँचा दिया और यह नहीं समझ पाया कि व्यासजी भी उसी कोटि में थे क्या ? अस्तु महाराज ने उनसे मिलने की जितनी आतुरता दिखलायी वह २० मिनट में पूरी हुई थी।

छात्रों पर दया

१९३८ में ही मालवीय जी महाराज प्रयाग में कायाकल्प कुटी में थे–वहाँ उनसे कोई मिल नहीं सकता था–बाहर का किसी प्रकार का समाचार भी नहीं सुनाया जा सकता था। उस वर्ष मालवीय जी की उपस्थिति में यह नियम लागू हो गया था कि जिस छात्र की उपस्थिति ७५ प्रतिशत से कम हो वह परीक्षा में सम्मिलित नहीं हो सकेगा। इससे सैकड़ों छात्र वंचित हो रहे थे; उनमें कुछ लखनऊ के ऊँचे तपके के भी थे—अनेक विख्यात व्यक्तियों के विचार आ चुके थे। किन्तु प्रश्न यह था कि बाहरी समाचार मालवीय जी को कैसे दिया जाय ? वे बाहर होते तो वे अवश्य ही कोई रास्ता अपनाते। वे जब बाहर निकलेंगे और सैकड़ों छात्रों को परीक्षा से वंचित पावेंगे तो उनकी आत्मा कराह उठेगी–यह मैं जानता था।

मैं कुटी में मालवीय जी को समय-समय पर गीता, भागवत, महाभारत आदि उनकी रुचि के अनुसार सुनाया करता था–गजेन्द्र मोक्ष का प्रकरण सुना रहा था, वे बड़े भाव से सुन रहे थे—

तं वीक्ष्य पीड़ितमजः सहसावतीर्य,
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद्विपाटित मुखादरिणा गजेन्द्रं,
सम्पश्यतां हरिरमूमुचदुच्छ्रियाणाम॥

कथा समाप्त होने पर मैंने उनसे निवेदन किया कि इस वर्ष उपस्थिति पूरी न होने के कारण विश्वविद्यालय के सैकड़ों छात्र फँस गये हैं, परीक्षा से वंचित हो रहे हैं, एक वर्ष का उनका समय और धन की हानि हो रही है, ऐसा संवाद हमारे पास आया है और एक आयुर्वेद का छात्र भी सैकड़ों रुपये की फीस बकाया के कारण परीक्षा से वंचित हो रहा है।

महाराज ने तुरन्त आदेश लिखवा दिया था—केवल इस वर्ष उपस्थिति का प्रतिवन्ध ढीला कर दिया जाय और आयुर्वेदिक छात्र की परीक्षा फीस के साथ समस्त वकाया फीस से मुक्त कर दिया गया।

मालवीय जी महाराज वाहर रहने पर तो सबकी दशा सुनकर तदनुरूप करते थे—कुटी में छात्रों की हानि सुनकर भी अपने वनाये नियम को ढीला कर दिये थे।

सत्य निष्ठा

सन् १९२९ में केन्द्रीय एसेंवली का अधिवेशन दिल्ली में हो रहा था। मालवीय जी महाराज उसमें सम्मिलित होने के लिये प्रयाग से दिल्ली तक द्वितीय श्रेणी का टिकट लिया गया—टिकट रिटर्न था। प्रयाग में मकर संक्रान्ति के लिये पुनः शीघ्र ही वापस आना था। ९ दिन वाद दिल्ली से चलते समय मैंने पंडित जी का टिकट, जो मेरे पास ही था देखा तो उसमें आठ दिन के अन्दर वापस आने को लिखा था।

गाड़ी में वैठने पर मैंने महाराज का ध्यान टिकट की तरफ आकर्षित किया। सेठ घनश्यामदास बिरला और वावा राघवदास भी उसी ट्रेन से आ रहे थे—सबने टिकट देखा और गिनती की ९ दिन हो गये थे—पंडित जी ने स्वयं कई बार गिनकर कहा इस टिकट में कुछ गलती अवश्य है, तुम इलाहावाद स्टेशन मास्टर को दिखलाना।

मैं अपने डिब्बे में इंटर क्लास में जा वैठा—रात को लगभग १२ बजे मथुरा स्टेशन पर वावा राघवदास को भेजकर पंडित जी ने कहलवाया कि दूसरा टिकट खरीद लो। मैंने मथुरा से इलाहावाद का रिटर्न टिकट खरीदा। इलाहावाद पहुँचकर स्टेशन मास्टर को ८ दिन वाला टिकट दिखलाया तो उन्होंने १८ दिन का लिख दिया। पंडित जी प्रयाग से पुनः मथुरा वाले टिकट से दिल्ली गये। शीघ्र ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कोपोत्सव में सम्मिलित होना था, इसलिये पुराने टिकट से (१८ दिन वाले से) दिल्ली से बनारस रवाना हुए।

स्टेशन पर महाराज ने आज्ञा दी कि दिल्ली से मथुरा तक का एक सेकेंड क्लास का टिकट खरीद लो—मैंने टिकट खरीद लिया और जानने की उत्सुकता में था कि जो लोग पंडित जी को पहुँचाने आये हैं, उनमें से कौन सज्जन मथुरा चल रहे हैं। मैंने लोगों से पूछ-ताछ की—किसी ने मथुरा जाने की वात नहीं की। पंडित जी मेरी जिज्ञासा को समझ रहे थे। जब ट्रेन रवाना हुई तो उन्होंने पूछा मथुरावाला टिकट कहाँ है, मैंने दिखला दिया—उन्होंने कहा उसे अटैची में रख दो। पिछली बार जब प्रयाग गया था तो मथुरा से इलाहावाद के टिकट पर यात्रा की थी—दिल्ली से मथुरा तक तो विना टिकट के यात्रा हुई थी—रेलवे का गद्दा, पंखा, पानी आदि प्रयोग में लाया, उसका नुकसान हुआ कि नहीं? इसीलिये यह टिकट मँगाया है।

क्या इस भावना के कोई भी मनुष्य आज दिखलायी पड़ सकते हैं? असंभव है।

सब से मिलिये धाय

आजकल यह परिपाटी है कि विशिष्ट व्यक्तियों से मिलने के लिये पहले प्रार्थना पत्र देकर समय लेना पड़ता है। मालवीय जी के यहाँ इसका कोई मूल्य नहीं था।

सन् १९३५ में एक जर्मन विद्वान भारतीय विश्वविद्यालयों की गतिविधि समझने आये थे—सब जगह होकर वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आये थे। तीन दिन रह कर उन्होंने विश्वविद्यालय देखा किन्तु मालवीय जी महाराज के दर्शन बिना अपनी यात्रा अधूरी समझते

थे–मालवीय जी उन दिनों प्रयाग में थे; वहाँ कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठक थी। विद्वान के विशेष आग्रह पर मैं उन्हें प्रयाग ले गया—घर पर मालूम हुआ कि पंडित जी मीटिंग में हैं—जर्मन महाशय को बतला दिया कि चलिये पंडित जी से पूछकर मिलने का का समय आप को बता देता हूँ क्योंकि वे मीटिंग में व्यस्त हैं। मीटिंग स्वराज्य भवन—नेहरू जी के मकान पर हो रही थी–जर्मन महाशय को बरामदे में बैठा कर मैंने पंडित जी के कान में बता दिया कि जर्मन विद्वान को कोई समय मिलने के लिये बता दें। यह सुनते ही पंडित जी गाँधी जी से यह कहकर बाहर निकल आये कि अभी ५ मिनट में आता हूँ—आकर वे जर्मन विद्वान से बातों में लीन हो गये, भीतर से सन्देशा आते रहे, अभी आता हूँ कहकर वे टाल देते थे, पूरे घंटे भर तक बातें करते रहे। अन्त में स्वयं पं० जवाहरलाल जी ने पंडित जी से कहा आप यहाँ बातें कर रहें हैं और मीटिंग में आपकी प्रतीक्षा की जा रही है। पंडित जी की बातें समाप्त हो चुकी थी।

जर्मन विद्वान इतना प्रभावित हुआ कि उसके मुख से यह निकला–मैंने ऐसा सुन्दर और मधुर मनुष्य नहीं देखा—बिना समय निर्धारित किये, आवश्यक मीटिंग का काम छोड़कर उन्होंने एक घंटा मुझसे बातें कीं–सचमुच भारत धन्य है, जिसे ऐसे महामानव का संरक्षण प्राप्त है।

दुःखियों पर दया

सन् १९३२ की बात है। उन दिनों पंडित जी प्रातःकाल पैदल भ्रमण करने निकलते थे। एक दिन बंगले से जैसे ही निकले, एक बुढ़िया गोबर बटोर कर सिर उठाये उसी ओर जाती हुई मिली—जिधर पंडित जी को जाना था। उहोंने रास्ते में उससे ग्रामीण बोली में बातचीत शुरू की—

''तोहरा घर कहाँ है? सुन्दर पुर! घर में का काम होथै? दुइ ठें लरिका हवें भइया! उनहिन कछु मजूरी-मेहनत कर लेथै। हम इही गोबर- ओबर बीनि के गोहरी बनाइके बेचि लेइ थे। पहिले हमार घर त इहि मां रहल ह बकी मालवी जी ई कुल लेइ लीहलेन। खेत-ओत नाही हौ? ''नाहीं भैया, खेती-बारी हमरे कछु नाहीं न।'' पंडित जी महाराज ने मुझे संकेत किया। उसे पाँच रुपया दिया गया।

कोई ऐसा दिन नहीं होता, जिस दिन कम से कम १० रुपया दान में मालवीय जी न दिलाते हों? प्रायः पाँच सौ रुपया प्रतिमास मालवीय जी महाराज द्वारा सहायता में व्यय होता था। मालवीय जी महाराज का कहना था कि वे गरीब माता- पिता की सन्तान थे। गरीबी दशा का अनुभव था—इससे गरीबों की दशा पर वे दुःखी रहते थे, जो कुछ बन पड़ता था—सहायता करते रहते थे।

वे छात्रों को उपदेश देते थे—

“सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।
देश भक्तयात्मत्यागेन सम्मानार्हो सदा भव ॥”

छात्राओं को—

जो पै पुत्री हौय तो सीता सती समान।
अथवा सावित्री सदृश रूपशील गुन खान॥

मालवीय जी के व्यक्तित्व एवं विचार

ज्ञानचन्द्र पाण्डेय
एम० ए० (हिन्दी) प्रथम वर्ष

संसार में प्रचलित सभी धर्मों में सबसे प्राचीन सनातन धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करने वाले मालवीय जी ने 'वेदोऽखिलो धर्म मूलम्' के उद्घोष को सदैव अपने में आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है।

ये वेद वचन 'एकमेवाद्वितीयम' को तुलसीदास के 'व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंदराशी।' वाले ब्रह्म के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं मानते। परस्पर संस्कृतियों की टकराहट से नये मानवतावाद की कल्पना तथा उसे स्वस्थ्य मार्ग दिखाने का कार्य आपने युगीन परिप्रेक्ष्य में एक नये ढंग से रखा। आधुनिक वैज्ञानिक युग की भौतिकता की ओर मुड़े मन की नास्तिकता एवं चार्वाकवाद की अठखेलियों के कारण धर्म के सत्य स्वरूप के अनुसन्धान में बहुत बड़ी बाधा मानते हुए कहते हैं कि 'यावेत् जीवेत सुखं जीवेत' का उद्देश्य बुरा नहीं; यदि उस सुख की वास्तविकता का सही ज्ञान हो जाय। उन्होंने धर्माचरण एवं सांसारिक जीवन दोनों को अलग पदार्थ न मानकर दोनों में सामंजस्य स्थापित करने और धर्म को नई दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। जिस धर्म का अन्त मोक्ष में विश्वास रखने वाला नहीं, अपितु सारे प्राणियों को सुखी एवं स्वस्थ्य लोक के निर्माण में विश्वास रखता है। ऐसे रुढ़िगत पारम्परिक धर्मों के पोषक दंभी धर्माचार्यों से जीवन की दारुण नैतिकता को पतनोन्मुखी होते देखा, वास्तविक धर्म के ह्रास, जो सही अर्थों में मानवधर्म है। उसकी आड़ में धर्म के खोखले आवरण के पीछे छिपे उन धर्मावरदारों के हृदय में जो विजातीय प्राणियों के लिये एक विशिष्ट स्थान रखते हैं उन्हे आदर का पात्र मानते हैं, परन्तु अपने समाज के एक अनिवार्य अंग, गत आश, कंगाल, निरीह, दरिद्र एवं निस्पृह सेवक के लिए, जो केवल हमारी दया का भिखारी एवं अनुकम्पा का याचक है जो केवल हमारी स्नेहपूर्ण आत्मीयता का भीख चाहता है— उसके लिए ऐसे धर्म के ठीकेदारों का उपेक्षा भाव देख नये धार्मिक मूल्यों की स्थापना में सतत् प्रयत्न आपका रहा। आपके अनुसार सभी का नियन्ता परमेश्वर एक है, सभी को गढ़ने वाला रचनाकार एक है फिर उनमें असमानता ऊँच-नीच की भावना का विधान उसके द्वारा निर्मित नहीं हो सकता। यह व्यक्तिगत स्वार्थों का प्रौढ़ रूप है जो सही अर्थों में धर्म नहीं हो सकता। आपके विचारानुसार वेद भगवान की वाणी को नवीन स्फूर्ति के साथ हृदयंगम करने से एवं सभी को अपने कर्मों में संलग्न होने से ही देश तथा धर्म का वास्तविक कल्याण होना सम्भव होगा। कर्म श्रृंखला के भीतर ही हमें 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' में आस्था उत्पन्न होनी चाहिये। अर्थात् आपके विचारानुसार ईश्वर स्थूल आंखों से देखने की वस्तु नहीं

है पर प्रत्येक जीव उस ईश्वर रूपी परम सौन्दर्य का साक्षात्कार मन एवं बुद्धि की विमलता के सहारे कर सकता है। इसलिए ईश्वर को मन की आंखों से देखने के लिए उचित है कि अपने शरीर और मन को पवित्र करके, वुद्धि को विमल कर ईश्वर को खोजे। ऐसी अद्भुत् शक्ति की खोज में हमारा ध्यान मनुष्य के रचे-हुए घर की ओर जाता है; फिर हम देखते हैं कि हमारे सामने यह घर बना हुआ है। इसके भीतर प्रवेश करने के लिए द्वार हैं, अनेक स्थानों पर वायु और प्रकाश के लिए झरोखे और खिड़कियाँ हैं। भीतर वड़े-वड़े खम्भे और दालान हैं, घर से वाहर पानी निकालने के लिए नालियाँ वनी हैं। ऐसे विचार से घर बनाया गया है कि यह रहने वाले को सब ऋतु में आराम प्रदान करे। ऐसे घर के रचनाकार को हमने नहीं देखा पर निश्चय होता है कि ऐसे घर को रचनेवाला कोई था या हैं और वही ज्ञानवान विचारवान पुरुष है। यह है मानव की महानता जिसे महामना चरम उत्कर्ष पर देखने का प्रयास करते रहे।

फिर आइये धर्मों की एकरूपता की एक झांकी लीजिए जो सर्वसमन्वयवाद का रूप है। समस्त धर्मों का नियन्ता एक मात्र परमात्मा है जो एक है; जिसे पुकारने के लिए एक अनिर्वचनीय शक्ति को हम ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म, नारायण, भगवान, वासुदेव, शिव, राम कृष्ण, विष्णु, जिहोवा, गॉड, खुदा, अल्लाह आदि सहस्त्रों नामों को प्रयोग में लाते हैं। परमात्मा एक ही है कोई उसका दूसरा नहीं। जीवन के आदर्शोन्मुख प्रवाह में सत्यनिष्ठा एवं सत्याचरण के सुन्दर विकास के लिए पवित्रता से ओत-प्रोत वायुमण्डल के प्रत्येक कण से निकले उपदेश पर अमल करने का सन्देश देती है। उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निवोधत ! उठो जागो और अपने उद्देश्य पर पहुँचे विना चैन न लो। प्रकृति के इस सुन्दर स्वच्छन्द मधुलोक में जीवन की सारी वासनाएँ स्वयं नष्ट हो जायँगी। सारा हृदय लोक, अन्तस् का कोना-कोना ऐसे परम सौन्दर्यमय भगवान के शुभाशीर्वादों से आलोकित हो जाएगा और बुद्ध तथा शंकर, तुलसी और कवीर के संगम की पुण्यस्थली काशी सदैव हमारे भीतर नवीन चेतना ओर नवीन प्राण की उद्भावना पैदा करेगी।

परन्तु हमारे कितने युवा भाई एवं वहनें इस कल्याणमय वायुमण्डल से लाभ उठाते हैं ? किसी मित्र के कमरे में अचानक पैर रखते ही कहीं सोप बक्स, कहीं स्नो, आइने, शृङ्गार के अन्य उपकरणों से सभी आलमारियाँ नजर आती है। गन्दे उपन्यास, सिनेमा स्टार्स के गन्दे चित्र से कमरों की शोभा बढ़ाई जाती है। यह हमारे अन्दर फैले हुए महानाश का कीटाणु है। नष्ट हुआ तेज, सूखे गाल, ज्योति विलिन आँखें, मुखमण्डल का धूमिलपन, स्पष्ट दीखता है, फिर भी हम दीवाने फैशन के पीछे परेशान और तबाह है। सादा जीवन उच्च विचार के आदर्श का अन्त दिखाई पड़ता है। यदि पुनः अतीत के गौरव को स्थापित करना है और अपने देश में धर्म की ध्वजा फहरानी है तो सर्वप्रथम विद्यार्थी समाज को चेतना है तथा **"Be Morally Invincible"** के सूत्र का जप एवं मनन करना होगा।

जिन पुरुषों को भगवान् ने अपनी भक्ति दी है, जिनके हृदय को उन्होंने अपनी महिमा के ज्ञान से प्रकाश और आनन्द से परिपूर्ण कर दिया है; उनका यह धर्म है कि इस प्रकाश और आनन्द को सारे जगत के प्राणियों में फैला दें। भगवत पूजन करने का कारण, सुहाना नहीं,

किसी प्रयोजन सिद्धि के लिये नहीं अपितु इसलिये कि वे पृथ्वी पर सब प्राणियों को सुख पहुँचाने वाले हैं और उनके यज्ञ को, उनकी शूर वीरता को और उनकी जय को समझकर हमें उनकी पूजा करनी है जो श्रेयस्कर है।

जैसे शरीर रक्षा के लिये भोजन आवश्यक है उसी प्रकार मनुष्य को आध्यात्मिक भोजन की भी आवश्यकता है। इसलिए जिस प्रकार स्कूलों–विद्यालयों में अन्यान्य विषयों की शिक्षा मिलती है उसी प्रकार आध्यात्मिक शिक्षा मिलनी भी अत्यावश्यक है। क्योंकि अँधेरे में प्रकाश होने से जिस प्रकार मनुष्य ठोकर खाने से बच जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त मनुष्य धर्म के दीपक के सहारे संसार में कष्टों से बचकर सुखमय जीवन बिताता है। इस धर्म दीपक के दो प्रकार हैं—प्रथम बड़ों के वचनों का उपदेश, द्वितीय बड़ों के आचरण का उपदेश। इसमें भी वचनों के उपदेश से अधिक श्रेष्ठ आचरण का उपदेश है। सदैव निडर रहना, धृति और उत्साह पूर्वक कर्त्तव्य कार्य को करना सामर्थ्य, अन्याय और अत्याचार से धर्मपूर्वक विरोध करना, न्याय और सत्य का, दया और धर्म का सर्वथा सर्वभावेन समर्थन करना हमारा परम धर्म है।

शास्त्र के अनेक वचनों से यह प्रमाणित होता है कि नीचातिनीच शूद्र भी बुरे कामों के त्यागने से और भले कर्मों के पालन से ब्राह्मण के समान योग्य हो सकता है तथा सम्मान का अधिकारी हो जाता है; ऐसा शूद्र यदि विद्वान हो तो द्विजन्मा उससे आत्मज्ञान तक सीख सकता है। मनु के ये वचन—

श्रद्दधानः शुभां विद्या माददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्री रत्नं दुष्कुलादपि॥ मनु २-२३८

यह है कर्म की महानता एवं जीवन को उन्नति के शिखर पर ले जाने का सुगम मार्ग। जो ब्राह्मण नीचे गिराने वाले बुरे कर्मों में लगा हो, दाम्भिक हो, दुष्कर्मा हो, वह प्रायः शूद्र के समान होता है। और जो शूद्र, मन और इन्द्रियों के रोकने में तथा सत्य और धर्म में सदा लगा रहता है, उसको ब्राह्मण मानना श्रेयस्कर है। कोई व्यक्ति चरित्र की महानता से ही ब्राह्मण होता है। सदाचार से, धर्म के पालन से चाण्डाल भी अपने जीवन में विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण से आदर पाने के योग्य हो सकता है।

अछूत सनातन धर्म समाज के अंग हैं; इनकी उन्नति करना, इनके दुःख दारिद्रय को दूर करने का यत्न करना, इनको सामान्य और धार्मिक शिक्षा देना, समाज के दूसरे अंगों के समान इनकी रक्षा करना और इनको आगे बढ़ाना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है। इससे धर्म की रक्षा और वृद्धि होगी और धर्म को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचेगी। हिन्दू जाति का इसी में भला है। ऐसे ही मार्ग के अवलम्बन से सनातन धर्म की महिमा पूर्णरीति से स्थापित होगी। इस प्रकार धर्म बुद्धि से धर्म के प्रश्नों का निर्णय करने से और उनके अनुसार चलने से समाज में धार्मिक एकता और शक्ति की स्थापना एवं उसकी जड़ स्थायी होगी।

यह शरीर ही परमात्मा का मंदिर है। इसमें ईश्वर का निवास है। अपने भीतर उसको अनुभव करने से यह मन्दिर अपवित्रता से बचा रहेगा। जीवन को पवित्र सुखी नियम युक्त बनाने के लिये गीता का यह श्लोक विचारणीय है—

युक्ताहार विहारस्य, मुक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावधोस्य योगो भवति दुःखहा॥

वाणी और भोजन में संयमित व्यक्ति सभी कर्मों में शीलवान बनता है, शील ही से मनुष्य; मनुष्य बनता है। शीलं परम भूषणम्। शील ही मनुष्य का सबसे उत्तम आभूषण है। ऐसे ही शीलवान मनुष्य में मनुष्यता के दर्शन होते हैं; अन्यथा मनुष्यता से रहित मनुष्य उसी प्रकार से नाकाम है जैसे चन्दन की लकड़ी का गन्ध उड़ जाय और वह जलाऊ लकड़ी के समान काठ हो जाय। एक पर्शियन शेर की पंक्तियों से यह और स्पष्ट हो जायेगा—

चूँ वे सन्दल वू नदारद ईज़मस्त।
आदमीरा आदमियत लाज़िमस्त॥

प्रकृति के साथ जीवन का तादात्म्य स्थापित कर लो, पवित्र वातावरण से हृदय को पवित्र बना लो। आत्मा को शुद्ध कर लो। संसार में जहाँ जाओगे, यश प्राप्त करोगे।

पंडित जी का अगाध प्रेम और यह स्पष्ट कहना मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को प्यार करता हूँ कितना स्वाभाविक और सच्चा है। वह इन वाक्यांशों से स्पष्ट है—मैंने संसार के विभिन्न भागों में अनेकों सुन्दर, पवित्र और आश्चर्यजनक स्थल देखे। मैंने अनेकों मूर्तियाँ और मन्दिर, मस्जिद और गिरजे, पगोडा और पिरामिड देखे हैं। मेरे नेत्रों ने मदुरा चिदम्बरम्, काँचीपुरम्, रामेश्वरम् और तंजौर के प्राचीन मन्दिरों को ध्यान से देखा है। मैंने पल्लव, चोल और कलिंग आदि कई प्रकार की कलाओं का निरीक्षण किया है। मैं चट्टानों से कटे हुए मन्दिरों में और अनेकों सुन्दर पगोडाओं में घूमा हूँ। मैंने पूर्व की उस अद्‌भुत भूमि को देखा है जहाँ पर्वत शिखर और नदियों के तट पर बौद्ध धर्म के संस्थापक के स्मारक में श्वेत पत्थरों के असंख्य भवन बाल रवि के नव अरुण प्रकाश में चमकते हैं। इन वर्मी पगोडाओं में से प्रत्येक में कला है, सौन्दर्य है। मैंने बौद्ध मूर्तियों की कला और शिल्प को आदर से देखा है। भारत वर्ष में ही उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक घूम आया हूँ। मेरे नेत्र हिन्दू और सारसेनी कला से भलीभांति परिचित हैं। मैंने आगरा, दिल्ली और लाहौर के विशाल भवनों को देखा है। शरद की चाँदनी में शुभ्र स्फटिक ताज के सौन्दर्य का भी अनुभव है। गुजरात और दूसरे स्थानों में भी मैंने जैनों के मन्दिर देखे है। मन्दिरों और पगोडाओं के अतिरिक्त मैंने बहुत से वर्त्तमान शैली के भवन और महल देखे हैं। परन्तु हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति मेरा प्रेम अन्ध प्रेम नहीं है यह कुछ तो अत्यन्त धार्मिक है और इसी लिये मैं अपने हृदय के भावों को शब्दों में प्रकट नहीं कर सकता क्योंकि वे मेरे हृदय की भावना को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर सकते।

यूरोप में मैंने जो देखा और जिस पर आश्चर्य किया वह मेरे हृदय की तंत्री को न छू सके, केवल भवन मुझे आकर्षित न कर सके मेरी आत्मा किसी और गम्भीर वस्तु को ढूँढ़ रही थी। वह गम्भीर वस्तु वास्तव में आदर्श और सुन्दर थी। यहाँ प्राचीन काशी में पुनीत गंगा के तट पर मुझे आन्तरिक तृप्ति मिली। गम्भीर आनन्द और देवी उल्लास प्राप्त हुआ। यहाँ पर अपनी जाति के इतिहास और परम्परागत विश्वास की अभिव्यक्ति वह इच्छित वस्तु मिल गई। यह कला, यह शिल्प और यह स्वरूप इतना भावमय और इतना पवित्र था कि

इसने मेरी आत्मा को प्रसन्न कर दिया। यहाँ मैं आनन्द में स्नान करता हूँ। इस हिन्दू उत्साह के पीछे मुझे एक दृश्य दिखाई पड़ता है। मैं एक कार्यक्रम, एक दैवी उद्देश्य देखता हूँ। शुभ सूर्यालोकित गुम्बजों से सुशोभित ये सुन्दर भवन ऐसे प्रतीत होते हैं मानों चुनार की शिलाओं में सुन्दर छोटी-छोटी कविताएँ लिखी गयी हों। कहाँ है सम्पूर्ण एशिया और योरोप में विद्यार्थियों के योग्य ऐसा सुन्दर स्थान? कहाँ है ऐसा उदार धनुषाकार नीलाकाश? कहाँ है वह दिव्य स्थल जहाँ मनुष्य पवित्र गंगा की मधुर कोमल कल-कल निरन्तर सुनता रहे? क्या संसार में कोई ऐसा संस्कृति का केन्द्र हैं जिसके साथ इतना प्राचीन इतिहास लगा हो। जिसके साथ अक्षय स्मृतियाँ—बुद्ध, शंकर रामानुज, तुलसीदास और कबीर आदि की लगी हुई हों? हिन्दू विश्वविद्यालय की गौरवमय भूमि में भक्तिमय विचारों की एक धारा है, एक अखण्ड राग है। समय के परिवर्तन की ओर देखों, सभ्यता की उषा की ओर देखो और संसार के प्रातः काल की ओर देखो। वहाँ प्राचीन ऋषियों के स्वर सुनाई पड़ते मालूम होंगे। पृथ्वी भले ही उपजाऊ स्थलों, हरियाली भूमि, धनी प्रदेशों का गर्व करे किन्तु जैसे रमणीय स्थल यहाँ का है ऐसा अमूल्य, ऐसा पवित्र और ऐसा दिव्य प्रदेश कहीं ढूँढे नहीं मिलेगा। यहाँ सुपुष्पित फलवती और पक्षीकूजित कुंजों के बीच से भव्य भवन निकलते चले आ रहे हैं। उन कंजों से प्रसन्नता, आशा और अमरत्व की हँसी फूट रही है। अनन्त काल के लिए यही संसार को संस्कृति का केन्द्र है। यह मेरी मातृभूमि की पिटारी है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संसार में एक विशेष उद्देश्य और निश्चित कार्यक्रम लेकर उत्पन्न हुआ है। अपने मन्दिर के ज्ञानमय स्तम्भों से अंधकार में पड़े हुए संसार को प्रकाश देने और मनुष्यमात्र को परम ज्योतिर्मय परमेश्वर की झाँकी दिखाने के लिए यह पैदा हुआ है।

पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य जी ने अपने शिष्य महामना को इस काशी विश्वविद्यालय के लिए अत्यधिक उत्साहित किया था। भारतीय राष्ट्रीयता के कवि और महापुरुष स्वामी रामतीर्थ मालवीय जी के विचारों से सहमत थे और लोकमान्य ने अपनी स्वाभाविक रीति से कहा था—"तुम उसके प्रथम स्फटिक बनों और मैं भी पीछे तुम्हारे इस पुण्य कार्य में भाग लूँगा।"

बोये गये बीज को पर्याप्त सुनहरी धूप मिली तथा वृक्ष पल्लवित होकर फल रूप में सन् १९११ ईसवी में सामने आया जिसके फल का रसास्वादन विद्यालय की पहली प्रकाशित नियमावली थी। जिसके आस्वादन का आनन्द उसके उद्देश्यों एवं आदर्शों में निहित थी। वास्तव में यह मातृभूमि की महान सेवा थी और बातों के अतिरिक्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का लक्ष्य ऐसे मनुष्यों की सृष्टि करना है जो देश का मस्तक ऊँचा रक्खें और अपने साथियों को उत्साहित करें। इस दिशा में दीप्तिमान सूर्य के समान तेजस्वी महात्मा के नित्य आलोकित प्रकाश से भारत भूमंडल सदैव प्रकाशित होता रहेगा तथा गंगा की धारा के साथ ही उस महापुरुष के महान सत्कार्यों की धारा प्रवाहित होती रहेगी। जिसका यह समाज सदैव चिर ऋणी रहेगा। पुनः एकबार उस मनस्वी कर्मठ योगी के विचारों के सत्पथ पर मात्र संयत उसके इन वचनों—'सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया। देश भक्त्याऽत्मत्यागेन संयानर्हि।' का व्रत लेकर कर्म की उपासना में जीवन को उत्सर्ग करके एक नवीन मानवीयता का सृजन करें।

●

सनातन धर्म और पं० मदनमोहन मालवीय

अनुज प्रताप सिंह
शोधछात्र, हिन्दी

पृथ्वी मण्डल पर जो वस्तु मुझको सबसे अधिक प्यारी है, वह धर्म है और वह धर्म सनातनधर्म है। —मालवीय जी

यह भारत भूमि सदैव से धर्मरक्षिता रही है और रहेगी। इसके-कण-कण में अपनी संस्कृति के प्रति अनुराग झलकता है। यहाँ की मिट्टी धार्मिकता की सदैव से सहगामिनी रही है। यहाँ की संस्कृति में धर्म से हीन मनुष्य को पशु से भी निम्न माना गया है। आगम और निगम दोनों में धर्म की प्रमुखता है।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।
लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति॥
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं।
प्रतिष्ठितम् तत्माद्धर्मं परमं वदन्ति॥[1]

अर्थ—सारा जगत धर्म के मूल पर स्थित है, इसीलिये लोक में लोग उसी के पास जाते हैं जो धर्मिष्ठ है। धर्म से पाप को दूर करते हैं। धर्म में सब प्रतिष्ठित है। इसलिये धर्म को सबसे बड़ा कहते हैं।

विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते॥[2]

अर्थ—विद्या, रूप, धन, वीरता, कुलीनता, आरोग्य, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष—ये सब धर्म से प्राप्त होते हैं।

सनातन धर्म सब धर्मों से प्राचीन धर्म है। यह वेद, पुराण और स्मृति से सदा पोषित रहा है। यह जगत के उत्पादक, पालक और संहारक इन तीनों की गतिविधियों से परिचित करा फिर तीनों के ऊपर जो एक अज, अविनाशी, सत, चित और आनन्द की राशि है उसका अध्ययन कराता है। उसी की कृपा से सब प्रकार के जीव-जन्तु उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। कीट से लेकर कुञ्जर तक का निर्माण एवं संहारकर्त्ता वही है। सनातन धर्म परम प्रकाशमय और महान धर्म है।

---

१. उपनिषद्।

२. सनातन धर्म, साप्ताहिक, वर्ष २, अंक १, १७ जुलाई १९३४ ई०।

एष धर्मो महायोगो दानं भूत दया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम् ॥[1]

अर्थ—यह धर्म बड़े-बड़े गुणों का समूह है। दान, जीवमात्र पर दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, दयालुता, धीरज और क्षमा इन गुणों का योग सनातन धर्म का सनातन मूल है। इन गुणों के कारण ही सनातन धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है।

'वेदोऽखिलो धर्म मूलम्'[2]

अतः वेद सब धर्मों के मूल हैं। यह कथन पूर्णरूपेण सत्य है क्योंकि आदि ग्रन्थ वेद ही है। वहीं से सभी विद्याओं और धर्मों का उद्भव हुआ है।

पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्रांग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥[3]

अर्थ—वेदांग, स्मृति, पुराण सहित चारो वेद सब विद्याओं और सब धर्मों के स्थान हैं।

वेद की प्राचीनता को पश्चिमी विद्वान भी स्वीकार कर चुके हैं—जिन पर नये लोगों का अधिक विश्वास जम गया है। अतः ऋग्वेद को विश्व का आदिग्रंथ और उसमें प्रतिपादित सनातन धर्म को आदि धर्म मानना तर्क सम्मत ही है। सनातन धर्म की मान्यता है कि सर्व-नियन्ता एक ईश्वर है। वही ब्रह्माण्ड का सृजन, पालक और संहारकर्त्ता है। त्रिकाल में उसकी सत्ता बनी रहती है। अतः वह था, वह है और वह रहेगा। सृष्टि के पूर्व था, अब भी है और भविष्य में भी वही रहेगा। वह जन्म-मरण से परे है। सृजन और विकास करते हुए भी इन दोनों से वह परे है। वह ज्ञानस्वरूप शम्भू है जो कि अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट कर परम प्रकाश का प्रसार करता है। वही अपनी प्रजा से सम्पूर्ण सृष्टि की सर्जना करता है। महाभारत में प्रारम्भ से अन्त तक इस बात की घोषणा है कि—

तस्यैकत्वं महत्वञ्च स चैकः पुरुषः स्मृतः।
महापुरुष शब्दं स विभर्त्येकः सनातनः ॥

अतः उस आदि पुरुष को सनातन पुरुष कहा गया है। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' से विराट पुरुष से सृष्टि का होना प्रमाणित है। 'भागवत' में भी उसी पुराण या सनातन पुरुष के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा गया हैं।

एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः।
सत्यः स्वयं ज्योतिरनन्त माद्यः ॥

---

१. महाभारत, अश्वमेघ पर्व, अ० ९१, श्लोक ३२।
२. भगवान् मनु।
३. याज्ञवल्क्य ऋषि।

नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः ।
पूर्णोऽद्वयोयुक्त उपाधितोऽमृतः ॥

× × ×

एक एव तदारुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन ॥[1]

वह अजात शत्रु है । उसकी समता का कोई अन्य नहीं है । इस प्रकार हमने एकेश्वरवाद की एक लम्बी परम्परा को देखा । वहाँ जाति और गुण की गणना नहीं होती । जो कुछ भी है उसका वह केन्द्र है । वहीं से सारी शक्तियाँ निकलती हैं और तब तक भ्रमण करती रहती हैं जब-तक कि उसको प्राप्त नहीं कर लेतीं । उसी को निर्गुणियों ने शून्य एवं मुख-माथा से हीन माना तो सगुणियों ने अलंकारविभूषिता देखा । सूर ने मुरली बजाकर गोपियों के साथ नाचते और उनको रिझाते देखा अथवा शङ्ख को फूँककर महाभारत का सञ्चालन करते देखा तो गोस्वामी तुलसी ने उसे व्यापक ब्रह्म, अविनाशी, सत्, चेतन, आनन्द की राशि जिसका आदि-अन्त कोई नहीं पाया । निगम आदि अपनी मति के अनुमान से गाकर रह गये । वह बिना पैर से चलता है और कान के बिना ही सब कुछ सुन लेता है । वह हाथ से हीन होने पर भी सब कार्य करने में समर्थ है । मुख नहीं है पर सम्पूर्ण रसों का भोगी है । बिना वाणी का ही वक्ता एवं कुशल जोगी है । तन और नयन से हीन होने पर भी स्पर्श एवं दर्शन में समर्थ है । नासिका न रहने पर भी वह सम्पूर्ण गन्धों को बारीकी से सूँघता है । इस प्रकार से जिसकी अलौकिक करनी है उसकी महिमा का वर्णन किस प्रकार से किया जाय आदि-आदि कहकर सन्तुष्ट हुए । वह अगम्य है, यह संसार उसको जानने का प्रयत्न करता रहा है; पर उसे कोई सही ढंग से जान नहीं सका । न जाने कितने भद्रजन उसका पता लगाने के लिए ताल ठोंककर अखाड़े में उतरे पर वे किस गति को प्राप्त हुए, आज तक पता नहीं चला । अति विचित्र है उस सनातन की गति और स्थिति ।

महामना मालवीय जी सनातनधर्म के परम् स्नेही रहे । उनके पूरी जिन्दगी की लड़ाई का केन्द्र सनातनधर्म ही रहा है । उनको सनातनधर्म का मूर्तरूप कहा जा सकता है । धर्म संसार की धूरी है, धर्महीन संसार की कल्पना नहीं की जा सकती । भारतीय सांस्कृतिक ग्रन्थों में धर्म के दस लक्षण बताए गये हैं । धर्म के दसों लक्षण मालवीय जी में थे ।

धृतिः क्षमा दमो स्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीविद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

सनातनधर्म परम्परावादी है—"महाजनो येन गतः स पंथाः ।" सनातनधर्म के दो भाग हैं—(१) दर्शन या आध्यात्म (२) सदाचार या लोकाचार । मालवीय जी ने दोनों भागों का अनुसरण किया । वे मनसा, वाचा और कर्मणा सनातनी रहे । सनातनधर्म के माध्यम से आज तक जो उपलब्धियाँ हुई हैं वह अन्य धर्म सम्प्रदायों के द्वारा नहीं । परा और अपरा के सम्बन्ध में इसमें पूर्णरूप से विवेचना है । यह श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम, संहिता,

---

१. शिव पुराण ।

तन्त्र आदि से लेकर लोक जीवन तक फैला हुआ है। मनुष्य की अन्तः और वाह्य ये दोनों समस्याएँ इसमें सुलझ जाती हैं। श्रुति और लोक से सम्मत धर्म ही मानवधर्म हो सकता है। सनातनधर्म मानवता का सबसे बड़ा पोषक है। इससे शरीर और मन दोनों को राहत मिलती है। यह वर्ण या जाति की थोथी मान्यताओं को ठुकरा कर व्यवस्था को वरीयता देता है। सब को अस्तित्व में लाना और समन्वय करना धर्म का प्रमुख उद्देश्य है। मूर्तिपूजा से लेकर सूक्ष्म वेदान्तियों तक यह धर्म व्याप्त है। इस प्रकार के व्यापक और पुष्ट धर्म को मालवीय जी ने 'राष्ट्रधर्म' होने की घोषणा की।

धर्म कुछ नहीं जीवन का कर्म-दाता है। ईश्वर! मानव की आस्थाओं को टिकने का स्थान है। इस प्रकार की मान्यता-निर्धारण में किसी को वाधा नहीं पहुँचती। सनातनधर्म के अनुसार जो जीवन संहिता तैयार होती है उसी पर मालवीय जी जीवन भर चलने का आवाहन किये। सनातनधर्म को व्यापक एवं सूक्ष्म रूप से अनुसरण कर कोई भी आदमी महामना वन सकता है। यह सनातनधर्म पुण्यभूमि भारत की धरती की सबसे बड़ी पैदावार है। वहुत से विदेशी इसको अपनाकर परम शान्ति का अनुभव किये। अमेरिका आदि देशों पर हमारे यहाँ की हरिकीर्तन का प्रभाव देखा जा सकता है। मालवीय जी हर प्राणी में सनातन धर्म का स्पंदन देखना चाहते थे। आदमी कहीं भी हो पर उसके अन्दर अपनी धरती का असर अवश्य होता है। उसका यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी जन्मभूमि और उसकी संस्कृति के प्रति सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहे। कोई भी धर्म अपनी मिट्टी से बगावत नहीं कर सकता, यही उसकी सबसे बड़ी ईमानदारी होती है। कहा गया है कि जननी और जन्म-भूमि सबसे श्रेष्ठ हैं। सम्पूर्ण मनुष्य पृथ्वी-पुत्र हैं।

'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।'[1]
'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपिगरीयसी।'[2]
'न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः।'[3]

उपरोक्त पंक्तियों के भाव से ऐसी अन्तःसलिला निःसृत होती है जो पूरे सनातनधर्म रूपी फसल को सिंचित कर उसे अनेक महामारियों से रहित कर गम्भीर फलियों के गुच्छों से लाद देती है। यह धर्म इतना व्यापक है कि इसमें धर्म, संस्कृति, और श्रद्धा ये तीनों परस्पर ओत-प्रोत हो गए हैं।

कोई परम्परा नारा लगाने से न आ जाती है न चली जाती है; हाँ वह भीड़ को कुछ समय के लिए गुमराह अवश्य कर देती है। किसी भी देश में वही परम्परा चल पाती है जिसे उस देश की मिट्टी पैदा कर सकती है। विदेशी दानें देशी दानों से भी निहायत कमजोर होते चले जा रहे हैं, जैसा कि प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। इसका कारण है कि जिस

१—अथर्व वेद, पृथ्वी सूक्त।
२—रामायण।
३—पुराण।

जगह पर वे ख्याति प्राप्त कर चुके हैं वह जगह यह नहीं है न हो सकती है। धर्म धरती का स्पंदन है जो उसके निर्माण के साथ आता है और उसके विनाश तक किसी न किसी रूप में रहता है।

हमारा देश जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति और सभ्यता का संग्रहालय—सा है पर उस संग्रहालय का खाका या डील-डौल भारत की मिट्टी पर ही खड़ा है। स्वयं सनातनधर्म विभिन्न उप सम्प्रदायों और भाषाओं से भरा पड़ा है पर वह किसी को अपने से बाहर जाने का मौका नहीं दिया। उसी प्रकार से मालवीय जी ने अपने मानवतावादी दर्शन में एक प्रतिरूप मात्र ही हैं। उन्होंने अपने में सबको समेटने का प्रयत्न किया और सफल भी रहे।

इस सृष्टि की संरचना तो जड़-चेतन, गुण-दोष; इन दोनों तत्वों के संक्रमण से हुई है। ऐसा तत्व वादियों का कथन है। अतः हर आदमी में चैतन्य के साथ जड़ता होगी और गुणों के साथ दोष। यह धर्म जड़ पर चेतन की अवगुणों पर गुणों की विजयपद्धति बतलाता है।

प्रकृति का यह नियम है कि ज्योंही कोई जगह खाली होती है त्योंही उसको दूसरी वस्तु आकर ग्रहण कर लेती है। अतः कोई जगह खाली नहीं रह सकती। इसी प्रकार जब अन्धकार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो प्रकाश उसको नष्टकर अपनी सत्ता स्थापित करता हैं। महापुरुष भी अन्धकार रूपी अवगुणों को दबा कर प्रकाश (गुणों को) को फैलाता है—उन्हीं महापुरुषों में से हैं पं० मदन मोहन मालवीय जी।

इधर नयी भूमि के नारों के श्रवण से एक हवा चली है जिसमें यह बू है कि भारती पुराणपन्थी, सनातनी यानी मुर्दों को जिन्दा मान कर उसकी सेवा करने वाले हैं; पर ऐसा नहीं है। सनातन धर्म के एक चरण में स्थिरता इसलिए है कि उसका दूसरा पैर और आगे बढ़ने के लिए उठा है। कोई भी धर्म जड़ नहीं होता। जो जड़ नहीं होता वह विकास चाहता है। आज के नये रंगरूट वाले जो एक पैर को जड़ नहीं रखना चाहते वे दोनों पैरों से उछल रहे हैं; जरा वे अपनी अवधि का अन्दाज लगावें फिर सनातन को मुर्दा से व्याख्यायित करें। मालवीय जी कट्टर सनातनी थे पर इसके साथ-साथ कट्टर विकासवादी भी थे। वे अपने 'अन्त्यजोद्धार विधिः' नामक शीर्षक के लेख में जन-जन के लिए करुणा की धारा उड़ेल दिये हैं। उनकी उदारता को कहीं बाँधा नहीं जा सकता। मालवीय जी की पैनी दृष्टि में वेद के ज्ञान की रश्मियाँ थीं तो रामायण, महाभारत, पुराणों आदि के विवेक का आलोक भी था। वे तन, मन और धन से अपने जीवन को मानव कल्याण में लगा दिये। यह है सनातनी धर्म परायणता। मालवीय जी जहाँ एक ओर अपने को सनातनी बनाने में कहीं कोर-कसर बाकी न रक्खें वहीं वे इस श्लोक का पाठ करते हुए कभी न अघाते—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुख तप्तानां प्राणीनामर्तिनाशनम्॥

अर्थ—"मुझे पृथ्वी का समृद्ध राज्य नहीं चाहिए और मुझे मोक्ष भी नहीं चाहिए। मेरी तो यही उत्कट कामना है कि दुःखों से तपाये हुए प्राणियों का दुःख दूर करूँ।"

मालवीय जी अपनी मृत्यु से एक सप्ताह पूर्व अपने संनिकट के लोगों से कई बार कहे थे कि—"मुझे मृत्यु के समय काशी में मत ले आना, मैं अभी मुक्ति नहीं चाहता। मेरी इच्छा है कि एक और जन्म में मानव की सेवा अभी करूँ।" ये थे मालवीय जी कट्टर सनातनी जो मानवसेवार्थ पुनः मनुष्य तन की कामना किये। वे मानव और संस्कृति के पक्के भक्त थे। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना केवल ज्ञानव्यापार के वास्ते नहीं बल्कि अपनी संस्कृति और मानव की सेवा के हेतु की। उनका धर्म पेटू नहीं था बल्कि परिजन हिताय परिजन सुखाय था। वे त्याग के साथ भोग को पसन्द करते थे। भागवत के सातवें स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय से लेकर पंद्रहवें अध्याय तक सनातनधर्म की चर्चा है। जिसमें सत्य, दया शौच, तृष्णाओं का दमन, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग और आर्जव की बरीयता दी गयी है। उपरोक्त लक्षणों को मालवीय जी ने बड़ी बारीकी से अपनी काया में समाहित किये। रावलपिण्डी में वे सभापति के पद से बड़े लम्बे-लम्बे भाषण दिये थे जो कि "रावलपिंडी की सनातन धर्म कानफरेंस" शीर्षक से सनातनधर्म, वर्ष १, अंक ४३ में विधिवत प्रकाशित हुए हैं। उनके माध्यम से उन्हीं के शब्दों में सनातन धर्म के स्वरूप को देखा जा सकता है। अन्त में उनके मुखारविन्द से वार-वार निःसृत ध्वनियों के साथ लेख को पूर्ण करता हूँ।

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

उस पृथ्वीपुत्र के लिए कुछ अपनी उर की भाषा में कुछ कह कर मस्तक झुकाता हूँ।

वह खादी की पोशाक में
छिपा धरती का
चमत्कारपिण्ड
क्या नहीं दिया
इस जगत को
साधक;
सकल सिद्धियों के
माँगा नहीं कुछ
अपने लिए
करते रहे
विषपान
शिव के सेवक वे

स्वर्ग के लिए नहीं
इसी मिट्टी के लिए
जो देती है
अपने पुत्रों को
पूरा फूलता-फलता
जीवन
एक गम्भीर अनुभव
फिर
चिता या कब्र के लिए
खोल देती है;
अपनी दुधारू छाती।

मालवीय जी व्यासगादी से अपने भाषण या उपदेश को पूर्ण करते हुए इस ध्वनि से वातावरण को अवश्य गुंजित करते थे। धर्म की जय हो !! अधर्म का नाश हो !! प्राणियों में सद्भावना हो !! विश्व का कल्याण हो !!. हर हर महाऽऽदेऽव।

●

महिला शिक्षा की प्रगति में महामना का योगदान

आशा शर्मा
शोधछात्रा, दर्शन

प्रत्येक देश का अपना इतिहास होता है और वहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति उस गौरवशाली इतिहास के निर्माण में सहायक होती है। भारतवर्ष का अतीत अत्यन्त उज्ज्वल था। अन्य देशों की भाँति स्त्री-शिक्षा एवं उसके व्यक्तित्व विकास पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। उन्हें शिक्षा के क्षेत्र में समान अधिकार एवं सुविधा प्राप्त थी। इस देश की नारियाँ मन्त्रद्रष्टा हुआ करती थीं। वैदिक साहित्य उनकी प्रखर प्रतिभा का ज्वलन्त निदर्शन है। महाराजा जनक की राजसभा में जो विद्वान पुरुष एवं विदुषी नारियाँ थीं उनमें गार्गी का प्रथम स्थान था। बड़े-बड़े दिग्गज दार्शनिकों को भी उनका सामना करने में दिग्भ्रम हो जाता था।

लौकिक साहित्य में भी संस्कृत के महान कवियों की भाँति बहुत सी ऐसी कवियित्रियाँ हैं, जिनकी कविता-कांति से संस्कृत साहित्याकाश आज भी जाज्वल्यमान हैं। भारतीय नारियों ने अपने बौद्धिक अवदान से यहाँ के सामाजिक उत्थान एवं बौद्धिक क्रान्ति में सहायता की है तथा समाज की नैतिक संरचना के लिए आदर्श मानक भी प्रस्तुत किया है।

यही कारण है कि यह देश प्राचीनकाल में संसार के अनेक देशों का गुरु और मार्गद्रष्टा था। इनकी इसी महानता के कारण समूचा समाज उनके सामने श्रद्धावनत था। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'—यहाँ का सिद्धान्त था। किसी भी देश की उन्नति में वहाँ की नारियों का सामाजिक परिवेश अनिवार्यरुपेण उत्तरदायी होता है। भारत का अतीत इसका साक्षी है।

बौद्धकाल में भी स्त्री-शिक्षा को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला परन्तु मुस्लिमकाल में पर्दाप्रथा के कारण स्त्री-शिक्षा नष्टप्राय हो गई और स्त्री जाति घर की ही चहारदीवारी में घिरकर रह गई। ब्रिटिश शासन के अन्तिम १०० वर्षों में स्त्री-शिक्षा की आधुनिक व्यवस्था में कुछ विकास हुआ।

१९०१ के लगभग पंजाब के आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में हरिद्वार और वृन्दावन में लड़कों के गुरुकुलों के साथ ही कन्या गुरुकुलों की स्थापना हुई। कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी शांन्ति-निकेतन में स्त्री-शिक्षा विभाग की स्थापना की।

१९०४ में एनी बेसेन्ट ने बनारस में सेण्ट्रल वालिका विद्यालय की तथा १९१६ में प्रो० कर्वे ने पूना में एस० एन० डी० टी० भारतीय महिला महाविद्यालय की स्थापना की।

१९१७ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिए नियुक्त आयोग ने उच्च स्त्री-शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय में 'महिला शिक्षा विभाग' की स्थापना की संस्तुति की थी। समय-समय पर विभिन्न समितियों ने भी स्त्री-शिक्षा के विकास के लिए सुझाव प्रस्तुत किये।

स्त्री-शिक्षा के विकास में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान काशी हिन्दू विश्वविद्याल के संस्थापक महामना मालवीय जी का था। आपके दृढ़ निश्चय, अपरिमित उत्साह, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं अथक परिश्रम के फलस्वरूप ४ जनवरी १९१६, वसंत पंचमी को, दिन में १२ बजे विशेष समारोह के मध्य भारतवर्ष के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग्ज के कर कमलों द्वारा इस विश्वविद्यालय का शिलान्यास किया गया।

विश्वविद्यालय की स्थापना के पूर्व ही 'हिन्दू विश्वविद्यालय बिल' को स्वीकृति मिल जाने पर एनीबेसेण्ट एवं सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के ट्रस्टियों ने सेन्ट्रल हिन्दू विद्यालय को विश्वविद्यालय के हाथों सौंप दिया। इसे विश्वविद्यालय में महिला शिक्षा प्रगतिवृक्ष का बीज कह सकते हैं। महामना का विचार था कि बालक एवं बालिकाओं के लिए समान शिक्षा व्यवस्था होनी चाहिए। भारतवर्ष के नवजागरण के लिए भी नारी जागृति की विशेष आवश्यकता थी। इसके लिए आवश्यक था कि समाज के स्वस्थ विकास के लिए बालिकाओं को भी समुचित शिक्षा प्रदान की जाय। फलतः स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता एवं महत्ता के औचित्य को ध्यान में रखकर जनता से सहयोग की अपील की गई। सन् १९२९ में बम्बई के प्रमुख उद्योगपति खटाऊ माखन जी के वित्तीय सहयोग से १०० छात्राओं के आवास हेतु छात्रावास से युक्त महिला महाविद्यालय की स्थापना की गई, जो विश्वविद्यालय के सिंहद्वार से प्रवेश करते ही बायीं ओर स्थित है। पहले वहाँ केवल एफ० ए० तक की छात्राएँ कला विषयक शिक्षा ग्रहण करती थीं। संगीत की शिक्षा भी उन्हें वहीं दी जाती थी। सभा तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन भी होता था। जिसमें केवल महिलाएँ ही जा सकती थीं। बी० ए०, एम० ए० एवं विज्ञान पढ़ने की इच्छुक छात्राओं को सेन्ट्रल हिन्दू कालेज जाना पड़ता था। क्रमशः विश्वविद्यालय परिसर के अन्तर्गत ही महिला शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति हुई और महिला महाविद्यालय (वीमेन्स कालेज) में ही स्नातक कक्षा तक की छात्राओं को कला के साथ ही विज्ञान की समुचित शिक्षा देने की भी व्यवस्था की गई। साथ ही यह भी ध्यान रखा गया कि लड़कियों को दी जाने वाली शिक्षा उनके लिए हर तरह से उपयोगी हो और इसीलिए गृहविज्ञान जैसे विषय को प्रारम्भ से ही प्रमुखता प्रदान की गई। फिर भी आज से २५ वर्ष पूर्व तक सह शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत आदि कुछ विभागों में कुल मिलाकर १०-१२ लड़कियाँ ही शिक्षा ग्रहण कर पाती थीं। परन्तु आज उसी विश्वविद्यालय से प्रतिवर्ष स्नातकोत्तर शिक्षा ग्रहण कर निकलने वाली छात्राओं की संख्या लगभग सभी विभागों में कुल विद्यार्थियों की आधी अथवा उससे भी अधिक है। यहाँ तक की कला एवं विज्ञान के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ही नहीं, कृषि महाविद्यालय एवं इञ्जीनियरिंग कालेज में भी छात्राओं को शिक्षा ग्रहण करने की सुविधा प्राप्त है।

इस विश्वविद्यालय में बढ़ती हुई महिला शिक्षा की प्रगति का सबसे बड़ा प्रमाण—नगर में चलने वाली इससे सम्बन्धित तीन प्रमुख महिला शिक्षा संस्था है—वसन्त कन्या

महाविद्यालय (कमच्छा), बसन्त महिला महाविद्यालय (राजघाट) एवं आर्य महिला डिग्री कालेज हैं।

समय-समय पर विश्वविद्यालय से कई ऐसी विदूषियाँ भी निकली हैं, जिन्होंने विश्व-विद्यालय के साथ ही देश की गौरव अभिवृद्धि में भी अपूर्व योगदान दिया है। यहाँ की छात्राएँ आज मात्र शिक्षा ही नहीं ग्रहण करतीं अपितु देश की प्रमुख प्रशासनिक सेवा परीक्षा में भी बैठती हैं और उसमें सफलता प्राप्त कर देश की उन्नति में सहयोग प्रदान करती हैं।

श्रीमती सुचेता कृपलानी, श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख, शिक्षा मंत्रालय की सचिव डा० कपिला वात्स्यायन, विश्व की सुप्रसिद्ध वायलिनवादिका श्रीमती राजम्, विश्वविद्यालय के ही संगीत महाविद्यालय की अध्यक्षा डा० (कु०) प्रेमलता शर्मा एवं पिछले वर्ष संस्कृत विद्वानों में राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त करनेवाली संस्कृत एवं पालि विभाग की प्रवक्ता डा० (कु०) विमला कर्नाटक इत्यादि प्रतिभावान महिलायें इस विश्वविद्यालय की ही देन हैं।

समाज एवं परिवार के सर्वाङ्गीण विकास के लिए शिक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखकर मालवीय जी महाराज ने जिस स्त्री-शिक्षा का शुभारम्भ किया था, वह उनकी दूरदर्शिता का परिचायक है। आज विश्वविद्यालय के विभिन्न शिक्षा संकायों में शिक्षा पाने के साथ ही वे पर्वतारोहण जैसे साहसिक कार्यों में भी दीक्षित हो रही हैं। इस वर्ग के शिक्षा विकास के साथ ही देश का विकास भी संलग्न है इसीलिए हीरक जयन्ती के अवसर पर गृह-विज्ञान में स्नातकोत्तर शिक्षा का शुभारम्भ करने का प्रवन्ध करके विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने मालवीय जी की भावना का समादर करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

गरे जूही के हैं गजरे पड़े रंगीं दुपट्टा तन।
भला क्या पूछिए धोती तो ढाके सो मँगाते हैं॥
कभी हम वारनिश पहने कभी पंजाब का जोड़ा।
हमेशा पास डंडा है ये फक्कड़सिंह जाते हैं॥
न ऊधो का हमें लेना न माधो का हमें देना।
करें पैदा सो खाते हैं न दुखियों को सताते हैं॥
नहीं डिप्टी बना चाहें न चाहें हम तसिलदारी।
पड़े अलमस्त रहते हैं यूँ ही दिन को बिताते हैं॥
न देखें हम तरफ उनकी जो हमसे नेक मुँह फेरे।
जो दिल से हमसे मिलते हैं झुक उनको देख जाते हैं॥
नहीं रहती फिकर हमको कि लायें तेल और लकड़ी।
मिले तो हलवे छन जाएँ नहीं भूरी उड़ाते हैं॥
सुनो यारो जो सुख चाहो तो पचड़े से गृहस्थी के।
छुटो, फक्कड़पना ले लो यही हम तो सिखाते हैं॥
हमें मत भूलना यारो बसे हैं पास 'मनमोहन'।
हुई है देर, जाते हैं तुम्हारा शुभ मनाते हैं॥

—मालवीय जी की रचना 'फक्कड़ सिंह' प्रहसन से

महामना का प्राण : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

शान्त शर्मा हिरेमठ
एम० ए० (हिन्दी) प्रथम वर्ष

काशी धर्म, संस्कृति और सभ्यता की राजधानी ही नहीं बल्कि यह महापुरुषों, वैज्ञानिकों तथा सुप्रसिद्ध कलाकारों की आराधना की उपास्य भूमि भी है। यह नगरी अनेक भाषाभाषियों, भिन्न-भिन्न आचार-विचारों एवं अलग-अलग संप्रदायों से सनाथ होने पर भी देश-भक्ति तथा मातृभूमि के नाम पर एक ही ज्योति के रूप में अज्ञान रूपी अंधकार को मिटाने वाली महाशक्ति है। इसी धारणा को दृष्टि में रखकर महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने संपूर्ण भारत को शिक्षा के एक सूत्र में बाँधने तथा सभ्यता, संस्कृति एवं राष्ट्र के नव निर्माण के विविध प्रतिष्ठानों का एक ही स्थान पर इकट्ठा करने के उद्देश्य से ही ४ फरवरी १९१६ को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की।

इस संस्था की नींव में एक गरीब मजदूर से लेकर राजा महाराजाओं की सहायता से प्राप्त धन समाहित है। इसलिए भारत के प्रत्येक नागरिक के मन में इस संस्था के प्रति ममत्व की भावना का विद्यमान होना स्वाभाविक ही है। प्रारंभ में यह शिक्षा संस्था अपने लघु कार्य में ही कार्यरत थी परन्तु धीरे-धीरे महामना जी के अथक प्रयासों से दुनियाँ की इनी-गिनी विद्या संस्थाओं में इसका नाम लिया जाने लगा।

इस विशाल संस्था के विविध विभागों के सम्बन्ध में विचार करने पर ऐसा लगता है जैसे वे भी एक-एक विश्वविद्यालय ही हो क्योंकि, प्रत्येक विभाग अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण ही नहीं सक्षम भी हैं। जहाँ पर प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता की मूल संस्कृत आदि भाषाओं का अध्ययन होता है, वहीं पर आधुनिक विचारों से भरी विदेशी भाषाओं का भी पठन-पाठन होता है। एक ओर प्राचीन शास्त्रों के निष्णात् विद्वान मिलते हैं तो दूसरी ओर प्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं कृषि-पंडित भी। इस विश्वविद्यालय को पौर्वात्य और पाश्चात्य का संगम कहा जाय तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह संस्था संसार के माने हुए विद्वानों जैसे स्व० डा० राधाकृष्णन्, स्व० पं० रामावतार शर्मा, स्व० पं० रामचन्द्र दीक्षित, स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, स्व० श्यामसुन्दर दास, संगीत सम्राट स्व० पं० ओंकारनाथ ठाकुर, डा० नारलीकर डा० डी० सी० पावटे, ग्रन्थालय विज्ञान के निर्माता स्व० एस० आर० रंगनाथन् आदि विद्वानों से सुशोभित थी। आज भी उस अक्षुण्ण परम्परा को यथावत कायम रखी हुई है— पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० सीताराम शास्त्री, डा० गोपाल त्रिपाठी, डा० रत्न शंकर मिश्र, डा० विजयपाल सिंह, डा० शिव प्रसाद सिंह, डा० भोला शंकर व्यास, डा० त्रिभुवन सिंह, प्रसिद्ध चिकित्सिक डा० उडप्पा, डा० कोल, डा० चल्लम, पं० बलवन्त राय भट्ट आदि की कर्मस्थली है।

प्राचीन गुरू शिष्य के संबंध के अनुरूप ही इस संस्था के छात्रों तथा अध्यापकों में वह परंपरा दिखाई पड़ती है। इस शिक्षा मंदिर में भिन्न-भिन्न प्रान्त के छात्र ही नहीं बल्कि

भिन्न-भिन्न देश के छात्र अध्ययन करते हैं। यहाँ के अध्यापकों ने उन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं समझा। छात्रों तथा अध्यापकों का सम्बन्ध पिता-पुत्र तुल्य है।

प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं भाषा होती है। भाषा उस देश के सामाजिक, राजनैतिक औद्योगिक और शैक्षणिक विकास का प्रतीक मानी जाती है। भारत बहुभाषी देश है। यहाँ की सभी प्रान्तीय भाषाएँ अपनी-अपनी जगह पर विकसित दृष्टिगोचर होती हैं। हिन्दी अधिक लोगों द्वारा बोली जाने तथा अपने समृद्ध के कारण यह राष्ट्र भाषा के रूप में मान ली गयी हैं। कुछ प्रदेशों में प्रान्तीय राजनीतिक दुराग्रह से होकर इसका विरोध किया जाता है जो कि अनुचित है। हिन्दी के प्रचार कार्य के लिये देश में अनेक संस्थाएँ काम कर रही हैं। विशेषकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्थित "हिन्दी भवन" अपनी अलग विशेषता-रखता है क्योंकि यहाँ से केवल अहिन्दी प्रान्त के छात्र ही पढ़कर नहीं निकलते बल्कि हर साल जापान, मारीशस आदि विदेशों के छात्र भी हिन्दी सीखकर अपने देश में जाते हैं। इस विश्वविद्यालय के हिन्दी विद्वानों को दक्षिण भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा पर व्याख्यान देने के लिए निमंत्रण देकर बुलाया जाता है। इस प्रकार यहाँ का हिन्दी भवन हिन्दी प्रचार कार्य में महान सहयोग देता चला आ रहा है। इस कार्य के साथ-साथ यहाँ एक हिन्दी प्रकाशन समिति भी कार्य कर रही है जहाँ से विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद हो रहा है।

जब मेरे जैसे (अहिन्दी भाषी) छात्र ने यहाँ के हिन्दी विभाग के गुरूजनों से हिन्दी एम० ए० में प्रवेश लेने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने सहर्ष सहयोग देने की सहमति दी। आज भी उन महान गुरूजनों की सद्भावना अहिन्दी भाषा-भाषी छात्रों पर कृपा छत्र के रूप में विद्यमान है।

प्राण के बिना शरीर का संचालन जिस तरह असंभव होता है उसी तरह महामना का प्राण आज भी इस संस्था के संचालकत्व के मूल में केन्द्र बिन्दु के रूप प्रतिष्ठित है क्योंकि उन्होंने दूसरों के प्राण को अपना प्राण, दूसरों के कष्ट को अपना कष्ट समझा, महामना "परोपकाराय सता विभूतयः" इस सूक्ति के अनुसार अपने को ढालने का प्रयत्न करते थे। महामना का कहना था कि गीता के निष्काम कर्मयोग से ही मनुष्य की वास्तविक मुक्ति है।

वे सदैव कहा करते थे—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

"मुझे न तो राज्य की कामना है और न स्वर्ग की और न मैं पुनर्जन्म से मुक्ति चाहता हूँ। दुःख से पीड़ित प्राणियों के कष्ट दूर करने में मैं सहायक हो सकूँ यही मेरी कामना है।"

इस प्रकार सभी दृष्टिकोणों से विचार करने पर ऐसा लगता है कि इसके पीछे कोई एक ऐसी ज्योति कार्य कर रही है जो कि अव्यक्त रूप में महामना का प्राण हो।

●

संस्मरण—

महामना की गढ़ी यात्रा

ललित नारायण साही 'ललित'

घटना लगभग ४७ वर्ष की है। उन दिनों पंजाब में स्किनर नाम की एक स्टेट थी। वहां का जमींदार एक अंग्रेज था जिसके अनाचार और अत्याचार से वहाँ की सारी प्रजा अत्यन्त दुःखी रहा करती थी। पेड़ में टकराकर कोड़े मारना तो साधारण सी बात थी। प्रजा ने ऊबकर अपना सारा संकट वहां के अपने प्रसिद्ध नेता पंडित नेकीराम शर्मा के समक्ष रखा। शर्माजीने प्रजा को इस अत्याचार से छुटकारा दिलाने के लिए हांसी-हिसार जिले के गढ़ी नामक स्थान पर भारतवर्ष के उच्च कोटि के नेताओं की एक विराट सभा करने की योजना बनाई। इस कार्य की सिद्धि के लिए उन्होंने विशेषकर महामना मालवीय जी की सहायता की इच्छा की। शर्माजी को यह दृढ़ विश्वास था कि यह कार्य मालवीय जी के द्वारा आसानी से हो जायगा। कारण यह था कि उन दिनों के वाइसराय लार्ड इरविन महामना मालवीय जी को अत्यन्त स्नेह और आदर की दृष्टि से देखते थे। अतएव शर्माजी ने उक्त सभा में मालवीय जी के पधारने के लिए उनका आह्वान किया। २ नवम्बर से ८ नवम्बर १९२९ के बीच के समय जब महामना मालवीयजी रायसीना (नयी दिल्ली) के अलब्यूकर्क रोड पर स्थित बिरला हाउस में महात्मा गान्धी, श्री निवास शास्त्री, सरदार बी० जे० पटेल, सेठ घनश्याम दास बिरला तथा अन्य उच्चकोटि के नेताओं के साथ लन्दन में होनेवाली राउन्डटेबुल कान्फ्रेन्स में विचारने योग्य विषयों की सूची तैयार करने में व्यस्त थे, ठीक उन्हीं दिनों उनके समक्ष देश हित के अनेक कार्यों के अतिरिक्त तीन महत्वपूर्ण कार्य प्रस्तुत थे। जिनका सम्पादन करना उनके लिये अनिवार्य हो रहा था। प्रथम पंडित नेकीराम शर्मा की पुकार पर उक्त गढ़ी नामक स्थान की ऐतिहासिक यात्रा, द्वितीय पिलानी की यात्रा और तृतीय प्रयाग में अपनी धर्मपत्नी द्वारा चातुर्मास्य व्रतकी परिसमाप्ति के अवसर पर उनके निवास-स्थान भारती-भवन की यात्रा। इन उपरोक्त स्थानों से तार और पत्रों का तांता लगा था। इन स्थानों के कार्यों की तिथियाँ प्रायः एक ही समय पड़ जाने से महामना के लिए एक समस्या उत्पन्न हो गई थी। देश सेवा की उच्चकोटि की भावनाओं से प्रेरित महामना का विचार सर्वप्रथम गढ़ी जाने का था, किन्तु सेठ व्रजमोहन दास के काफी अनुनय विनय के पश्चात बिरला परिवार में एक विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के निमित्त प्रथम पिलानी की यात्रा स्वीकृत हुई। शुक्रवार ८ नवम्बर सन् १९२९ को नौ बजे दिन में बिरला हाउस से प्रस्थान कर उसी दिन २-३ बजे वह पिलानी पहुँच गये। वहाँ बिरला

परिवार, पिलानी नगर तथा राजस्थान की जनता की ओर से उनका अभूतपूर्व आदर सत्कार हुआ। महामना ने वहाँ के लाखों नर-नारियों को अनेक अमूल्य उपदेश दिये। जनता अत्यन्त हर्षित हुई। पिलानी यात्रा का पूर्ण वर्णन २४ दिसम्बर १९६९ के "आज" में पत्र प्रकाशित हो चुका है। रविवार १० नवम्बर सन् १९२९ को प्रातः ८ बजे बिरला परिवार से विदा होकर महामना ने पिलानी से गढ़ी की विराट सभा में जो उसी दिन होने को निश्चित थी, सम्मिलित होने के लिये प्रस्थान किया। सभा के समय का खयालकर शीघ्रता के साथ निराहार ट्रेन और कार से चलकर लगभग ४ बजे दिन में गढ़ी पहुँच गये। एक विस्तीर्ण सजे-सजाये पंडालमें सभा का कार्यक्रम चल रहा था। लाखों की संख्यामें इकट्ठी जनता पंडित नेकी राम शर्मा के साथ महामना की प्रतीक्षा में निराश हो रही थी। सहसा सभा मंडप में महामना के प्रवेश करते ही सारा वायुमंडल 'महामना मालवीयजी महाराज की जय' की ध्वनि से गूंज उठा। उनके दर्शन मात्र से निराश जनता आशान्वित हो विह्वल तथा प्रफुल्लित हो गयी। उस अंग्रेज जमीन्दार के अत्याचार का पूर्ण विवरण पीड़ित जनता की ओर से पंडित नेकी राम शर्मा तथा वहाँ के अन्य नेताओं ने अपने भाषण द्वारा महामना के समक्ष प्रस्तुत किया। उसे सुनते ही महामना की आंखें भर आईं, हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने अपनी ओजस्वी भाषण से दुखी जनता के हृदय को जीत लिया। जनताको इस बातका पूर्ण विश्वास हो गया कि उस दिन से उनकी सारी यातनायें समाप्त हो गईं। प्रस्ताव पारित हुये। उनकी एक प्रति वाइसराय को भेजी गयी। महामना ने स्वयम् वाइसराय के सेक्रेटरी मिस्टर कनिंघम से इसकी चर्चा की और उस अंग्रेज के अत्याचार को बन्द कराया। धन्य है वह १० नवम्बर सन् १९२९ जिस दिन महामना मालवीयजी की कृपा से पंजाब में तत्कालीन स्किनर स्टेट की प्रजा ने उस अंग्रेज जमींदार के जुल्म से राहत की सांस ली थी।

●

"यह हमारी मातृभूमि है, यह हमारी पितृभूमि है। जो लोग सुजन्मा हैं, जिनके जीवन बहुत अच्छे हुए हैं, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि पुरुषों के, महात्माओं के, आचार्यों के, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के, धर्मवीरों के, शूरवीरों के, दानवीरों के, स्वतन्त्रता के प्रेमी देश-भक्तों के उज्ज्वल कामों की, यह कर्मभूमि है। इस देश में हमको परमभक्ति करनी चाहिए और धन से भी इसकी सेवा करनी चाहिए।"

—मालवीय जी

भारत का नव जागरण और मालवीय जी

हृदयपाल सिंह
शोधछात्र, हिन्दी

सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी संघर्ष और द्वन्द्व का काल है, संक्रान्ति का काल है। जहाँ एक ओर प्राचीन परम्परायें अपनी रूढ़ता को बनाये रखने के लिए कटिबद्ध थीं वहीं दूसरी ओर नवयुग और नयी चेतना उसे अपने प्रवाह में बहा ले जाने के लिए उत्साहित। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होड़ाहोड़ी थी, अब चाहे वह धर्म का क्षेत्र हो, समाज हो, साहित्य हो या अन्य कोई। ईसाई धर्म-प्रचारक एक ओर हमारे धर्म को सामयिक संकीर्णताओं को लक्ष्य कर उस पर कीचड़ उछाल रहे थे, उसे पाखण्डपूर्ण, थोथा एवं निरर्थक प्रमाणित करने में लगे थे; वहीं तमाम शिक्षा-संस्थायें अस्पताल आदि खोलकर अपनी सद्भावना, सेवा और उदारता को व्यावहारिक धरातल पर सबके सामने उपस्थित भी कर रहे थे। अधिकांश उपेक्षित हिन्दू जिन्हें औरङ्गजेब की तलवार अपने भय से धर्म-परिवर्तन को बाध्य न कर सकी थी; अब ईसाइयों की सद्भावना के सम्मोहन से जीते जा रहे थे। धर्म-परिवर्तन की इस बाढ़ को रोकने के लिए, अपने धर्म को सामयिक और उदार बनाने के लिए हिन्दुओं में से कई प्रतिभा सम्पन्न और मेधावी मनीषी इस समय सजग होकर सामने आए जिनमें राजा राम मोहनराय को प्रारम्भ में अपने 'ब्रह्म समाज' के द्वारा पर्याप्त सफलता भी मिली। कई प्रकार की रूढ़ियों को भी समाप्त करने में वे सफल हुए किन्तु उनके बाद वह समाज दो भागों में बँटकर अपनी महत्ता से हाथ धो बैठा। यद्यपि अभी बहुत थोड़ी ही सफलता मिल सकी थी। बंगाल और बाद में हिन्दी-प्रदेश से पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी खूब जोर-शोर से आरम्भ हुआ; जिससे किसी कार्य के लिए जनमत गठित करने में सहयोग मिला। शताब्दी के पूर्वार्द्ध की चेतना का फल सन् १८५७ का प्रथम स्वातन्त्र्य समर था जिसकी असफल भूमि आगे की अर्द्धशताब्दी के लिए बड़ी ही उपजाऊ सिद्ध हुई। प्रथम स्वातन्त्र्य भावना एक लहर की भाँति उठकर विलीन हो गई और देश की असंख्य निरीह और निःशस्त्र जनता के प्राणों की आहुति लेकर भारत का भाग्य-विधाता पुनः चिर-निद्रा में सो गया। सारे देश में जहाँ अभी-अभी आतंक और विनाश का ताण्डव नृत्य हुआ था, वहीं अब श्मशान का-सा सन्नाटा भाँय-भाँय कर रहा था। भारत-माता फिर अनिश्चित समय के लिए तप्त लौह शृङ्खला से जकड़ दी गई। दुःख और विपत्ति कैसी जो चारों ओर से न आए। इसी समय (सन् १८६०-६१ में) संयुक्त प्रान्त पर इन्द्र भी कुपित हो गए। भीषण अकाल पड़ा जिसमें बचे-खुचे लोग भी लाखों की संख्या में काल के गाल में समा गए। भारत की देवी

ने इतनी वलि लेकर २५ दिसम्बर सन् १८६१ को सायंकाल ६ बजकर ५४ मिनट पर प्रयाग के पण्डित ब्रजनाथ जी व्यास के घर श्रीमती मूनादेवी की कोख से एक शिशु को जन्म दिया। उस समय किसे ज्ञात था कि भारत की लाखों-करोड़ों पीड़ित आँखें जिस देवदूत को एक लम्बे समय से खोज रही हैं; वह यही अबोध शिशु होगा।

मालवीय जी बचपन से ही चंचल, नटखट, स्वाभिमानी हिन्दू थे। बोलने का रोग भी इन्हें बचपन से हो हो गया। सात वर्ष की अल्पायु में ही त्रिवेणी के संगम पर जिसने व्याख्यान का अभ्यास आरम्भ किया हो, वह सामान्य कैसे होगा ? प्रयाग के स्कूल से हाई-स्कूल पास कर आप अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए म्योर सेन्ट्रल कॉलेज भेजे गए। यहीं आपकी भेंट पं० आदित्य राम भट्टाचार्य जी से हुई जिन्हें मालवीय जी की जीवनी-लेखकों ने मालवीय का सच्चा-निर्माता स्वीकार किया है। भट्टाचार्य जी संस्कृति के विद्वान् थे जिससे मालवीय जी की अपने धर्म-ग्रंथों की भाषा जानने की पिपासा पूर्ण हुई। अंग्रेजी शिक्षा में निष्णात होने के बाद भी आप उन अगणित नवयुवकों से भिन्न थे जो अंग्रेजी की ए. बी. सी. पढ़ने के बाद ही स्वयं को किसी भिन्न और विशिष्ट लोक का प्राणी मान बैठते थे। जिनका सब कुछ चार दिन में ही अंग्रेजी के रंग में रँग उठता था। जो अंग्रेजी शिक्षा के चार घूँट पीकर ही अपने धर्म, धर्म-गुरुओं, धर्माचारों, समाज तथा संस्कृति सभी की निन्दा करते नहीं थकते थे। यज्ञोपवीत धारण करके मालवीय जी की नियमित सन्ध्या-वन्दन करने लगे। इसे भी केवल अपने तक ही नहीं सीमित रखा। अन्य हिन्दुओं की रुचि भी सन्ध्या-वन्दन में बढ़े, इसके लिए आपने एक 'सन्ध्या दल' बना लिया। इसी प्रकार अपनी इस छोटी अवस्था में ही ईसाई धर्म-प्रचारकों को मुँहतोड़ जवाब देने के लिए आपने एक 'व्याख्यान दल' भी संगठित किया जो मेलों में अपने भाषण दिया करता था। धर्म के साथ ही मालवीय जी को संगीत, अभिनय और साहित्य में विशेष रुचि थी। मालवीय जी को अपने सामने बहुत से अधूरे या अछूते कार्य दिखाई दे रहे थे जिन्हें सम्पन्न करने के लिए एक लम्बी और निरोग उम्र की आवश्यकता थी। यही कारण है कि अपने व्यक्तिगत जीवन में और व्यक्त जीवन (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा समाज) में भी आपने व्यायाम को प्राथमिकता प्रदान की। उनका आरम्भ से ही विचार था कि—"क्या करोगे बहुत बुद्धि लेकर, जब कोई तुम्हें उठाकर दे मारेगा।" उनका मन्त्र ही था—

दूध पियो कसरत करो, नित्य जपो हरि नाम।
मन लगाइ विद्या पढ़ो, पूरे हों सब काम॥

मालवीय जी ने विभिन्न धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक विषयों पर चर्चा करने के लिए म्योर कॉलेज में एक वाद-विवाद समिति बनाई। इनकी भाषण-कला और तर्कशक्ति से प्रभावित होकर मीरजापुर में हुई पण्डितों की सभा में वहीं के पण्डित नन्दराम ने अपनी सुपुत्री का विवाह इनके साथ कर दिया। मालवीय जी की वेशभूषा तो आजीवन अपरिवर्तित रही ही इनके विचारों ने भी अपनी राह नहीं बदली। आर्य्य नाटक मण्डली द्वारा अभिनीत 'शकुन्तला' नाटक में शकुन्तला का अभिनय करके आपने अपनी अभिनय कुशलता का प्रमाण भी इसी अल्पायु में उपस्थित किया। प्रारंभ में भावुकता तो होती ही

है। अपने कालेज के दिनों में मालवीय जी 'झक्कड़सिंह' के नाम से हास्य-व्यंग्य की रचनायें किया करते थे। एक छोटा-सा प्रहसन 'जेण्टिलमैन' आपने इन्हीं दिनों लिखा, जिसमें दो कवितायें भी हैं। यह दोनों ही कवितायें उस समय की दो धाराओं की ओर संकेत कर रहीं हैं। एक वह जो अपने को हिन्दूरूप में गौरवान्वित समझता था और दूसरा वह अंग्रेजी के चार अक्षर पढ़कर अपने को श्रेष्ठ। दोनों का अंकन अपनी वाल-लेखनी से मालवीय जी ने किया है।

मालवीय जी पं० आदित्यराम भट्टाचार्य जी की प्रेरणा से सन् १८८० ई० में स्थापित 'हिन्दू-समाज' के कर्मठ एवं सुयोग्य कार्यकर्ता थे। इस संस्था के माध्यम से आपकी हिन्दू-भावना को और भी वल मिला जिससे सन् १८८४ ई० में 'मध्य केन्द्रीय हिन्दू समाज' नामक संस्था का गठन आपने स्वयं किया। साहित्य की पिपासा भी समय के साथ बढ़ती गयी, और विभिन्न साहित्यिक विषयों एवं प्रश्नों के समाधान के लिए इन्हीं दिनों मालवीय जी ने 'लिटरेरी इन्स्टीट्यूट' की स्थापना भी की। बी० ए० की परीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय से इसी वर्ष (सन् १८८४) पास करके आपने विद्यामंदिर को प्रणाम किया क्योंकि इन्हें पिता की नून-तेल-लकड़ी की चिन्ता का आदेश मिल चुका था। सौभाग्य से कालेज छोड़ते ही प्रयाग के सरकारी स्कूल में आपको अध्यापन कार्य मिल गया। गृहस्थी की गाड़ी जैसे-तैसे चलने लगी। अपने शिक्षण-काल में मालवीय जी को कालेजों में 'हिन्दू धर्म-शिक्षा' का नितान्त अभाव बराबर खटकता रहा—"जी दुखने की सबसे बड़ी बात तो यह थी कि ईसाई और मुसलमानों के लड़के तो अपने धर्मों, धर्म-गुरुओं, धर्मग्रंथों तथा धार्मिक आख्यानों को बहुत कुछ जानते थे, पर हिन्दू विद्यार्थी अपने धर्म का क, ख, ग भी नहीं जानते थे, और न जानने की चेष्टा ही करते थे।" उनकी यह निर्जीवता और नास्तिक उदासीनता मालवीय जी के हृदय में मूलवत् चुभती रहकर एक ऐसे आदर्श विद्यामंदिर की कल्पना के लिए भूमि तैयार करने में लगी थी जिसमें हिन्दू धर्म का सम्पूर्ण स्वरूप ही अपनी समस्त गुरुता एवं महत्ता के साथ मूर्तिमान हो उठा हो। एक दूसरी बात भी उन्हें बहुत दुख देती थी, और वह यह कि "हिन्दू बालक अपने धर्म पर, अपने देवी-देवताओं पर, अपने आचार-विचार पर और अपने समाज पर दूसरों के आक्षेप सुनकर भी अनसुना कर देते थे जैसे वे निस्सार हों, महत्त्वहीन हों।" खैर उस समय तो वे कुछ न कर सके लेकिन अव्यक्त रूप से कल्पना जगत में हिन्दू विश्वविद्यालय का एक रूप यहीं से बनने लगा।

सन् १८८७ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ वहाँ छात्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई किन्तु हिन्दू छात्रावास का अभाव मालवीय जी को चिन्तित किए था। सच्चे हृदय से सोचे गये काम में सफलता तो मिलती ही है। यह पहला अवसर था जब प्रान्त भर में घूम-घूम कर मालवीय जी ने छात्रावास के लिए धन एकत्रित किया। जैसे यह छात्रावास ही इनकी आर्थिक क्षमता की पहली परीक्षा थी। मालवीय जी इस परीक्षा में सफल हुए और सन् १९०३ ई० में 'मैकडोनल युनिवर्सिटी हिन्दू वोर्डिंग हाउस' का विशाल भवन तैयार होकर हिन्दू विद्यार्थियों का स्वागत करने लगा। मालवीय जी धुन के पक्के थे।

सन् १९१८ ई० में आपने 'मिण्टो पार्क' बिना किसी लम्बी योजना के बनवाया, जिसके स्तम्भ पर महारानी विक्टोरिया की घोषणा अंकित की गई। किन्तु मैं कह रहा था कि सन् १८८४ ई० में अपने छोटे विद्यालय को छोड़कर जीवन के खुले विद्यालय में मालवीय जी उतर पड़े। अब वे अध्यापक थे, किन्तु सिर्फ अध्यापक ही नहीं। सन् १८८५ ई० में 'भारतीय राष्ट्रीय महासभा' की स्थापना बम्बई में हो चुकी थी, उसका दूसरा अधिवेशन सन् १८८६ ई० में कलकत्ता में हुआ। मालवीय जी ने भी अपने गुरुवर पं० आदित्यराम जी के साथ सम्मेलन में भाग लिया। उनकी निर्भीक और सतर्क वक्तृता से सभा में उपस्थित सारे विद्वान नेता चकित रह गए। मालवीय जी ने भी इसी सभा के बाद से अपना उद्देश्य निश्चित कर लिया। सभा में उपस्थित स्व० राजा रामपाल सिंह तो इतना प्रभावित हुए कि अपने पत्र 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक का दायित्व ही मालवीय जी पर छोड़ दिया। मालवीय जी ने ढाई वर्ष तक जिस ईमानदारी और लगन से पत्र का सम्पादन किया; उसी से आकर्षित होकर पं० प्रताप नारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी 'हिन्दुस्तान' से सम्बन्ध बनाया। सन् १८८९ ई० में 'हिन्दुस्तान' के सम्पादन कार्य से मुक्ति लेकर आप पुनः प्रयाग आए और पण्डित अयोध्यानाथ के 'इण्डियन ओपेनियन' में हाथ बँटाने लगे। इसी वर्ष मालवीय जी की प्रेरणा और सहयोग से लाला ब्रजमोहन लाल का छोटा-सा व्यक्तिगत पुस्तकालय 'भारतीय-भवन' का विशाल रूप लेकर सामने आया। इन्हीं दिनों आपने कानून का अध्ययन किया तथा सन् १८९१ में उसकी परीक्षा भी पास की। मालवीय जी के पत्रकार की ईमानदारी और निष्ठा की चर्चा के लिए एक स्वतंत्र निबन्ध की आवश्यकता होगी। यहाँ तो मैं इतना ही कहूँगा कि उनका पत्रकार चारण और भाट नहीं था। वह न तो दीनता से गिड़गिड़ाना जानता था और भयभीत होकर पलायित होना ही। अपने आदर्शों की मूर्ति गढ़ने के लिए मालवीय जी ने अपनी हजारों वर्ष पुरानी धार्मिक-सांस्कृतिक परम्परा की पाषाण-शिला ली थी और उसे काटने-छाँटने तथा सुधारने के लिए शिक्षा और सम्भाषण की छेनी-हथौड़ी उनके हाथ में रही।

मालवीय जी उपलब्धियों का निर्देशन कराने से पहले मैं तत्कालीन समाज और शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में सिर्फ इतना कह देना चाहता हूँ कि समाज में निम्न वर्ण के साथ बड़ी ही उपेक्षा का व्यवहार किया जा रहा था, हिन्दुओं के अनुकूल आदर्श और विश्वासों का निरन्तर ह्रास हो रहा था। उनकी भाषा उपेक्षित थी। उन्हें शिक्षा भी विदेशी भाषा के माध्यम से मिल रही थी। अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त करके सरकारी दफ्तरों की बाबूगीरी प्राप्त कर लेना ही हिन्दू नवयुवकों का प्रधान आकर्षण था। लार्ड मैकाले ने देशी भाषा की हर प्रकार निन्दा की और यहाँ की संचित ज्ञान राशि की अल्पता प्रदर्शित करने के लिए तो उसने यहाँ तक कह दिया था कि—"योरोप के किसी भी अच्छे पुस्तकालय की एक आलमारी हिन्दुस्तान और अरब के सारे साहित्य के बराबर है।" इस भ्रामक-निष्कर्ष का खण्डन करने के लिए तमाम हिन्दी-प्रेमी लोग एक लम्बे समय से प्रयत्नशील थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' की गूँज चारों दिशाओं में गूँज रही थी फिर भी अभी फल प्राप्ति की कोई आशा नहीं थी।

मालवीय जी अपने जीवन में सर्वप्रथम सच्चे सनातन धर्मी हिन्दू थे। अतः धर्म पर

उनकी दृष्टि सर्व प्रथम गई। धर्मोद्धार और सुधार के प्रसंग को लेकर उन्होंने रूढ़िवादी पण्डितों से लोहा लेकर अछूतों के लिए अमृत बरसाया। मालवीय जी के नसों में विशुद्ध हिन्दू धर्म का प्रवाह था जहाँ कोई अछूत नहीं था, मंदिर किसी के लिए निषिद्ध नहीं था, देव-दर्शन किसी के लिए वर्ज्य नहीं था। उन्होंने गीता के अनुकूल अपने जीवन को ढाला था। शास्त्रों का गहन अध्ययन और मनन किया था। तथाकथित पण्डितों के शास्त्रार्थ को ललकारते हुए उन्होंने शास्त्रों से ही अकाट्य प्रमाण उपस्थित करके यह सिद्ध कर दिया कि हमारे प्राचीन ऋषियों ने अपने धर्म में किसी की उपेक्षा का अवकाश ही नहीं छोड़ा है। हमारा धर्म सबको समान रूप से सुलभ है, यहाँ तक कि श्रद्धालु ईसाई और मुसलमान भी हमारे धर्म रथ पर सवार हो सकते हैं। हमारी वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक नियमन है, किसी प्रकार की सामाजिक उपेक्षा या तिरस्कार नहीं, चारों अंग एक ही शरीर के अभिन्न अंग है। किसी भी अंग की पीड़ा एक-सी ही दुखदायी है। हमारे ईश्वर का आराधन सभी कर सकते हैं; यह बात उन्होंने सिर्फ मौखिक रूप से ही नहीं कही। उन्होंने तो अछूतोद्धार के लिए मंत्रदान का पर्व ही चला दिया था। शिवरात्रि के दिन दशाश्वमेघ घाट पर पोंगा पंडितों के हजार विघ्न डालने के बाद भी मालवीय जी ने हजारों अन्त्यजों को मंत्रदान देकर आश्वस्त किया। कलकत्ता में ऐसे ही एक पर्व पर वहाँ के पण्डितों ने तो इनकी ऊपर छूरे से हमला भी किया, किन्तु मालवीय जी दृढ़वती थे। उन्हें अपने उद्देश्य से तिल भर भी कोई विचलित न कर सका मालवीय जी उन अगणित हिन्दुओं के लिए शुद्धि की व्यवस्था थी जो किसी कारण धर्म से बहिष्कृत हो गए थे। उनका कहना था कि जब मुसलमान कलमा पढ़ाकर किसी को अपने धर्म के योग्य बना सकता है, ईसाई अपने धर्मच्युत भाई को फिर अपने धर्म में स्थान दे सकते हैं तो हमारे मंत्र इतने अशक्त कैसे हो सकते हैं कि किसी विधर्मी से छू गए कि धर्म से भी छू हो गए। मालवीय जी ने अपने शुद्धि समारोहों के द्वारा न जाने कितने को उनका वंचित धर्म प्रदान किया। मालवीय जी का अनुमोदन और अनुगमन करने वाले भी कम न थे। उन सभी के उत्साह और प्रयत्न से कुवों का जल भी सबके लिए समान रूप से सुलभ हो गया। आज तो यह देखकर और भी प्रसन्नता होती है कि धर्म और मंदिर के द्वार सबके लिए खुल गए हैं। कुयें ही नहीं सभी सार्वजनिक स्थान सबके स्वागत के लिए एक से तत्पर हैं। मालवीय जी की आत्मा भी इसे देखकर प्रसन्न हो रही होगी किन्तु क्या यह देखकर भी उसे खुशी हो रही होगी कि हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातक की धार्मिक योग्यता कहीं बहुत पीछे छूट चुकी है। मालवीयजी के विश्वविद्यालय का विशेषीकरण था—धर्म-ज्ञान और आज वह कहाँ? हमारी धर्म निरपेक्षता कहीं धर्म-हीनता का पर्याय तो नहीं हो गई? हिन्दू धर्म और संस्कृति का प्राण तत्व है जीव मात्र के प्रति प्रेम और दया। अहिंसा हमारा परम धर्म है किन्तु मालवीय जी को प्रतिदिन सैकड़ों गायों का बध होता दिखाई दे रहा था। हिन्दू होकर उस गौ-माता का दुख भला वे कैसे न सुनते जिसका दूध पीकर हम बड़े होते हैं—जिसके बछड़े भी हमारी सहायता एक आदर्श भाई की तरह ही करते हैं। मालवीय जी ने गोरक्षा सम्बन्धी विभिन्न समितियों का गठन किया तथा उसकी सेवा के लिए जगह-जगह गोशालायें स्थापित कीं और करवाईं। गायों के लिए स्थान-स्थान पर चारागाहों के लिए भूमि भी उस

'महाभिक्षुक' को मिल ही गई। काशी, शिवपुर में आपने एक आदर्श गोशाला स्थापित की तथा प्रत्येक हिन्दू को कम से कम एक गाय पालने को प्रोत्साहित भी किया। गो-सेवा का यह महान् आदर्श भी उस गो सेवी ने हिन्दू-विश्वविद्यालय की नींव में रखा था। धर्म के लिए डेढ़ घंटे का समय उस तपस्वी गुरु ने अपनी गुरुदक्षिणा के माँगे थे, पता नहीं अब यह वात उसके कितने शिष्यों को याद रह गई है। मालवीय जी पूरे विश्व को प्रेम करना चाहते थे किन्तु सबसे पहले उन्हें स्वयं से प्रेम था क्योंकि वह यह मानते थे कि यदि हमें अपने से प्रेम नहीं है तो हमें न तो अपने स्वास्थ्य का ध्यान होगा; न अपनी आवश्यकताओं की चिन्ता। तब यह भी संभव है कि हमें अपनी भावनाओं, आदर्शों आदि की भी चिन्ता न हो। इस प्रकार सबसे प्रेम करने के चक्कर में पड़कर व्यक्ति यदि अपनी ही तंत्री के साथ स्वर न मिला सका, उसकी संवेदना को ही न पहचान सका तो किसी अन्य के कंपन वह सुनेगा भी कैसे? अतः व्यक्ति-मात्र का कर्तव्य है कि वह पहले स्वयं को ही शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण करे, पुष्ट करे।

सच्चा हिन्दू किसी भी धर्म की निन्दा नहीं कर सकता, क्योंकि वह जानता है कि समस्त चर-अचर में एक ही व्यष्टि समाई हुई है। वह सबको प्यार करना चाहता है किन्तु कमजोर रहकर नहीं। मालवीय जी को अपने धर्म पर आक्षेप सह्य नहीं था। हिन्दू जाति को संगठित करने का प्रयास मालवीय जी ने आजीवन किया। हिन्दू समाज, 'मध्य केन्द्रीय हिन्दू समाज' हिन्दू महासभा तथा अन्य स्वयं सेवकों आदि के छोटे-छोटे दल संगठित करके स्थान-स्थान में, गाँव-गाँव में व्यायामशालायें खुलवाने का प्रयास किया ताकि हिन्दू बच्चे शक्ति सम्पन्न और संगठित होकर ईसाई या मुसलमानों को मुँहतोड़ जवाब दे सकें। कमजोरों की क्षमा को मालवीय जी उसकी दीनता से अधिक कुछ न मानते थे। जिसके सर में बाल ही नहीं, वह सर क्या मुड़ाएगा। मालवीय जी का आदर्श था कि किसी भी धर्म की निन्दा न करो, किसी के काम में बाधा न डालो लेकिन अपने ऊपर किसी का थोथा आक्षेप भी बरदाश्त न करो। गाँधी जी से मालवीय जी का इन्हीं कुछ प्रश्नों पर मतभेद रहता था। गाँधी जी हिन्दू के प्रति अत्याचार देखकर तो विशेष दुख कभी नहीं प्रकट करते थे किन्तु किसी मुसलमान को दूब की छड़ी भी छू जाती थी तो प्राण देने पर उतारू हो जाते थे। सच पूछा जाय तो देश का नेतृत्व करते हुए भी मालवीय जी को ही अपनी अयोध्या से विशेष प्रेम था। मालवीय जी ही सही माने में मानवता को समझ सके थे। भारतवर्ष की आत्मा को पहचान भी सिर्फ वे ही सके थे।

धर्म के साथ ही मालवीय जी ने विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का भी डटकर विरोध किया। राजा राम मोहन राय, रामकृष्ण परम हंस, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि के सद्प्रयासों से समाज कई एक कुप्रथायें निषिद्ध घोषित कर दी गईं, यथा सती प्रथा, बाल-विवाह आदि। किन्तु अभी भी पर्याप्त सफलता नहीं मिली थी, नर-बलि या पशुबलि भी पूर्णतया बन्द करना आवश्यक था। मालवीयजी ने इन सभी समस्याओं को उनकी जड़ से उखाड़ लिया। वेद शास्त्र से प्रमाण दे-देकर इन सबकी निरर्थकता प्रतिपादित की। उनके सद्प्रयास बलि की प्रथा धीरे-धीरे निषिद्ध होती गई, आज तो शायद ही कहीं ऐसा होता हो।

मालवीय जी ने वर्ण-व्यवस्था और आश्रम विभाजन की वैज्ञानिकता पर नये-सिरे से विचार किया जिसका सामावेश भी इस लेख की सीमा में संभव नहीं है। इसके लिए तो मालवीय जी के लेखों और भाषणों आदि के संग्रह अलग से पढ़ना बड़ा अच्छा होगा। आश्रम विभाजन के सम्बन्ध की अर्थवत्ता प्रकट कर ते हुए आपका दृष्टिकोण था कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रारम्भ के २५ वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए शिक्षा में विताने चाहिए ताकि वह शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य लेकर गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट हो। अन्त में वानप्रस्थ की अवस्था देश-दर्शन और देश सेवा की अवस्था है तथा अंत में नई पीढ़ी के लिए स्थान रिक्त करके आध्यात्मिक साधना व्यक्ति का लक्ष्य हो जाता था। इसी प्रकार वर्ण-व्यवथा कर्मों को नियमित करने का वैज्ञानिक उपकरण है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रूचि के अनुकूल किसी एक काम में विशेषता प्राप्त करके देश की उन्नति में अपनी सेवा से हाथ बटाता है।

किन्तु जैसा कि बाबू हरिश्चन्द्र जी ने नारा दिया था—विना अपनी भाषा की उन्नति हुए हृदय का शूल कैसे समाप्त होता। भारतेन्दु के इर्द-गिर्द निजभाषा प्रेमी साहित्यिकों की जमात इकट्ठी होकर अपना रचनात्मक समर्थन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी को दे रही थी। यद्यपि हिन्दी के अभिषेक की तैयारी तो बड़े जोर-शोर से हुई, तो भी अभी सफलता न मिल सकी थी। मालवीय जी तो जन्म से ही कवि, लेखक और विचारक थे। लड़कपन के झक्कड़ सिंह, कुछ और बड़े होकर 'मकरन्द' हो गए और ब्रजभाषा की सरस कवितायें तथा समस्यापूर्तियाँ भारतेन्दु के दरवार में भी भेजने लगे, किन्तु यहाँ हम उनके रचनाकार की चर्चा नहीं करेंगे वल्कि हिन्दी के राज्याभिषेक के लिए मालवीय जी ने कितना संघर्ष किया, क्या-क्या पापड़ वेले इसी की चर्चा यहाँ मैं करुँगा। फारसी मुँहचढ़ी थी, बादशाह की वेटी थी। अतः अदालत में अपने अलावा वह किसी को भी घुसने नहीं दे रही थी। शिक्षा-संस्थाओं पर अंग्रेजी का आधिपत्य था। सरकारी दफ्तर की बाबूगीरी पाने को लालयित भारतीय नवयुवक उसे समर्थन भी दे रहे थे। इसी प्रकार कोर्ट-भाषा के प्रसंग में वहाँ का बाबू वर्ग तो और भी फारसी को छोड़ना नहीं चाहता था। समस्या विचित्र थी, संघर्ष भी दोहरा-तेहरा था। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने 'बनारसी अखबार' के माध्यम से नागरी की वकालत तो खूब की थी किन्तु हवा का रूख देखकर उन्होंने और अपनी नागरी को 'फारस की चोली' पहना दी थी। इन्हीं दिनों आगरे में राजा लक्ष्मण सिंह अपना 'प्रजा हितैषी' लेकर आए जिन्होंने अभिज्ञान शाकुन्तलम् का हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमियों को पहले ही भेंट किया था। हिन्दी वस्त्रों में लक्ष्मण की इस शकुन्तला का हिन्दी-प्रेमियों ने स्वागत भी खूब किया। जिन दिनों युक्त प्रांत भारतेन्दु के नायकत्व में नागरी के राज्यभिषेक की तैयारी में व्यस्त था उन्हीं दिनों पंजाब में सन् १८६३ और १८८० ई० के बीच बाबू नवीन-चन्द्रराय ने भी उसको प्रतिष्ठित करने की धूम मचा रखी थी। इन सबके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द और श्रद्धाराम फुल्लौरी ने अपने धर्म-प्रचार के लिए भी हिन्दी को अपनाया था और उसके पठन-पाठन को भी अनिवार्यता प्रदान की थी। हिन्दी के विकास का प्रयास तो सन् १८०० में फोर्ट विलियम की स्थापना से ही आरम्भ हो गया था। "मुंशी सदासुखलाल ने उसे पुराने पण्डिताऊ ढ़ंग के कपड़े पहनाये, लल्लूलाल जी ने ब्रज का घाघरा पहनाया और

सदल मिश्र ने पूर्वी धोती। पर ये सव वस्त्र न जँचे। राजा शिवप्रसाद के मुसलमानी कपड़ों में भी वह अच्छी न लगी। इसीलिए भारतेन्दु बाबू ने उसे बिल्कुल देशी खद्दर की तो नहीं— हाँ रेशमी साड़ी पहना दी।" यह सच है और हिन्दी भाषा के विकास और स्थापन में भारतेन्दु जी की भूमिका बड़ी ही महत्त्व की थी, इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता। किन्तु मालवीय जी की भूमिका तो कई माने में उनसे भी कुछ आगे निकल गई है। हिन्दुस्तान के सम्पादन काल में ही उन्हें दो रत्न मिले थे। पं० प्रताप नारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्ट। प्रताप नारायण मिश्र का 'हिन्दी हिन्दू और हिन्दुस्तान' का नारा भी बहुत कुछ मालवीय जी के सान्निध्य का ही संस्कार था। भट्टजी के हिन्दी-प्रदीप' प्रज्वलित करने से पहले उनकी हिन्दी सेवायें हिन्दुस्तान के माध्यम से सामने आने लगी थीं। हिन्दी प्रचार की इस उत्साह-वेला में उत्पन्न मालवीय जी के हृदय में हिन्दी के लिए अगाध प्रेम और निष्ठा थीं जो सर्वप्रथम 'साहित्य समाज' (लिटरेरी इन्स्टीट्यूट) के रूप में प्रकट हुआ। सन् १८८४ ई० में आपके प्रयास से प्रयाग में ही 'हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि-मध्यसभा' की स्थापना हुई जिसने नागरी को राजपथ पर प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया। अपने पत्र 'अभ्युदय' के माध्यम से भी मालवीय जी ने राष्ट्र भाषा-प्रचार के लिए बहुत काम किया। सन् १८७६ में में भट्टजी का प्रदीप भी जल उठा और सन् १८९२ ई० में बाबू श्याम सुन्दरदास, पण्डित प्रताप नारायण मिश्र तथा ठाकुर शिवकुमार सिंह के प्रयत्न एवं मालवीय जी की प्रेरणा से काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा के प्रारंभिक उद्देश्य दो थे— 'नागरी अक्षरों का प्रचार और हिन्दी साहित्य की समृद्धि'। मेरठ में इन दोनों नागरी को पं० गौरी दत्त जी का प्रबल समर्थन मिल रहा था जिन्होंने सन् १८९४ ई० में नागरी-लिपि का व्यवहार करने के लिए एक लिखित प्रपत्र भी सरकार को दिया था लेकिन सरकार तो बहरी थी, वह उस संबन्ध में कुछ सुन ही नहीं रही थी। सन् १८९५ ई० में ना० प्र० सा० ने भी नागरी-सम्बधी अपना निवेदन छोटे लाल एण्टोनी के समक्ष प्रस्तुत किया किन्तु उसका भी कोई प्रभाव न पड़ा। अब मालवीय जी इन आन्दोलन के मुखिया बने। अपनी वकालत के सम्पन्न दिनों में गहरी छान-बीन करके आपने 'नागरी के पक्ष में प्रमाण और आँकड़े' संग्रहीत किए। "सैकड़ों स्थानों पर डेपुटेशन भेजे गए और हिन्दी भाषा और नागरी लिपि की सुन्दरता और उपयोगिता दिखलाई गई।" अपने व्यय पर मालवीय जी ने कोर्ट लिपि का इतिहास तैयार किया, प्राचीन अधिकारियों की सम्मतियाँ एकत्र कीं और 'कोर्ट कैरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजुकेशन इन नार्थ वेस्टर्न प्रौविन्सेज' नाम का विस्तृत और ऐतिहासिक निबन्ध तैयार करके २ मार्च सन् १८९८ ई० को दल-बल के सहित उसे गवर्नमेंट हाउस प्रयाग में सर एण्टोनी मैकडोनल के समक्ष प्रस्तुत किया। मालवीय जी से लोहा लेना आसान काम न था। एण्टोनी महोदय को झुकना पड़ा। मालवीय जी सफल हुए, उनकी हर बात स्वीकार की गई। इससे मुसलमानों में बड़ी खलबली मची, कचहरी के बाबू लोगों ने बड़ा विरोध किया किन्तु उनके विरोध का कोई लाभ न निकल सका। सन् १९०० ई० में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को कोर्ट में स्थान मिल गया। इस विजय ने हिन्दी-प्रेमियों के उत्साह को कई गुने और बढ़ा दिया। ना० प्र० स०

ने अपनी १ मई सन् १६१० की बैठक में हिन्दी साहित्य की उन्नति के लिए सम्मिलित प्रयास करने के उद्देश्य से 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' करने का निश्चय किया। १० अक्टूबर सन् १६१० ई० को पहला सम्मेलन ना० प्र० सभा, काशी में हुआ और उसके अध्यक्ष बनाये गए मालवीय जी। उन्होंने ही हिन्दी का राजतिलक किया था, इसके बाद तो प्रतिवर्ष कहीं न कहीं सम्मेलन होने लगे। आठवें साहित्य-सम्मेलन की अध्यक्षता महात्मा गाँधी जी ने की। सन् १६१६ में नवें सम्मेलन का अध्यक्ष पद पुनः मालवीय जी ने सुशोभित किया।

मालवीय जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित तो थे किन्तु उन्हें हिन्दी भाषा को चुन-चुन संस्कृत के शब्दों से भरना कभी पसन्द न था। वे तो सीधी, सहज और सरल लोकभाषा के ही पक्षधर रहे। उनके व्याख्यान, लेख आदि इस बात के प्रमाण हैं कि वे कितनी सुबोध और सरस भाषा के आग्रही थे। अपने रहते उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सच्चे और कर्मठ हिन्दी-सेवियों का जी भर के स्वागत किया भले ही, उनके पास लम्बी-चौड़ी डिगरी का अभाव रहा हो। वे यह बात अच्छी तरह जानते थे कि डिगरी और प्रतिभा ज्ञान एवं निष्ठा से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। उनकी संरक्षकता में बहुश्रुत साहित्य-सेवी-मनीषी बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य पं० रामचन्द्रशुक्ल तथा कविवर अयोध्यासिंह उपाध्याय, प्रसिद्ध टीकाकार लाला भगवानदीन जी आदि ने अपनी बहुमूल्य सेवाओं द्वारा हिन्दी साहित्य का भण्डार भरा है जिसे सभी जानते ही हैं। आगे भी इस परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा आदि की सेवायें हिन्दी साहित्य को मिलीं जिससे भाषा और साहित्य दोनों ही पर्याप्त समृद्ध हुए। स्वतंत्रता के पूर्व हिन्दी का केवल उत्तर-प्रदेश में ही नहीं अन्यान्य प्रदेशों में भी खूब प्रचार हुआ जिसका बहुत कुछ श्रेय मालवीय जी को ही देना पड़ेगा। उन्होंने आगे चलकर अपने हिन्दू विश्वविद्यालय की तमाम परीक्षाओं का माध्यम हिन्दी करके उसकी प्रगति का पथ और भी उन्मुक्त कर दिया। 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन की राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, वर्धा' की ओर से उत्कल, बंगाल, सिंध, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, मद्रास आदि प्रान्तों में अनेक केन्द्र खुले और लाखों की संख्या में नर-नारी सभी हिन्दी सीखने लगे तब तो हिन्दी-प्रचार के आन्दोलन में चार-चाँद ही लग गए। गाँधी जी ने ऐसे उत्साह के वातावरण में अपना एक सगूफा 'हिन्दुस्तानी भाषा' का छोड़ा। जिसमें संस्कृत और फारसी की खिचड़ी पकाई गई थी। उन्होंने इसे लिखने के लिए भी नागरी और फारसी दोनों लिपियाँ स्वीकार की। एक तरफ हिन्दी-प्रचार की धूम दूसरी तरफ उनका यह बेसुरा राग। इससे एक बार फिर हिन्दी-प्रेमियों के समक्ष संकट की घड़ी उत्पन्न हो गई। मुसलमान फिर एक बार अपनी फारसी के लिए सक्रिय हो उठे। महात्मा जी ने तो अपना महत्व जताने के लिए एक चुटकुला छोड़ दिया। उससे परेशानियाँ जो समाप्त हो गईं थी पुनः सामने गईं किन्तु इससे उन्हें क्या लेना था। मालवीय जी ने गाँधी की 'हिन्दुस्तानी' की खासी खबर ली तथा उस भ्रष्ट भाषा और लिपि से सम्पूर्ण संचित ज्ञानराशि आजायबघर की वस्तु न बन जाय, इसके लिए सक्रिय प्रयत्न किया। गाँधी जी ने अपनी इस बनावटी भाषा में बहुत सारी पुस्तकें भी तैयार की थीं। उनकी भाषा को देखकर मालवीय जी को बड़ी ग्लानि हुई। महात्मा जी के इस षड्यंत्र

का भण्डा फोड़ते हुए सन् १९३९ ई० में काशी में हुए अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन में स्वागताध्यक्ष के पद से भाषण देते हुए आपने कहा—बड़े-बड़े प्रश्न सम्मेलन और ना०प्र०स० के सामने उपस्थित हैं और यह आवश्यक है कि हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रेमी, सभा और सम्मेलन के कार्यों को ध्यान से देखते रहें और भाषा तथा लिपि की रक्षा के कार्य में बहुत सावधानता से काम करें। आपने सभा के सामने हिन्दी का ऐतिहासिक विकास निरूपित करते हुए यह स्पष्ट किया कि वह सांस्कृतिक चेतना की संवाहक है। अतः अनावश्यक और जबरन उसके भ्रष्ट किए जाने के प्रयास का हम स्वागत नहीं कर सकते। लिपि को बिगाड़ने की जो कुचेष्टा की जा रही थी उसकी ओर भी आपने सभा का ध्यान खींचा और बताया कि नागरी लिपि के कलात्मक विकास में सदियों का समय लगा है, उसे सीखने वाला बिना किसी बाधा के लिखने-पढ़ने लगता है, यही उसकी सबसे बड़ी वैज्ञानिकता है। परिवर्त्तित कर देने से वह अभ्यास की वस्तु न रहकर मशीन की चीज बन जायगी और नागरी लिपि में लिखा हमारा सम्पूर्ण वाङ्मय आजायबघर की वस्तु बन रह जायगा। मालवीय जी के आगे भला गाँधी जी की हठधर्मिता को कौन सुनता। उनकी हठधर्मिता से तो मूर्ख ही जल्दी प्रभावित हो जाते थे। सन् १९४५ ई० में गाँधी जी का त्याग-पत्र सम्मेलन ने स्वीकार कर लिया, किन्तु नागरी को दूषित करने, भाषा को भ्रष्ट करने का उनका प्रस्ताव सभा या सम्मेलन ने स्वीकार न किया। इसका बहुत कुछ क्या सम्पूर्ण श्रेय मालवीय जी को था।

मालवीय जी संक्रातिकाल के उस विराट् पुरुष के रूप में अवतरित हुए थे जिन्होंने तत्कालीन संघर्षों और विपत्तियों से हर प्रकार सम्पूर्ण देश और हिन्दू समाज की रक्षा की थी। वे अत्यन्त सहिष्णु थे, सबको प्रेम करना चाहते थे। किन्तु कमजोर होकर वे नहीं रहना चाहते थे। हर प्रकार से सुदृढ़ और सम्पन्न व्यक्ति ही उनकी दृष्टि में देश और समाज का सच्चा सेवक हो सकता है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उस विराट् का ही एक लघु संस्करण है, आशा है वह अपने संस्थापक को अपने गुरुवर मालवीय को कभी निराश नहीं होने देगा।

"मैं मालवीप जी महाराज का पुजारी हूँ। वे आचार में सर्वथा नियमित और विचार में अत्यन्त उदार हैं। द्वेष तो वे किसी से कर ही नहीं सकते। उनके विशाल हृदय में शत्रु भी समा सकते हैं।"

—महात्मा गांधी

पूज्यनीय मालवीय जी के सन्दर्भ में

दो कवितायें

रामेश्वर पाण्डेय बी.ए., भाग २ (कला)

(१)

यह कली
यू हीं खिली
कैसे गुलावी रंग में
सूर्य पहले ही गगन के मंच से
दिवस भर गाते वजाते
अन्त में
पश्चिम-क्षितिज की गोद में
था सो रहा
और पूरब में न जाने
क्यों अँधेरा हो रहा
पर तिमिर में जागरण की साधना
सनसनाते शान्त मंदिर में
हृदय की वेदना
को अर्चना के रूप में
किसलिए किसके लिये
यह अकेली फूलती है
पूर्व पर अधिकार
पश्चिम का अभी
कौन जाने कव क्षितिज पर
सूर्य का आवास होगा
कौन जाने कव उषा का
गिरि-शिखर पर वास होगा
पर न जब तक हो सकेगा
सूर्य का शुभ-आगमन
यह अकेली पंखुड़ी
तब तक खिलेगी झाड़ में
स्वयं के सौंदर्य से
माधुर्य से मधु-गन्ध से
लालिमा से व्रत-तपस्या-
से तथा सौगन्ध से
इस धरातल पर सदा
स्वयं की यश-रश्मियों से
विश्व को विकसित करेगी

(२)

एक तुम
और एक हिमालय
अन्तर कुछ नहीं
केवल इतना ही
कि—
वह जड़ है तुम चेतन
तुम भी स्थिर हो वह भी
तुम्हारी स्थिरता तुम्हारी गम्भीरता में
और उसकी स्थिरता उसकी अटलता में
(अर्थात तुम गम्भीर हो
और वह अटल)
वह भारत की सीमा पर एक प्रहरी की तरह
पहरा दे रहा है
और तुम—
विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार पर
चुपचाप खड़े हो
सामने लंका परन्तु पीछे अयोध्या
यही कारण है कि लंका की ओर मुख किये हो
चूँकि अयोध्या अपनी है
इसलिए उससे भय नहीं
और तुम्हारा साथी
तुम्हारे ही जैसा
आगे चीन पीछे भारत
भारत अपना चीन की ओर झुकाव
हर एक माप से
तुम हिमालय की परिमाप हो
अतः हे हिमराज—दृढ़संकल्पवादी
मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

●

मालवीय जी

अंग्रेजी में एक कहावत है—"राजा गया, राजा हमेशा जियो !" ठीक यही भारत-भूषण मालवीयजी महाराज के लिए कहा जा सकता है—"मालवीयजी गये, मालवीयजी अमर हों !" मालवीयजी हिन्दुस्तान के लिए पैदा हुए और हिन्दुस्तान के लिए किये गए अपने कामों में जीते हैं। उनके काम बहुत हैं। बहुत बड़े हैं। उनमें सबसे बड़ा हिन्दू-विश्व-विद्यालय हैं। गलती से उसे हम बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के नाम से पहचानते हैं। उस नाम के लिए दोष मालवीयजी महाराज का नहीं, उनके पैरोकारों का रहा है। मालवीयजी महाराज दासानुदास थे। दास लोग जैसा करते थे, वैसा वह करने देते थे। मुझे पता है कि यह अनुकूलता उनके स्वभाव में भरी थी। यहांतक कि बाज दफा वह दोष का रूप ले लेती थी; लेकिन 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' वाली बात मालवीय महाराज के बारे में भी कही जा सकती है। उनका प्रिय नाम तो हिन्दू-विश्वविद्यालय ही था। और यह सुधार तो अब भी करने योग्य है। इस विद्यालय का हरेक पत्थर शुद्ध हिन्दू-धर्म का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। एक भी मकान पश्चिम के जड़वाद की निशानी न हो; बल्कि अध्यात्म की निशानी हो। और जैसे मकान हों, वैसे ही शिक्षक और विद्यार्थी भी हों। आज हैं? प्रत्येक विद्यार्थी शुद्ध धर्म की जीवित प्रतिमा है? नहीं है, तो क्यों नहीं है? इस विश्वविद्यालय की परीक्षा विद्यार्थियों की संख्या से नहीं, बल्कि उसके हिन्दूधर्म की प्रतिमा होने से ही हो सकती है, फिर भले वह थोड़े ही क्यों न हों।

मैं जानता हूँ कि यह काम कठिन है। लेकिन यही इस विद्यालय की जड़ है। अगर यह ऐसा नहीं है तो कुछ नहीं है। इसलिए स्वर्गीय मालवीयजी के पुत्रों का और उनके अनुयायियों का धर्म स्पष्ट है। जगत में हिन्दूधर्म का क्या स्थान है? उनमें आज क्या दोष हैं? वे कैसे दूर किये जा सकते हैं? मालवीयजी महाराज के भक्तों का कर्त्तव्य है कि वह इन प्रश्नों को हल करें। मालवीयजी अपनी स्मृति को छोड़ गये हैं। उनको स्थायी रूप देना और उनका विकास करना उसका श्रेष्ठ स्मृति-स्तम्भ होगा।

विश्वविद्यालय के लिए स्व० मालवीयजी ने काफी द्रव्य इकट्ठा किया था, लेकिन बाकी भी काफी रहा है। इस काम में तो हरेक आदमी हाथ बंटा सकता है।

यह तो हुई उनकी बाह्यप्रवृत्ति। उनका आन्तरिक जीवन विशुद्ध था। वह दया के भंडार थे। उनका शास्त्रीय ज्ञान बड़ा था। भागवत उनकी प्रिय पुस्तक थी। वह सजग कथाकार थे। उनकी स्मरण-शक्ति तेजस्विनी थी। जीवन शुद्ध था, सादा था।

उनकी राजनीति को और दूसरी अनेक प्रवृत्तियों को छोड़ देता हूँ। जिन्होंने अपना सारा जीवन सेवा को अर्पित किया था और जो अनेक विभूतियाँ रखते थे, उनकी प्रवृति की मर्यादा हो नहीं सकती। मैंने तो उनमें से चिरस्थायी चीजें ही देने का संकल्प किया था। जो लोग विश्वविद्यालय को शुद्ध बनाने में मदद देना चाहते हैं, वे मालवीयजी महाराज के अंतरजीवन का मनन अनुसरण करने की कोशिश करें। (ह० से०, ८.१२.४६)

....

मालवीयजी महाराज ने भी हिन्दी के लिए बहुत काम किया था। मगर उर्दू जबान को काट डालो, ऐसा कहते मैंने उनको कभी नहीं सुना। (प्रा० प्र०, १५.१०.४७)

— महात्मा गांधी

कला और साहित्य



शोध के क्षेत्र में हिन्दी विभाग और उसके शोध छात्रों का अवदान

डा० श्यामसुन्दर शुक्ल
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

सन् १९१६ ई० में स्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के इस हीरक जयन्ती वर्ष में यदि हम सन् १९२३-२४ में गठित हिन्दी विभाग की सन् १९३३ से आरम्भ शोध यात्रा के विविध आयामों, आरोह-अवरोहों और उपलब्धियों का आकलन करें तो यह अप्रासंगिक न होगा। ज्ञातव्य है कि सन् १९५० ई० तक इस विभाग से मात्र ६ शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हुए जो सभी डी. लिट्. की उपाधि के लिए प्रस्तुत किये गये थे। इस अवधि (सन् १९३३ से १९५० के बीच) में जिन शोध प्रबंधों पर डी. लिट् की उपाधि मिली थी, काल क्रमानुसार उनके नाम इस प्रकार हैं —

(१) 'दी निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोयट्स' (हिन्दी काव्य में निर्गुन संप्रदाय)
लेखक—श्री पीतांवरदत्त बड्थ्वाल।

(२) आधुनिक हिन्दी कविता का विकास—श्री केशरी नारायण शुक्ल।

(३) प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा।

(४) तुलसीदास और उनका युग—श्री राजपति दीक्षित।

(५) मुहावरा मीमांसा—श्री ओमप्रकाश गुप्त।

(६) गीति काव्य का उद्गम और विकास तथा हिंदी साहित्य में उसकी परंपरा—
श्री शिव मंगलसिंह 'सुमन'।

इनमें से प्रथम शोध-प्रबंध मूलतः अंग्रेजी में ही लिखा गया था। इसका मूल और हिन्दी रूपान्तरण-दोनों प्रकाशित हैं। शेष पाँचों प्रवन्ध भी प्रकाशित और विद्वत्तापूर्ण हैं। संभवतः सन् १९५० के पश्चात् इस विश्वविद्यालय ने डी लिट्. के स्थान पर पी-एच. डी. की उपाधि का आरम्भ किया और डी. लिट् को इसको आगे की उपाधि के रूप में पदोन्नत कर दिया। जब से इस उपाधि की पदोन्नति हुई, उसके पश्चात् २०५ पी-एच. डी. के शोध प्रवन्ध स्वीकृति हुए परन्तु डी. लिट् की उपाधि सबकी पहुँच के बाहर अब तक बनी हुई है। दोष व्यवस्था का है या शोध कर्त्ताओं का, यह स्वयं में एक शोध का विषय है।

सन् १९२४ से १९३७ तक हिन्दी के प्रथम अध्यक्ष के रूप में बाबू श्यामसुन्दर दास

बने रहे। उनके कार्यकाल में शोध-प्रबन्धों की संख्या ३ से अधिक नहीं बढ़ पाई परन्तु हिंदी को उच्चस्तरीय कक्षाओं में अध्ययन का विषय एवं उसे सर्वविधि सक्षम बनाने के लिए जो कुछ उपक्रम करणीय था, उन्होंने स्वयं के प्रयासों से अपने और अपने सहयोगियों तथा शिष्यों के सहयोग से वह सब कुछ संपन्न किया। इस प्रकार हिंदी की सांगोपांगता में अभिवृद्धि हुई और भावी शोध कार्य की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। क्या साहित्य का इतिहास, क्या भाषा विज्ञान, शब्दकोश, समीक्षा शास्त्र, संपादन, व्याकरण और पाठ्यग्रंथों का संकलन एवं प्रकाशन—सभी क्षेत्रों में इस काल में अभूतपूर्व कार्य हुआ।

सन् १९३७ से १९५० के बीच आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं पं० केशव प्रसाद मिश्र हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। यह काल बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा प्रारम्भ की गई योजनाओं के सफल कार्यान्वयन का काल था। यद्यपि इस अवधि में डी. लिट् की उपाधि केवल तीन ही भाग्यशालियों को प्राप्त हुई परन्तु अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से हिन्दी और हिन्दी विभाग दोनों समर्थ एवं प्रशस्त हो गये।

शोध का वास्तविक युग आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अध्यक्ष पद पर आने के पश्चात् आरंभ होता है और इस अवधि की सर्वप्रथम कृति के रूप में सन् १९५२ ई० में श्रीमती शकुन्तला दुबे का 'हिन्दी काव्य रूपों का उद्भव और विकास' शीर्षक शोध प्रबन्ध पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत हुआ। अतः शोधकार्य का यह काल अब तक केवल २५ वर्षों के बीच ही सीमित है। इस प्रकार पी-एच. डी. के २०५ शोध प्रबन्धों में १० प्रबन्ध अन्य भाषा-भाषी छात्र-छात्राओं के हैं और ६० प्रबन्ध शोध कर्तृओं द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं—का प्रस्तुतीकरण मात्र २५ वर्षों का ही कृतित्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १९६० अर्थात् जब तक द्विवेदी जी हिंदी के विभागाध्यक्ष थे, १० वर्षों में सब मिलाकर पी-एच. डी. के ३० शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हो चुके थे और अनेक शोध-छात्र कार्यरत थे। द्विवेदी जी की विलक्षण सूझ-बूझ और उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का लाभ उनके शोध छात्रों को सतत् मिलता रहा और उनके कार्य-काल में लिखे गये प्रबन्धों से अधिकांश का ऐतिहासिक महत्त्व है।

सन् १९६० से १९६५ तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा वर्तमान थे। उन्होंने अपने अध्यक्षत्व काल में हिन्दी विभाग का बड़ी ही तीव्र गति से विस्तार किया और समान्वित शोधकार्य के लिए उन्होंने एक बहुत अच्छा वातावरण उत्पन्न किया। इसका प्रमाण यह है कि उनके मात्र पाँच वर्षों के अध्यक्ष पद के कार्य-काल में ही ३१ शोध प्रबन्ध स्वीकृत हुए। शोधात्मक उपलब्धियों की दृष्टि से यह युग भी महत्वपूर्ण है। इस काल के प्रबंधों में विषयों की व्यापकता और शोधार्थियों की बहुमुखी शोध यात्रा अनेक दृष्टियों से संभावनापूर्ण दिखाई देती है।

सन् १९६५ से ही डॉ० विजयपाल सिंह का अध्यक्षत्वकाल प्रारंभ होता है। जहाँ तक शोध प्रबन्धों के संख्या-बल का प्रश्न है, मात्र १०-११ वर्षों में १५० के आस-पास की संख्या में शोध प्रबंधों का स्वीकृत होना अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है। यदि हम इन प्रबंधों के गुणात्मक वैशिष्ट्य को नज़र अन्दाज़ कर दें तो यह शोध के क्षेत्र में हिन्दी विभाग की बहुत बड़ी देन मानी जायगी। इस अवधि में शोधार्थियों की भीड़ इस तरह बढ़ गई

जैसे कोई सेठ अपने घर की देहली पर खड़ा होकर लड्डू बांट रहा हो और उसे लपकने वाले धक्का-मुक्की करते हुए उसे प्राप्त करते जा रहे हों। शोध के स्तर में ह्रास और सतत् बढ़ती हुई भीड़ के मूल में पी-एच० डी० उपाधि का अवमूल्यन ही मुख्य कारण है। अब यह किसी महाविद्यालय में नौकरी पाने के लिए एक अनिवार्य सनद हो गई है और बिना इसे पाये उसके द्वार तक फटक पाना स्वप्नवत् हो गया है।

दिनों दिन बढ़ती हुई वेकारी को छिपाने, समय काटने और नौकरी ढूँढने के साथ विद्यार्थी या शोधार्थी बने रहने का मोह, उपाधि का मूल्य ह्रास, आसानी से एक और उपाधि जोड़ लेने का व्यामोह अथवा कुछ अंश में ज्ञानार्जन की इच्छा आदि ऐसे कारण हैं जिन्हें यह भीड़ आकर्षित होती चली जा रही है। इसके साथ शोध निर्देशकों की भी अपनी परेशानी है। जिसे शुद्ध भाषा लिखने और बोलने का अभ्यास नहीं है, जिसका ज्ञान अत्यन्त दरिद्र है, उस शोध छात्र को भी नियमों के अन्तर्गत उन्हें निर्देशनार्थ लेना ही है, अतः उन्हें अन्य विश्वविद्यालयों के अध्यापकों से एक मौन समझौता यह कर लेना पड़ा है कि कोई किसी के शोध छात्र के पी-एच० डी० होने में बाधा नहीं पहुँचाएगा।

अब देखना यह है कि हमारे २०५ शोध प्रवंधों की वस्तुगत स्थिति क्या है और आगे के संभावित विषय क्या हो सकते हैं ? इस दृष्टि से स्वीकृत सभी प्रवंधों का वर्गीकरण करने के पश्चात् हम देखते हैं कि शोध छात्रों में अधिकांश का झुकाव आधुनिक काल की ओर ही दिखाई देता है। ऐतिहासिक काल क्रमानुसार यदि शोध विषयों को वर्गीकृत करके इसका एक सर्वेक्षण करें तो स्पष्ट होता है कि आदिकाल से संवद्ध विषयों पर केवल ४ शोध प्रबन्ध ही लिखे गये हैं। इनके अतिरिक्त मध्यकाल की विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों और काव्य-विधाओं पर ७६ शोध कर्ताओं के प्रवन्ध स्वीकृत हुए हैं। इस प्रकार आधुनिक काल से पूर्व के विषयों से संवद्ध शोध प्रबन्धों की संख्या ८० हो जाती है। आधुनिक काल की समस्त गद्य-पद्यमय-विधाओं पर अब तक ८७ शोध प्रवन्ध तथा भाषा संबंधी अध्ययन, भाषा विज्ञान और समीक्षा शास्त्र आदि संबंधी ३७ प्रवन्ध स्वीकृत हो चुके हैं। आधुनिक काल के साहित्य से ही शोध छात्रों का इतना लगाव क्यों है, यह अलग से एक विचारणीय विषय है।

जहाँ तक साहित्य से संवद्ध अन्य विषयों पर शोध करने का प्रश्न है, शोध प्रबंधों के शीर्षकों से स्पष्ट होता है कि काव्य रूप, भारतीय समीक्षा, भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र की तुलना तथा इनके विकासात्मक एवं व्यावहारिक स्वरूप के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले शोध प्रबन्धों की संख्या १३ है। साथ ही भाषा विज्ञान, भाषा वैज्ञानिक अध्ययन एवं व्याकरणिक विषयों से संवद्ध शोध प्रवंधों की संख्या भी १८ है परन्तु जहाँ तक उनके गुणात्मक महत्त्व की बात है, इनमें से केवल ५-६ ही प्रवंध ऐसे हैं जो उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। आधे दर्जन शोध प्रवन्ध ऐसे भी हैं जिनके विषय लोकगीत, संगीत-वाद्य विभिन्न राजदरबारों और प्रकाशन संस्थाओं के हिन्दी को योगदान आदि से संबंधित हैं।

शोध प्रबंधों का ऐतिहासिक क्रमानुसार वर्गीकरण—आदि काल—इसका विस्तार मुख्यतः १० वीं शती से १४ वीं शती तक माना जाता है। इस काल की आरंभिक शताब्दी

(१० शताब्दी) पर श्री रामदुलारे सिंह का '१० वीं शती के राष्ट्रीय जागरण का तत्कालीन हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' (१९७१) शीर्षक शोध-प्रवन्ध बहुत अच्छा प्रकाश डालता है। वस्तुतः यह शताब्दी हिन्दी भाषा और साहित्य की भूमिका की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विवादास्पद है। इस युग की सर्वप्रमुख रचना पृथ्वीराज रासो पर श्री नामवर सिंह ने 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' (१९५६) शीर्षक प्रवन्ध लिखकर एक बहुत ही विवाद-ग्रस्त विषय पर प्रामाणिक रूप से विश्लेषण-परक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार शिवप्रसाद सिंह ने 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और साहित्य' (१९५७) विषय पर कार्य करके ऐसे विषय के रहस्यों को उद्घाटित किया है, जिस पर शायद कुछ ही लोगों के पास कोई जानकारी रही होगी। सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा का कोई अस्तित्व ज्ञान था या नहीं इसका तो पता चलता नहीं, परन्तु सहसा सूर-साहित्य में उसका इतना बड़ा उत्कर्ष अत्यन्त आश्चर्यकारक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जब हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा था, उस समय आदिकाल की सामग्री का बड़ा अभाव था। सर्वप्रथम आचार्य प्रसाद द्विवेदी ने अपने अनुसंधानों एवं नवीन सामग्रियों के आधार पर 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'आदिकाल' की नामक ग्रंथों की रचना की थी परन्तु इस काल की सामग्रियों का मिलना जारी रहा और अब उनके कार्य से आगे बढ़कर कोई नवीन कृति देने की आवश्यकता आ गई थी, अतः श्री शम्भुनाथ पाण्डेय ने इस अभाव की पूर्ति अपने 'नवोपलब्ध सामग्रियों के आलोक में हिन्दी के आदि कालीन साहित्य का पुनर्परीक्षण' (१९६६) नामक शोध प्रवन्ध द्वारा करके एक स्तुत्य कार्य किया।

मध्यकाल—हिन्दी के आदिकाल को एक प्रकार से 'अन्धकार काल' कहा जा सकता है परन्तु इसका मध्यकाल स्वर्णकाल के लिये मान्य है। इसमें कला, साहित्य और संस्कृति की अनेक उल्लेखनीय कृतियाँ इस युग ने प्रदान की हैं। इनमें से यदि हम केवल साहित्य का ही विकास देखें तो पाते हैं कि इसका पूर्वार्द्ध भक्ति सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ ओत-प्रोत है, जबकि इसके पूर्वार्द्ध में भक्ति, रीति, शृङ्गार, नीति आदि अनेक विषयों से सम्बद्ध अलंकृत-अनलंकृत असंख्य रचनाएँ प्रस्तुत की गईं। वैविध्य और समृद्धि की दृष्टि से यह युग साहित्य के बहुमुखी विकास का युग है। अतः साहित्य अनुसंधित्सुओं का ध्यान बड़ी संख्या में इस ओर स्वभावतः आकर्षित हुआ है और जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सब मिलाकर ७६ शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं जो इस युग की समस्त ज्ञातव्य सामग्री पर प्रकाश डालने में सक्षम हैं।

इनमें से ९ शोध प्रबन्ध ऐसे हैं जो समूचे मध्यकाल (पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल) के लगभग ५०० वर्षों के साहित्यिक विकास को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से समेटने का प्रयत्न करते हैं। भक्तिकाल की प्रवृत्तियों को अपने कलेवर में आवेष्टित करते हुए प्रस्तुत किये गये प्रवन्धों में श्री कपिलदेव पाण्डेय का 'मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद' (१९६०) और श्री सकलदीप सिंह का 'मध्यकालीन भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य की साहित्यिक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन' (१९६९) विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री त्रिभुवन सिंह का 'मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत कविता और मतिराम' (१९५८) श्री ब्रजविलास श्रीवास्तव का 'मध्यकालीन हिन्दी प्रबन्ध काव्य में कथानक रूढ़ियाँ' (१९६२) और श्रीमती कृष्णा गुप्ता का 'कथा परंपरा

निकाय ::

और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में उसका स्वरूप' (१९६६) शीर्षक प्रवन्ध ऐसे हैं, जो मध्यकालीन समस्त साहित्यिक विशेषताओं को समग्र रूप से हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

इस्लामी संस्कृति और मुसलमान कवियों के हिन्दी के अवदान से संवद्ध दो प्रवन्ध—कु० जमीला कुरेशी का 'इस्लामी संस्कृति का मध्ययुगीन साहित्य में योगदान' (१९६३) तथा श्री उदयशंकर श्रीवास्तव कृत मध्ययुगीन हिन्दी में सूफीतर मुसलमान कवि' (१९६८) बड़े ही ज्ञानवर्द्धक एवं शोधपूर्ण हैं। कु० गीता कपूर का 'मध्यकालीन रीति काव्य में नारी भावना' (१९६५) और श्री अपरवल राम का 'करकण्डचरित और मध्ययुगीन हिन्दी के प्रवन्ध काव्य' (कथा शिल्प की परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन) (१९७१) शीर्षक दो प्रवन्धों से भी इस युग को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

भक्ति काल—मध्यकालीन युग के पूर्वार्द्ध अर्थात् भक्ति काल के लगभग ३०० वर्षों के साहित्य में भक्ति का आन्दोलन देशव्यापी तथा सर्वप्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में उभरा था। भक्ति की इस व्यापकता को समझने में श्री हिरण्मय के 'हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आंदोलन' (१९५६) तथा श्री एम. चन्द्रकांत मुदालियर के 'हिन्दी तथा तमिल के भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' (१९६३) से बड़ी सहायता मिलती है। भक्ति-धारा का पंजाव में क्या स्वरूप था। इसका स्पष्ट चित्र श्री धर्मपाल मैत्री के 'श्री गुरु ग्रंथ साहिव में संत कवियों के धार्मिक विश्वासों का अध्ययन' (१९५९) शीर्षक प्रवन्ध में देखा जा सकता है। भक्ति काल में पाई जाने वाली रीतिकालीन प्रवृत्तियों और विरहानुभूति संवधियों अभिव्यक्तियों का मर्म स्पष्ट करने के उद्देश्य से श्री शोभनाथ सिंह के 'भक्तिकाल में रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ और सेनापति का विशेष अध्ययन' (१९६७) तथा श्री चौथीराम यादव के 'मध्यकालीन भक्तिकाव्यों की विरहानुभूति' (१९७१) शीर्षक प्रवन्ध उपयोगी कृतित्व हैं। तत्कालीन सामाजिक जीवन की झाँकी श्री नंवरदास पाठक के 'भक्तिकालीन् साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन' (७४) में स्पष्ट रूप से अंकित है। इस काल के काव्यरूप और साहित्य में प्राप्त लोक तत्त्व पर लिखित क्रमशः 'भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य के काव्य रूप' (श्री रामनारायण शुक्ल, ७१) तथा हिंदी भक्ति साहित्य में लोकतत्त्व' (श्री रवीन्द्रनाथ राय, १९५९) शीर्षक प्रवन्धों को एक 'सत्प्रयास' की संज्ञा दी जा सकती है। 'भक्तिकालीन निर्गुण-सगुण धारा : एक तुलनात्मक अध्ययन' (श्री रामनरेश मिश्र, १९७४) में भक्तिकाल की दोनों विशिष्ट धाराओं का वैचारिक विश्लेषण और साहित्य-विवेचन अपनी समग्रता में पूर्ण हैं। श्रीमती प्रभावती सिंह का 'अब्दुर्रहीम खानखाना : व्यक्तित्व ओर कृतित्व' (७६) भक्तिकाल के एक ऐसे व्यक्तित्व से संवद्ध है जो तत्कालीन हिन्दू और मुसलमान दोनों को परस्पर निकट लाने और समन्वय स्थापित करने के क्षेत्र में अकबर के बाद दूसरा सर्वाधिक सशक्त माध्यम था।

(१) ज्ञानाश्रयी शाखा—ज्ञानाश्रयी भक्तिशाखा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनसे प्रभावित अनेक आलोचकों ने साहित्य-वैशिष्ट्य की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं दिया है परन्तु इसके अन्तर्गत समाविष्ट संत कवियों की वैचारिक देन और लोकाराधन के महत्त्व को प्रायः सभी लोग स्वीकार करते हैं। वस्तुतः यह साहित्य की वह जनवादी आवाज़ थी जो समाज के सामान्य वर्ग से उठी थी और जिसमें शोषण, उत्पीड़न और दैनिक जीवन के दुख

दर्द की प्रतिध्वनि थी। इनके चिंतन के मूलाधार को समझाने के लिए श्री नागेन्द्रनाथ उपाध्याय के 'नाथ और सन्त साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' (१९६१) और श्री मोती सिंह का 'निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' (१९५८) दो उपयोगी कृतित्व एवं आधारभूत माध्यम हैं।

संत कवियों की दार्शनिक मान्यताओं के विवेचन से संबद्ध शोध प्रबन्धों की सूची इस प्रकार है –

१—श्री गिरीशचंद्र तिवारी—'कबीर दास के बीजक की दार्शनिक व्याख्याओं का आलोचनात्मक अध्ययन'—१९५८ ई०

२—श्रीमती रेणुका सिंह—'संत साहित्य का दार्शनिक अध्ययन'—१९६७ ई०।

३—श्री देवनाथ—'कबीर और दादू के साधनात्मक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन' १९७२ ई०।

४—श्री केशव प्रसाद सिंह—'दादू पंथ एवं उसके साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन'—१९६६ ई०।

५—श्री राधेश्याम दुवे—'औपनिषदिक विचार धारा के परिप्रेक्ष्य में संत साहित्य का अनुशीलन' १९७४ ई०।

उसी प्रकार श्री प्रेमीराम मिश्र का 'भारतीय रहस्यवाद की परम्परा और संत पलटू दास' (७०) और श्रीमती किरण मिश्रा का 'निर्गुण भक्ति शाखा के निरंजनी संप्रदाय का आलोचनात्मक अध्ययन' (६६) से भी क्रमशः पलटूदास और निरंजनी संतों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ज्ञानाश्रयी शाखा का मूलस्वर सगुण धारा से भिन्न नहीं है, इस स्थापना को लेकर प्रस्तुत किये गये 'हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति का स्वरूप' शीर्षक डा. श्याम सुन्दर शुक्ल के शोध प्रबंध के निष्कर्षों में विवाद की पर्याप्त गुंजाइश है।

(२) प्रेमाश्रयी शाखा अथवा प्रेमाख्यानकों की परम्परा—हिन्दी में निर्गुण-धारा की प्रेमाश्रयी शाखा भी कम सशक्त नहीं है इस धारा के कवियों ने अवधी भाषा के माध्यम से चौपाई–दोहा छंदों में भारतीय समाज में प्रचलित लोककथाओं के माध्यम से 'इश्क हकीकी' और 'इश्क मिजाजी' का जो समन्वित तथा तद्रूप स्वरूप उपस्थित किया, उसका साहित्य भारतीय समाज में बड़ा जनप्रिय हुआ। इस परंपरा में दो शैलियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं—(१) मसनवी शैली और (२) भारतीय प्रेमाख्यानक शैली। प्रथम शैली पर रचित कृतियों से संबद्ध शोध प्रवंधों के नाम हैं—

(१) 'फारसी मसनवी शैली और भारतीय प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों की समीक्षा'—श्री ऋषिकेश शुक्ल (१९७१)

(२) 'उत्तरमध्यकालीन सूफी काव्य और नूर मुहम्मद'—श्रीमती नीलम राय (१९७६)

(३) 'पद्मावत में लोक संस्कृति का अध्ययन'—कु० वीना उपाध्याय (१९७६)

भारतीय प्रेमाख्यानकों की शिल्पगत विशेषताओं की पृष्ठभूमि श्री प्रेमचंद जैन के 'अपभ्रंश कथा काव्यों का हिन्दी प्रेमाख्यानकों के शिल्प पर प्रभाव' (१९६६) शीर्षक प्रबन्ध

द्वारा भली-भाँति समझी जा सकती है। इसी प्रकार कु० माधुरी आचार्य का 'हिंदी प्रेमाख्यानक काव्यों की परंपरा में कुतबुन कृत मृगावती की समीक्षा' (१९७०) का पूर्वार्द्ध तो प्रेमचंद जैन के ही प्रबन्ध की पुनरावृत्ति है परन्तु 'मृगावती' पर विशिष्ट प्रकाश इसकी प्रमुख विशेषता है। इसी क्रम में लिखित श्री मदनमोहन श्रीवास्तव के 'चंदायन : साहित्यिक स्वरूप एवं विवेचन' (७१) तथा श्रीमती उषा सिंह के 'माधवानल कामकंदला पर आधारित कला काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन' (७४) से सूफीतर प्रेमाख्यानकों की विशेषताओं का अच्छा उद्घाटन हुआ है।

(ख) सगुण भक्ति धारा—सगुण भक्ति काव्य की भूमिका के रूप में श्री रामनरेश वर्मा का 'हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका' नामक प्रबन्ध एक विशेष कृति है। सगुण काव्य-धारा को समग्रता और स्पष्टता के साथ समझाने का जहाँ तक प्रश्न है, इसके समकक्ष एक भी शोध-प्रबन्ध नहीं है। अधिकांश प्रबन्ध स्पष्टतः कृष्णभक्ति धारा या रामभक्ति-धारा से सम्बद्ध हैं और अपने-अपने क्षेत्र के अनुशीलन एवं विवेचन में प्रयत्नरत दिखाई देते हैं। अतः इनका अलग-अलग परिचय देना उचित होगा।

(१) कृष्णभक्ति साहित्य से सम्बद्ध अध्ययन—कृष्णभक्ति साहित्य पर लिखित शोध-प्रबन्धों को ४ कोटियों से बाँटा जा सकता है—

(१) समस्त कृष्ण भक्ति साहित्य की उपासना एवं काव्य कृतियों का मूल्यांकन करनेवाले प्रबन्ध, यथा—श्री पूर्णमासी राय का 'हिन्दी के कृष्ण भक्ति साहित्य में मधुर भाव की उपासना' (१९५८) तथा श्री हौसिला प्रसाद सिंह का 'कृष्ण भक्ति शाखा में हिंदी कवियित्रियों का योगदान' (१९६८)।

(२) केवल अष्टछाप के कवियों तक ही सीमित प्रबन्ध, जैसे श्री विश्वनाथ प्रसाद श्रीवास्तव का 'अष्टछाप के कवियों की सौन्दर्यानुभूति' (६७) तथा श्री महावीर उपाध्याय का 'अष्टछाप के कृष्णभक्ति साहित्य में लोकतत्त्व' (७६)।

(३) सूरदास और सूरसागर से सम्बद्ध प्रबन्ध—यथा, श्री मैनेजर पाण्डेय का 'सूर साहित्य : परम्परा और प्रतिभा' (६८) तथा श्री मान्धाता राय का 'सूरसागर और प्राकृत-अपभ्रंश का कृष्णभक्ति साहित्य' (७३)।

(४) अन्य कृष्णभक्त कवियों से सम्बन्धित प्रबन्ध, यथा—'पुष्टिमार्गीय परम्परा में रसखान का अनुशीलन' (चन्द्रलेखा शर्मा, ७४) और 'चरनदासी सन्त जुगतानन्द और उनका काव्य' (शम्भुनारायण मिश्र, ७६)।

रामभक्ति शाखा के साहित्य से सम्बन्धित शोधकार्य—रामभक्ति शाखा का यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अलग अस्तित्व स्वीकार किया है परन्तु गोस्वामी तुलसीदास के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा कवि नहीं है, जिसकी रचना उत्कृष्ट कोटि का हो। अतः इस भक्ति-शाखा के शोधार्थियों ने अपने को केवल उन्हीं तक सीमित न रखकर 'रामलीला' और 'रामश्वमेघ' जैसे विषयों को भी अपने प्रबन्ध का विषय बनाया है। इस दृष्टि से इस शाखा से सम्बद्ध अब तक के १४ प्रबन्धों को हम विषयानुसार मुख्यतः इन तीन कोटियों में विभक्त

कर सकते हैं--(१) गो० तुलसीदास, (२) उनको 'मानस' आदि कृतियों तथा (३) रामकथा से सम्बन्धित इतर विषयों से सम्बद्ध प्रबन्ध ।

प्रथम कोटि में समाविष्ट होनेवाले प्रबन्ध हैं—(१) 'तुलसी की कारयित्री प्रतिभा का अध्ययन' (श्रीधर सिंह, ६१) (२) 'तुलसीदास की काव्यगत चेतना' (श्री धीरेन्द्र वहादुर सिंह, ६९) (३) 'गोस्वामी तुलसी दास का भक्ति मार्ग' (श्री राममोहन पाण्डेय ७४) (४) 'मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में तुलसी और आधुनिक काव्य' (जटाशंकर द्विवेदी, ७५) ।

द्वितीय कोटि में हम श्रीमती कामिनी महेन्द्र के 'रामचरित मानस में चित्रित राजनीति और उसका आदर्श' (६६) श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी के 'रामचरित मानस के नारी पात्र' (६६) श्री वैजनाथ मिश्र के 'तुलसी के काव्य में नीति' (७०) श्री गया सिंह के 'तुलसीदास के काव्य में लोकतत्त्व' (७२) श्री सुदामा प्रसाद के 'भक्तिकालीन मुक्तक काव्य-परम्परा और विनय पत्रिका' (७३) श्री कन्हैया लाल के 'रामचरित मानस का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन और श्री विश्वनाथ अय्यर के 'तुलसी और तुन्चन्तु इशुत्त का तुलनात्मक अध्ययन' (उनके रामायण के आधार पर, १९७४) की गणना कर सकते हैं ।

श्री मोहनराम यादव के 'रामलीला की उत्पत्ति और विकास' (६२) तथा श्रीमती सुधा पाण्डेय के 'हिन्दी काव्य में रामाश्वमेध' (७६) का समावेश तृतीय कोटि में किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन भक्ति-साधना से सम्बद्ध चारों प्रमुख धाराओं, उनके विशिष्ट कवियों और उनकी कृतियों पर विभिन्न दृष्टियों से अनुशीलन एवं विवेचनपरक अनेक प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं, फिर भी भावी अनुसन्धान कार्यों के लिए इस धारा के साहित्य में अभी अनेक विषय अछूते हैं। रामभक्ति शाखा का रसिक सम्प्रदाय और रामानन्दी भक्तों की अनेक रचनाओं पर शोध कार्य किया जा सकता है ।

(२) उत्तर मध्यकाल—उत्तर मध्यकाल अपनी प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियों के कारण ही रीतिकाल या शृंगारकाल की संज्ञा से अभिहित किया जाता है; अतः इसके इन्हीं दो मूल विषयों की खोज को हम आधारभूत कार्य मान सकते हैं । इस दृष्टि से श्री बच्चन सिंह के 'रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यञ्जना' (१९५६) तथा श्री रामजी मिश्र के 'रीतिकाव्य के स्रोत' (६६) को हम ऐतिहासिक महत्त्व की कृतियाँ घोषित कर सकते हैं। डॉ० त्रिभुवन सिंह के महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण वृत्ति' (१९५८) की गणना भी इसी कोटि में की जा सकती है परन्तु प्रसंगवशात् इस प्रबन्ध का उल्लेख मध्यकालीन साहित्य से सम्बद्ध प्रबन्धों की कोटि में पहले ही किया जा चुका है, अतः यहाँ उसका नामोल्लेख नहीं किया गया । 'रीति' के अन्तर्गत विशिष्ट रचना-पद्धति और काव्य-शास्त्र—दोनों का अर्थ निहित है। इस दृष्टि से इस काल के लक्षण ग्रन्थों और उनके रचयिताओं का विशिष्ट महत्त्व है। इस विषय पर

निकाय !!

प्रकाश डालने वाले प्रबन्धों में श्रीमती कौशल्या गुप्ता के 'रीतिकालीन कविता में वेश-भूषा' (६३) तथा श्री सूर्यनारायण द्विवेदी के 'रीतिकालीन कवि और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त' जैसे विषयों के साथ निम्नलिखित प्रबन्धों को विशेष महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए—

(१) रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों में भाषा भूषण का स्थान—
श्रीमती सावित्री श्रीवास्तव (६६)

(२) चिंतामणि, कुलपति और श्रीपति का तुलनात्मक अनुशीलन—
श्री रामकुंअर राय (६९)

(३) हिन्दी साहित्य में आचार्य भिखारीदास का कृतित्व—
श्री राजेश्वर सहाय त्रिपाठी (७०)

(४) रीतिकालीन काव्य-शास्त्रीय चिन्तन में पदुमनदास का योगदान—
श्री कुबेर राय (७२)

(५) रीतिकालीन साहित्य शास्त्र एवं आचार्य कवि प्रताप सिंह—
श्री बलराम दास (७४)

(६) रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों में काव्यशास्त्रीय विवेचन—
श्री अंबिका प्रसाद सिंह (७६)

(७) रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्यों के शिल्प-विधान का तुलनात्मक अध्ययन—
श्रीमती सूर्यबाला श्रीवास्तव, १९६६ ई० ।

इनके अतिरिक्त श्री चतुर्भुज सहाय का 'पद्माकरोत्तर रीतिकाव्य' (६६) श्री बसन्त सिंह का 'रीतिकालीन भक्ति काव्य' (६८) तथा उषा माथुर का '१९वीं शती का ब्रजभाषा काव्य' (६७) तीन ऐसे शोध प्रबन्ध हैं, जो या तो रीतिकाल की काल-सीमा के बाहर हैं या प्रमुख प्रवृत्तियों से हटे हुए विषयो से सम्बद्ध हैं। परन्तु इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि रीतिकाव्यों की परम्परा द्विवेदी युग तक किसी न किसी रूप में चलती रही और भक्तिकाल से चली आ रही भक्ति-धारा की काव्य-रचना-परम्परा रीतिकाल में भी चलती रही। अतः इन दोनों शोधकर्ताओं ने बड़े ही उपयुक्त विषय पर शोध कार्य किया।

आधुनिक काल पर लिखे गये प्रबन्ध —

(१) **काव्य विषयक अध्ययन**—यद्यपि आधुनिक साहित्य की गद्यात्मक-विधाओं का आरम्भ भारतेन्दु-काल से ही माना जाता है परन्तु खड़ी बोली काव्य के विधिवत विकसित रूप का इतिहास भारतेन्दु से लगभग ५० वर्ष पश्चात् आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी युग से प्रारम्भ होता है, अतः शोधकर्ताओं ने अधिकांशतः छायावादी काव्य, प्रगतिवादी काव्य, प्रयोगवादी काव्य और नई कविता तथा इनसे सम्बद्ध रचयिताओं को ही अपने प्रबन्धों का विषय बनाया है। कुछ प्रबन्ध ऐसे विषयों पर भी लिखे गये हैं जो आधुनिक कविता के पूरे आयाम को अपने अन्दर अन्तर्मुक्त कर लेते है। ऐसे प्रबन्धों में श्री रघुनाथ सिंह के 'आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी' (५६) 'आधुनिक हिन्दी कविता में विम्ब-विधान का विकास' (श्री केदार सिंह, ६३), 'हिन्दी का पद्य साहित्य' (श्री जगमोहन राय शर्मा, ६१) और

'बीसवी सदी का कृष्ण काव्य' (१९०१–६८ तक) (श्रीमती कस्तूरी गुप्ता, ६९) के नाम गिनाये जा सकते हैं।

काव्य-साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में छायावाद, छायावादी कविता की प्रवृत्तियों और उसके कवियों पर सबसे अधिक शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं। इनकी एक सूची यहाँ द्रष्टव्य है—

(१) आधुनिक हिन्दी कविता में गीतितत्त्व का अध्ययन—
श्री सच्चिदानन्द तिवारी (६१)
(२) छायावादी काव्य और निराला—श्री शान्ति श्रीवास्तव (६५)
(३) छायावाद युगीन काव्य में राष्ट्रीय चेतना–श्रीमती श्यामकुमारी श्रीवास्तव (६७)
(४) आधुनिक हिन्दी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद (श्रीधर पाठक के साहित्य के विशेष अध्ययन की दृष्टि से)—श्री ललित कुमार गुप्त (६७)
(५) महादेवी वर्मा का व्यक्तित्त्व एवं कृतित्व—श्रीमती तारा श्रीवास्तव (६९)
(६) प्रसाद और प्रत्यभिज्ञा दर्शन—श्री प्रेमचन्द मिश्र (७१)
(७) भारतीय स्वच्छन्दतावादी उत्थान के परिप्रेक्ष्य में छायावाद का अध्ययन—
श्री महेन्द्रनाथ राय (७१)
(८) प्रसाद साहित्य में उदात्त तत्त्व—श्री गौरीशंकर राय (७१)
(९) कामायनी का शैली वैज्ञानिक विश्लेषण—श्री जितेन्द्रनाथ मिश्र (७२)

द्विवेदी युगीन छायावादेतर काव्य से सम्बद्ध शोध प्रबन्धों में 'रत्नाकर और उनका काव्य' (कु० एस० सीतारामा, ६९) 'निराला के साहित्य में नारी' (उषारानी अग्रवाल, ७०) और 'द्विवेदी युग के प्रबन्ध काव्य' (कु० मीरा खन्ना, ७६) के नाम गिनाये जा सकते हैं।

'दिनकर की प्रबन्ध योजना : आधुनिक सन्दर्भ' (रामराज सिंह, ७४) तथा 'दिनकर के काव्य में नारी' (श्रीमती नीलम सिंह, ७५) शीर्षक दो प्रबन्ध स्व० दिनकर के काव्य कृतित्व से सम्बद्ध हैं।

छायावादोत्तर काव्य कृतियों पर प्रकाश डालने वाले शोध प्रबन्धों के नाम इस प्रकार हैं।

(१) आधुनिक हिंदी काव्य साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन—
श्री रमेश प्रसाद मिश्र (५६)
(२) आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा और प्रयोग–श्री जनार्दन उपाध्याय (६५)
(३) छायावादोत्तर हिंदी कविता का विकास—श्री देवेन्द्र प्रताप उपाध्याय (६६)
(४) स्वातन्त्र्योत्त कविता: युगबोध और सर्जनात्मक दृष्टि–श्री कैलाश मिश्र (७०)
(५) प्रगतिवादी काव्य में लोक जीवन—श्री अजीत सिंह (७२)
(६) नई कविता की रचना-प्रक्रिया—श्री विनयकुमार दुबे (७६)
(७) छायावादोत्तर हिंदी गीति काव्य—सावित्री श्रीवास्तव (७४)
(८) मुक्तिबोध-विचारक कवि और कलाकार—श्री सुरेन्द्र प्रताप (७६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी युगीन काव्य-साहित्य का अब तक जो प्रवाह चलता आ रहा है उसको यहाँ के शोध-प्रवन्धों द्वारा भली-भाँति विवेचित किया जा चुका है। इस क्षेत्र के सभी संभावित विषयों पर कार्य संपन्न हो चुका है, यह तो नहीं कहा जा सकता लेकिन इतना अवश्य है कि वास्तविक अनुसंधान या शोध की उतनी गुंजाइश इस क्षेत्र में नहीं है जितना कि आलोचनात्मक तथा विवेचनात्मक अध्ययन की। वस्तुतः यही इन शोध-प्रबन्धों की उपलब्धि भी है। इनमें से अनेक प्रबन्धों में पिष्टपेषण एवं अनुकरण पाया जाता है, लेकिन व्यवस्थित शोध-योजना के अभाव में यह स्वाभाविक भी है।

यद्यपि खड़ी बोली के गद्यात्मक साहित्य का इतिहास बड़ा पुराना है और उसका वर्तमान स्वरूप भी अपनी सभी विधाओं के साथ प्रायः १६ वी० शती उत्तरार्द्ध से सतत् विकास शील है परन्तु उसका बहुमुखी विकास द्विवेदी युग से ही माना जाता है। इसकी प्रमुख विधाओं में उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना और गद्यगीत हैं। अतः गद्य साहित्य से सबन्ध शोध प्रवन्धों का वर्गीकरण यहाँ इसी क्रम से किया गया है। इन प्रबंधों में से सभी विधाओं को समेट कर अध्ययन प्रस्तुत करने वाले प्रवंधों का क्रम इस प्रकार है—

(१) हिंदी साहित्य के विविध गद्य रूपों के उद्गम और विकास का अध्ययन—
श्री बलवंत लक्ष्मण कोतमिरे (५६)

(२) हिंदी गद्य साहित्य का विकास (१९२५–५० तक)—
श्री कृष्ण कुमार मिश्र (५९)

(३) आधुनिक साहित्य के माध्यम के रूप में हिंदी गद्य शैली का विकास—
श्री विजय शंकर मल्ल (६३)

(४) औचित्य की दृष्टि से आधुनिक हिंदी साहित्य का पर्यालोचन—
श्री मनोरंजन ज्योतिषी (६८)

(५) हिन्दी गद्य साहित्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन—श्री कैलाश तिवारी (७६)

उपन्यास सम्बन्धी शोध प्रबन्ध—

अपनी विकास-प्रक्रिया में कथा साहित्य भारतेन्दु युग से आरंभ होकर आज तक पहुँचता है। इसके अन्तर्गत कहानी और उपन्यास का समावेश मुख्य है। अतः हमारे शोध कर्त्ताओं में कुछ ने तो समस्त कथा साहित्य को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है परन्तु एक वर्ग ऐसा भी है जिसने कहानी और उपन्यास पर अलग-अलग अध्ययन करने के लिए उपयुक्त शीर्षकों का चुनाव किया है। उपन्यास साहित्य पर किये गये शोध कार्य का लेखा-जोखा इस प्रकार है—

(१) हिंदीं उपन्यास का विकास—
श्री शिवनारायण लाल श्रीवास्तव (६२)

(२) बीसवीं शती के हिन्दी उपन्यासों पर अंग्रेजी उपन्यास का प्रभाव—
श्री महामुनि सिंह (६५)

(३) हिंदी उपन्यास का विकास और मध्यवर्ग—श्रीमती बीना श्रीवास्तव (७१)

(४) हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में उपलब्धि और संभावना—
श्रीमति लालमुनि देवी (६७)

(५) इतिहास के परिप्रेक्ष्य में हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यास—
श्री देवराज यादव (७१)

(६) हिन्दी उपन्यासों में नारी—श्री शैल रस्तोगी (६०)

(७) हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन एवं पाश्चात्य उपन्यास से उसकी तुलना—
श्री एस० एन० गनेशन् (१६५८)

(८) आधुनिक हिंदी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना—
श्री विजय मोहन सिंह (७१)

(९) हिंदी उपन्यास में पारिवारिक जीवन—श्री गोपाल राय (७६)

(१०) हिंदी उपन्यासों में बार-वनिता चरित्र—श्री काशीनाथ गुप्त (७६)

इधर दो-तीन वर्षों में कथा साहित्य के क्षेत्र में शोधार्थियों की भारी भीड़ खिंची चली आई है। इसका मुख्य कारण यह है कि बिना किसी श्रम के ही ४००-५०० पृष्ठों की पी-एच० डी० की उपाधि आसानी में ली जा सकती है। इस क्षेत्र में अब तक प्रस्तुत २८ शोध प्रबंधों में १४ तो विगत तीन वर्षों की ही उपलब्धियाँ हैं। इनमें भी 'प्रेमचंद' और 'प्रेमचंदोत्तर' शब्द की ही भरमार दिखाई देती है। प्रेमचंद शब्द से जुड़े शीर्षकों की सूची इस प्रकार है—

(१) प्रेमचंद के उपन्यासों में जीवन और कला—श्रीमती इन्दुमती सिंह (७३)

(२) प्रेमचंद के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन—श्रीमती कांति सिंह (७५)

(३) कथाकार प्रेमचंद के साहित्य में सामाजिक जीवन के विविध रूप—
श्रीमती मंजूरानी जायसवाल (७६)

(४) युग चेतना के संदर्भ में प्रेमचंद—श्री शिवकुमार यादव (७४)

(५) प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यास का वस्तुरूपात्मक विकास—कृष्ण औतार सिंहल (६५)

(६) प्रेमचंदोत्तर उपन्यास साहित्य में नूतन नारी की परिकल्पना—
शांति अग्रवाल (६६)

(७) प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में नारी मनोविज्ञान—श्री रामसुन्दर लाल (७१)

(८) प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नैतिक बोध—श्री बाबूराम (७४)

'प्रेमचंदोत्तर' का ही दूसरा अर्थ 'स्वातंत्र्योत्तर' शब्द में भी निहित है। प्रेमचंद की मृत्यु और स्वतंत्रता की प्राप्ति में एक दशक से भी कम समय का अन्तर है, अतः यहाँ हम दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में ग्रहण कर 'स्वातंत्र्योत्तर' शब्द के साथ जुड़े कु० शशि बेरी के 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास: परिवेश, मूल्य और प्रतिमान—(१९७१) को भी इसी क्रम में गिन लेते हैं।

उपन्यासकारों के व्यक्तिगत नामों से जुड़े शोध प्रबन्धों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) कथाकार यशपाल—एक आलोचनात्मक अध्ययन—श्री तेजनारायण सिंह (७१)

(२) अज्ञेय का कथा साहित्य—श्री शैलकुमारी देवी (७२)

(३) 'रेणु' और उनका कथा साहित्य—श्रीमती रागिनी वर्मा (७६)
(४) उपन्यास शिल्प और अमृतलाल नागर—श्री राम अवध शास्त्री (७६)
(५) श्री इलाचंद जोशी का कथा साहित्य—श्री अवध नारायण दूवे (७६)
(६) उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा—श्रीमती उर्मिला देवी (७६)

कहानियों का अध्ययन – कथा साहित्य पर इतनी वड़ी संख्या में लिखे गये प्रवन्धों में से कहानी से संवद्ध विषयों पर केवल तीन प्रवन्धों का लिखा जाना आश्चर्यजनक है। संभव है शोध-छात्रों का वह वर्ग जो कथा-साहित्य के विवेचन में रुचि रखता है, कहानी को शोध का उपयुक्त विषय न मानता हो। जो भी हो, इन तीनों प्रबंधों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी—बदलते मानव और शिल्प—
श्रीमती सुधारानी अग्रवाल (७४)
(२) हिन्दी कहानीकारों की कहानी समीक्षा—श्री वीरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव (७४)
(३) नई कहानी के विम्व और प्रतीक—श्रीमती प्रेमलता राय (७६)

नाट्य साहित्य का अध्ययन - यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मराठी, गुजराती और बँगला साहित्य में नाटकों का जो अनुपात है, वह हिन्दी में नहीं है। हिन्दी के नाट्य-साहित्य के दारिद्रय के सम्बन्ध में अनेक कारण बताये जा सकते हैं, जो यहाँ अपेक्षित नहीं हैं। हिन्दी नाटकों की इस स्थिति के बावजूद इनसे सम्बद्ध १३ शोध प्रवन्धों का लिखा जाना कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। इनमें भी (१) समूचे हिन्दी नाट्य साहित्य (२) प्रसादोत्तर या स्वातन्त्र्योत्तर नाट्य साहित्य और (३) व्यक्तिगत नाटककारों आदि से सम्बद्ध शोध प्रवन्धों का समावेश है। प्रथम कोटि के प्रबन्धों में कु० कमलिनी मेहता के 'नाटकों में यथार्थवाद' (६०) श्री नवरतन कपूर के 'हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक : उनकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ और प्रेरक शक्तियाँ' (६०) प्रमिला प्रसाद के 'हिन्दी नाटकों में खलनायक' (७१) श्री रामजीत के 'हिन्दी नाटकों में विदूषक' (७३) और श्री रामकिशोर सिंह के 'हिन्दी नाटकों में नायकों की परिकल्पना (आरम्भिक काल से स्वतन्त्रता पूर्ण तक)' (सन् ७३) के नाम गिनाये जा सकते हैं।

दूसरी कोटि में आनेवाले शोध प्रबन्धों के नाम हैं—
१—प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य और पाश्चात्य प्रभाव—श्री सम्पूर्णानन्द (६५)
२—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक और युगबोध—श्रीमती आशा शर्मा (७२)
३—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : वस्तु और शिल्प—श्री रामजन्म राम (७२)
४—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक की वस्तु संरचना—कु० सुषमा अग्रवाल (७६)

नाटककारों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालने वाले प्रबन्धों के नाम इस प्रकार हैं—

१—आधुनिक हिन्दी नाटक (१९३०–६०) और लक्ष्मीनारायण मिश्र—
श्री बब्बन त्रिपाठी (६५)
२—उदयशंकर भट्ट की कारयित्री प्रतिभा—कु० सुब्रह्मण्यम सीता (६९)

३—उपेन्द्रनाथ अश्क : व्यक्तित्व और कृतित्व—श्री कपिलदेव शर्मा (७३)
४—आधुनिकता और मोहन राकेश—श्रीमती उर्मिला मिश्रा (७५)

नाटकों से सम्बद्ध उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि नाटककारों के व्यक्तित्व और नाट्य कृतित्व पर अभी कई शोध-प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं।

कथाविहीन गद्य साहित्य का अध्ययन—यदि हिन्दी गद्य की निबन्ध, समीक्षा, पत्रकारिता आदि सभी में रचे-पचे लेखकों तथा गद्य की विविध विधाओं में सहयोगी परिस्थितियों के आकलन से सम्बद्ध शोध-प्रबन्धों की एक तालिका प्रस्तुत की जाय तो वह निम्नलिखित प्रकार से होगी—

(१) भारतेन्दु कालीन हिन्दी गद्य साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—श्रीमती कमला कानोड़िया (६६)
(२) भारतेन्दु मण्डल के सात प्रमुख लेखक—श्री श्यामनारायण तिवारी (६६)
(३) हिन्दी का समाज चेतन गद्य साहित्य और पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'—श्री रत्नाकर पाण्डेय (६६)
(४) हिन्दी गद्य साहित्य में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का अंशदान—श्री केशरी नारायण तिवारी (७४)
(५) बेनीपुरी की साहित्य साधना—श्री कमला कान्त त्रिपाठी (७४)
(६) स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में आन्दोलनों की रचनात्मक भूमिका—श्री बलिराज पांडेय (७६)
(७) अंग्रेज शासकों की शिक्षानीति और हिंदी भाषा एवं साहित्य के—विकास में उसका योग—श्री मुद्मंगल सिंह (६०)

(क) निबंध और आलोचना आदि—

(१) बालकृष्ण भट्ट का व्यक्तित्व और कृतित्व—श्री मधुकर भट्ट (६५)
(२) आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षात्मक शब्दावली—श्री शंभूनाथ त्रिपाठी (७३)
(३) आचार्य रामचंद्र शुक्ल एवं नंददुलारे वाजपेयी के आलोचनात्मक निबंधों का तुलनात्मक अध्ययन—श्री राजेन्द्र कुमार सिंह (७४)
(४) नंददुलारे वाजपेयी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व—श्रीमती आशिमा रानी लखोटिया (७६)
(५) शुक्लोत्तर आलोचना के विकास में डा० नगेन्द्र का योगदान—कु० पुष्पा अग्रवाल (७६)
(६) प्रसाद का गद्य साहित्य—श्री राजमणि शर्मा (७४)
(७) छायावादयुगीन ललित निबंध—श्री श्रद्धानंद (७६)
(८) गद्य-काव्य का उद्गम और विकास—श्री अष्टभुजा प्रसाद पांडेय (५७)

(ख) काव्य रूप और काव्यशास्त्र—इन दोनों विषयों से संबंधित इस विभाग के १३ शोध प्रबन्धों द्वारा प्राय: समीक्षाशास्त्र के स्वरूप और उसके विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यहाँ के शोधकर्ताओं ने एतत्संबंधी सभी आवश्यक अंगों का विवेचन किया है। प्रबंधों के शीर्षकों के अनुसार इन्हें हम तीन कोटियों में बाँट सकते हैं—(१) काव्यरूप संबंधी (२) काव्यशास्त्र संबंधी (३) इन दोनों के विकास से संबद्ध। प्रथम कोटि में श्रीमती शकुंतला दुबे के 'हिंदी काव्यरूपों का उद्‌भव और विकास (५६) श्री शंभूनाथ सिंह के 'हिंदी में महाकाव्य का स्वरूप-विकास (५५) और श्री शंकरदेव शर्मा के 'हिन्दी साहित्य में काव्यरूपों के प्रयोग' (६१) की गणना प्रमुख रूप से की जा सकती है।

द्वितीय कोटि में श्री राममूर्ति त्रिपाठी के 'लक्षणा और उसका प्रसार' (५९) श्री जनार्दनस्वरूप अग्रवाल के 'हिंदी में काव्य दोष : एक आलोचनात्मक अध्ययन' (६८) तथा एस० नारायण अय्यर के 'पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र का हिंदी समीक्षा पर प्रभाव' (६९) तथा श्री देवी प्रसाद सिंह के 'पौरस्त्य एवं पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांत तथा आचार्य शुक्ल (७१) को स्थान दिया जा सकता है। इसी प्रकार तीसरी श्रेणी की वे कृतियाँ हैं जो समीक्षा और उसके साहित्य के स्वरूप के साथ विकास-क्रम का भी अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। इनमें निम्न-लिखित प्रबन्धों का समावेश हो सकता है—

(१) हिन्दी आलोचना की प्रवृत्तियाँ और उनकी आधार भूमि—
श्री राम दरश मिश्र (५७)
(२) कवि-मीमांसा—श्री विष्णु स्वरूप (५७)
(३) साहित्यिक अभिरुचि और समीक्षा—श्री एस० टी० नरसिंह चारी (७१)
(४) आलोचना के बदलते मानदंड और हिन्दी साहित्य—श्री शिवकरन सिंह (६५)
(५) हिंदी के अलंकार ग्रंथों की परम्परा का उद्‌भव और विकास—
कु० मुकुल सिंह (७४)

भाषा विज्ञान और भाषा का अध्ययन—

यद्यपि हिन्दी विभाग में भाषा के अध्ययन की वर्तमान पद्धतियों के व्यापक ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है और न तो स्वाध्याय की दृष्टि से ही अध्ययन में रुचि लेनेवालों को कोई सुविधा या प्रेरणा है तथापि कुछ अध्यापक और शोध छात्र इस ओर उन्मुख रहे हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० पद्मनारायण आचार्य, डा० नामवर सिंह, डा० शिवप्रसाद सिंह और डॉ० भोलाशंकर व्यास ने इस दिशा में स्वतंत्र रूप से कार्य किये हैं और इन लोगों की प्रेरणा से हिन्दी विभाग में साहित्य की विविध विधाओं के साथ ही भाषा विज्ञान और भाषा संबंधी अध्ययन से संबद्ध शोध प्रवन्ध प्रस्तुत किए गये हैं।* इनमें से कतिपय तो ऐसे हैं जो केवल

---

*इनमें से डा० नामवर सिंह के 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' और डा० शिवप्रसाद सिंह के 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' का उल्लेख आदिकाल के संदर्भ में किया जा चुका है।

किसी भाषा विशेष और मुख्यता खड़ी बोली का ही विकासात्मक अध्ययन विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत करते हैं परन्तु कुछ प्रबन्ध अवश्य ऐसे हैं जो शब्द–अर्थ के संबंधों, कोष विज्ञान, संयुक्त क्रियाओं, क्रिया रूपों, मुहावरों तथा कृतियों के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन आदि से संबद्ध हैं। अतः इनके शीर्षक यहाँ विषयानुसार प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जो इस प्रकार हैं—

(क) खड़ी बोली के विकास से संबद्ध शीर्षक—

(१) खड़ी बोली का आन्दोलन—श्री शितिकंठ मिश्र (५५)

(२) ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य—श्रीमती कणिका विश्वास (५७)

(३) हिंदी भाषा पर फारसी और अंग्रेजी का प्रभाव—श्री मोहनलाल तिवारी (६४)

(४) साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में खड़ी बोली का विकास—
श्री राजेन्द्र कुमार उपाध्याय (७१)

(५) राज भाषा के संदर्भ में हिंदी आंदोलन का इतिहास—
श्री उदयनारायण दूवे (७३)

(ख) कवियों या उनकी कृतियों को भाषा का अध्ययन*—

(१) कबीर ग्रन्थावली की भाषा—श्री विंदु माधव मिश्र (६४)

(२) भारतेन्दु का शब्दकोष और उसका वैज्ञानिक अध्ययन—
श्रीमती सत्यवती अग्रवाल (६७)

(३) आधुनिक हिन्दी की लम्बी कविताओं की भाषा-संरचना—
श्री विजय कुमार बोहरा (७६)

(४) मतिराम की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन—रामचन्द्र जोशी (७६)

(ग) भाषा वैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये शोध अध्ययन—

(१) हिन्दी में शब्द और अर्थ के सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक आधार—
कु० उमाकुमारी माडवेल (६०)

(२) हिन्दी कोष विज्ञान का उद्भव और विकास—श्री युगेश्वर पाण्डेय (६४)

(३) हिन्दी में संयुक्त क्रियाएँ—श्री काशीनाथ सिंह (६३)

(४) हिन्दी क्रिया रूपों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन—श्री बालमुकुन्द (६७)

(५) उन्नीसवीं शताब्दी में हुए आर्यभाषा सम्बन्धी कार्यों का सर्वेक्षण—
श्रीमती शारदा सिंह (६८)

(६) हिन्दीं में प्रयुक्त देशी शब्दों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन—
श्री चन्द्रप्रकाश त्यागी (६९)

(७) हिन्दी मुहावरे तथा उनका उद्गम—श्री कृष्ण गोपाल गुप्ता (७२)

---

*श्री जितेन्द्रनाथ मिश्र के 'कामायनी का शैली वैज्ञानिक अध्ययन (७२) का उल्लेख आधुनिक काव्य के संदर्भ में किया जा चुका है, अतः उसका नाम यहाँ समाविष्ट नहीं है।

(घ) भाषा-भूगोल डाइलेक्ट ज्याग्राफी) सम्वन्धी अध्ययन—

(१) आजमगढ़ जनपद की भाषा (बोली)—श्री महेन्द्रनाथ दूवे (६६)

(२) वाराणसी के स्थान नामों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन—
श्रीमती सरित किशोरी श्रीवास्तव (७४)

उपर्युक्त सूची को देखने से स्पष्ट होता हैं कि हिन्दी के भाषा सम्वन्धी अध्ययन के के क्षेत्र में 'भाषा-भूगोल' का विषय एक प्रकार से अछूता है और इसमें एकमात्र उल्लेखनीय कार्य डा० महेन्द्रनाथ दूवे का ही है। अतः हमारे भावी शोध छात्रों के लिए इस दिशा में बड़ा लम्वा-चौड़ा क्षेत्र अवशिष्ट है, जिस पर अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य किया जा सकता है। यदि हिन्दी विभाग इसे प्रोजेक्ट के रूप में ले तो यहाँ निर्देशकों का अभाव नहीं है लेकिन ऐसे छात्र कहाँ हैं ? इस प्रकार के सिरफोड़ कार्य के बजाय 'प्रसाद' या प्रेमचन्द पर कोई विषय लेकर दो साल में काम करके चालू हो जाने का सुख ऐसे विषयों में कहाँ है ? किसी के कहानी, उपन्यास और कविता सम्वन्धी कृतित्व के पढ़ने और कुछ लिखने में पढ़ने और लिखने—दोनों का सुख है।

अन्य विषयों से संबंधित शोध प्रबंध—

अब तक जितने विषयों की चर्चा हो चुकी है, उन्हीं से मिलते-जुलते लेकिन कुछ भिन्न शीर्षकों के आधार पर भी कुछ शोध कार्य किया गया है, जिनमें लोकगीत, संगीत-वाद्य, जनपद या राज्याविशेष द्वारा दिये गये योगदान और प्रकाशन संस्थाओं के सहयोग आदि से संवद्ध विषयों का समावेश होता है। अतः इन्हें यहाँ अलग से सूचीबद्ध करना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसे प्रवंधों के शीर्षक इस प्रकार हैं—

(१) काशी जनपद के लोकगीत—श्री हीरालाल तिवारी (६५)

(२) भारतीय संगीत वाद्यों का स्वरूपात्मक एवं प्रयोगात्मक विवेचन—
श्री लालमणि मिश्र (६७)

(३) हिंदी के विकास में काशी का योगदान (१८८५-१९१५ ई०)—
श्री जयप्रकाश नारायण त्रिपाठी (७१)

(४) रीवाँ दरबार के हिंदी कवि—कु० विमला मेहरोत्रा (७१)

(५) १९ वीं सदी में हिन्दी की प्रमुख प्रकाशन संस्थाओं में खंगविलास प्रेस—
बाँकीपुर का हिंदी के विकास में योगदान—श्री धीरेन्द्र नाथ सिंह (७३)

इस प्रकार अब तक ६ डी० लिट्० के और २०५ पी-एच० डी० के स्वीकृत शोध प्रवन्धों को विषयानुसार वर्गीकृत करके भावी शोध छात्रों और शोध निर्देशकों के समक्ष अब तक किये गये शोध-कार्य का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का यह उपक्रम पूर्ण होता है। संभव है कि प्रबंधों के नामों, उनके स्वीकृत होने की तिथियों या वर्ष संख्याओं में कोई त्रुटि मिले अथवा कुछ शोधकर्ताओं एवं उनकी कृतियों के नाम यहाँ छूट गये हों परन्तु जहाँ तक संभव हुआ है, ये सारे तथ्य परीक्षा विभाग और हिन्दी विभाग की फाइलों के आधार पर एकत्रित किये गये। अतः इस त्रुटि के मूल में इन अभिलेखों को ही मानना चाहिए। यदि इससे

भावी शोधकर्ताओं को कोई लाभ पहुँच सके तो यह बड़ी अच्छी बात होगी। इसका सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि शोधार्थियों को विषय के चयन में सुविधा होगी और वे यह जान सकेंगे कि किस विषय में क्या शेष है और क्या हो चुका है।

इस लेख की आधारभूत सामग्री अर्थात् काल क्रमानुसार सूची भी इसी के साथ दी जा रही है, ताकि पाठकों की इस जिज्ञासा की भी संतुष्टि हो सके कि किस वर्ष कितने और कौन-कौन से प्रबन्ध स्वीकृत हुए थे। इसी के आधार पर शोध-प्रबन्धों की संख्या में हुए सतत विस्तार का रहस्य भी समाहित है।

पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्धों की अद्यतन सूची

१९५२.

१. श्रीमती शकुन्तला दूबे—हिन्दी काव्यरूपों का उद्भव और विकास।

१९५५

१. श्री शम्भूनाथ सिंह—हिन्दी में महाकाव्य का स्वरूप और विकास।
२. ,, शितिकंठ मिश्र—खड़ी बोली का आन्दोलन।

१९५६

१. श्री रघुनाथ सिंह—आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी।
२. ,, हिरण्मय—हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन।
३. ,, बच्चन सिंह—रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यञ्जना।
४. ,, रमेश प्रसाद मिश्र—आधुनिक हिन्दी काव्य साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन।
५. ,, बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे—हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपों के उद्गम और विकास का अध्ययन।
६. ,, नामवर सिंह—पृथ्वीराज रासो की भाषा।

१९५७.

१. श्रीमती कणिका विश्वास—ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य।
२. श्री राम दरश मिश्र—हिन्दी आलोचना की प्रवृत्तियाँ एवं उनकी आधार भूमि।
३. ,, विष्णु स्वरूप—कवि समय-मीमांसा।
४. ,, अष्टभुजा प्रसाद पाण्डेय—हिन्दी गद्यकाव्य का उद्गम और विकास।
५. ,, शिव प्रसाद सिंह—सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य।

१९५८.

१. श्री पूर्णमासी राय—हिन्दी के कृष्ण भक्ति साहित्य में मधुर भाव की उपासना।
२. ,, त्रिभुवन सिंह—महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण-वृत्ति।

३. श्री एस० एन० गणेशन् —हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन एवं पाश्चात्य उपन्यास से उसकी तुलना।

४. ,, रामनरेश वर्मा—हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका।

५. ,, मोती सिंह—निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि।

६. ,, गिरीशचन्द्र तिवारी—कबीरदास के बीजक की दार्शनिक व्याख्याओं का आलोनात्मक अध्ययन।

१९५९.

१. श्री राममूर्ति त्रिपाठी —लक्षणा और उसका प्रसार।

२. ,, रवीन्द्र नाथ राय—हिन्दी भक्ति साहित्य में लोकतत्व।

३. ,, धर्मपाल मैनी—श्री 'गुरुग्रंथ साहिब' में उल्लिखित सन्त कवियों के धार्मिक विश्वासों का अध्ययन।

४. ,, कृष्ण कुमार मिश्र—हिन्दी गद्य साहित्य का विकास।

५. ,, कपिलदेव पाण्डेय—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद।

१९६०.

१. कु० कमलिनी मेहता—नाटकों में यथार्थवाद।

२. श्री नवरतन कपूर—हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक।

३. श्रीमती शैल रस्तोगी—हिन्दी उपन्यास में नारी।

४. कुमारी उमा कुमारी मॉडवेल—हिन्दी में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का मनोवैज्ञानिक आधार।

५. श्री श्यामसुन्दर शुक्ल—हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति का स्वरूप।

१९६१.

१. श्री शंकरदेव शर्मा—हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों का प्रयोग।

२. ,, एस० टी० नरसिंहाचारी —साहित्यिक अभिरुचि और समीक्षा।

३. ,, नागेन्द्र नाथ उपाध्याय—नाथ और सन्त साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।

४. ,, सच्चिदानन्द तिवारी—आधुनिक हिन्दी कविता में गीति तत्व।

५. ,, श्रीधर सिंह—तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा का अध्ययन।

१९६२.

१. श्री जगमोहन राम—हिन्दी का पद्य साहित्य।

२. ,, ब्रजविलास श्रीवास्तव- मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में कथानक रूढ़ियाँ।

३. ,, मोहन राम यादव—रामलीला की उत्पत्ति और विकास।

४. ,, शिवनारायण लाल श्रीवास्तव—हिन्दी उपन्यास का विकास।

१९६३.

१. श्री विजयशंकर मल्ल—माध्यम के रूप में हिन्दी गद्य शैली का विकास।

२. ,, काशीनाथ सिंह—हिन्दी में संयुक्त क्रियाएँ।

३. श्री केदारनाथ सिंह—आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान का विकास।
४. श्रीमती कौशल्या गुप्ता—रीतिकालीन कविता में वेषभूषा।
५. कु० जमीला कुरेशी—इस्लामी संस्कृति का मध्ययुगीन साहित्य में योगदान।

१९६४.

१. श्री एम० चन्द्रकान्त मुदलीयर -हिन्दी तथा तमिल के भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।
२. ,, विन्दुमाधव मिश्र—'कबीर ग्रंथावली' की भाषा।
३. ,, मोहन लाल तिवारी - हिन्दी भाषा पर फारसी और अंग्रेजी का प्रभाव।
४. ,, योगेश्वर पाण्डेय—हिन्दी कोष-विज्ञान का उद्भव और विकास।

१९६५.

१. श्री कृष्ण अवतार सिंघल—प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास का वस्तुरूपात्मक विकास
२. ,, सम्पूर्णानन्द—प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य और पाश्चात्य प्रभाव।
३. ,, देवेन्द्र प्रताप उपाध्याय—छायावादोत्तर हिन्दी कविता का विकास।
४. ,, शिवकरण सिंह—आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य।
५. ,, मधुकर भट्ट—बालकृष्ण भट्ट का व्यक्तित्व और कृतित्व।
६. ,, बब्बन त्रिपाठी—आधुनिक हिन्दी नाटक (१९३०–१९६०) और लक्ष्मीनारायण मिश्र।
७. ,, महामुनि सिंह—बीसवीं शती के हिन्दी उपन्यासों पर अंग्रेजी उपन्यास का प्रभाव।
८. ,, गीता कपूर—मध्यकालीन रीति-काव्य में नारी भावना।
९. श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी—रामचरित मानस के नारी पात्र।
१०. शान्ति श्रीवास्तव—छायावादी काव्य और निराला।
११. श्री हीरालाल तिवारी—काशी जनपद के लोक गीत।
१२. ,, रामजी मिश्र—रीतिकाव्य के स्रोत।
१३. ,, जनार्दन उपाध्याय—आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा और प्रयोग (१९२०–१९५०)।

१९६६.

१. श्री लक्ष्मी शंकर गुप्ता—कृष्ण-कथा की परम्परा और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में उसका स्वरूप।
२. ,, महेन्द्रनाथ दूबे—आजमगढ़ जनपद की भाषा (बोली)।
३. कुमारी कामिनी महेन्द्र—रामचरित मानस में चित्रित राजनीति और उसका आदर्श।
४. श्रीमती सूर्यबाला श्रीवास्तव—रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्यों के शिल्प विधान का तुलनात्मक अध्ययन।
५. श्री चतुर्भुज सहाय—पद्माकरोत्तर रीतिकाव्य।

निकाय

६, श्री रत्नाकर पांडेय—हिन्दी का समाज चेतन गद्य साहित्य और पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र'।

७, श्रीमती किरण मिश्रा निर्गुण भक्ति शाखा के निरंजनी सम्प्रदाय का आलोचनात्मक अध्ययन।

८. श्री केशव प्रसाद सिंह— दादूपंथ और उसके साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन।

९. ,, शम्भूनाथ पांडेय—नवोपलब्ध सामग्रियों के आलोक में हिन्दी के आदिकालीन साहित्य का पुनः परीक्षण।

१०. श्रीमती कमला कानोड़िया—भारतेन्दु कालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि।

१९६७

१. श्री विश्वनाथ प्रसाद श्रीवास्तव—अष्टछाप के कवियों की सौन्दर्यानुभूति।

२. ,, सूर्यनारायण द्विवेदी—रीतिकालीन कवि और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य सिद्धांत।

३. कुमारी सत्यव्रती अग्रवाल—भारतेन्दु का शब्दकोश और उसका वैज्ञानिक अध्ययन।

४. श्रीमती रेणुका सिंह—संत साहित्य का दार्शनिक अध्ययन।

५ ,, श्यामकुमारी श्रीवास्तव—छायावादयुगीन काव्य में राष्ट्रीय चेतना।

६. श्री शोभनाथ सिंह—भक्तिकालीन रीतिकाव्य की प्रवृत्तियाँ और सेनापति का विशेष अध्ययन।

७. ,, बालमुकुन्द—हिन्दी क्रिया-रूपों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन।

८. श्रीमती उषामाथुर—उन्नीसवीं शताब्दी का व्रजभाषा काव्य।

९ ,, लालमुनी देवी – हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : उपलब्धि और सम्भावना।

१० श्री ललितकुमार गुप्त—आधुनिक हिन्दी साहित्य में स्वच्छंदतावाद (श्री श्रीधर पाठक-साहित्य के विशेष अध्ययन की दृष्टि से)

११. ,, श्यामनारायण तिवारी भारतेंदु मंडल के सात प्रमुख लेखक।

१२ , लालमणि मिश्र – भारतीय संगीत वाद्यों का स्वरूपात्मक एवं प्रयोगात्मक विवेचन।

१९६८

१. श्रीमती शारदा सिंह—उन्नीसवीं शताब्दी में हुए भारतीय आर्य भाषा सम्बन्धी कार्यों का सर्वेक्षण।

२. श्री उदयशंकर श्रीवास्तव—मध्ययुगीन हिंदी के सूफीतर मुसलमान कवि।

३ ,, जनार्दन स्वरूप अग्रवाल—हिन्दी में काव्यदोष : एक आलोचनात्मक अध्ययन।

४. ,, बसंत सिंह—रीतिकालीन भक्ति काव्य।

५. ,, मनोरंजन ज्योतिषी—औचित्य की दृष्टि से आधुनिक हिंदी साहित्य का पर्यालोचन (१९२५-६५)

६. श्री मैनेजर पांडेय— सूरसाहित्य : परंपरा और प्रतिभा।

७ ,, हौसला प्रसाद सिंह—कृष्णभक्ति शाखा में हिंदी कवियित्रियों का योगदान।

१९६९

१. ,, सकलदीप सिंह—मध्यकालीन भक्तिकाव्य और रीति काव्य की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन।

२. सुब्रह्मण्यम् सीता—उदयशंकर भट्ट की कारयित्री प्रतिभा।

३. श्रीमती तारा श्रीवास्तव—महादेवी वर्मा का व्यक्तित्व और कृतित्व।

४. कु० एस० सीतारामा—रत्नाकर और उनका काव्य।

५. सावित्री श्रीवास्तव—रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों में भाषा-भूषण का स्थान।

६. श्रीमती कस्तूरी गुप्ता—बीसवीं शताब्दी का कृष्ण काव्य (१९०१-६८)।

७. श्रीमती शांति सिंघल (अग्रवाल)—प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास साहित्य में नूतन नारी की परिकल्पना।

८ श्री एस० नारायण अय्यर—Influence of western criticism on Hindi criticism (पाश्चात्य समीक्षा का भारतीय समीक्षा पर प्रभाव)।

९. ,, धीरेन्द्र बहादुर सिंह—तुलसीदास की काव्यगत चेतना।

१०. ,, प्रेमचन्द जैन—अपभ्रंश कथा काव्यों का हिन्दी प्रेमाख्यानकों के शिल्प पर प्रभाव।

११. ,, रामकुँवर राय—चिंतामणि, कुलपति और श्रीपति का तुलनात्मक अनुशीलन : हिन्दी काव्य साहित्य के परिवेश में।

१२. ,, चन्द्रप्रकाश त्यागी—हिन्दी में प्रयुक्त देशी शब्दों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन।

१९७०.

१. श्रीमती जयशीला पाण्डेय—हिन्दी भक्ति साहित्य में बालप्रवृत्ति का चित्रण।

२. कु० माधुरी आचार्य—हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा में कुतुबन कृत 'मृगावती' की समीक्षा।

३. ऊषारानी अग्रवाल—निराला साहित्य में नारी।

४. श्री वेंकट सुब्रह्मण्यम् —१९वीं सदी में हिन्दी-तेलगू गद्य साहित्य के विकास की तुलना।

५. ,, कैलाश मिश्र—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता : युगबोध और सर्जनात्मक दृष्टि (१९४७-६०)।

६. ,, सच्चिदानन्द राय—हिन्दी उपन्यास साहित्य में सांस्कृतिक एवं मानववादी चेतना।

७. ,, प्रेमोराम मिश्र—भारतीय रहस्यवाद की परम्परा और संत पलटूदास।

८. ,, बैजनाथ मिश्र —तुलसी के काव्य में नीति।

९. ,, राजेश्वर सहाय त्रिपाठी—हिन्दी साहित्य में आचार्य भिखारीदास का कृतित्व।

१९७१.

१. कु० विमला मेहरोत्रा--रीवाँ दरबार के कवि (जयसिंह से रघुराज सिंह तक) ।
२. श्रीमती प्रमिला प्रसाद--हिन्दी नाटकों में खलनायक ।
३. कु० शशि बेरो--स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : परिवेश, मूल और प्रतिमान ।
४' बीना श्रीवास्तव--हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यम वर्ग ।
५. श्री जयप्रकाश नारायण त्रिपाठी--हिन्दी साहित्य के विकास में काशी का योग (१८८५-१९१५) ।
६. ,, देवराज यादव--इतिहास के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास ।
७. ,, अपरबल राम 'करकन्डु चरिउ' और मध्ययुगीन हिन्दी के प्रबन्ध काव्य (कथा शिल्प की परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन) ।
८. ,, विजय मोहन सिंह--आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना ।
९. ,, चौथीराम यादव—मध्यकालीन भक्तिकाव्य की विरहानुभूति ।
१०. ,, रामसुन्दर लाल—प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में नारी मनोविज्ञान (१९३६-६०) ।
११. ,, ऋषिकेश शुक्ल--फारसी मसनवी शैली और भारतीय प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों की समीक्षा ।
१२. ,, रामनारायण शुक्ल- भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य के काव्य रूप ।
१३. ,, राजेन्द्र कुमार उपाध्याय--साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में खड़ी बोली हिन्दी का विकास ।
१४. ,, मदन मोहन श्रीवास्तव--'चन्दायन' : साहित्यिक स्वरूप एवं विवेचन ।
१५. ,, परमहंस मिश्र---'प्रसाद' और प्रत्यभिज्ञा दर्शन ।
१६. ,, तेजनारायण सिंह---कथाकार यशपाल-एक आलोचनात्मक अध्ययन ।
१७. ,, देवी प्रसाद सिंह—पौरस्त्य एवं पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्त तथा आचार्य शुक्ल ।
१८. श्री महेन्द्रनाथ राय—भारतीय स्वच्छन्दतावादी (रोमैंटिक) उत्थान के परिप्रेक्ष्य में छायावाद का अध्ययन ।
१९. ,, गौरीशंकर राय—प्रसाद-साहित्य में उदात्त तत्व ।

१९७२.

१. श्रीमती आशा शर्मा—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक और युगबोध ।
२. ,, शैलकुमारी देवी—'अज्ञेय' का कथा साहित्य ।
३. श्री गया सिंह—तुलसीदास के काव्य में लोकतत्व ।
४. ,, देवनाथ—कबीर और दादू के साधनात्मक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन ।
५. ,, रामजन्म राम—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : वस्तु और शिल्प (१९४७-७०) ।
६. ,, राधेश्याम दूबे—औपनिषदिक विचार-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में सन्त साहित्य का अनुशीलन ।
७. ,, अजीत सिंह—प्रगतिवादी काव्य में लोकतत्व ।
८. ,, जितेन्द्रनाथ मिश्र—कामायनी का शैली वैज्ञानिक विश्लेषण ।

९. ,, कुबेर राय—रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय चिन्तन में पदुमनदास का योगदान।
१०. ,, कृष्ण गोपाल गुप्त—हिन्दी मुहावरे तथा उनका उद्गम।

१९७२.

१. श्री कपिलदेव राय शर्मा – उपेन्द्रनाथ अश्क : व्यक्तित्व और कृतित्व।
२. ,, सुदामा प्रसाद—भक्तिकालीन मुक्तक काव्य परम्परा और विनय पत्रिका।
३. ,, कन्हैया लाल—रामचरित मानस का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन।
४. , रामजीत—हिन्दी नाटकों में विदूषक।
५. श्रीमती शकुन्तला शुक्ला 'निराला' की काव्य भाषा।
६. ,, प्रियंवदा सिंह—पुष्टिमार्गीय परम्परा और कविवर नन्ददास।
७. श्री शम्भूनाथ त्रिपाठी– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षात्मक शब्दावली, भूमिका, व्याख्या और अनुक्रमणिका।
८. ,, उदयनारायण दूबे—राजभाषा के सन्दर्भ में हिन्दी आन्दोलन का इतिहास।
९. ,, रामकिशोर सिंह—हिन्दी नाटकों में नायकों की परिकल्पना (आरम्भिक काल से स्वतन्त्रतापूर्व तक)।

१९७३.

१०. श्री विनय कुमार दूबे—नयी कविता की रचना प्रक्रिया।
११. श्रीमती इन्दुमती सिंह (इन्दुमती मल्ल --प्रेमचन्द के उपन्यासों में जीवन और कला।
१२. श्री धीरेन्द्रनाथ सिंह--१९वीं सदी में हिंदी की प्रमुख प्रकाशन संस्थाओं में खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर का हिंदी के विकास में योगदान।
१३. ,, मान्धाता राय--सूरसागर और प्राकृत-अपभ्रंश का कृष्ण साहित्य।

१९७४

१. कुमारी चन्द्रलेखा शर्मा--कृष्णभक्ति काव्य की परंपरा में रसखान का अनुशीलन।
२. कुमारी सावित्री श्रीवास्तव--छायावादोत्तर हिंदी गीति काव्य।
३. श्रीमती सुधारानी अग्रवाल--स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी : बदलते मानव मूल्य और शिल्प।
४. श्री विश्वनाथ अय्यर--तुलसीदास और तुन्चुत्तु इशुत्त का तुलनात्मक अध्ययन (उनके रामायण के आधार पर)
५ ,, वीरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव – हिंदी कहानीकारों की कहानी-समीक्षा।
६ , बाबूराम--प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यासों में नैतिक बोध।
७. ,, बलराम दास--रीतिकालीन साहित्यशास्त्र एवं आचार्य प्रतापसाहि।
८. ,, राममोहन पाण्डेय- गोस्वामी तुलसीदास का भक्तिमार्ग।
९. ,, नम्बरदार पाठक--भक्तिकालीन हिंदी साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन (१३६५—१७००)
१०. ,, राजमणि शर्मा—'प्रसाद' का गद्य साहित्य।

निकाय ::

११. श्री राजेन्द्रकुमार सिंह--आचार्य रामचंद्र शुक्ल एवं आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के आलोचनात्मक निबंधों का तुलनात्मक अध्ययन।

१२. ,, गोपाल नारायण मिश्र--'मानस' में तुलसी का साहित्यिक मूल्यांकन।

१३. ,, शिवकुमार यादव--युगचेतना के संदर्भ में प्रेमचंद।

१४. श्रीमती उषा सिंह--माधवानल कामंदकला पर आधारित कथाकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन।

१९७४

१५. कुमारी मुकुल सिंह—हिंदी के अलंकार ग्रंथों की परंपरा का उद्भव और विकास।

१६ श्रीमती सरित किशोरी श्रीवास्तव—वाराणसी के स्थान नामों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन।

१७. श्री केशरी नारायण तिवारी—हिंदी गद्य-साहित्य में राजा शिवप्रसाद सिंह सितारे हिंद का अंशदान।

१८. ,, अशोक कुमार द्विवेदी – नये काव्य प्रतिमानों के संदर्भ में नयी समीक्षा।

१९. ,, रामराज सिंह—दिनकर की प्रबंध योजना—आधुनिक संदर्भ।

२०. ,, रामनरेश मिश्र—आदिकालीन निर्गुण-सगुण धारा का तुलनात्मक अध्ययन (कबीर और तुलसी के विशेष संदर्भ में)

२१. ,, कमलाकांत त्रिपाठी—बेनीपुरी की साहित्य साधना।

१९७५

१. श्रीमती उर्मिला मिश्रा—आधुनिकता और मोहन राकेश का साहित्य।

२ ,, कांति सिंह—प्रेमचंद के कथा-साहित्य में ग्राम्यजीवन।

३. ,, नीलम सिंह—दिनकर के काव्य में नारी।

१९७६

१. श्रीमती आशिमा रानी लवोटिया—पंडित नंददुलारे बाजपेयी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व।

२. श्री बलिराज पांडेय—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में आंदोलनों की रचनात्मक भूमिका।

३. श्रीमती मंजूरानी जायसवाल—कथाकार प्रेमचंद के साहित्य में सामाजिक जीवन के विविध रूप।

४. कु० बीना उपाध्याय—पद्मावत में लोकसंस्कृति का अध्ययन।

५. ,, पुष्पा अग्रवाल- शुक्लोत्तर आलोचना के विकास में डॉ० नगेन्द्र का योगदान।

६. ,, सुषमा अग्रवाल--स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक की वस्तु संरचना।

७. श्री गोपाल राय--हिंदी उपन्यास में पारिवारिक जीवन।
(आरंभ से सन् १९३६ तक)

८. ,, कैलाशनाथ तिवारी--हिंदी गद्य-गीत साहित्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन।

९. श्रीमती रागिनी वर्मा--'रेणु' और उनका कथा-साहित्य।

१०. ,, प्रभावती सिंह—अब्दुर्रहीम खानखाना : व्यक्तित्व और कृतित्व।

११. श्री जटाशंकर द्विवेदी—मानवीय मूल्यों के संदर्भ में तुलसी और आधुनिक कवि।

१२. ,, शंभुनारायण मिश्र— चरनदासी संत जुगतानंद और उनका काव्य।

१३. श्रीमतो प्रेमलता राय– नयी कविता में बिम्ब और प्रतीक।

१४. श्री रामअवध शास्त्री –उपन्यास शिल्प और अमृतलाल नागर।

१५. कु० मीरा खन्ना—द्विवेदी युग के प्रबंध काव्य।

१६. श्री अवधनारायण दूबे –श्री इलाचंद जोशी का कथा साहित्य।

१७. श्रीमती उर्मिला देवी—उपन्यासकार भगवती चरण वर्मा।

१८. श्री महावीर प्रसाद उपाध्याय– अष्टछाप के कृष्ण-साहित्य में लोकतत्व।

१९. ,, विजय कुमार बोहरा आधुनिक हिंदी की लंबी कविताओं की भाषा-संरचना।

२०. ,, काशीनाथ गुप्त—हिन्दी उपन्यासों के वार वनिता चरित्र।

२१. ,, अम्बिका प्रसाद सिंह– रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों में काव्य शास्त्रीय विवेचन।

२२. श्रीमती सविता वर्मा—कामायनी में बिम्ब और प्रतीक।

२३ श्री श्रद्धानंद छायावाद युगीन ललित निबंध।

२४. श्रीमती सुधा पांडेय—हिंदी-काव्य में रामाश्वमेध।

२५. श्री रामचंद्र जोशी—मतिराम की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन।

२६. श्रीमती नीलम राय– उत्तर मध्यकालीन सूफी काव्य और नूर मुहम्मद।

२७. श्री सुरेन्द्र प्रताप—मुक्तिबोध : विचारक कवि और कलाकार।

●

हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और उनका हिन्दी को योगदान

डॉ० शिवकरण
प्रवक्ता, हिन्दी

बीसवीं शताब्दी के आरंभ के दशकों में विद्यालय और विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी के पठन-पाठन की समस्या जिस रूप में सामने उपस्थित हुई थी और तत्कालीन मनीषियों ने उसका जिस रूप में समाधान किया था, वह कम सराहनीय न था। इसके पूर्व उच्च-शिक्षा में हिन्दी का वह स्थान न था जो होना चाहिए था। प्रायः लोगों में यह भ्रान्त धारण परिव्याप्त थी कि हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसा नहीं है जिसे उच्चशिक्षा के योग्य समझा जाय। एक ओर उसकी तुलना अगर अंग्रेजी साहित्य से की जाती थी तो दूसरी ओर कुछ प्रान्तीय साहित्य भी आड़े-बेड़े प्रतिद्वन्दिता के लिए उपस्थित हो जाते थे। इसमें कोई शक नहीं कि भारत की मिट्टी वीर-प्रसविनी ही नहीं प्रतिभा-प्रसविनी भी रही है। हमारे देश के हर प्रान्त और हर साहित्य में ऐसी प्रतिभायें पैदा हुई हैं जिनकी सुगन्धि से एक बार समूचा भारत सुगन्धित और आह्लादित हुआ है। लेकिन आरंभ से ही हिन्दी की स्थिति कुछ अन्य प्रान्तीय भाषाओं से विशिष्ट रही है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह देश के बहुत-बड़े भू-भाग की भाषा रही है और दूसरे सौभाग्य से इसे तुलसी, सूर, जायसी और कबीर जैसे समर्थ हाथों का सहयोग प्राप्त हुआ है और आधुनिक युग में भारतेन्दु जैसी बहुमुखी प्रतिभा के हाथों इसका आलवाल सँवारा गया है। भारतेन्दु युग के बाद तो हिन्दी-साहित्य का जो बहुमुखी विकास हुआ है, वह किसी भी सर्वाधिक विकासशील साहित्य के लिए स्वयं में एक चुनौती है। लेकिन दूसरे-तीसरे दशक में पाठ्यक्रम के लिए हिन्दी साहित्य को अपनाने वाले के समक्ष कई चुनौतियाँ थी। इसका पद्य-साहित्य अवश्य विकसित था, पर गद्य-साहित्य अभी अपने बचपन से गुजर रहा था। आधुनिक विधाओं—नाटक, उपन्यास, कहानी, के क्षेत्र में भारतेन्दु काल में कुछ कार्य हुआ अवश्य था, फिर भी वह उच्च पाठ्यक्रम में निर्धारित करने योग्य न था। भारतेन्दु काल में निबंध का विकास विशेष रूप से स्मरणीय रहा, फिर भी अभी और सशक्त रूप में उस विधा को विकसित होना शेष था।

तृतीय दशक के आरंभ में उच्च-शिक्षा के लिए हिन्दी को पाठ्य-क्रम में स्थान देने की इस चुनौती का सामना करना पड़ा सबसे पहले अध्यक्ष बाबू श्याम सुन्दर दास को। बाबू जी चुनौतियों के बीच जीना जानते थे। वे उनसे क़तराने के स्थान पर उनका डटकर मुकाबला करते थे। उनमें निबंधकार, संपादक, आलोचक की अद्भुत प्रतिभा विद्यमान थी। वे निर्भीक प्रबंधक और अन्तर्दृष्टि प्रधान समालोचक दृष्टि का उत्कृष्ट उदाहरण कबीर ग्रंथा-

वली और समालोचक दृष्टि का उत्कृष्ट उदाहरण 'साहित्यालोचन' और निबंध हैं। बाबू साहब में स्वयं कार्य करने के साथ ही योजनाबद्ध ढंग से काम कराने की भी अद्भुत क्षमता थी। वे प्रतिभा के धनी थे और सहयोगियों की प्रतिभा को परखने में पटु। अध्यक्ष का कार्य किसी व्यक्ति विशेष का कार्य नहीं होता। उसका कार्य तो 'टीम-वर्क' का उदाहरण होता है। वह खुद काम करता है, पर अपनी पूरी टीम को निश्चित योजना के अनुरूप ऐसे काम में लगाए रहता है जो भावी विकास की संभावनाओं के साथ ही वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में भी सक्षम हों। बाबू जी ने हिन्दी के विकास के नींव का पत्थर ही नहीं रखा था, अपने खून को पसीना बनाकर उसका निर्माण भी किया था। आप खुद कल्पना कर सकते हैं कि उनका दिल क्या किसी शाहजहाँ से कम तमन्नाओं से भरा रहा होगा जो अपनी आँखों के समक्ष ही हिन्दी रूपी ताजमहल को बनते देखने का सौभाग्य प्राप्त कर सका हो, किसी महाराणा या भगत से कम त्यागपूर्ण रहा है जिसने मातृभूमि के साथ ही मातृभाषा के उद्धार में अपने को पूर्णतः समर्पित कर दिया हो, किसी भी राजनेता से कम यशस्वी रहा है जिसने देश के नीति निर्धारण में सफल योगदान किया हो? यह तो हमारी कमी है कि हम उन यशस्वी साहित्यकारों को भी पिछली पंक्ति में स्थान देते चले आ रहे हैं जिनके नव-निर्माण के सपनों के हम सुखद भोक्ता हैं। लेकिन हम इसको ज़ोरदार शब्दों में कहना चाहते हैं कि हीरक जयन्ती के अवसर पर आज जब भी मातृभाषा के विकास की बात उठेगी तो बाबू श्यामसुन्दर दास का योगदान अवश्य ही स्मरणीय रहेगा। आज साहित्य के पृथुल विकास की ऊपरी तह पर खड़े होकर उनकी उपलब्धि के दबे पत्थर को हम भले न देख पायें, लेकिन उनकी कर्तव्यपरायणता, प्रतिबद्ध हिन्दी सेवा, निष्पक्ष प्रबंधक क्षमता और कुछ इने गिने लोगों के सहयोग से हिन्दी साहित्य की भागीरथी प्रवाहित करने का भगीरथ प्रयास हमारी सफलता और असफलता के क्षणों में रह-रह कर अब भी अनुगुंजित हो उठता है। हमारे पास दृष्टि तो हो कि हम उसे सुनकर समझ सकें और कार्य रूप में परिणत कर सकें। हिन्दी साहित्य प्रतिष्ठित हुआ है, लेकिन अभी उसे और प्रतिष्ठित करना है। उसे हमें उस सीमा तक ले जाना है, जहाँ वहाँ विश्व-साहित्य के लिए एक अनुकरण और चुनौती का विषय बन जाय। हमारे संस्कृत के मनीषियों ने यह कार्य संपादित किया है। वे अब भी विदेशों में चाव से पढ़े, सुने और समझे जाते हैं। क्या हम वह कार्य नहीं कर सकते हैं? बाबू श्याम सुन्दर दास की कर्तव्य-निष्ठा और लगन संभवतः हमारे इस कार्य में अधिक सहायक होगी।

हिन्दी विभाग के दूसरे दिग्गज और स्वनाम धन्य यशस्वी अध्यक्ष थे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। शुक्ल जी का निर्माण, जिन चट्टानी वास्तविकताओं से हुआ था, उनमें त्रिविध प्रतिभाओं का जो अभूतपूर्व संयोग था वह आज भी साहित्य के विद्यार्थी के लिए प्रेरणा का विषय है। उनमें एक साथ सफल समालोचक, निबन्धकार, अनुवादक, कवि, संपादक, कोषकार एवं साहित्य-इतिहासकार की समताओं का मणिकांचन योग था। इनके पूर्व में सभी उपर्युक्त विधायें या तो अविकसित थीं, या उनमें केवल नामलेवा और पानी देवा की स्थिति विद्यमान थीं। शुक्ल जी ने अपने संकल्प और अध्ययन के माध्यम से पहली बार हिन्दी साहित्य के समक्ष समुचित आलोचना के मानदण्डों का ही नहीं विकास किया,

अपितु हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास और पहला शब्दकोश लोगों के सामने प्रस्तुत किया। आज की पीढ़ी के समीक्षक और इतिहासकार उनकी कुछ मान्यताओं से असहमत हो सकते हैं। ज्ञान-विज्ञान और साहित्य के विकास के साथ यह असहमति विकास की ही सूचक है। इससे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का महत्व किसी प्रकार घट नहीं जाता। उनके बाद वैज्ञानिक पद्धति से न तो हिन्दी साहित्य का इतिहास ही लिखा जा सका और न अपने सांस्कृतिक और सामाजिक सन्दर्भों में अपनी मिट्टी और जीवन चेतना के साथ जोड़कर आलोचना के मानदण्ड ही विकसित किए जा सके। हम अनुकरण और उधार खाते से ग्रहण किए गये विचारों से इतने आक्रान्त हो उठे कि जो अपना था वह तो साथ छोड़ बैठा और जो पराया था वह हम पर हावी हो गया। विचारों के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान और प्रभाव साहित्य के लिए तब स्वस्थ आधार का कार्य कर सकते हैं। जब उन्हें हम अपनी वसीयत से कहीं पर जोड़कर उनकी सार्थकता सिद्ध कर सकें हैं। जन-जीवन की मूलभूत चेतना से कटे ज्ञान अधर में लटकते व्यक्ति की तरह होते हैं। क्या शुक्ल जी के बाद के साहित्यकारों की दृष्टि इस ओर गई हैं? शुक्ल जी ही पहले व्यक्ति थे और अब भी हिन्दी में अन्तिम व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने मानदण्ड की आवश्यकता महसूस की थी और उसकी ओर प्रयास ही नहीं किया था अपितु उस का स्वरूप भी विकसित करके हमारे समक्ष रखा था। आलोचना और रचना के अन्तर्देशीय विकास क्रम से परिचित व्यक्ति इस बात को बहुत अच्छी तरह समझते हैं कि कहीं न कहीं समूचे विश्व के एक राष्ट्र के रूप में परिणत होने की भावना आज किसी न किसी रूप में क्रियाशील है। मानव-प्रकृति की संकीर्णता से अगर इस मार्ग में बाधायें न उत्पन्न हुई होती, उस के अधिकार एवं अहं की भावना से अगर इस विकास को बोझिल न बनाया गया होता तो संभवत: आज उस का दूसरा रूप हमारे समक्ष उपस्थित होता। ऐसी स्थिति में आज विश्व के समक्ष वैचारिक आदान-प्रदान के सन्दर्भ में नित नूतन आदर्शों और विचारों को उपस्थित होना स्वाभाविक है। लेकिन इन विचारों को यथावत् रूप में ग्रहण करना विशेष हितकर नहीं होगा; विज्ञान के क्षेत्र में वह हितकर हो भी, पर साहित्य और कला के क्षेत्र से व्यापक ही नहीं अपितु उस का पथप्रदर्शक भी है। साहित्यकार से सन्देश ग्रहण करके ही वैज्ञानिक अपने भटकाव से बच सकता है। आप लोगों को मेरी यह भविष्यवाणी अतिशयोक्तिपूर्ण ज्ञात हो सकती है। लेकिन जो सत्य है उसे अस्वीकार करने से हम तथ्य से विरत हो जाते हैं। इससे तो हम न घर के बन सकते हैं और न घाट के। भूलने की आवश्यकता नहीं है कि साहित्य सीधे जन-जीवन के सम्पर्क में होता है, देश की सांस्कृतिक चेतना के सम्पर्क में होता है, लोगों के वर्तमान संघर्ष और भविष्य-कल्पना के संपर्क में होता है। वह किसी भी राष्ट्र का जीता-जागता, हँसता-बोलता, और सफलताओं और असफलताओं के बिन्दु पर व्यक्ताव्यक्त सन्देश देता जीवन्त इतिहास है। आज के युग में प्रच्छन्न रूप से वैचारिक द्वन्द्व के साथ संस्कृतियों का द्वन्द्व भी अपने पूर्ण जटिल रूप में सामने उपस्थित है। एक समय हम ने अपनी उत्कृष्टता से समूचे विश्व का मार्ग-दर्शन किया है। यह कल्पना नहीं सत्य है। लेकिन आज हम, हमारे साहित्यकार और हमारे विचार उस से कट रहे हैं। इसका कारण स्पष्ट है। इसीलिए साहित्य जीवन को प्रभावित करने का वह सफल माध्यम-शास्त्र-

नहीं बन पा रहा है जो उसे बनना चाहिए। जो अपने से कटा होगा, अपने आदर्शों से च्युत होगा, वह केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन का साधन होगा, वह अपने से कभी भी जुड़ नहीं पायेगा। जो अपने से नहीं जुड़ पाएगा, वह कभी अपना से नहीं बन पाएगा शुक्ल जी ने उस समय की सभी मान्य-विचार धाराओं को देखा और परखा था, उसका समुचित विवेचन और विश्लेषण किया था, लेकिन उनके परिग्रहण के समय उन्हें अपने अनुरूप ढालकर सामने रखा था। इससे साहित्य को एक दिशा मिली थी। आज उन्हीं की कुर्सी पर बैठ कर, उन्हीं के छिद्रान्वेषण के बल पर अपना अध्यापकी जीवन चलाने वाले और अपनी समीक्षा की पद्धति को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करने वाले हम अध्यापक आखिर शुक्ल जी को किस बूते पर नकारने की कोशिश कर रहे हैं? जरा विचारें तो सही। तथ्यपरक त्रुटियाँ हर व्यक्ति में होती हैं। शुक्ल जी में भी हैं, पर क्या हमारे में वह प्रतिभा, वह ज़ीवन्तता, वह तेज, वह तथ्यान्वेषी दृष्टि और वह समर्पण-भाव भी है जो शुक्ल जी के अन्दर था?

हमारा सौभाग्य है कि शुक्ल जी हमारे विभाग के सदस्य थे और उन्होंने अपने को निःशेष भाव से समर्पित करके हमारा मार्ग-दर्शन भी किया था। साहित्य के हर पथ पर आज उनकी आशाओं और उपलब्धियों के फूल बिछे हैं, हमारा कण्टकाकीर्ण मार्ग मंगलमय बना है, लेकिन हमीं अपने प्रयासों से उसे अपने काम का नहीं बना पा रहे हैं। शुक्ल जी ने साहित्य के लिए कुछ प्रतिबद्ध लेखक और विचारक पैदा किए थे। उन्होंने उस उत्तर-दायित्व का वहन भी किया, लेकिन आज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का हिन्दी-विभाग कम से कम शुक्ल जी को भूलने की प्रक्रिया में है। जब अपना ही अपने को भूल जाय तो फिर पराया कैसे याद कर सकता है? हिन्दी विभाग को आगे आना है और समूचे विश्व-विद्यालय को आगे आकर कुछ ऐसा करना है जिससे शुक्ल जी के सपने साकार हों और उनके आशीर्वाद से हिन्दी विभाग में पुनः ऐसी प्रतिमायें सामने आये जिनके माध्यम से हिन्दी-जगत् को पुनः उनकी साधना पीठ में ही उनका दर्शन हो सके। आज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अपने ही उद्धारक को याद रखने का कोई भी साधन उपस्थित नहीं है। न तो उनके नाम पर कोई संग्रहालय है और न वाचनालय, न कोई शोध-संस्थान है और न परिचर्चा भवन। मैं अपने अध्यक्ष और संकाय-प्रमुख के माध्यम से वि० वि० प्रशासन से माँग करना चाहता हूँ कि हिन्दी विभाग और विश्वविद्यालय कम से कम अपने गौरव की रक्षा के लिए शुक्ल जी के उपयुक्त कोई कीर्ति स्तम्भ स्थापित करने की व्यवस्था करे। समूची हीरक-जयन्ती का हिन्दी के तपोनिष्ठ साधक को यही उपयुक्त देन होगी।

हिन्दी के तीसरे अध्यक्ष का पद सुशोभित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ स्वर्गीय आचार्य केशव प्रसाद जी मिश्र को। मालवीय जी के जमाने के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों में इनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। ये भी मूलतः सुपठित और विज्ञ व्यक्ति थे। इन्हें पढ़ने से जितना ही चाव था, लिखने से उतना ही वितृष्ण। उनकी विदाई के अवसर पर उनके हिन्दी विभाग के सहयोगियों ने प्रतीक रूप में अन्य सामानों के साथ उन्हें कागज और कलम भी प्रदान किया था। सहयोगियों का यह कार्य उनकी इस अभिलाषा का

प्रतीक था कि आचार्य-प्रवर अगर अब भी अपनी विद्वत्ता को लिपिबद्ध कर देते तो इस हिन्दी जगत का बड़ा कल्याण हो जाता। लेकिन मिश्र जी ने अपने विचारों को प्रौढ़ बनाने के चक्कर में उसकी भी अवहेलना की। उन्होंने बहुत थोड़ा लिखा, पर उनके लेखन पर उनकी विद्वता और अन्तर्दृष्टि की अमिट छाप थी। आपको प्रसाद की 'कामायनी' से विशेष लगाव था और उसको पढ़ाते समय वे जिस अधीन ज्ञान का परिचय देते थे, वह आज भी उनके छात्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा का विषय है।

केशव जी के पश्चात् चतुर्थ अध्यक्ष के रूप में आदि साहित्य और सन्त साहित्य के एकमात्र शोधक और उद्धारक, आधुनिक साहित्य के मर्मज्ञ हिन्दी में ललित निबन्ध के संवर्द्धक और दिशा निर्देशक और आत्म कथात्मक उपन्यास की शिल्प विधि के अन्वेषक डॉ० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने हिन्दी विभाग के विकास में अभूतपूर्व योगदान दिया। इनमें कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का अप्रतिम संयोग था, ये शास्त्र निष्णात व्यक्ति थे और शान्ति निकेतन के प्रवास काल में उनकी इस प्रतिमा को पूर्णतः विकसित और प्रौढ़ होने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ था। हिन्दी के अध्यक्षों में शुक्ल जी की परम्परा की तरह ही आचार्य द्विवेदी की चिन्तन परम्परा भी विकसित हुई और उनके शिष्यों पर उनका जो रंग चढ़ा था, उससे हिन्दी साहित्य के भाण्डार की श्री वृद्धि हुई। द्विवेदी जी के काल में विभाग के पाठ्यक्रम और शोध की क्षितिज का विस्तार हुआ। पूरे विभाग में पठन-पाठन और ज्ञान-अर्जन के प्रति एक जिज्ञासा जगी और एक बार फिर हिन्दी विभाग ज्ञान की नई दीप्ति से भर उठा। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग कई दशकों से हिन्दी-साधना का प्रमुख केन्द्र माना जाता था? साहित्य मर्मज्ञों की आशा भरी दृष्टि सदैव इस पर लगी रहती थी। इसकी सबसे बड़ी सफलता यह थी कि इसके माध्यम से सदैव कुछ ऐसा मिलता रहा, जिससे साहित्य की ही क्षितिज आलोकित नहीं होती थी, अपितु साहित्य के संभावनामय विकास के प्रति लोगों की आशा भी बँधती थी। द्विवेदी जी के काल में हिन्दी विभाग को अपने पूरे विकास के साथ हिन्दी जगत के समक्ष आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इनके सहयोगी भी कम उद्भट विद्वान न थे। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, श्री करुणापति त्रिपाठी, डॉ० श्रीकृष्ण लाल, डॉ० छैलबिहारी गुप्त, डॉ० भोलाशंकर व्यास, डॉ० नामवर सिंह प्रभृति विद्वानों के सहयोग से श्रद्धेय द्विवेदी जी ने समूचे हिन्दी-जगत को जो योगदान दिया वह सदैव स्मरणीय रहेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग सदैव से स्वतः में एक लघु हिन्दी जगत रहा है। यहाँ पर परम्परित और प्रयोगशील प्रवृत्तियाँ समानान्तर चली ही नहीं अपितु विकसित भी हुई हैं। द्विवेदी जी का कार्य-काल इसका अपवाद नहीं रहा है। लेकिन ये प्रवृत्तियाँ साहित्य की जीवन्तता और प्रगतिशीलता की ही परिचायक रही हैं। हिन्दी विभाग के हिन्दी के दिग्गज मनीषियों को सिद्धान्त के धरातल पर वैमत्य का परिचय दिया है, लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर कभी-कभी इसे व्यक्तिगत राग-द्वेष का विषय नहीं बनाया है। इसी स्वस्थ परम्परा का परिणाम है कि आज भी इसके निवर्तमान अध्यक्ष या दिग्गज विद्वान् संयोगवश कभी जब एक मंच पर उपस्थित हो जाते हैं तो लगता है कि तपोपूत साधना के महर्षि किसी

निश्चित आदर्श पर निर्णय के लिए उपस्थित हुए हैं। उनके आपसी वार्तालाप से तत्त्वाभिनिवेषी कथनों के साथ हास्य और व्यंग्य का जो फौव्वारा फूटता है, उससे सभी सरावोर हो उठते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी का ऐतिहासिक वोध प्रखर, मानववादी सचेतना उद्दीप्त और प्रयोगशीलता और सप्राण रही है। इतिहास दर्शन के साथ जब उनके तत्व ज्ञान का सामंजस्य होता है तो उनकी प्रतिम प्रयोगशीलता में अद्भुत निखार आ जाता है। उनकी अपनी दृष्टि है, शोध परक दृष्टि—पैनी, दो टूक वार करके सत्य के तह तक जाकर उसको अनावृत्त करने में सक्षम दृष्टि। इस पर ऊपर से भाव की मीनी चादर चढ़ी रहती है, पर उसकी अन्त: सलिल में जीवन-यथार्थ के अनेकश: स्वरूप स्वत: सक्रिय रूप से क्रियाशील रहते हैं जो अपनी कौंध में अनायास ही हमारा ध्यान आकृष्ट करके किसी अव्यक्त आनन्द से उसे वाँध देते हैं। द्विवेदी जी का अपना जीवन-दर्शन रहा है। वे जीवन-रस के रचनाकार और समीक्षक रहे हैं। आस्था और विश्वास के अनन्य प्रतीक रचनाकार और समीक्षा-शास्त्र निष्णात महापण्डितों ने नि:शेष भाव से अपने को अपनी साधना को समर्पित किया है जो एक अन्य रस-लोक की सृष्टि में सक्षम है और आज भी सुधी साहित्यकार उसमें आपाद निमज्जित होकर उसका साक्षात्कार करके एक महान प्रतिमा का दर्शन करता है। द्विवेदीजी स्वत: में जीवन्त साहित्य की जीवन्त परम्परा हैं—अनेक मोड़ों, चमत्कारों, भाव-विलासों और देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण करनेवाली जीवन्त परम्परा। यहाँ वहुत कुछ अगाध और अनन्त है, पूर्ण है—लेकिन सब कुछ के बावजूद शान्त और व्यंजना प्रधान—ठीक वैसे ही जैसे उनके साहित्य गुरु कवीन्द्र रवीन्द्र का व्यक्तित्व।

डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा पाँचवें अध्यक्ष रहे हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विभाग जो गति प्रदान की थी, उसे डॉ० शर्मा ने स्थायित्व प्रदान किया। वे मूलत: को बावू श्यामसुन्दर दास और शुक्ल जी के प्रशंसक थे और विभाग के प्रबन्ध की दृष्टि से उन्होंने बावू साहव को और समीक्षा की दृष्टि से उन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को अपना पथ-प्रदर्शक माना। लोग कहते हैं कि हिन्दी के अध्यक्षों में वावू साहव समझौता परस्त न थे। वे जो कुछ भी सोचते थे उसे अपनी दृढ़ निष्ठा से पूरा करने की ओर अग्रसर होते थे। डॉ० शर्मा एक अध्यक्ष के रूप में बावू साहव को अपना आदर्श मानते थे। जिस अडिग निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ उन्होंने अध्यक्ष का कार्य सम्पादित किया वह उनके सुयोग्य व्यक्तित्व का एक अंग ही नहीं अपितु हिन्दी विभाग की अध्यक्षीय परम्परा का 'समुरे' सिद्ध हुआ। डॉ० साहव 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' थे। लेखक को उनको निकट से देखने और समझने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। अकड़धत्त व्यक्तित्व, अमिट निष्ठा और विभाग के हित के प्रति एक निष्ठ समर्पण उनकी प्रमुख विषेषता थी। वे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष की मर्यादाओं से परिचित थे और उसका सतत् पालन करना अपना धर्म समझते थे। व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त होकर उन्होंने विभाग का जो विकास किया था उसी भित्ति पर वह आज भी प्रतिष्ठित है। वे अपनी मर्यादा के प्रति जितने सतर्क थे उतना ही दूसरे सहयोगियों की मर्यादा के लिए भी प्रयत्नशील। अध्यक्ष की कुर्सी उनके लिए विक्रमादित्य के निर्णय का सिंहासन थी। उस पर बैठने के बाद उनके सभी निर्णय आग्रह मुक्त और निर्वैयक्तिक होते थे। उनमें अपने सहयोगियों के प्रति समादर का भाव था और वे

उनकी प्रतिभाओं से सही रूप में परिचित थे। साथ ही वे विभाग को परिवार मानते थे। इसीलिए आत्म-विश्वास के साथ सभी विभागीय लोगों से विभाग के हित का कार्य भी कराते रहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ० शर्मा के अध्यक्ष होने के समय कुछ कारणों से कतिपय लोगों के मन में कुछ शंकाएँ उत्पन्न हो गई थीं। लेकिन उनके कुशल-प्रशासन से वे अल्पकाल में ही शंकामुक्त होकर सहज ढंग से कार्य करने लगे। आज भी विभाग के अधिकांश सहयोगी इस तथ्य से भली प्रकार परिचित हैं कि डॉ० शर्मा अपने सहयोगियों के हित-साधन के लिए किस सीमा तक जाकर त्याग कर सकते थे। वे स्वयं अपने को विवाद का विषय बनाकर अपने मित्रों और शिष्यों को विवाद मुक्त रखना चाहते थे। इसके लिए उन्हें अपने प्रशासन में कई बार विकट चुनौतियों का सामना करना पड़ा था, लेकिन क्या अनूठा व्यक्तित्व था उस लौह पुरुष का! उसके चेहरे पर कभी भी शिकन नहीं आई। वैसे आजकल सर्वत्र अध्यक्ष का पद भाग-दौड़ का पद हो गया है, प्रलोभन का पद हो गया लेकिन डॉ० शर्मा के लिए वह आत्म सम्मान का पद था। आज भी सभी लोग इस बात के साक्षी हैं कि उन्होंने अपने अध्यक्षीय काल में इसकी रक्षा की। उनके कार्य-काल में शिक्षण का स्तर भी बना रहा, विभाग को कई छात्रवृत्तियाँ मिलीं और सब में परिवारदारी का भाव पैदा हुआ। इस प्रशासनिक विशेषता के साथ ही उन में एकेडेमिक विशेषतायें भी थीं। वैसे सुना है कभी शर्मा जी किसी छद्मनाम से कुछ कवितायें भी करते थे और बड़े ठाट से काशी के काव्य-संपृक्त अड़भंगीपन का जायका लिया करते थे। उनकी आलोचना में भी उनका निरालापन अलग ही कौंधता रहता है। 'प्रसाद की शास्त्रीय आलोचना' से शुरु कर के 'कहानी के रचना-विधान' तक की जो मंजिल उन्होंने तै की वह छोटी नहीं थी। पथ पर उनकी अन्तर्दृष्टि, परख और समझ के अनेक पगचिह्न थे जो साहित्याकाश में अपनी अलग छटा बिखेरते रहते थे। तात्पर्य यह कि शर्मा जी निराले थे, उनका साहित्य ज्ञान निराला था और सब से निराला था उनका प्रशासन।

शर्मा जी के बाद स्थायी अध्यक्ष पद का कार्यभार सँभाला वर्तमान अध्यक्ष डा० विजय पाल सिंह ने। वैसे वर्तमान स्थिति में डा० सिंह पर कुछ लिखना अपर्याप्त सिद्ध हो सकता है, इसका कारण स्पष्ट है। कई माने में उनकी संभावनाओं के स्वरूप अब तक स्पष्ट हो चुके हैं, पर कई माने में वे अभी अव्यक्त भी हैं। इस व्यक्ताव्यक्त स्थित में हमें सहज ही प्रभात कालीन उस प्रभामण्डल का ध्यान हो आता है जो बालरवि को अपने में समेट कर अनन्त संभावनाओं का केन्द्र बना रहता है। उनके व्यक्तित्व में 'गुरुकुली' अनुशासन कूट-कूट कर भरा हुआ है और उस पर वेंकटेश्वर की पड़ती हुई आभा उसको अनेक मानव दुर्लभ गुणों से अलंकृत कर देती है। यही संयोग डा० साहब के जीवन का आधार है जो उनकी जीवन आस्था के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। कुछ अपवादों को छोड़कर वे भीतर-बाहर से एक हैं; सरल, सहज, आडंबरहीन और छल-छद्म से सर्वथा मुक्त। उनमें मानवीय करुणा का एक अपार समुद्र उमड़ता रहता है और जरूरत पड़ने पर मित्र और शत्रु सबकी सहायता के लिए उनके हाथ सार्थक रूप में फैले रहते हैं। कभी-कभी तो दूसरों के कष्ट

से वे इतना क़ातर हो उठते हैं, जैसे वे स्वतः उसे भुगत रहे हैं। बाह्य-दृष्टि से रूखे पर आन्तरिक दृष्टि से सहज-मानवीय-करुणा से ओत-प्रोत डा० साहब अल्पकाल में ही अपनी विशिष्टताओं के लिए सर्व-प्रिय हो चुके हैं। इस के कई कारण हैं। एक तो वे दलगत राजनीति में विश्वास नहीं करते, दूसरे किसी के हित के लिए भले ही कम चिन्तित हों, पर किसी का अहित कदापि नहीं कर सकते। मैंने ऐसे अवसर भी देखे हैं जब डा० साहब ने 'विनु काज दाहिने वायें' लोगों की मुक्त हस्त सहायता की है; यह जानते हुए कि पैरों पर खड़ा कर पुनः वे उन्ही पर प्रहार करेंगे। डा० साहब मंच पर चलने वाले नाटक को तो कभी देख भी लेते हैं, पर परदे के पीछे की घटनाओं से जानबूझ कर अपने को अनभिज्ञ रखना चाहते हैं। इसीलिए अनायास ही अपनी आस्था का संबल ग्रहण कर के वे अनेकानेक अप्रिय प्रसंगों से सहज ही मुक्त हो जाते हैं। उनमें तपोनिष्ठ कर्मयोगी का संकल्प, मानववादी की प्रतिमा सचेतन दृष्टि, आस्थावादी की सहज करुणा-संपन्न आस्था और विश्वास और प्रशासक की निर्वैयक्तिकता का मणिकांचन संयोग पाया जाता है। इसीलिए संभवतः भारतीय अध्यक्षों में सबसे कम वय में अध्यक्ष का गुरु उत्तरदायित्व सम्हालने के बावजूद उनका व्यक्तित्व अब भी निष्कलंक है। डॉ० साहब अपनी उपलब्धियों के प्रति सदैव सचेतन रूप से क्रियाशील पाए जाते हैं। उन्होंने रीति-कालीन कवि केशव को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। आचार्य शुक्ल ने तो केशव को घता बोला दिया था, पर डॉ० सिंह ने उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करके यह सिद्ध कर दिया है कि केशव की प्रतिभा का साहित्यिक महत्त्व हैं। उन्होंने 'केशव और उनका साहित्य' पर पी-एच० डी और 'केशव का आचार्यत्व' पर डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की है। अभी हाल में 'केशव की काव्य-चेतना' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है, जो भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। नागरी प्रचारिणी सभा से 'केशव का शब्दकोश' प्रकाशित हो रहा है और इसी के समानान्तर किसी अन्य प्रकाशन से 'अनुसंधान और आलोचना' नामक ग्रंथ भी निकट भविष्य में ही हिन्दी जगत के समक्ष आने वाला है। इनके अतिरिक्त कहानी और कविता पर उनके कई संपादन हैं। स्पष्ट है कि उपलब्धियों की दृष्टि से भी डा० सिंह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अध्यक्षीय परम्परा के अनुकूल सिद्ध हुए हैं।

लेकिन कुछ और है जिसकी ओर इस पुण्य तिथि पर उनका ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। वे घर के मालिक की तरह हमारी सुविधाओं को ध्यान में रखते हैं, फिर भी हमारा स्वार्थ निरन्तर उनसे कुछ याचना करने के लिए प्रेरित करता रहता है। इस परवशता को या तो विभाग के सदस्य समझ सकते हैं, या उस परिवार के मालिक अध्यक्ष। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की हिन्दी विभाग की गौरवमयी परम्परा डा०विजयपाल सिंह से अब भी इस बात की अपेक्षा करती है, कि वे अपने सहयोगियों के सहयोग से कुछ ऐसा योजनाबद्ध कार्य सम्पादित करें और करायें जो हिन्दी के विकास के लिए एक प्रकाश स्तम्भ बन सके। शंकर के त्रिशूल पर बसी हुई भगवान् विश्वनाथ की यह नगरी विश्व का ही नहीं, हिन्दी का भी हृदय है—शुद्ध, सात्विक और चिन्मय हृदय। यहाँ तो शुद्ध संकल्प की ही अपेक्षा है, उसकी पूर्ति का साधन तो स्वयमेव जुट जाता है। वर्तमान अध्यक्ष को इस पुनीत अवसर पर इस पवित्र संकल्प को लेकर उसे पूरा करने की ओर अग्रसर होना चाहिए। यही उनकी मालवीय जी के इस विश्वविद्यालय को विशेष देन होगी।

●

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का स्वातंत्र्य-पूर्व हिन्दी-विभाग और राष्ट्रीय चेतना

डॉ० बब्बन त्रिपाठी
प्रवक्ता, हिन्दी

किसी देश के इतिहास में जब संकट का काल आता है तब उस देश के बुद्धिजीवियों, विचारकों तथा सचेत व्यक्तियों का दायित्व और अधिक बढ़ जाता है। कई देशों के इतिहास में यह मिसाल कायम है कि देश को स्वतंत्र करने तथा राष्ट्रीय चेतना जगाने तथा मानवाधिकारों के प्रति जनता को सचेत करने में वहाँ के साहित्यकारों और चिन्तकों ने सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यूरोपीय समाज में आमूलचूल परिवर्तन लाने वाली फ्रांसीसी क्रांति के पीछे रूसो के प्रयास को कौन भूल सकता है ?

हमारे देश में भी राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान बुद्धिजीवियों ने अपने दायित्व का भली-भाँति निर्वाह किया। प्राचीन काल में भी इसके उदाहरण पाये गये हैं जब कि देश को सही दिशा देने में शिक्षा तथा संस्कृति के केन्द्रों और उनके उन्नायकों ने सबसे महत्व पूर्ण कार्य किया है। भारतीय इतिहास में तक्षशिला तथा नालन्दा जैसे विद्या, कला तथा संस्कृति की साधना-स्थली नहीं भुलाई जा सकतीं। बीसवीं सदी में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष में अपने देश की जिन शैक्षणिक संस्थाओं ने गौरवपूर्ण भूमिका निभाई उनमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह विश्वविद्यालय उन दिनों राष्ट्रीय गतिविधियों का केन्द्र बन गया था। इसका सबसे अधिक श्रेय इस महान् शिक्षाकेन्द्र के संस्थापक महामना मालवीय जी को है जिनकी उच्चकोटि की राष्ट्रीयता, देशभक्ति तथा निःस्वार्थ सेवा-भावना राष्ट्रीय आन्दोलन को सदा अनुप्राणित करती रही। ऐसे महामना के विराट् व्यक्तित्व की छाया में कई राष्ट्रनायक इस विश्वविद्यालय से संबद्ध थे जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लिया, किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक थी जिन्होंने सक्रिय भाग तो नहीं लिया पर अपने विचारों से राष्ट्रीय चेतना का प्रसार एवं संवर्द्धन किया। इस क्रम में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का तत्कालीन हिन्दी विभाग और उसके राष्ट्रचेता आचार्यों ने अपनी रचनाओं तथा क्रिया-कलापों से राष्ट्रीय चेतना के विकास में अपरिमेय योगदान किया। यद्यपि उनके योगदान का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना उनके प्रयास का अवमूल्यन करना है फिर भी हम इस विश्वविद्यालय की हीरक जयंती के अवसर पर इस तपोभूमि की गौरवगाथा के संदर्भ में कुछ स्वर जोड़ने के लिए भूले-बिसरे प्रसंगों की उद्धरणी कर रहे हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की चर्चा शुरू करते ही इसके संस्थापक अध्यक्ष स्वनामधन्य बाबू श्यामसुन्दर दास की याद अनायास आ जाती है। बाबूसाहब का पूरा जीवन राष्ट्रसेवा के लिए समर्पित था। राष्ट्रभाषा तथा देवनागरी लिपि का प्रचार-प्रसार तथा विकास ही उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था। इण्टरमीडिएट कक्षा के छात्र

के रूप में नागरीप्रचारिणी सभा जैसी संस्था की स्थापना कर इन्होंने 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' कहावत चरितार्थ कर दी थी। सभा की स्थापना के सत्प्रयास का उल्लेख तक ही उन्हें सीमित नहीं रख सकते। अधिवेशन के दिन सभा के लिए किराये पर लिये हुये कमरे को अपने हाथ से साफ करना, स्वयं कुर्सी-टेबुल तक लगाना उनके उत्कट राष्ट्र-प्रेम का प्रमाण है। सरकारी कार्यालयों में प्रचलित फारसी लिपि तथा उसके स्थान पर प्रस्तावित रोमन का विरोध कर देवनागरी लिपि को मान्यता दिखाने के लिए उत्तर प्रदेश के गवर्नर को ज्ञापन देना, इसके लिये देश के कोने-कोने में दौड़कर जनमत तैयार करना तथा गाँव-गाँव और शहरों की गली-गली की धूल फाँककर हस्ताक्षर संग्रह करना इनके जैसे समर्पित जीवनवाले के लिए ही संभव था। नागरीप्रचारिणी के माध्यम से हिन्दी में वैज्ञानिक कोश का निर्माण कराना, हिन्दी के प्राचीन ग्रंथों का संपादन और प्रकाशन कराना तथा ज्ञान-विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों से हिन्दी के भाण्डार को भरना केवल राष्ट्रभाषा-प्रेम का ही प्रतीक नहीं, बल्कि उनके अगाध राष्ट्र-प्रेम का निदर्शन है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यक्ष पद पर आसीन होकर उन्होंने हिन्दी विभाग का संगठन किया, राष्ट्रभाषा के उन्नयन के लिए स्वयं पुस्तकें लिखकर अभावग्रस्त अंग को पुष्ट बनाना तथा रामचन्द्र शुक्ल जैसे महान् लेखकों को प्रेरित कर रचनाओं से हिन्दी के भाण्डार को समृद्ध कराना, उनकी भाषा-समृद्धि की ही आकांक्षा नहीं, बल्कि राष्ट्रीय समृद्धि की आकांक्षा का प्रतीक है। हिन्दी के हित तथा सम्मान को लेकर वे सरकार से टकराते रहे, विश्वविद्यालय के अधिकारियों—यहाँ तक कि मालवीयजी से भी उलझ जाते। मालवीयजी के विषय में जहाँ उन्होंने झुँझलाकर लिखा है वहाँ उनका सात्विक भाषा प्रेम ही कारण है अन्य दुर्भाव नहीं। जब उन्होंने विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष का वेतन अन्य विभागाध्यक्षों से कम रखने पर रोष प्रकट किया तो इसके पीछे इनकी स्वार्थ की प्रवृत्ति अथवा व्यक्तिगत लाभ की भावना नहीं थी बल्कि हिन्दी के सामाजिक सम्मान का प्रश्न मुख्य रहा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना में उनका प्रयास सर्वोपरि महत्व रखता है। उनके आजीवन राष्ट्रभाषा-सेवा-व्रत से ही प्रभावित होकर 'सरस्वती' पत्रिका ने उनका अभिनंदन करते हुए उनकी प्रशस्ति में जो दो पंक्तियाँ लिखीं जो आज तक उद्धृत की जाती हैं—

"राष्ट्रभाषा के प्रचारक विमल बी० ए० पास।
सौम्यशील निधान, बाबू श्यामसुन्दर दास॥"

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गौरवपूर्ण अध्यक्ष पद से सेवा निवृत्त होते समय विभाग के सहयोगियों तथा छात्रों ने उनका अभिनन्दन करते समय उनके संबंध में जो कहा था वह शब्दशः सच है—

"हिन्दी भाषा और साहित्य के वर्तमान विकास की इस परितोषक अवस्था के साथ आपकी तपस्या, आपकी साधना, आपकी विद्वता, आपकी दक्षता आपकी तत्परता का ऐसा अखण्ड संबंध स्थापित हो गया है कि इस युग की उत्कृष्ट साहित्य-रचना का इतिहास आपकी उद्यमशीलता का इतिहास है। आपने ग्रन्थों की नहीं, 'ग्रंथकारों' की रचना की है। आपने धूल में लोटते तथा चक्की में पीसते यथार्थ रत्नों को राज मुकुट में स्थान दिलाया है। आपके उद्देश्य, आपकी योजना तथा आपके आदर्श सदा उत्कर्षोन्मुख

ही होते हैं। इससे चाहे आपका आदर्श गुणानुवाद न बन पड़े पर हमारे हृदय सर्वदा आपके प्रति कृतज्ञता के भाव से परिपूर्ण रहेंगे इसमें संदेह नहीं।"[1]

वर्तमान हिन्दी-विभाग भी अपने संस्थापक अध्यक्ष तथा आचार्यप्रवर की कृतज्ञता से परिपूर्ण है और सदा परिपूर्ण रहेगा।

सचमुच बाबूसाहब ने भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित साहित्य के माध्यम से राष्ट्रसेवा के महान् कार्य को आगे बढ़ाया जो हिन्दीसेवियों के लिये प्रेरणा, आदर्श तथा अनुकरण का विषय बन चुका है।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने प्रत्यक्षतः राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग नहीं लिया, किन्तु भाषा के लिए होनेवाले रचनात्मक आंदोलनों की बराबर अगुआई की। उनका सम्बन्ध सामाजिक जीवन की गतिविधियों से बराबर बना रहा, किन्तु इसके विपरीत हिन्दी विभाग के दूसरे अध्यक्ष, हिन्दी के मूर्धन्य आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सामाजिक गतिविधियों से अपने को न जोड़कर भी रचनात्मक गतिविधियों से राष्ट्रीय चेतना के विकास में उल्लेखनीय कार्य किया। शुक्ल जी एकनिष्ठ साहित्य साधक थे। अपनी साहित्य-साधना की पवित्र धारा में उन्होंने संस्कृति, राष्ट्रीयता तथा सामाजिक चेतना की त्रिवेणी बहाई। शुक्ल जी जब आलोचनाएँ करते हैं, निबन्ध लिखते हैं या हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करते हैं, तब भी संस्कृति, सामाजिकता तथा राष्ट्रीय चेतना का संदर्भ उनकी प्रतिभा से जुड़ा रहता है।

शुक्ल जी का प्रकृति-प्रेम उनकी रचनाओं के ही माध्यम से नहीं, उनके जीवन की घटनाओं से भी सर्वविदित है। प्रकृति के प्रांगण में स्वच्छन्द विहार करने की उनकी अनन्त लालसा केवल मनोरंजन एवं सैर सपाटे का शौक नहीं था बल्कि इसके पीछे उनकी राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की निश्छल भावना है। इस देश की धरती के प्रति सहज ममता का प्रतीक है। वे अपने एक निबन्ध में कहते हैं—"यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, कण, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुधि करके विदेश में आँसू बहायेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है। वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच औसत आमदनी का परता बता कर देश-प्रेम का दावा करे तो उनसे पूछना चाहिये कि भाइयों, बिना परिचय का यह प्रेम कैसा।"[2]

शुक्ल जी जब तुलसी के काव्य की आलोचना करने चलते हैं तो उसमें भारतीय संस्कृति तथा जीवन की परिपूर्णता को ढूँढ़ निकालने का प्रयास करते हैं जिसे कुछ लोगों ने तुलसी के प्रति उनकी अन्धश्रद्धा कहा है किन्तु प्रकारान्तर से साहित्य के माध्यम से संस्कृति तथा सामाजिक जीवन के संघटन का महत् प्रयास इसमें निहित हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरम्भ करते हुए उसे जनता की चित्तवृत्तियों से जोड़ने का प्रस्ताव करना जहाँ उनकी प्रखर सामाजिक चेतना का प्रमाण है वहीं भक्तिकाल की पृष्ठभूमि पर

---

१. मेरी आत्म कहानी—बाबू श्यामसुन्दर दास पृ० २५३–५४।
२. चिन्तामणि शुक्ल जी—पहला भाग, पृ० १०४।

विचार करते हुए भारतीय धर्म साधना की प्रकृत धारा में ज्ञान, भक्ति और कर्म का संगम बताना, समुन्नत संस्कृति-चेतना से साहित्य के सम्बन्ध को जोड़ना उनका लक्ष्य है। जायसी के काव्य की समीक्षा करते ससय हिन्दू-मुस्लिम हृदयों की एकता जहाँ विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों तथा सम्प्रदायों के वीच फैली कलह-बुद्धि को मिटाकर राष्ट्रीय एकता के संघटन का प्रयास है; वहीं राजा-रानी के चरित्रों को आम आदमी के भावो तथा विचारों से जोड़ने के कवि प्रयास की सराहना करना शुक्ल जी की दीप्त जनतांत्रिक चेतना का प्रमाण है।

शुक्ल जी उन बने-ठने राष्ट्र-भक्तों में नहीं थे जो केवल अपना उल्लू सीधा करने के लिए देश-भक्ति का स्वांग रचते हैं वल्कि उनकी आत्मा राष्ट्र-प्रेम तथा संस्कृति के रंग में रँगी थी। उनकी दृष्टि में राष्ट्र-प्रेम का प्रमाण केवल झंडे लेकर घूमना, सड़कों पर नारे लगाना तथा ऊँची आवाज में भाषण देने में ही नहीं था, वल्कि रचनात्मक प्रयासों से जन-जीवन की धमनियों में राष्ट्र-प्रेम का रक्त संचारित करने में था। वे प्रचार और प्रोपगैण्डा से दूर रहने वाले ऐसे ही समाज-संरचना के महान् प्रेरक थे।

इस विभाग के तीसरे प्राध्यापक हिन्दी के कवि तथा मध्यकालीन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् लाला भगवानदीन का राष्ट्रीय आंदोलन से गहरा सम्बन्ध था। कहा जाता है कि उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को सीधे-सीधे बल भी दिया था और राष्ट्रीय जीवन की विविध समस्याओं को लेकर बहुत अधिक कविताएँ लिखी थी। गांधी जी के असहयोग आंदोलन, गुजरात का भीषण अकाल, चरखा, मद्यनिषेध, अस्पृश्यता निवारण, सर्वधर्म समभाव, खद्दर, विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार, राष्ट्रभाषा आदि विषयों पर लिखी गयी इनकी कविताएँ प्रमाण की आवश्यकताएँ नहीं रखतीं। 'हिन्दी की हिमायत' शीर्षक कविता का अन्तिम अंश देखें—

करो मान हिन्दी का माता बराबर, रखो नागरी से सदा प्यार बढ़कर,
न निन्दो उसे 'ग्राम्य भाषा' है कहकर, न छोड़ो उसे यों उदासीन रहकर।

× × ×

सुशिक्षित हो शिक्षा समय से सीखो अब, स्वभाषा पढ़ो, नागरी ही लिखो सब।

गांधी जी द्वारा विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार के नारे से स्वर मिलाकर 'दीन' जी ने 'जमाना पलट गया' कविता लिखी—

भारत समस्त वस्तु विदेशी से पट गया, घी, दूध, अन्न-वस्त्र का आराम घट गया।
प्रत्येक व्यक्ति ढंग विदेशी में डँट गया, निज धर्म और देश का अभिमान हट गया।
देशी कला-कलाप झगड़ा निवट गया, क्या पूछते हो यार जमाना पलट गया।

'खद्दर के डर से' शीर्षक कविता कितनी ओजस्विता से भरी है—

तोप से न तीर से न तोमर न तेगहू से,
तोड़े से तमंचे से न तीक्षण तवर से।
सेल से न सांगे से न सैफ न सींगहु से,
सेहथी सिरोही से न समसेर वर से।
शान-भरे सिंह शारदूल से न समहे जे,
वेई थरहैं एक हाँड़ के पंजर से।
दीन कवि चरखा को बम से न कम जानो,
खब्त हो गये हवास खद्दर के डर से।

दूसरी कविता 'खद्दर के बल से' कितनी सशक्त है—

तेग से न तीर से न तोप से मिलेगी कभी
भूलकर न कढ़ना इनकी बगल से।

बम को बहाओ पिसतौलहु को पीस डालो,
छोड़ दो छुरी कटारी काट डालो कल से।

गोलों को गला दो पिघला दो पुष्ट शेर पंजे,
खोटे षड्यंत्रों में न पड़ो बेअकल से।

चरखा के चक्र से मशीनगनें मात करो,
पायेगा स्वराज्य हिन्द खद्दर के बल से।

इसी प्रकार गांधीवाद तथा अहिंसात्मक आंदोलन के समर्थन में बाल-विवाह तथा विधवा विवाह ऐसी भयंकर सामाजिक कुरीतियों के विरोध में, हिन्दू मुस्लिम एकता की अपील पर, गुजरात के भीषण अकाल पर लिखी गयी उनकी कविताएं राष्ट्रीय चेतना के प्रेरणास्रोत बनी रहीं। सच कहा जाय तो इस दिशा में 'दीन' जी का कर्तृत्व सबसे अधिक महत्व का अधिकारी है।

चौथे प्राध्यापक कवि अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' यद्यपि स्वभाव से अत्यन्त सौम्य तथा शांत एवं शालीन रहे, किन्तु उनकी रचनाओं द्वारा राष्ट्रीय चेतना के विकास में उल्लेखनीय प्रगति हुई। उन्होंने अपने चोखे-चौपदे तथा चुभते-चौपदे में राष्ट्रीयता, देश-प्रेम तथा आधुनिकता का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त 'प्रिय-प्रवास' तथा 'वैदेही-वनवास' जैसी रचनाओं में भी उन्होंने पौराणिक आख्यानों को आधार बनाकर समकालीन राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

'प्रिय-प्रवास' में राधा और कृष्ण का एक-दूसरे के प्रति विरह संदेश भेजते हुए व्यक्तिगत प्रेम तथा संकुचित भावनाओं को त्यागकर जगत् हित तथा लोक-सेवा का व्रत लेने की प्रेरणा देना जनतांत्रिक चेतना के प्रति बढ़ती हुई लोक रुचि का प्रमाण है। कृष्ण का राधा के प्रति यह कथन विचारणीय है—

जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से, आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगतहित और लोक सेवा जिसे है, प्यारी सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है।

—'प्रिय-प्रवास' षोडश सर्ग

हरिऔध जी का यह आत्म-त्याग जगत-हित और लोकसेवा भाव शुक्ल जी के लोक-मंगल के बहुत निकट है। वस्तुतः यह उस युग की अधिनायकवादी तथा सामंती व्यवस्था के ऊपर उगते हुये जनवादी मूल्यों की विजय की प्रतिध्वनि है। ऐसे अनेक उदाहरण 'प्रिय प्रवास' में पाये जाते हैं जो हरिऔंध जी की युगानुरूप सामाजिक चेतना तथा राष्ट्रीय भावना के विकास में किये गये सहयोग के प्रमाण हैं।

इन आचार्यों के अतिरिक्त आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र, डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पं० पद्मनारायण आचार्य, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ० श्रीकृष्ण लाल और पं० करुणापति त्रिपाठी प्रभृति इस विभाग के यशस्वी प्राध्यापकों ने अपने आदर्शमय जीवन के क्रिया-कलापों तथा अपनी रचनाओं द्वारा राष्ट्रीय-चेतना के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान किया।

आचार्य शुक्ल के सेवा-निवृत्त होने पर आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र ने हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद को गौरवान्वित किया। मिश्र जी का सामाजिक जीवन व्यापक नहीं

था, किन्तु अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के अन्तर्गत वे भारतीयता तथा राष्ट्रीय संस्कृति के अविचल उपासक रहे। जीवन तथा साहित्य में वे भारतीयता को प्रतिष्ठित करने में सतत प्रयत्नशील दिखाई पड़े। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया गया उनका व्याख्यान राष्ट्रभाषा तथा देवनागरी लिपि के प्रति उनकी अटूट आस्था एवं इनके उन्नयन के प्रति इनके हृदय की आकुलता का स्पष्ट प्रमाण है। व्यक्तिगत रूप से वे भारतीय ऋषि-परम्परा तथा आधुनिक युग में गांधी जी तथा मालवीय जी जैसे महापुरुषों से अत्यन्त प्रभावित थे; जिसका उन्होंने यत्र-तत्र संकेत भी किया है।

डॉ० बड़थ्वाल यद्यपि अत्यन्त सौम्य तथा साधक साहित्यकार के रूप में समादृत हैं किन्तु भारतीय जीवनादर्शों तथा साधना-पद्धतियों के प्रति उनका अतिशय आग्रह सर्वविदित है।

डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, जिन्होंने आगे चलकर सन् १९६० से ६६ तक इस विभाग का अध्यक्ष पद गौरवान्वित किया, जीवन के आरंभिक काल से ही राष्ट्रीय गतिविधियों से सक्रिय रूप में जुड़े रहे। हिन्दू स्कूल में माननीय पं० कमलापति त्रिपाठी, सुप्रसिद्ध नाटककार पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, यशस्वी कथाकार एवं राष्ट्रचेता पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि इनके सहपाठी थे। ये सभी राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित तथा ओत-प्रोत थे। डॉ० शर्मा इस विश्वविद्यालय के उन राष्ट्र-प्रेमी युवा छात्रों में थे जिन्होंने काशी में महात्मा गांधी के आगमन पर हिन्दू विश्वविद्यालय में उनका कार्यक्रम निर्धारित कराने का सफल प्रयास किया था और आचार्य आनन्दशंकर बाबूभाई ध्रुव, डॉ० पुंताम्बेकर आदि के आशीर्वाद, स्वर्गीय शिवप्रसाद गुप्त तथा श्रीप्रकाश जी की प्रेरणा से एवं स्वर्गीय ज्योतिभूषण गुप्त आदि के सहयोग से गांधी जी का प्रेरक व्याख्यान हिन्दू विश्वविद्यालय में कराया तथा उत्साही साथियों के सत्प्रयास से महात्मा जी को थैली भी भेंट कराई। एम० ए० की परीक्षा देने के तुरंत बाद सन् ३० में वे सत्याग्रह में सम्मिलित हो गये और २७-१०-३० ई० को गिरफ्तार कर लिये गये। इन्हें तीन मास की सजा तथा दो सौ रुपये जुर्माना देने का आदेश हुआ। जुर्माना न देने के कारण एक माह की सजा और बढ़ गई। १६ फरवरी १९३१ को वे जेल से रिहा किये गये और पूज्य मालवीय जी ने उनकी देशभक्ति से प्रभावित होकर उन्हें हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक होने का आदेश दिया। प्राध्यापक हो जाने के बाद यद्यपि सक्रिय राजनीति से इनका सम्बन्ध टूट गया फिर भी व्यावहारिक तथा वैचारिक स्तर पर आज भी वे राष्ट्रीय चेतना के पक्के समर्थक हैं।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का आरंभिक जीवन बड़ा अस्त-व्यस्त तथा संघर्षशील रहा है। सन् '२० में जब वे हरिश्चन्द्र महाविद्यालय में छात्र थे तभी गांधी जी के असहयोग आंदोलन के दौरान इन्होंने स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री तथा श्री त्रिभुवननारायण सिंह के साथ पढ़ाई छोड़ दी। मिश्र जी का झुकाव क्रांतिकारियों की ओर था और श्री मन्मथनाथ गुप्त तथा इनके दल से इनका संबंध स्थापित हो गया। कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री चन्द्रशेखर आजाद से भी इनका निकट संबंध रहा है और अनेक क्रांतिकारी योजनायें इनकी जानकारी में बनती रहीं। क्रांतिकारियों के गुप्त सामान रखने तथा पत्र-संदेश, समाचार आदि को यथा-स्थान प्रेषित करने-कराने में भी इन्होंने सजग भूमिका निभाई। यद्यपि मिश्र जी ने खद्दर नहीं धारण किया तथा वे खुलकर राजनीति में नहीं आये—देखने में परम्परावादी पंडित

(शेषांश १०३ पृष्ठ पर देखें)

कवि कर्म के दायित्व बोध के संदर्भ में 'निराला' का परवर्ती काव्य

डॉ० महेन्द्र नाथ राय
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग

साहित्यकार के दायित्व और उसकी प्रतिवद्धता को लेकर हमेशा चर्चा होती रही है। रचनाकार अपनी अन्तः स्फूर्त अनुभूति, लेखकीय व्यक्तित्व, किसी विशिष्ट विचारधारा या जीवन मूल्यों—में से किसके प्रति प्रतिवद्ध रहे—इन सवालों के जवाव खोजने की तरह-तरह की कोशिशें होती रही हैं। साथ ही साथ इसकी प्रतिक्रिया भी सुनने में आई है कि प्रतिवद्धता शब्द साहित्यकार की गत्यात्मकता को अवरुद्ध करता है। अतः साहित्यकार को केवल प्रतिक्रिया करनी चाहिये। इसे किसी से प्रतिबद्ध नहीं होना चाहिए। सभी तरह के खतरों से बचने का यह खूबसूरत तरीका है, जिसे 'समझदार' अपनाते रहे हैं। जिन्हें इस तरीके पर भरोसा नहीं है—वे यह मानते रहे हैं कि समाज में जब शोषक और शोषित के बीच संघर्ष हो तब ईमानदार रचनाकार की लेखकीय नैतिकता का यह तकाजा होता है कि वह उस समय शोषित वर्ग का पक्षधर बनकर शोषण और उत्पीड़न पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के विरोध में चल रहे जन-आंदोलन के प्रति निष्ठावान रहते हुए अपनी रचना को एक सक्रिय, परिवर्तन का ही शास्त्र के रूप में इस्तेमाल होने लायक बनाये। निराला में यह नैतिकता और उनके साहित्य में यह शक्ति भरपूर मात्रा में है। इसका प्रमाण है १९३६-३७ के बाद का उनका साहित्य जिसमें जनवादी चेतना क्रमशः गहराती गई है। शोषित और सन्तप्त के प्रति छायावादी दया और करुणा वाले भाव का स्थान शोषक वर्ग के खिलाफ असंतोष और आक्रोश ने ले लिया है। छायावादी संस्कारों पर सामाजिक यथार्थ का रंग चढ़ता गया है। ऐसा अनायास नहीं होता बल्कि इसके पीछे 'निराला' में जनता के हृदय में जीने की साध है और यह साध ही उनके दायित्व-बोध को पुष्ट करती है।

असल में, छायावादी कवियों में निराला का व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों ही विलक्षण है। उनका किसी से किसी रूप में साम्य नहीं है। उनके साहित्य में भावबोध के अनेक धरातल और अभिव्यंजना-शिल्प के नये-नये स्तर लगातार प्रतिष्ठित होते गए हैं। इन सबके विश्लेषण से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि निराला अपनी रचना-यात्रा में छायालोक में क्रमशः वास्तविक दुनिया की ओर बढ़ते गये हैं। इस प्रक्रिया में काव्य-आभिजात्य से उनका मन टूटता गया है और छायावाद की सौन्दर्य बोध संबंधी अवधारणाएँ कमजोर

पड़ती गई हैं। महामानव सम्बन्धी कल्पना दुर्बल पड़ती गई है तथा दिव्य ज्योति के प्रति वे शंकालु होते गये हैं। जो निराला के छायावादी उदात्त भाव-बोध और गरिमामय अभिव्यंजना शिल्प से अभिभूत रहे हैं वे इस परिवर्तन को देखकर उदास भी हुए हैं। सवाल हो सकता है कि निराला काव्य अभिजात्य के आकर्षक जाति को निर्मम ढंग से फेंकने में किस प्रेरणावश सफल हुए हैं तथा विप्लवीवीर के चित्रण और महामानव की झलक दिखाने के जोश से विरत होकर सामान्य आदमी के वाह्य और आंतरिक संघर्षों को उजागर करने में कैसे और क्यों तत्पर हुए हैं? १९३६-३७ के आस-पास भारतीय समाज की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति में जो परिवर्तन होता है जिन परिस्थितियों और प्रभावों से हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी साहित्य की शुरूआत होती है—इससे निराला एकदम अप्रभावित रहे हों—यह तो नहीं कहा जा सकता। लेकिन वे पन्त भी नहीं रहे हैं जिन पर विचार धाराएँ और जीवन-दर्शन समय-समय पर हावी होते रहे हैं। निराला का खुद का जीवन-दर्शन रहा है। समाज के विविध वर्गों की मालीहालत की जानकारी, समाज में किसानों और मजदूरों की वास्तविक स्थिति, भारतीय सामन्तवाद, विदेशी साम्राज्यवाद और साम्राज्यवाद से समझौता करनेवाला भारतीय पूँजीवाद—इन सबकी भारत के सामाजिक विकास में क्या भूमिका रही है—इन सब सवालों से निराला जूझते रहे हैं। उन्होंने अपने निबन्धों और उपन्यासों में न केवल साहित्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला है बल्कि शूद्रों, नारियों आदि की अपने ये समाज में दयनीय स्थिति के कारणों का भी पर्दाफ़ाश किया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने 'निराला की साहित्य साधना' के दूसरे भाग में विचार धारा शीर्षक खण्ड में निराला की सुचिन्तित विचारधारा—अपने समाज और राष्ट्र की विविध समस्याओं की सही समझ आदि का मजे में विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण को अगर ध्यान में रखा जाय तो ऐसा लगता हैं कि निराला लगातार अपने रचे हुए साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर विचार करते रहे हैं। 'कुल्लीभाट' में वे अपने छायावादी लेखन पर गहरा व्यंग्य भी करते हैं। सारे व्यंग्य का मूल सूत्र यह है कि इस तरह के साहित्य रचकर वे अभिजात संस्कृति के पोषक अर्थात् शोषक वर्ग के साथ रहे हैं। यानि वे लगातार अपने व्यक्तित्व में संशोधन करते रहे हैं। खुद आत्मविश्वास करके गलत और सही की जानकारी करते रहे हैं। इसी अन्तःसंघर्ष के चलते उन्हें वह दृष्टि मिली है जो उन्हें सामान्य जन के पास खींच लाती है और उसी की बोली और भाषा में वे उसके जीवन-यथार्थ की विविध स्थितियों को विषय-वस्तु के रूप में चुनते हैं।

निराला की उदारता और करुणा से सम्बन्ध रखनेवाली कहानियाँ अनन्त हैं और वे यही सिद्ध करती है कि उन्होंने मनुष्यता को निरन्तर गौरवान्वित करने का प्रयत्न किया है। मनुष्य के प्रति वे कभी निर्मम नहीं हुए हैं। हिंदी भाषी प्रदेश की जनता और उसके वर्गों की उन्हें पूरी जानकारी रही है। अपने लेखकीय दायित्व के प्रति वे एकांत रूप से समर्पित रहे हैं। व्यावहारिक जीवन के रंगमंच के वे कुशल अभिनेता भले न सिद्ध हुए हों; स्वयं की वलि देकर अपनी काव्य-गरिमा की रक्षा करने में सफल हुए हैं। ४० वर्षों की अवधि में भारतीय मानस में जो कुछ घटता है—उनका साहित्य इसका प्रामाणिक दस्तावेज़ है। नव-

जागरण के स्वप्नों का बिखरना, मोहभंग की प्रतिक्रिया, समता समानता और मातृत्व के आधार पर रची जानेवाली तथाकथित सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्विरोध, जन-साधारण का शोषण और उत्पीड़न के गुंजल्क में लगातार कसते जाना—इन सब भयावह स्थितियों का साध्य वे प्रस्तुत करते हैं। वे इन सब का चित्रण ही नहीं करते, भीतर ही भीतर असन्तोष से भरते भी जाते हैं। १२ वर्षों तक मकड़े की तरह शब्द जाल बुनने वाले अपने कृत्य पर कटाक्ष भी करते हैं। अपने काव्य-औदात्त्य और सौन्दर्यबोध का मज़ाक उड़ाते हैं। यह हास्य और व्यंग्य स्वयं उनके भीतर के अन्तर्विरोधों पर भी उभरता हैं। यह स्वयं में उनका साध्य नहीं है। संघर्षरत जनसाधारण का पक्षधर न बनकर उन्होंने पहले जो कुछ रचा हैं—इस पर उन्हें ग्लानि होती है।

लगता है, बहुत पहले से ही निराला रचनात्मक दायित्व का निर्वाह करने वाले ईमानदार रचनाकार की नियति से परिचित रहे हैं। स्थिति यह है रचना-कर्म के प्रति एकांत रूप से समर्पित रचनाकार सामान्य सुख-सुविधाओं और अभिनंदन-वंदन से वंचित रह जाता है। यदि उसकी यह मंशा रहती है कि वह व्यवस्था से समझौता करके सुविधाजीवी जिंदगी बसर करके जनता के हृदय में जीने वाले साहित्यकार के नैतिक दायित्व का निर्वाह कर ले तो कदापि संभव नहीं। यदि लेखकीय दायित्व संभाल कर सांसारिक सुख-सुविधाओं की आकांक्षा भी बनी रहती है तो उसका मनः पिण्ड ही नष्ट हो जाता है और यदि मनः पिण्ड की रक्षा करती है तो अपमान-अनादर और दरिद्रता की कारुण यातना उपहार में मिलेगी ही। निराला को आदर और सम्मान उनसे मिला है जिनके लिये वे लड़े हैं, जिनकी आवाज उन्होंने बुलंद की है। यह अवश्य है वह वर्ग अभी इतना शिक्षित, सुसंस्कृत और सजग नहीं है जो अपने कवि को इसका सही प्राप्य दे सके, नहीं तो निराला को अपना अकेलापन उतना नहीं अखरा होता। वह वर्ग उन्हें अपरिचित अलक्षित नहीं रहने देता और उन्हें नहीं लिखना पड़ा। होता कि 'देखते हैं लोग ज्यों मुँह फेरकर।' दुख को जीवन की कथा मानने वाले निराला अर्थ-प्राप्ति के रास्ते पर अनर्थ की संभावना देखकर स्वार्थ-समर हारते रहे हैं। अपनी 'कवि' शीर्षक कविता में उन्होंने खुद की नियति उद्‌घाटित की है—

कवि तुम, एक तुम्हीं
बार-बार झेलते सहस्रों बार
निर्मम संसार के,
दूसरों के अर्थ ही लेते दान
महाप्राण ! जीवों में देते हो
जीवन ही जोड़
मोड़ निज सुख से मुख।

यह निराला की ही जीती-जागती तस्वीर है। यह कवि व्यक्तित्व की बहुत ही भव्य और उदात्त कल्पना है। उन्होंने कवि को केवल ऊँचे आसन पर बैठाया ही नहीं हैं—स्वयं अपनी काव्य-यात्रा के आचरण पक्ष में-उस कवि की नियति से तादात्म्य भी किया है। उनके सम्पूर्ण

व्यक्तित्व में कथन और आचरण के बीच की खाईं बहुत छोटी है कि अपने शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य का ख्याल न करके निराला अपनी रचना-यात्रा में कई मोर्चों पर लड़ते रहे हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है इसे स्वीकृति दिलाने के लिए भी संघर्ष इनके लिए मारक सिद्ध हुआ है। उनका समूचा जीवन दैवी विनाश लीलाओं, आत्मीय जनों के महाप्रयाण, अर्थाभाव और एकाकीपन की कहानी है। अपमान, उपेक्षा और भयंकर यातनाओं को झेलते हुए निरंतर रचना-कार्य में तल्लीन रहना उन्हीं के वश की बात है। खुद की आलोचना भी उन्होंने निर्मम ढंग से की है। एक लम्बे अरसे तक साहित्य-क्षेत्र से उन्हें निष्कासित करने की योजनाएँ बनती रही है, षडयंत्र होते रहे हैं। लेकिन अपनी असाधारण जिजीविषा, दृढ़ संकल्प शक्ति के कारण वे सब कुछ सहते रहे हैं। उनके भीतर परस्पर विरोधी भाव सक्रिय रहे हैं। इनके व्यक्तित्व में सदा क्षरण और कटाव का क्रम चालू रहा है। फिर भी उनकी रचनात्मकता का स्रोत कभी नहीं सूखता। इसलिए जन-साहचर्य की उष्मा से वे कभी रिक्त नहीं होते। वे केवल वसंत के गीत गाने, नारी-सौन्दर्य के इन्द्र धनुषी चित्र खींचने, प्रणय-संगीत की मूर्च्छना को शब्द देने के लिए ही नहीं पैदा हुए थे। श्रमिकों, किसानों और मजदूरों में अपने लक्ष्य और संघर्ष के प्रति सही दृष्टि पैदा करके उन्हें अपने हितों और अधिकारों के लिए लड़ने की प्रेरणा देने आये थे। उनकी रचनात्मकता का अक्षय-स्त्रोत यही जन-साहचर्य है। उपेक्षित दलित, पीड़ित और शोषित जनता के प्रति उनके मन में अगाध ममता रही है। शोषक वर्ग का हृदय परिवर्तन इन्हें वेमानी लगता रहा है। सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन के वे अकांक्षी रहे हैं। इसीलिए क्रांति के अनेक प्रतीकों का वे सहारा लेते हैं। इनके साहित्य में चित्रित मनुष्य दुख-दर्द और अवमानना में फंसा हुआ संघर्षशील मनुष्य है। उनके चरित्र अपनी किसी भी हरकत में अविश्वसीन नहीं लगते। उन पर हम भरोसा कर सकते हैं। सन् ३६-३७ के बाद उनके साहित्य में राम-तुलसी, गुरु गोविंद सिंह, शिवाजी जैसे पौराणिक और ऐतिहासिक महापुरुषों की जगह साधारण जन ले लेते हैं। कविता के क्षेत्र में जिन चरित्रों और स्थितियों का प्रवेश निषिद्ध रहा है, उन्हें प्रवेश दिलाते हैं। वस्तु-स्थिति के प्रति उनमें सही समझ पैदा होती है। किसी तरह के मुग़ालते में नहीं रहते। जिस वर्ग को अंधेरे में रखा गया है, संस्कृति, परंपरा, प्रभु और परात्पर के नाम पर जिन्हें ठगा गया है, अभिजात वर्ग ने स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए जिन्हें दुर्ग के रूप में इस्तेमाल किया है, इस वर्ग की वास्तविक जिंदगी के भयावह यथार्थ को वे चित्रित करते हैं। समूचे सामाजिक ढांचे पर तिलमिला देनेवाली चोट करते हैं। छायावादी युग में लिखी 'विधवा', 'भिक्षुक', 'दान', 'दीन', 'तोड़ती पत्थर' शीर्षक कविताओं का विकास ३६-३७ के बाद की लिखी, 'यह है बाजार', 'मानव-जहाँ बैल-घोड़ा हैं', 'खेत जोतकर घर आये हैं', 'बान कूटता है', 'रानी कानी', 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'दगा की', 'झींगुर डट कर बोला', 'डिप्टी साहब आये', 'महंगू महंगा रहा' आदि के रूप में देखा जा सकता है। इन कविताओं में निराला सामान्य जन की अनंत ऊर्जा और महान् शक्ति के प्रति आस्थावान हैं। इस दौर की कविताओं में बान कूटने तथा मुंगरी लेकर सुख का राज लूटने वाले, खेत जोतकर हल-बैल के साथ घर वापस आने वाले किसानों तथा गली-मुहल्ले और बाजार में रसे-बसे लोगों के चित्र है। तमाम भदेस और काव्य-क्षेत्र में वर्जित शब्दों का प्रयोग

कर वे अकाव्यात्मक स्थितियों को भी काव्यमय बना देते हैं। छायावादी सौन्दर्य-बोध, महामानव की परिकल्पना-सबके प्रति उनका मोह छूट जाता है। शिथिल पत्रांक में सोती अमल कोमल तन-तरुणी-शेफालिका की तुलना में खिरनी के पेड़ तले ढोर चराती भोली-भाली लड़की का सौन्दर्य उन्हें अधिक मनभावन लगता है; वृषभ स्कंध राम और वीर सरदारों के सरदार जयसिंह की जगह मसुरिया, बलई, झींगुर और महगू उन्हें अपने अधिक नजदीक लगते हैं। जिनके चेहरे पीले पड़े हैं, रीढ़ झुकी है, जिनके आगे अँधेरा-अँधेरा है, जिन्हें ऋषियों, मुनियों सबने ठगा है—जिन्हें अपने छले जाने का भी बोध नहीं है। इतने भोले-भाले निर्दोष जन को निराला खूब पहचानते हैं। रामजी के राज के जिन्हें खूब सूरत सपने दिखाये गये हैं—इन्हीं में से एक है—

काली एक नारी गाली देती, खाती टिकली
मैंने देखा, बड़ा मैला
मन उसका समाज से
चोट खाई हुई वह रामजी के राज से
शूद्रों को मिला नहीं
जिनसे कुछ भी कहीं।

निराला कहीं जन-साधारण के शोषण के रोमांचक तरीके का चित्र खींचते हैं, कहीं उनके भीतर के असंतोष और आक्रोश को स्वर देते हैं, कहीं साम्राज्यवादियों, जमींदारों की मिली-जुली साँठ-गाँठ का पर्दाफ़ाश करते हैं तथा कहीं तथाकथित साम्यवादियों के अंतर्विरोधों पर व्यंग्य की गहरी मार करते हैं। उनकी कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें देश के कर्णधारों के दोहरे चरित्र और उनके स्पष्ट अन्तर्विरोधों का चित्र खींचा गया है। कवि ही नहीं उनका महगू भी जानता है कि जो पंडित जी जमींदारों, महाजनों और मिल मालिकों के दोस्त हैं वे किसानों और मजदूरों के भी अपने सगे नहीं हो सकते—

लेंडी जमीदारों को आँखो तले रखे हुए
मिलों के मुनाफे खाने वालों के अभिन्न मित्र
देश के किसानों मजदूरों के भी अपने सगे।

यदि अपने सगे होते तो उन्हें तब उनके बीच आना चाहिए था जब—

मँहगाई की बाढ़ बढ़ आई, गाँठ की छूटी गाढ़ी कमाई
भूखे नंगे खड़े शरमाये, न आये वीर जवाहर लाल।
कैसे हम बच पाये निहत्थे, बहते गये हमारे जत्थे
राह देखते हैं भरमाये, न आये वीर जवाहर लाल।

इसी तरह निराला गाँधी और गाँधीवाद के जहर को भी पहचानते थे। 'झींगुर डट कर बोला' शीर्षक कविता में इन्होंने तथाकथित गाँधीवादियों के कथन और आचरण की विसंगति पर प्रकाश डालते हुए दिखाया है कि एक गाँधीवादी नेता देश की भक्ति से, निर्विरोध शक्ति से राज अपना होगा, जमींदार, साहूकार अपने कहलायेंगे, हिन्दू-मुसलमान वैर

भाव भूलकर जल्द गले लगेंगे आदि-आदि बघार रहे हैं, उसी समय जमींदार का गोड़इत दोनाली से भीड़ पर गोली चलाने लगता है और भीड़ भागने लगती है। गाँधीवाद मज़ाक बनके रह जाता है। इस तरह इन कविताओं में निराला खुद के लिए खतरा मोल लेके उन सारे दाँव-पेचों को खोल देते हैं जिनके चलते थोड़ों के पेटे में बहागे को आना पड़ा है, राजे ने अपनी रखवाली की है। जन-सामान्य की सामाजिक स्थिति की वास्तविकता का यह चित्रण उनके दायित्व बोध का पहला पहलू है। दूसरा वह है जहाँ वे उत्पादक शक्तियों, किसानों और मजदूरों के संघर्ष से निर्मित ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें—

छूटेगी जग की ठग लीला, होंगी आँखे अन्त: शीला
होगा न किसी का मुँह पीला, मिट जायेगा लेना उधार ।

ऐसे समाज का निर्माण उनके मन की सबसे प्यारी साध है। यही उन्हें जनता को उद्‌बोधित करने की प्रेरणा देती है। पसीना बहाकर अमर होने, मुक्ति के गुलाब चटकाने और सच्चाई से भटके हुए लोगों को रास्ता दिखाने की ओर उन्मुख करती है। जिन्होंने गरीबी में सैकड़ों ठोकरें खाई हैं उनके हजारों हाथों को समर में उठते हुए देखना निराला के लिये अत्यन्त सुखद है क्योंकि इन्हीं हाथों से वर्गहीन समाज का निर्माण होगा। इनकी शक्ति से निराला पूर्ण परिचित हैं। उनके किसान-संस्कार इनकी ताकत में उन्हें आस्थावान बनाते हैं। निराला ने उद्‌बोधन गीत पहले भी लिखे हैं लेकिन इन कविताओं में उद्‌बोधन का तरीका और उद्देश्य बदल गया है—

राह पर बैठे-उन्हें आबाद तू जब तक न कर।
चैन मत ले, गैर को बरबाद तू जब तक न कर।
बदल शिक्षा-क्रम, बना इतिहास सच्चा, दम न ले।
उलट तख्ता उपज की ताकत बढ़ाने के लिये।
डाल मत खेतों में अपनी खाद तू जब तक न कर।

उपर्युक्त पंक्तियों में संघर्षशील जनता को सच्चा इतिहास बनाने के लिये कर्मरत होने की प्रेरणा देते हैं। स्वर संकल्प बद्धता, दृढ़ता और जिजीविषा से भरपूर है। यही स्वर उनके अपराजेय व्यक्तित्व का परिचायक है। लेकिन ३६-३७ के बाद वाले निराला साहित्य में ऐसी कविताओं की भी कमी नहीं है जिनमें अंतर्मंथन, आत्मक्षरण, पराजय बोध, व्यर्थता और उदासी के स्वरों की प्रधानता है। इस तरह विरोधी प्रवृत्तियों और अंतर्विरोधों से उनका साहित्य भरा हुआ है। इसका कारण क्या है ? निराला समाज और साहित्य दोनों रूढ़ियों और जड़ताओं से मुक्त देखना चाहते थे। इनके साथ गड़बड़ी वहाँ है जहाँ वे कविता से अधिक की उम्मीद करते थे। अपने ताकत का गलत अंदाज लगाकर सशक्त परिवेश के प्रतिपक्ष में अकेले खड़े हो जाते हैं। इनकी बाद की कविताओं में चुक जाने, टूट जाने, हार जाने के जो स्वर बहुत अधिक उभरते हैं वे उनके व्यक्तिवादी महत्वाकांक्षा के परिणाम हैं। उसके लिये वे खुद जिम्मेदार हैं। दिक्कत यह हैं कि वे किनके प्रतिनिधि हैं उनसे अभिनंदन-वंदन की अपेक्षा न कर उनसे करते हैं जिनके विरोध में खड़े हैं। उनकी महत्वा-

कांक्षाएँ उनके विषाद का कारण बनी हैं। एकाकीपन, निर्वासन, निस्कृति, भीतर ऊर्जा और उष्मा का चुकते जाना—इस तरह की दरारें उनके व्यक्तित्व में न पड़ी होती यदि वे सामान्य-जन की संघर्षशील जिंदगी में हिस्सा बँटाते। जब वे ऐसा नहीं कर पाते तब अपनी प्रबल व्यक्तिवादी चेतना के कारण सबसे अलग हो जाते हैं। कभी मोह भंग से उपजी व्यथा में डूबते-उतराते हैं तो कभी अंतर्मुखी होकर प्रपत्तिमात्र की भूमिका में चले जाते हैं। इस स्थिति में न तो काल्पनिक इच्छापूर्ति के सपने देखते हैं और न नग्न यथार्थ पर किसी तरह का मुलम्मा ही चढ़ाते हैं। अपने को कारागार में बंदी पाते हैं, संवादहीनता की स्थिति का सामना करते हैं। कहीं उन्हें समुद्र का भयंकर अट्टहास सुनाई पड़ता है तो कहीं बनैले हिंसक पशुओं और हाथियों का चिंघाड़। जर्जर, निराश मनः स्थिति में मृत्यु के भयंकर आतंक से ग्रस्त होते हैं। पिछले सभी संस्कार उभरते हैं। मन ग्लानि और संताप से भर उठता है। यह भरा हुआ मन प्रभु और परात्पर की शरण में ले जाता है। एक संबल मिलता है। लेकिन यहाँ भी कवि को अपना दुख और विषाद उतना आहत करने वाला नहीं लगता जितना जन-जीवन का दुखदैन्य। शोषित और संतप्त यहाँ भी नहीं बिसरते। यही निराला की मनुष्यता का सबूत है। वे उनके संकट और त्रास निवारणार्थ प्रभु से प्रार्थना करते हैं। अपने लिये कष्ट सहन के सामर्थ्य की याचना करते हैं। प्रभु और शक्ति की देवी के प्रति उनका विश्वास कभी-कभार डगमगा जाता है लेकिन जन-शक्ति में कभी नहीं। माँ से उनका यही निवेदन है—

माँ अपना आलोक निखारो—नर को नरक त्रास से वारो।

इस तरह निराला का परवर्ती काव्य उनके संघर्षशील, अंतर्विरोधपूर्ण, अनुभव सम्पन्न तथा स्वयं के प्रति ईमानदार कवि का अपने समाज से साक्षात्कार है। इसमें समाज की वास्तविक स्थिति का यथार्थ चित्रण हुआ है। कवि इस स्थिति से संतुष्ट नहीं है, उसमें तब्दीली चाहता है जो भ्रष्ट मूल्यों पर आधारित व्यवस्था के आमूल परिवर्तन से संभव है, हृदय परिवर्तन द्वारा होने वाले भ्रमपूर्ण संशोधन से नहीं। गलत और अमानवीय व्यवस्था को बदलने वाले हाथों पर उसे पूरा विश्वास है और उन्हीं को वह उद्‌बुद्ध करता है। वह जानता है कि जो छले गये हैं, ठगे गये हैं, वे जिस समाज का निर्माण करेंगे वही स्वस्थ समाज होगा। कवि उस समाज का मधुर स्वप्न भी देखता है। यह निराला के परवर्ती काव्य का एक पक्ष है। दूसरा निराला के खुद के आत्मसाक्षात्कार में है। इसमें मोहभंग है, व्यक्तिवादी चेतना से जन्मी निराशा, ग्लानि और व्यर्थताबोध की मनः स्थितियाँ हैं। प्रभु और परात्पर के समक्ष आत्मनिवेदन करते वाले जर्जर, उदास, समस्त कवि के व्यक्ति की तस्वीर है। लेकिन इन उदास और जर्जर कवि व्यक्तित्व के भीतर भी एक ऐसा मनुष्य बैठा हुआ है जो नर को नरक भास से मुक्त करने के लिये प्रभु के समक्ष प्रयत्नशील है।

छायावादी भावलोक के कवि निराला का स्वाभाविक विकास इनके परवर्ती यथार्थ-वादी काव्य में हुआ है। ४० वर्षों की अवधि में भारतीय मानस में जो जुड़ता और टूटता है, इसकी तस्वीर निराला के काव्य जगत में देखी जा सकती है। सब मिलाकर हमारे सामने निराला रचनाकार के नैतिक दायित्व का निर्वाह करने वाले एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर

के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। वे अपनी समूची जिंदगी में रचना-कर्म के प्रति समर्पित रहे हैं और उनका रचनाकार समाज के प्रति। इस प्रक्रिया में उनका कवि उन सब लोगों के प्रतिपक्ष में खड़ा रहा है जो अपने अदूरदर्शी निर्णयों और पूर्वग्रहों के कारण मनुष्यता और उसकी प्रतिष्ठा करने वाले साहित्य की मर्यादा तोड़ते रहे हैं। निराला के कवि कर्म का सही मूल्यांकन इनके संघर्षशील जीवन, उनकी सुचिंतित विचारधारा के सही विश्लेषण से ही संभव है। उनमें किसान आंदोलन के प्रति अटूट निष्ठा रही है। डॉ० रामविलास शर्मा ने सबसे पहले निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व की समग्र और व्यापक विवेचना की है। इसी क्रम में अन्य छायावादी कवियों का मूल्यांकन भी जरूरी है।

निराला जो थे और जो होना चाहते थे—उनके समय का समाज जैसा था और वे इसे जिस रूप में विकसित होना देखना चाहते थे–इन दोनों की विषमता और विरोध उनके भीतरी तनाव और अन्तर्विरोध जन्मे थे। अपने समकालीनों में उनका व्यक्तित्व और उनका कृतित्व दोनों ही सर्वाधिक द्वन्द्व पूर्ण है। वे चाहे होते तो सामान्य बुद्धिजीवियों की तरह सुख-सुविधा, मान-प्रतिष्ठा की जिंदगी बसर कर सकते थे लेकिन यह उन्हें गँवारा न था। उनके संस्कार और उनकी नियति एक ईमानदार रचनाकार की नियति थी। इस ईमानदारी की वजह से उन्हें जो आदर मिला है वह कम लोगों को नसीब होता है।

ऐसा नहीं है कि निराला ने अपनी जिंदगी में जो झेला और सहा इससे कम कोई किसान या मजदूर झेलता है। बड़ी बात यह है कि वह सब कुछ एक बुद्धिजीवी ने झेला जो इससे बच सकता था।

निराला की वेदना जन-जीवन के कष्टों का प्रतिनिधित्व करती है। वे विक्षुब्ध मानस लेकर पैदा हुए थे। जीवन में किसी दारुण यातनाओं और कष्टों ने उन्हें जन-सामान्य के दुख-दर्द को समझने की अन्तर्दृष्टि प्रदान की। वे अपने समूचे रचनात्मक प्रयास में सामाजिक यथार्थ को झुठलाते नहीं। उनमें वस्तु-जगत् का ज्ञान अत्यन्त समृद्ध है और उनकी कल्पना भी उसी मात्रा में सजीव है। वे अपने साहित्य में सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के साथ ही मनुष्य की निजी भाव-सरणियों को महत्व देते हैं। मनुष्य को अमानवीय स्थितियों से उबारने और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की बेचैनी उनमें जबर्दस्त रही है। मानवीय मूल्यों में उनकी आस्था कभी खंडित नहीं होती। व्यक्तिवादी चेतना और मूल्यबोध अंतमुर्खता और बाह्य संदर्भ उनकी चेतना में एक-दूसरे से टकराते हैं। विध्वंसकारी प्रवृत्तियाँ तथा नव निर्माण की आकांक्षा एक ही उनके साहित्य में मिलती है। भ्रष्ट-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन के लिये वे तात्कालिक ध्वंस को अनिवार्य मानते हैं। उनका साध्य ध्वंस न होकर नवनिर्माण है यह निर्माण जनता के हाथों होगा। उनकी रचना का मूल स्रोत जन-जीवन है। जन-साहचर्य ही उनकी रचनात्मकता का अक्षय स्रोत है।

●

समालोचना और वैज्ञानिक पद्धति

डॉ० गोपाल नारायण मिश्र
प्रवक्ता, हिन्दी

उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान के प्रति लोगों का लगाव था; वर्तमान शताब्दी में वह लगाव पागलपन की सीमा तक पहुँच चुका है। यदि आज कोई कहता है कि वह अवैज्ञानिक है तो समझा जाता है कि उसने शताब्दी का सबसे बड़ा पाप किया है। अतः यह स्वाभाविक है कि आलोचकों ने तथ्यात्मक विज्ञानों के अनुशासन को अपने निरूपण पर आरोपित किया है। नृतत्त्वाविज्ञान, जीव विज्ञान, मनोविश्लेपण, शब्दार्थ-विज्ञान, समाज शास्त्र—इन सबका अध्ययन वह अपनी समीक्षा की पुष्टि के लिए करता है। तैन के युग में जीव-विज्ञान, नृतत्त्व विज्ञान और समाज शास्त्र का ही प्रभाव अधिक था, परन्तु आई० ए० रिचर्ड (Principal of Literary criticism) और सी० के आग्डेन (The meaning of Moaning) जैसे आधुनिक साहित्य समालोचकों पर मनोविश्लेषण और शब्दार्थ विज्ञान हावी है।

अमरीकी विद्वान टामस मनरो ने अपनी पुस्तक 'सौन्दर्य शास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन' में वर्तमान परिस्थिति और गतिविधि का सार-संक्षेप बहुत समीचीन ढंग से किया हैं। पुस्तक की भूमिका में वह लिखता है—

१९२८ में, जब सौन्दर्यशास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति का पहली बार प्रकाशन हुआ था, कलाओं के मूल्यांकन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रति जितना विरोध और अविश्वास था उतना अब नहीं हैं। तब से अब तक रहस्यवाद, निरपेक्षतावाद, अलौकिकतावाद और अनुभवातीतवाद पर आधारित प्राचीन दृष्टिकोणों की तुलना में, कला-रूपों और अन्य सम्बद्ध अनुभूतियों का अनुभूतिवाद और प्रकृतिवादी मानववाद के दृष्टिकोण से अध्ययन, अपनी शक्ति और व्याप्त में उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। अब इस क्षेत्र के विद्वान इस बात को बहुत कुछ मानते है कि सौन्दर्य शास्त्र केवल वैचारिक जीवन की एक शाखा नहीं है—जिसके अन्तर्गत सौन्दर्य और सुरुचि के नियमों के निर्धारण का व्यर्थ प्रयास किया जाता है। वे मानते हैं कि सौन्दर्य शास्त्र प्रमुखता एक विवरणात्मक सन्धान हैं जिसका उद्देश्य कलाकृतियों के विषय में ऐसे तथ्यों की खोज करना और उनको अभिव्यक्ति देना है, जो मानव-अनुभूति, व्यवहार और संस्कृति के अन्य व्यापारों से सम्बधित प्रेक्षणीय व्यापार है। दूसरे, वह अत्यधिक प्रायोगिक सापेक्षवादी ढंग से यह प्रयत्न करता है कि सामान्य और विशिष्ट दोनों ही प्रकार के सौन्दर्यशास्त्रीय मानदण्डों के प्रश्न पर प्रकाश डाला जाय और यह कार्य निश्चित नियमों और निरपेक्ष मानदण्डों का निरूपण करके नहीं, वरन् कला की उपयोगिता

और प्रभाव के विषय में प्राप्त तथ्यों के प्रकाश में, उपपत्तियों के निरूपण, परीक्षण और संशोधन में सहायक बन कर किया जाय। वर्तमान सौन्दर्यशास्त्र कला के निश्चित उद्देश्यों को सिद्ध नहीं करता, न वह मूल्यों के मानदण्ड स्थिर करता है। परन्तु वह परीक्षित ज्ञान, संचित अनुभव और तर्क सिद्ध निष्कर्ष पर मूल्यांकन को आधारित करने में सहायक हो सकता है।

आधुनिक आलोचकों में, जिन्होंने समालोचना के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने का प्रयास किया है—आई०ए० रिचर्ड्स का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आलोचना के सिद्धान्त की दार्शनिक नींव को अस्वीकार करते हुये रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान की वैज्ञानिक नींव पर उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास किया है। उसने मूल्यांकन के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके अन्तर्गत किसी कलाकृति का उसी अनुपात में मूल्य है जिस अनुपात में वह प्रवृत्तियों को व्यवस्थित करती है। इसके साथ ही रिचर्ड्स का मत है कि समालोचना की भाषा को वैज्ञानिक भाषा जैसी निश्चितता मिलनी चाहिए।

प्राय: वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली पिछले सौ वर्षों से प्रचलित है और पिछले पचहत्तर वर्षों से यह साहित्य-क्षेत्र में प्रयुक्त हो रही है अंग्रेजी के एक महान इतिहासकार तैन ने अपने इतिहास की भूमिका में लिखा है—'मेरा उद्देश्य साहित्य का ऐसा इतिहास लिखने का है जिसमें मनोवैज्ञानिक सत्यों की आभा मिले, मनोवैज्ञानिक सत्यों से उनका तात्पर्य उन कार्य-कारण सम्बन्धों का विश्लेषण था जो साहित्यिक इतिहास की रूप-रेखा बनाते हैं। लेखक ने इस महत्वपूर्ण आदर्श को अपने इतिहास में प्रदर्शित न कर पाया हो, परन्तु उनका आदर्श सराहनीय है, क्योंकि यही अंग्रेजी साहित्य के प्रथम लेखक हैं जिनके सिद्धातों के फलस्वरूप साहित्य में वैज्ञानिक प्रणाली की आलोचना का श्री गणेश हुआ। वैज्ञानिक आलोचना पद्धति ने साहित्यकार और इतिहासकार दोनों को जीव-प्रगति-इतिहास के अन्तर्गत ही स्थान दिया है। डार्विन-सदृश वैज्ञानिकों ने अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि प्रकृति स्वभावत: प्रगति करती आई है और पृथ्वी पर जितने भी जीव-जन्तु पाये जाते हैं उन सबकी प्राचीन अवस्था से लेकर आधुनिक काल तक किसी न किसी रूप में प्रगति हुई है अथवा यों कहिए कि सम्पूर्ण प्रकृति अपने प्राचीन आंशिक रूप से उत्तरोत्तर प्रगति कर रही है और करती जाएगी। इसी प्रगति में सभ्यता के स्तरों के समय-समय पर दर्शन होते रहेंगे। साहित्यिक इतिहास को भी इसी प्रगति सिद्धान्त के अन्तर्गत स्थान देने में कुछ लाभ हुए और कुछ हानि। सबसे पहला लाभ तो यह हुआ कि ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली से इसका सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया और इन दोनों के सामञ्जस्य द्वारा अनेक साहित्यिक जटिलताएँ सुलझती गईं। ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली वातावरण तथा देश-काल का सम्पूर्ण लेखा सम्मुख रखकर आलोचना करने में संलग्न होती है और वैज्ञानिक प्रणाली भी वातावरण तथा प्रकृतस्थ नियमों की जाँच द्वारा जीव-प्रगति के सिद्धान्त निर्मित करेगी। अत: दोनों का आत्मिक सम्बन्ध स्पष्ट है। परन्तु इस लाभ के साथ ही साथ सबसे बड़ी हानि यह हुई कि साहित्यकार अथवा इतिहासकार वातावरण तथा देश-काल की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने में इतने अधिक उलझ गए कि उनका दृष्टिकोण दूषित हो गया,

उनका आलोचनात्मक निर्णय साहित्य का न होकर देश-काल का निर्णय हो गया और महत्व की वस्तु गौण होकर रह गई। वैज्ञानिक प्रणाली को अपनाने वाला आलोचक अथवा साहित्यकार साहित्य को गौण मानकर ही आगे बढ़ता हैं और फलतः अन्य सिद्धान्तों को, जो बाह्यरूप से साहित्य को प्रभावित करते रहे हैं, अधिक महत्वपूर्ण समझ बैठता है। विज्ञान में चुम्बक की-सी शक्ति होती है और यदि वैज्ञानिक पद्धति अनेक आलोचकों को अपनी ओर सहज आकृष्ट कर लेती है तो उसमें आश्चर्य ही क्या? परन्तु ध्यान में रखनेवाली बात यह है कि जो भी साहित्यिक आलोचना-प्रणाली विज्ञान का सहारा ढूंढ़ेगी, धीरे-धीरे अपनी महत्ता खो देगी और विज्ञान के चक्र-व्यूह में पड़कर अपना अस्तित्व मिटाती चलेगी।

कुछ आलोचक ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति की न्यूनता को भली-भाँति समझ कर उसके एकाङ्गी दृष्टिकोण से सतर्क रहे और इस विरोध का श्रेय फ्रांसीसी आलोचकों को ही अधिक मिलना चाहिए। इन फ्रांसीसी आलोचकों ने यह प्रश्न उठाया कि जब प्रकृति के सभी अङ्गों में प्रगति के प्रमाण मिलते हैं और यह सिद्धान्त मान्य है तो साहित्य भी इन सिद्धान्तों का सहारा क्यों न ले? डार्विन द्वारा प्रमाणित प्रकृति के प्रगति-सिद्धान्त क्या आलोचक साहित्य में प्रयुक्त नहीं कर सकते, इस प्रश्न पर मतभेद है। ऐतिहासिक प्रणाली के विरोधी दल में उन्हीं आलोचकों की गणना है, जो डार्विन द्वारा प्रभावित सिद्धान्तों के पूर्ण ज्ञाता होने का अधिकार रखते हैं। समर्थकों में कुछ फ्रांसीसी आलोचक, विशेषकर ब्रुनेतियर उल्लेखनीय है। उन्होंने वैज्ञानिक स्वप्रगतिवाद को आलोचना क्षेत्र में विशेष रूप से प्रयुक्त करके यह सिद्धान्त निश्चित किया कि साहित्य में पुस्तकों का प्रभाव एक-दूसरे पर अवश्य पड़ता है। पहले ही प्रकाशित पुस्तक उत्तरोत्तर प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों को अव्यक्त रूप में प्रभावित करती चली जाती है। इसी सिद्धान्त की नींव पर उन्होंने यह साहित्यिक निर्णय प्रस्तुत किया कि पुस्तकों का क्षेत्र भी एक संगठित जन-समुदाय के समान है और उसका विभाजन भी विभिन्न वर्गों में होता जाता है जो एक-दूसरे के अन्तर्गत होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि तुलसीदास अथवा शेक्सपियर की रचनाओं का वर्गीकरण हो तो हमें तुलसी महाकाव्य-निर्माता और शेक्सपियर नाटककार के रूप में दिखाई देंगे और इस तथ्य को जानने के पश्चात् हमें महाकाव्य-परम्परा तथा नाट्य परम्परा पर अन्वेषण करना पड़ेगा। उनका विचार था कि किसी एक प्रकार का साहित्य जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो उसके बाद उसका पतन होने लगता है। उदाहरणार्थ तुलसी के महाकाव्य में आध्यात्मिक, साहित्यिक, राष्ट्रीय तथा सामाजिक तत्वों के प्रदर्शन की इतनी पराकाष्ठा पहुँची कि उनके पश्चात् किसी ने उस टक्कर का महाकाव्य लिखने का साहस ही नहीं किया—और उत्तरोत्तर उस वर्ग के साहित्य में हीनता आती गई, उसी प्रकार शेक्सपियर के दुःखान्त की और सुखान्त की इस उच्च कोटि के लिखे गए उनमें किञ्चित मात्र भी शेक्सपियर की कला दृष्टिगत न हुई। निष्कर्ष यह निकला कि आलोचक को लेखक ही नहीं वरन् साहित्य के एक वर्ग विशेष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करके उस वर्ग का प्राचीन, आधुनिक तथा भावी इतिहास लिखना चाहिए। यदि आलोचक गीतकाव्य, सुखान्तकी अथवा दुःखान्त की, किसी भी वर्ग का अध्ययन आरम्भ करता है तो उसे उसका आदि रूप तथा वर्तमान रूप एवं वर्तमान रूप

का पूरा ऐतिहासिक व्यौरा देना चाहिए और इसी व्यौरे में ही उस साहित्यिक वर्ग की महत्ता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के एक वर्गीय अध्ययन द्वारा यह सिद्धान्त मान्य हो जाता है कि स्वप्रगतीय (सेल्फ इवोल्यूश्नरी) वैज्ञानिक पद्धति में विशेष तथ्य है। अमरीका में आजकल इस प्रकार की आलोचना बहुत प्रचलित हैं और लेखक-वर्ग एक वर्गीय अध्ययन में वड़ी क्षमता दिखला रहे हैं और उसी वर्ग का लेखा आदि से अन्त तक देकर उसी वर्ग की उन्नति के साधनों तथा अवनति के कारणों की ओर निर्देश करते हैं। इन अमरीकी लेखकों ने महाकाव्य, व्यंग्य काव्य, गीत काव्य, लेख-साहित्य सभी का एक वर्गीय अध्ययन प्रस्तुत किया हैं।

परन्तु यह आलोचना-प्रणाली जहाँ इतनी लाभदायक और उपयोगी सिद्ध होती है वहाँ अपनी न्यूनता भी प्रकट करती है। यह पद्धति इस कारण बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है कि आलोचक अपने निर्दिष्ट क्षेत्र में न तो विलग होता है और न विमुख, आदि से अन्त तक अपने निर्दिष्ट पथ पर चलता रहता है। परन्तु इस प्रणाली की सबसे बड़ी कमी यह है कि आलोचक अपने एकवर्गीय अध्ययन द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा किया करता है कि साहित्य कोई व्यापक अथवा सुसङ्गठित वस्तु न होकर विच्छिन्न रूप में प्रस्तुत रहता है और उसके किसी एक वर्ग का दूसरे के साथ अटूट सम्बन्ध नहीं है।

●

अफ्रीका महाद्वीप के मुक्ति-योद्धाओं को समर्पित

काला दर्द

चमत्कारों में खो गयी अनगिनत सदियां
फिर भी अन्धेरों को उजाला न मिला
अन्धेरा वेरंग नहीं, रंग वाला है
जो रोशनी की निगाहों में काला है
एक खतरनाक समस्या
आदमी से आदमी का वचाव
फिलहाल नामुमकिन है
रफ्ता-रफ्ता भर जायेगा तुम्हारा घाव
ये जादू है बीसवीं सदी का
अक्ल के किवाड़ों पर सफेद पर्दे पड़े हैं
मगर एहसास पर स्याही छाई है
इसके पहले की ये शिकार करें····
अपने ही जाल में फसेगें,
जो तुम्हारे लिए विछाई है,
सुर्ख रंग में रंगी सभ्यता
जब कि
अमन का सिंवल सफेदी
लाल ···खतरे की चेतावनी
काश ! खून भी सफेद होता,

अईम अख्तर बी० ए०, (अंतिम वर्ष)

आधुनिक संवेदना के परिप्रेक्ष्य में रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन

डॉ० विजय पाल सिंह
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। उन्होंने ही सर्वप्रथम हिन्दी समीक्षा को व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठित किया। यों तो आधुनिक काल के प्रथम चरण से ही रीतिकालीन काव्यमूल्यों की उपेक्षा होने लगी थी किन्तु द्विवेदी युग में आकर उसके प्रति प्रतिक्रिया और कटु हो उठी। यह युग मर्यादा, नैतिकता और आदर्श को महत्व देने वाला सुधारवादी आन्दोलनों का युग था जिसका प्रतिविम्व साहित्य की विविध विधाओं में देखने को मिलता है। इन्हीं प्रभावों के अंतर्गत हिन्दी समीक्षा भी आचार्य शुक्ल के माध्यम से विकसित हो रही थी। साहित्यिक मूल्यों के प्रति शुक्लजी की पकड़ इतनी सटीक थी कि वहुत दिनों तक उनके द्वारा निर्धारित मानदण्ड आप्त प्रमाण के रूप में स्वीकार किये जाते रहे। किसी भी मध्यकालीन कवि का मूल्यांकन करते समय शुक्लजी गोस्वामी तुलसीदास के मूल्यांकन को वरावर ध्यान में रखते थे और इसीलिये जो काव्य लोक-मंगल की भावना, आदर्शवाद और मर्यादावाद की कसौटी पर खरा नहीं उतर पाता था, उसे शुक्लजी उतना महत्व नहीं देते थे। इस प्रकार भक्ति काव्य की प्रतिष्ठा और रीति काव्य की उपेक्षा के फलस्वरूप आदर्शवाद की इस पृष्ठभूमि में रीतिकालीन प्रवृत्तियों की विकास-प्रक्रिया का अवरुद्ध हो जाना स्वभाविक था।

समीक्षा का स्वरूप इतना पूर्वग्रही हो गया कि तुलसी के अतिरिक्त अन्य महाकवियों के काव्य का समुचित मूल्यांकन नहीं हो पाया। आदर्श और मर्यादा के जाल में फँसी हुई समीक्षा दृष्टि ने रीतिकाल की समूची काव्य परम्परा को रुग्ण मन का अनर्गल प्रलाप कह कर तिरस्कृत कर दिया। आश्चर्य तो इस वात पर है कि विहारी, घनानन्द, देव, मतिराम आदि की काव्य प्रतिभा पर मुग्ध होते हुए भी समीक्षा प्रायः उस युग के समूचे साहित्य को महत्व न दे सके। छायावादी युग में भी रीतिकालीन सौन्दर्य दृष्टि को अतीन्द्रिय कह कर तथा शिल्प को रूढ़िग्रस्त बताते हुए उसे सम्मान से वंचित कर दिया गया। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो जिस उन्मुक्तता के साथ रीतिकालीन कविता में प्रेम और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुयी है, उससे कम उन्मुक्तता भक्तिकाव्य और छायावादी काव्य में देखने को नहीं मिलती। प्रेम और सौन्दर्य के जिन वर्णनों के आधार पर हम रीतिकालीन कविता को घोर शृंगारित एवं अश्लील कहते हैं, उस प्रकार के वर्णन विद्यापति, सूरदास, नन्ददास तथा प्रसाद, पंत, निराला आदि में भरे पड़े हैं। इन सबके वाद भी भक्ति काव्य और छायावादी काव्य को उस रूप में घोर शृंगारित नहीं कहा गया, इसका कारण यह है कि रीतिकालीन काव्य में किसी दार्शनिक प्रभाव से मुक्त होने के कारण, निश्छल अनुभूतियों को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त किया गया है जबकि भक्ति और छायावादी काव्य की शृंगारिकता को दार्शनिक पृष्ठभूमि में छिपाया गया है। इसीलिये वहाँ—विशेषरूप से संगोपन की प्रवृत्ति पायी जाती है।

इन्हीं विषम परिस्थितियों एवं असंगत समीक्षा पद्धतियों के बीच रीतिकाव्य के पुन-र्मूल्यांकन का प्रश्न उठ खड़ा होता है जो आधुनिक संवेदना के प्रतिकूल नहीं हैं। जब पूर्वाग्रह ग्रस्त समीक्षा-प्रणाली किसी युग विशेष के साहित्य का समुचित मूल्यांकन करने में अक्षय सिद्ध होती है तो एक ऐसी समीक्षा पद्धति की आवश्यकता पड़ती है जो काव्य के आंतरिक मूल्यों को महत्व देते हुए विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से उसका मूल्यांकन कर सके। इस प्रकार निर्मित समीक्षा का मानदण्ड निश्चित रूप से अधिक वैज्ञानिक और विश्वसनीय होगा। यहाँ आधुनिक संवेदना के परिवेक्ष्य में रीतिकाल के पुनर्मूल्यांकन से तात्पर्य इसी वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति से है। आज विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से रीतिकाल के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है। इसके लिए हमें रीति काव्य पर आरोपित बाह्य मूल्यों के स्थान पर उसके आन्तरिक मूल्यों को महत्व देना होगा।

प्रेम और सौन्दर्य के प्रति आकर्षण मानव मन की अत्यन्त स्वाभाविक वृत्ति है। उसकी उपेक्षा का प्रश्न नहीं उठता। प्रेम और सौदर्न्य की अभिव्यक्ति साहित्य में आदि काल से अब तक होती आई है। यहाँ तक कि आज की नई कविता में भी इसके स्वर सुनाई पड़ते हैं और किसी के फिरोजी होठों पर जिन्दगी बरबाद करने वाले कवियों का अभाव नहीं है। नई कविता के साथ ही नवगीत का आन्दोलन भी इस ओर संकेत करता है। आज की नई कविता किसी-किसी रूप में निराला से जुड़ती है। उन्होंने ब्रजभाषा-साहित्य में व्यंजित सौन्दर्य को हीन नहीं समझा और उसके पुनर्मूल्यांकन पर बल दिया था, ब्रजभाषा का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं। ब्रजभाषा के कवियों मे सौन्दर्य को इतनी दृष्टियों से देखा है कि शायद ही कोई सौन्दर्य उनसे छूटा हो। इसमें संदेह नहीं कि निरालाजी ने छायावादी सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में ही रीतिकालीन स्थूल सौन्दर्य के पुनर्मूल्यांकन की ओर संकेत किया हो। रीतिकालीन सौन्दर्य फिर भी मानवीय है, इसलिए कि उसमें मानसिक कुण्ठा के लिए अवकाश नहीं है और इसलिए भी कि उसकी विश्छल अभिव्यक्ति हुई है। वहाँ कोई दुराव-छिपाव नहीं हैं। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों ने आधुनिक मनोविज्ञान को एक नई दिशा प्रदान की है और इस साहित्य के मूल्यांकन में इन मनोवैज्ञानिक मूल्यों का बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ा है। यदि हम मानव मन के विश्लेषण और उसकी उद्दाम काम-पीड़ा की व्याकुलता के परिप्रेक्ष्य में रीतिकालीन प्रेम और सौन्दर्य का मूल्यांकन करें तो वहाँ कोई अस्वाभाविकता और अनौचित्य नहीं दिखाई पड़ता। शायद ही किसी युग में सौन्दर्य को इतने विविध कोणों से देखने का प्रयास किया हों।

आज के साहित्य में श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न ही नहीं है। साहित्य-कार जिस प्रकार की कटु या मधुर जिन्दगी जी रहा है, उसकी सही और यथार्थ अभिव्यक्ति उसकी रचनाओं में मिलती है। आज का समाज जिस भाषा को बोलने या सुनने का अभ्यासी है, लेखक प्रायः उसी भाषा को लिखने का दावा करता है। अस्तु आज नवलेखन की दो टूक भाषा को यदि हम गाली-गलौज की भाषा कहें तो इससे उसके अस्तित्व पर कोई आँच नहीं आयेगी, इसलिए कि वह उस रूप में प्रतिष्ठित हो चली है।

आज की नव्यतम काव्य संवेदना को जिस वेज़ौस भाषा में व्यक्त किया जा रहा है, यदि उसी का प्रयोग रीतिकालीन कवियों ने किया तो वे बुरे क्यों? यदि रीतिकालीन कविता अतीन्द्रिय और श्रृंगारिक है तो कवियों के आस-पास का वातावरण भी वैसा ही था। श्रृंगारिकता तो उस युग की आम प्रवृत्ति थी। उसी प्रकार की कविता के लिए कवियों को पुरस्कार मिलते थे और वाह-वाही मिलती थी। इसी प्रकार राजे-महाराजे और सभ्य ऐसी कविता लिखने को प्रोत्साहित करते थे। विलासिता-श्रृंगारिकता और अश्लीलता के इस माहौल में रीतिकालीन कवियों के समक्ष प्रेम-सौन्दर्य की रचनाओं के अतिरिक्त दूसरा विकल्प ही क्या था?

रीतिकालीन कविता की रुढ़िवद्धता के प्रति भी आक्षेप किए गए किन्तु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि रीतिकाव्य का विकास परंपरा के अंतर्गत आता है और परंपरा का अन्वेषण करना भी आधुनिकता का अंग है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य में श्रृंगारिक मुक्तकों की प्रधानता रही है। हिन्दी के आदिकालीन रासो ग्रन्थों में रीतिबद्ध श्रृंगारिक चित्रों को देखा जा सकता है। पृथ्वीराज रासो में नख-शिख-वर्णन की प्रवृत्ति विद्यमान है। इसी प्रकार विद्यापति, सूरदास, नन्ददास आदि महाकवियों की रचनाएँ नख-शिख वर्णन और नामयिक भेद निरूपण से मुक्त नहीं हैं। कृपाराम की हिततरंगिणी और मोहन लाल मिश्र के अलंकार और रस पर लिखे हुए लक्षण ग्रन्थ उपलब्ध है। अतः रीतिकाव्य की इस समृद्ध परंपरा के पुनर्मूल्यांकन के लिए पर्याप्त अवकाश है। इतना ही नहीं, छायावादी युग तक किसी न किसी रूप में इसका प्रभाव दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु, रत्नाकर, हरिऔध और गुप्त जी की रचनाए इससे प्रभावित हैं। प्रसाद जी के आँसू में नख-शिख वर्णन का अवशिष्ट चिन्ह देखा जा सकता है और कामायनी में मुग्धा, अभिसारिका और मानवती नायिकाओं के बड़े ही ललित चित्र खींचे गये हैं।

भाषा की चित्रात्मकता और लाक्षणिकता को छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषता के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु घनानन्द लाक्षणिकता का प्रचुर प्रयोग पहले ही सफलतापूर्वक कर चुके थे। रीतिमुक्त कवियो ने अपनी प्रेमानुभूति की निश्छलता की स्पष्ट घोषणा करते हुए बताया कि उसमें छलकपट और बौद्धिक कतर ब्योंत के लिए अवकाश नहीं है। मुक्तक रचनाएँ ही आधुनिक कविता प्रतिनिधित्व करती है और रीतिकाव्य की मूल प्रवृत्ति भी मुक्तक रचनाएँ ही थीं। आज की नई कविता बौद्धिक और प्रतीकात्मक है। रीतिकाल के कवि आचार्यों ने जहाँ भक्तिकालीन प्रतीकों को रीतिबद्ध करके भक्तिपरक काव्यशास्त्र की परंपरा को बल दिया वहीं पूर्ण लौकिक प्रतीकों को रीत्याश्रित करके काव्यशास्त्र के व्यवहारिक पक्ष को भी प्रस्तुत किया। अतीन्द्रियता के साथ बौद्धिकता भी रीतिकाव्य की प्रवृत्ति है और भौतिक अनुभूति ऐन्द्रिय और बौद्धिक हुआ करती है। इनमें मात्रा भेद होता है किन्तु किसी एक का एकदम से तिरोभाव संभव नहीं है।

पुनर्मूल्यांकन अपने आप में एक बौद्धिक प्रक्रिया है और यदि वह विशुद्ध रूप में वैज्ञानिक होती है तो निःसंदेह हमारे वर्तमान ज्ञान में अभिवृद्धि करती है। अतीत के पुनर्मूल्यांकन से आधुनिकता को कोई खतरा भी नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे तो आधुनिकता का परिवेश विस्तृत होता है। तात्पर्य यह कि पुनर्मूल्यांकन स्वयं आधुनिकता की एक पद्धति है और इसलिए आधुनिक संवेदना के संदर्भ में उसकी आवश्यकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

●

साठ वर्ष के हासिये पर हिन्दी कविता का सही आदमी

नकछेद
शोध छात्र, हिन्दी

काव्य आदमी के जरूरतों का माषिक प्रयास है। जरूरतों के मोड़ बदल सकते हैं किन्तु काव्य की नियति नहीं बदल सकती। रचनाधर्मी का यह उपक्रम उसे मानवीय मूल्यों से सम्पृक्त करता है। मानव-मूल्य बदलते संदर्भों के कारण अपने स्वरूप को परिवर्तित करता चलता है। दरअसल संदर्भों के चौरस्ते पर मानवता एक अजनबी परन्तु आवश्यक सवाल लेकर उपस्थित होती है। परन्तु आदमियत के आइने में 'आदमी' को दूर तक निहारने की कोशिश रचना को समाज का हथियार बना देती है। साठ वर्ष के हाशिये पर हिन्दी कविता का तात्पर्य सन् १६१६ से लेकर '७६ तक के कालगत अन्तराल में विकसित होने वाली कविता की उन धाराओं से है जिनकी गति छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, साठोत्तरी कविता (अकविता....) और सत्तरोत्तरी कविता (विचार कविता ....) आदि तक पहुँची हुई है। हिन्दी कविता की इस विकास-यात्रा में इंसानियत के बदलते चेहरे को टटोलने की प्रक्रिया 'सही आदमी' तक पहुँचने की वाजिब तलाश है। निबंध का शीर्षक जितना सपाट है उतना ही पेंचीदा और घुमावदार भी। 'आदमी' और 'सही आदमी' का प्रश्न एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। 'आदमी' शब्द के पूर्व 'सही' विशेषण जोड़ने की आवश्यकता क्यों महसूस हुई? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। क्या आदमी आदमी नहीं है? 'सही आदमी' ही आदमी है। 'आदमी' शब्द में अच्छा, बुरा मूर्ख, बुद्धिमान, गरीव, अमीर, ईमानदार, बेईमान, मजदूर, पूँजीपति, शासक, शासित, अफसर, क्रान्तिकारी, लेखक, पाठक, देशद्रोही, राष्ट्रसेवी इत्यादि बहुत कुछ समाये हुए हैं किन्तु सामाजिक आवश्यकता के मुताबिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विशद मानवीय संवेदना को आत्मसात् कर उस पर विशेष बल देना ही सम्यक एवं समग्र मानवतावाद का परिचायक हैं। ज़ाहिरा तौर पर यह कहना चाहूँगा कि साहित्यकार बुद्धिजीवी वर्ग का महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि उसमें जन-जीवन को प्रभावित करने की सर्वाधिक क्षमता मौजूद रहती है। अतः राष्ट्र के आन्दोलन, विद्रोह एवं क्रान्ति आदि में वास्तविक भूमिका निभानेवाले उसके पत्र-पत्रिकाओं और ग्रन्थों को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। वस्तुतः ऐसी स्थिति में साहित्यकार 'सही आदमी' की वास्तविक पहचान करना अपना दायित्वबोध मानता है।

आदमियों का समुदाय ही समाज है, जिसमें खास और आम दो तबके के आदमी सम्मिलित हैं। खास आदमी समाज का वह प्रमुख आदमी है; जो साम्राज्यवाद, पूँजीवाद

और सामन्तवाद आदि के वेश में आदमी की बहुत बड़ी तादाद का सदैव शोषण करता रहता है। आम आदमी से अभिप्राय आदमी के उस वर्ग से है जिसे बराबर किसी न किसी रूप में शोषण का शिकार होना पड़ता है। वस्तुतः आम आदमी का सम्बन्ध दलित, उपेक्षित एवं उत्पीड़ित सर्वहारा वर्ग से है। गाँव एवं शहर के शोषक एवं शोषितों की कार्यप्रणाली में विभेद होने के बावजूद अन्याय और अत्याचार हमेशा बरकरार रहता है। खास आदमी उत्पादन एवं नियन्त्रण के साधनों का स्वामी होता है किन्तु आम आदमी श्रम का स्वामी अथवा उससे च्युत होकर भी खास आदमी द्वारा प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से चूसा जाता है। सच-मुच दुनियाँ के प्रत्येक देश में इस मामूली आदमी का सर्वोच्च प्रतिशत होता है तथा यह आदमी राष्ट्रहित के हर मोर्चे पर सबसे पहले और बाद तक चूर होता है किन्तु यह आदमी अपने असंगठन बिखराव एवं वास्तविक निर्देशन के अभाव के कारण यों ही ठुकरा दिया जाता है। इतिहास और चरित काव्य खास आदमी का होता है किन्तु आदर्श की चालाकी से आम आदमी को उसमें अवश्य उलझाया जाता है। आदिवासियों के जीवन को देखा जाय तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि खास आदमी आम आदमी का शोषण के मामले में पिण्ड कभी नहीं छोड़ता। समाज ने आम आदमी की उपेक्षा तो की ही किन्तु यदि उसके आश्रयस्थल में लाभप्रद खनिज पदार्थ एवं धातुओं की उपलब्धि हुई तो उन्हें उजड़ना पड़ा या मजदूर होकर गुलाम होना पड़ा। क्योंकि पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों ने उन्हें ऐसा होने के लिए बाध्य कर दिया। इसके मूल में उनके बीच व्याप्त शिक्षा एवं उत्प्रेरणा का अभाव है जो उन्हें अपने हक एवं अधिकार को प्राप्त नहीं करने देता। पूँजीवादी व्यक्ति का मतलब पूँजी विकसित करने से रहता है अतः पूँजी के विकास के फेर में पड़कर वह अपने देश को भी छोड़ सकता है किन्तु, किसान मजदूर एवं अन्य निम्न तबके के मनुष्य अन्यत्र कहाँ जा सकते हैं? अतः जाहिर है कि राष्ट्रीय एकता का सबसे भूखा व्यक्ति आम आदमी ही है तथा यह आदमी वृहत्तर परिवेश का आदमी है जो हिन्दी कविता का सही आदमी है। अब सही आदमी का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी मूल्यांकन हो रहा है। एक दूसरा उदाहरण ऐसा भी है जहाँ शिक्षा की विकासात्मक रूपरेखा विद्यमान है जैसे अपने देश का अत्यन्त प्रसरित वृहत् हिन्दी भाषी क्षेत्र। यह क्षेत्र भाषा और एकता के मामले में राष्ट्र का सुगठित एवं इन्टेलेक्चुअल इलाका रहा है। इसलिए साम्राज्यवादी ब्रिटिश सत्ता और मुस्लिम इत्यादि अन्य आक्रमणकारियों ने इस क्षेत्र के राजाओं महाराजाओं एवं नवाबों को मिलाकर पूरे राष्ट्र का रक्त-दोहन किया। अंग्रेजों ने भाषिक स्तर पर हिन्दू और मुसलमानों में फूट भी डाली। आजादी के बाद इस क्षेत्र की अकादमियों एवं संस्थानों पर कुण्डली मारकर बैठने-वाले मठाधीशों एवं सामन्तों का ऐसा आधिपत्य हो गया है कि भाषा और सही आदमी के नाम पर कोई महत्वपूर्ण पत्र एवं पत्रिकाएँ यहाँ से निकल ही नहीं पाती हैं। घिसे-पिटे पाठ्यक्रम और शाश्वत मानदण्ड का वितण्डावाद खड़ा करनेवाली आलोच्य-दृष्टि को भी देखा जा सकता है। किन्तु यह पूरा सच है कि परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। यह आलोचान-पद्धति कविता के नाम पर आज की कविता को सन्देह की दृष्टि से देखती है। जब कोई नई वस्तु पैदा होती है तो हर सम्भव अपनी परम्परित विरासत को चौंकाती है।

छायावाद ने भी ऐसा ही किया है। कविता में अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि, रस, छन्द एवं संगीत इत्यादि को खोजनेवाली तमीज़ सामन्तवादी मनोवृत्ति का परिचायक है। सही आदमी को खोजने की विचारात्मकता का यहाँ अभाव है क्योंकि यहाँ काव्य से मिलनेवाले आनन्द को भी लोकोत्तर, अनिर्वचनीय एवं ब्रह्मानन्द सहोदर कहकर सही आदमी के मूल्य-बोध को तिरस्कृत किया जाता है। कहने का आशय यह है कि रस सिद्धान्त का सम्बन्ध आध्यात्मवाद से है जिससे ईश्वरीय सत्ता के समक्ष आदमी अत्यन्त तुच्छ-सा दिखाई पड़ता है किन्तु वैज्ञानिक उन्नति के कारण भौतिकवाद ने आध्यात्मवाद को ध्वस्त किया और ईश्वर के स्थान पर आदमी को प्रतिष्ठित किया। इस प्रक्रिया में क्रमशः तेजी आती गयी है। यह सही आदमी को मकोसनेवाले धर्म की मोहभंगी (डिसिल्यूसनमेन्टल) जमीन है। छायावाद से आज तक की कविता में धर्म के कठमुल्लेपन की जमीन क्रमशः खिसकती गयी है तथा राजनीतिक एवं आर्थिक सुदृढ़ता के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक मानवतावादी विचारधारा प्रतिष्ठित होती गयी है।

प्रायः ऐसा देखने को मिलता है कि पूंजीजीवी रचनाकार भी मामूली आदमी को जोरों से उछालता है और उसकी जमात में उभरने वाले क्रान्तिकारी वर्ग को उसके महत्वपूर्ण मुद्दे से नीचे गिराना चाहता है। ये साहित्यकार बुद्धिजीवी चाकर साहित्यकार हैं। इनकी तिकड़मबाज मेधा आम आदमी को सही आदमी का स्वरूप नहीं ग्रहण करने देती। दरअसल खास आदमी प्रपंच या खेल के तौर पर आम आदमी का जापकर उसकी अंकुरित शक्ति को दबोचता है किन्तु आम आदमी का सहधर्मी साहित्यकार उसकी तरफदारी करता है। सचमुच मानवतावाद के नाम पर साहित्य में कम घायल नहीं हुआ है। इसी कारण आदमी के पूर्व 'सही' विशेषण का सार्थक प्रयोग किया गया। 'सही आदमी' चन्द खास आदमियों की अपेक्षा तिरस्कृत परन्तु विस्तृत आदमी के जीवन की हिमायत करता है। इस सही आदमी की कई जमातें होती है। किन्तु इसके प्रवृत्यात्मक एवं स्वाभाविक जीवन विभेद के बावजूद संघर्षधर्मिता में समानता होती है।

विश्व के प्राचीन साहित्य का आदमी राजा ही था। समूचे संस्कृत साहित्य ने भी नायक अथवा खलनायक के रूप में राजा को ही स्वीकार किया है और येनकेन प्रकारेण नायिका, प्रेमिका, मंत्री, युवराज इत्यादि अन्य पात्र राजा से ही सम्बन्धित रहे हैं। आदिकालीन हिन्दी साहित्य में ऐसे ही नायक का विस्तृत वर्णन हुआ है। भक्तिकाल में राजा ने भगवान का ओहदा प्राप्त कर लिया अर्थात् आदमी राजा से भगवान बन गया। राम अथवा कृष्ण के राजसी प्रभुत्व ने ही उन्हें भगवान के रूप में प्रतिष्ठित किया। सगुण अथवा निर्गुण दोनों काव्यधाराओं में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राजा पर भगवान का गुण आरोपित किया गया जिससे सही आदमी और डाउन हुआ। राज्याश्रित एवं चाटुकार कवियों ने अपने साहित्य में राजा को निर्देशक मानकर अपने रचनाधर्मी अस्तित्व को पैसे के लोभ में ही लुप्त किया। रीतिकाल का सम्पूर्ण साहित्य इसी चंगुल में फँसा रहा। सन् १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से लेकर आज तक के इतिहास में खास आदमी ने मामूली आदमी का नेतृत्व कर उसे धोखा ही दिया है। इस संग्राम में राजाओं के राज्य और नवाबों की रियासतें

ब्रिटिश सत्ता द्वारा हड़पी जा रही थी और मामूली आदमी को हत्या का शिकार होना पड़ रहा था। यह कैसी विचित्र स्थिति है। एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि अंग्रेजों से लोहा लेने वाले ऐसे राजा और नवाब थे जो एक तरफ ब्रिटिश आधिपत्य को कुचलना चाहते थे तथा दूसरी तरफ अपने राज्य को भी बरकरार रखना चाहते थे। ऐसे ही लोग आम आदमी के नेता थे। वास्तविकता यह है कि पूरे समाज में राजा की विशेष गरिमा थी क्योंकि राजा ही समाज का संरक्षक था, सारी पृथ्वी और सारा यश उसका था। सामान्य जनता की आशा एवं आकांक्षा का चाँद राजा ही बन बैठा था। यहाँ जनता को अपनी आधिकारिक हैसियत का ज्ञान ही नहीं था। जिस समय भक्तिकाल का उद्भव हुआ उस समय मुसलमान राजा हुआ किन्तु कवियों ने उसे हिन्दू संस्कृति के मूल्यों के अनुरूप न पाकर अस्वीकृत किया। दासता की श्रृङ्खला में आबद्ध होने के बावजूद कवियों ने विक्टोरिया, जार्ज पंचम और प्रिंस आफ वेल्स की प्रशस्तियाँ कर पूरे देश के रूप में फैले आम आदमी के साथ धोखा ही दिया।

आधुनिक काल में भारतेन्दु ने आम आदमी की पीड़ा को परखकर पूरे भारतीय परिवेश में अंग्रेजों के साम्राज्यवादी पंजे से मुक्ति का अद्भुत स्वर बुलन्द किया। द्विवेदी युग में मैथिलीशरण गुप्त ने राम को मानवीय स्तर प्रदान किया। छायावाद में मानव का स्थान आदर्श मानव ने ले लिया। इसका मूलकारण छायावादी युग में कविता की बढ़ती प्रतिष्ठा है। निराला ने जीवन की यथार्थ भाषा के रूप में गद्य को स्वीकार कर कविता को मुक्त छन्दों में तब्दील कर उसे गद्यवत बनाया। यदि प्रसाद ने आदमी की आदर्श तसवीर को सँवारा तो निराला ने आदमी की यथार्थ प्रतिमा को कविता का मार्मिक उपकरण माना। निराला ने आदर्श के माया स्तूपों को ठुकराकर जीवन-यथार्थ के मुद्दों को 'राम की शक्ति-पूजा' 'सरोज-स्मृति' 'यमुना के प्रति' 'तुलसीदास' आदि कविताओं में अभिव्यंजित किया है। निराला के राम संघर्ष जीवी इंसान के प्रतिरूप हैं। उन्होंने राम को सही आदमी के जीवन की बीहड़ अनुभूतियों के बीच परिभाषित किया है। उनकी रचना 'सरोज-स्मृति' एक शोकगीत (एलजी) होने के साथ ही अनुभूतियों की गहनता एवं संश्लिष्टता के कारण सही आदमी की कारुणी दशा का झेला हुआ सच है। निराला का अपनी अट्ठारह वर्षीया पुत्री सरोज के प्रति किया गया विलाप सार्वजनीनता एवं सार्वदेशिकता का स्तर छू लेता है। निराला की कविता में जीवन का राग कविता का राग बन गया है। उन्होंने 'वह तोड़ती पत्थर' और 'वह आता दो टूक कलेजे को करता' जैसी कविताओं में मजदूरनी और भिक्षुक का दयनीय चित्रण कर समाज के सही आदमी का एहसास प्रगट किया है। पन्त भी आदमी को सही आदमी के रूप में चित्रित करना चाहा है किन्तु छायावाद में उन्हें निराला की तरह सफलता नहीं मिल पायी है, इसी कसक को उन्होंने प्रगतिवाद में पूरा किया है।

छायावादी कवियों के अतिरिक्त १९१८ से '३६ तक के बीच गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', देवीदत्त मिश्र, शिवदासदत्त 'कुसुम', 'राष्ट्रीय पथिक', 'अभिलाषी', बेचन शर्मा 'उग्र', जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी,' राधा बल्लभ पाण्डेय 'बंधु', दुर्गादत्त त्रिपाठी, अवध

बिहारी मालवीय 'अवधेश', छैल बिहारी दीक्षित 'कंटक', दीनानाथ 'अंशक', महेश बख्श, रामेश्वर करुण, रामविलास शर्मा, नरेन्द्र शर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर' तथा बलभद्र 'पढ़ीस' आदि कवियों ने सही आदमी के साथ सहानुभूतिपूर्ण विचार प्रकट किया है। १९१७ की रूसी अक्टूबर क्रान्ति ने सर्वहारा वर्ग को विजयी बनाकर विश्व के स्तर पर सही आदमी में शक्ति का संस्फुरण किया। सन् '३० के आस-पास भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी संस्था में वामपंथी दल उभर गया था और सर्वहारा वर्ग में जागृति आ रही थी। ऐसे समय प्रेमचन्द के 'गबन' और प्रसाद के 'तितली' जैसे उपन्यासों में उभरती वर्ग चेतना का स्वर इसी संस्थिति का ही परिणाम है। सन् '३० में हिन्दी कविता भाववादी कटघरे से मुक्त होकर जीवन के विस्तृत पटल पर उदित होने के लिए जोर मार रही थी। १९३०-३२ की विश्व-व्यापी आर्थिक मंदी तथा फासिस्ट एवं पूँजीवाद की बढ़ती शोषण प्रक्रिया से विक्षुब्ध होकर शोषित किसान एवं मजदूर वर्ग में उनके प्रति विद्रोही चेतना ने हाथ-पाँव मारना आरंभ कर दिया। द्वितीय महायुद्ध के काले बादल मँडरा रहे थे और कम्युनिज्म का सर्वत्र स्वागत हो रहा था। गांधी और मार्क्स का दर्शन साहित्य की नयी जमीन तोड़ने में पूरी सहयोग प्रदान कर रहा था। विदेशों 'प्रोग्रेसिव लिट्रेचर' ने हिन्दी की प्रगतिवादी काव्यधारा को प्रोत्साहित तो किया ही किन्तु अपने देश की सक्रिय एवं जिम्मेदार संस्थितियों को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। १९३५ में अंग्रेजी साहित्य में ई० एम० फार्स्टर के सभापतित्व में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोशियेसन' नामक अन्तर्राष्ट्रीय-संस्था का प्रथम अधिवेशन पेरिस में हुआ। हिन्दुस्तान में १९३६ में डॉ० मुल्कराज आनन्द और सज्जाद ज़हीर के प्रयत्न से प्रेमचन्द की अध्यक्षता में 'प्रगतिशील लेखक संघ' का प्रथम अधिवेशन लखनऊ में हुआ। सचमुच प्रगतिशील विचारधारा ने संसार के स्वरूप का भौतिकवादी आकलन किया तथा बजबजाती रुढ़ियों, धार्मिक ढकोसलों तथा रहस्यवादी एवं भाग्यवादी विचारों पर लात मारा और काव्य में सही आदमी को गौरवान्वित किया। कला जीवन की भाषा बनी। इस धारा के कवियों के लिए छायावाद के छन्द बेजान प्रतीक हुए और मुक्त छन्दों को अच्छा अवसर मिला। पन्त ने 'युगान्त' में छायावाद का अन्त घोषित कर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' द्वारा सामाजिक जीवन को ग्रामीणता के विशद परिवेश में रूपायित किया। निराला ने 'भिक्षुक', 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'खजीहरा', 'महँगू महँगा रहा', 'डिप्टी साहब आये', 'कुत्ता भौंकने लगा' इत्यादि कविताओं में पूँजीवाद के प्रति व्यंग्यकर सही आदमी के चरित्र को ऊपर उठाना चाहा है। इस धारा के दरम्यान जन-जागृति में जो तीव्रता आयी वह सन् '४२ की क्रान्ति की पृष्ठभूमि रही। रामेश्वर शुक्ल अंचल, केदारनाथ अग्रवाल नागार्जुन, रांगेय राघव, रामविलास शर्मा, चन्द्रकुँवर वर्त्वाल, भैरव प्रसाद गुप्त, शिवमंगल सिंह सुमन, त्रिलोचन, महेन्द्र भटनागर, इत्यादि कवियों ने भी सही आदमी के सुख-दुःख का यथार्थ चित्रण किया है।

प्रगतिवाद के साथ ही प्रयोगवादी धारा समानान्तर गति से विकसित हो रही थी। यदि प्रगतिवाद वस्तु केन्द्रित राजनीतिक मोर्चा का साहित्य था तो प्रयोगवाद प्रतिक्रियाजन्य कलावादी आन्दोलन। प्रयोगवाद में सामयिक बोध के स्तर पर सही आदमी को आत्मसात किया गया है किन्तु किंचित मात्रा में। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि प्रयोगवाद में

प्रगतिशीलता की शर्तें अवश्य मौजूद हैं। 'तार सप्तक' ('४३) और 'दूसरा सप्तक ('५१) की अधिकांश रचनाएँ सामान्य जन-जीवन की संवेदनाओं से ओत-प्रोत हैं। 'न्यू सिग्नेचर्स' (१९३२) नामक काव्य संकलन से आरंभ होने वाले योरोपीय नवलेखन के अनुकरण के आधार पर अज्ञेय ने प्रयोगवाद को स्थापित किया। 'न्यू सिग्नेचर्स' में डब्ल्यू० एच० ओडन जुलियन वेल, सेसिल डे लुइस, रिचर्ड एवरहर्ट, विलियम एम्पसन, जॉन लेमन, विलियम प्लोमर, स्टीफेन स्पेंडर तथा ए० एस० जे० टेसीमोन्ड आदि नौ कवि सम्मिलित हैं। इन्होंने कम्यूनिज्म के प्रति तीव्र आग्रह व्यक्त किया तथा सम्प्रदाय ग्रस्तता का विरोध भी प्रकट किया। ठीक यही तथ्य प्रयोगवाद में भी दिखलाई पड़ता है अर्थात् प्रयोगवाद के अधिकांश कवि अपने को मार्क्सिज्म से जोड़ते हुए दिखाई पाते हैं इसके लिए उनके वक्तव्य प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रयोगशीलता की मुहर सब पर है किन्तु प्रगतिशीलता भी उनमें आक्सीजन की तरह समायी हुई है। स्वयं अज्ञेय की ही 'मैं वहाँ हूँ' शीर्षक कविता के उदाहरण से स्पष्ट है— यह जो मिट्टी गोड़ता है / कोदई खाता है और गेहूँ खिलाता है / उसकी मैं साधना हूँ / यह जो मिट्टी फोड़ता है / मड़िया में रहता है और महलों को बनाता है। उसकी मैं आस्था हूँ / (तार सप्तक पृष्ठ ३०६)। यहाँ सामयिक बोध की बेचैनी ने ही प्रयोगधर्मी कवि को 'सही आदमी' के मूल्यांकन के लिए विवश किया है। प्रयोगवादी कवियों के अलावा इस काल के मन्नूलाल शर्मा 'शील', बैजनाथ सिंह 'विनोद', सुदर्शनचक्र, श्यामसुन्दर तिवारी 'राजा', और शंकर शैलेन्द्र आदि अन्य कवियों ने भी सही आदमी की वर्ग चेतना को ध्वनित किया है।

'नई कविता' जन्म लेने के लिए प्रयोगवाद के गर्भ में पंजा धो रही थी। प्रयोगवाद की रूढ़िधर्मिता के कारण १९५४ में 'नई कविता' पत्रिका के प्रकाशन से नई कविता की धारा प्रकाश में पायी। तीसरा सप्तक (१९५९) नई कविता के अन्तराल में प्रकाशित हुआ। नई कविता ने नये वस्तु एवं शिल्प की तलाश में नव रोमानी दृष्टि का परिचय दिया किन्तु मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय, नेमिचन्द जैन, विजयदेव नारायण साही, दुष्यन्त कुमार, विनोद चन्द पाण्डेय, मुनिरूप चन्द, कैलाश वाजपेयी, दूध नाथ सिंह, रामदेव आचार्य, केदारनाथ सिंह, मलयज, रणजीत आदि कवियों ने जनतांत्रिक परिवेश में सही आदमी के प्रति किये गये अन्याय एवं अत्याचार का खुलकर विरोध किया है। आजादी के बाद जन-जीवन में उल्लास प्रियता अवश्य आयी किन्तु अकाल, महँगाई, बेरोजगार आदि अन्य विषम समस्याओं ने उसे झकझोर कर रख दिया। दारुण विसंगतियों के प्रति सजग एवं सचेत होने के लिए कवियों ने सही आदमी को जागृत किया। मुक्तिबोध की कविताएं परिवेश की खौफनाक संस्थितियों को जज्ब करने के कारण फैंटेसी का रूप लेकर प्रायः लम्बी होती गयी हैं। उनकी लम्बी और सर्वोत्तम कविता 'अँधेरे में' का चित्र—प्रशोषण सभ्यता की दुष्टता के भव्य देशों में / तोड़ने होंगे / मठ और गढ़ सब / (चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ २०९) / नये कवियों की दृष्टि राजनीतिक विद्रूपताओं की ओर ज्यादा केन्द्रित हुई है। मुनिरूप चंद की 'एक सवाल' कविता का अंश लोकतांत्रिक व्यवस्था से जीने वाले सही आदमी की स्थिति को इस प्रकार अंकित करता है—जिस देश

ने लोकतंत्रीय व्यवस्था दी उसने अपने नागरिकों के समान अधिकार भी दिये हैं? हर पन्द्रह अगस्त को घूमधाम से मनाने वाली जनता ने / क्या कभी आज़ादी के सांस भी जिए हैं? / क्या हम झूठी मान्यताओं के किले को / आज तक भी तोड़ सके हैं, समाजवादी मूल्यों का ढ़ोल पीटते हुए भी / साम्राज्यवादी मूल्यों को छोड़ सके हैं? / वहीं सामन्त शाही वहीं बुर्जुआपन, / (अर्द्ध विराम् पृष्ठ २०-२१)। खास आदमी की शोषक-वृत्ति ने नारी के अस्तित्व और अधिकार के साथ खेलवाड़ ही किया है किन्तु काव्य और युग के बदलते चेहरे ने उसके साथ क्रमशः ईमानदारी का विकसित परिचय भी दिया है।

सन् साठ तक आते-आते कविता के नाम पर यौन और फैशन केन्द्रित लेखन का प्रकोप फैला तथा अनेक प्रकार के प्रचारवादी कविता-आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ जिससे कविता की तीव्र छिछालेदर हुई। काव्य के माने जाने वाले तत्व विघटित हुए जैसे बिम्ब और प्रतीक-मोह तथा अलंकरण। साठोत्तरी कविता समस्याओं के समक्ष आत्मसमर्पण की कविता है। इस पीढ़ी के जिन कवियों ने आदमी के पूर्ण सच को वर्णित किया है उनकी दृष्टि काम और यौन-भावना से पृथक नहीं है। जगदीश चतुर्वेदी, विनय, चन्द्रकान्त देवताले, मुद्राराक्षस, कुमार विकल, सौमित्र मोहन, राजकमल चौधरी और मणिमधुकर आदि कवियों को लिया जा सकता है। साठोत्तरी पीढ़ी के आदमी में नपुंसकता और असंगठन का भाव है। सौमित्र मोहन की लम्बी कविता 'लुकमान अली' के नायक लुकमान अली ने देश में व्याप्त तालाबंदी, छपे भाषण, अणुवम, लाठियाँ, व्यावसायिक अखबार भूख, हड़ताल आदि स्थितियों का चित्रण करने के बाद जिस 'और' शब्द का ९६ दफा प्रयोग किया है वह परिवेश की वजबजाती अवस्था का धधकता भाषण है। राजकमल चौधरी ने 'मुक्ति प्रसंग' जैसी कविता में हम लोगों को अब शामिल नहीं रहना है / इस धरती के आदमी को हमेशा के लिए खत्म कर देने की / साजिश में कहकर लोकतन्त्री व्यवस्था के आम आदमी को सचेत किया है। मणिमधुकर ने 'घास का घराना' शीर्षक कविता में पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों के पाशविक व्यभिचार से गलत बच्चे जननेवाली मजदूरनी के चित्रण से शोषण को नग्न किया है। धूमिल और लीलाधर जगूड़ी की क्रमशः 'पटकथा' और 'इस व्यवस्था में' जैसी लम्बी कविताएँ '६७–६८ में विशेष महत्वपूर्ण रही किन्तु '७० के बाद उनकी कविता में और विकासात्मकता आती गयी है। अकवितावादियों ने अपनी कविता का वैचारिक धरातल प्रदान करने का फतवा दिया था किन्तु यह काम धूमिल ने अपनी सपाट, निरलंकृत, सूत्रात्मक भाषा द्वारा पूर्ण किया। कविता विधा में पुनः जान आयी। जो गौरवपूर्ण स्थान छायावाद में निराला और नई कविता में मुक्तिबोध का है वही स्थान सत्तरोत्तरी पीढ़ी के कवियों में धूमिल को भी मिला है। अब की कविताओं में राजा एवं भगवान को नायक बनने का अवसर नहीं मिला तथा सही आदमी को मूल्यबोध के स्तर पर नायक अवश्य बनाया गया। धूमिल की 'मोचीराम' और जगूड़ी की 'बलदेव खटिक' जैसी महत्वपूर्ण कविताओं को इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है। यथार्थ जीवन के कटु एहसास को ज़ज्ब करनेवाली तथा ग्रामीणता के खुरदरे फटकार एवं तेजतर्रार भाषा में ऐंठी जानेवाली धूमिल की कविता

(शेष पृष्ठ १०९ पर देखें)

(पृष्ठ ८० का शेष)

प्रतीत होते हैं फिर भी इनके पुराने साथी और मित्र तथा आज भी इनको निकट से जानने वाले आज भी इनकी राष्ट्रीय चेतना तथा समाज सेवा की भावना से पूरी तरह परिचित हैं। यद्यपि मिश्र जी साहित्य के प्रति समर्पितजीवन साधक हैं किन्तु इनके साहित्य में भारतीयता का घोर आग्रह इनके संस्कृति-प्रेम तथा भारतीयता के प्रति रुझान का ही परिचायक है।

स्व० पं० पद्मनारायण आचार्य जी मालवीय जी तथा गांधी जी से प्रभावित अध्यापकों में थे। कहा जाता है कि गांधी जी से अनेक बार प्रत्यक्ष वार्तालाप भी किया था और राष्ट्रीय कार्यक्रमों के सम्बन्ध में लिखित तथा मौखिक विचार विनिमय भी उनसे हुआ था। वे आजीवन खद्दर धारण करते रहे तथा बात की बात में राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति का उपदेश अपने शिष्यों को भी देते रहते थे। जीवन में सादगी, निश्छलता तथा किसी को भी कष्ट न पहुँचाने का महात्मा गांधी का आदर्श वे स्वयं अपने जीवन में उतारना चाहते थे और ऐसा ही करने का संकल्प लेने के लिए अपने शिष्यों को प्रेरित करते थे। वे सच्चे अर्थों में सुसंस्कृत राष्ट्रवादी अध्यापक थे।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने यद्यपि इस विभाग की सेवा थोड़े दिन तक की फिर भी उनकी राष्ट्रीय चेतना तथा आधुनिक दृष्टिकोण का उस युग के छात्रों की स्मृति-पटल पर अमिट प्रभाव पड़ा था; जिसकी चर्चा उनके शिष्य तथा सहयोगी अब भी किया करते हैं। वाजपेयी जी के पिता जी बहुचर्चित स्वतंत्रता, संग्रामी रहे हैं; जिन्होंने स्वर्गीय राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के साथ कारावास की सजा काटी थी। वाजपेयी जी को संस्कारगत राष्ट्रीय चेतना प्राप्त थी। उनका व्यक्तिगत जीवन तथा साहित्यिक व्यक्तित्व राष्ट्रीय संदर्भों में संगठित हुआ था जिसका प्रमाण हिन्दी में लिखी गयी उनकी बहुचर्चित समीक्षाएँ है। उनकी राष्ट्रीयचेतना खुलकर तब सामने आई जब वे 'भारत' पत्र के सम्पादक होकर प्रयाग पहुँच गये। सच कहें तो रचनाओं के आधार पर वाजपेयी जी सबसे जागरूक राष्ट्रचेता दिखाई पड़ते है।

स्व० डॉ० श्रीकृष्ण लाल एकनिष्ठ विद्याभ्यासी, सदाचार-परायण प्राध्यापक के रूप में छात्रों के अत्यन्त प्रिय थे। यद्यपि उन्होंने राष्ट्रीय गतिविधियों में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया, फिर भी रहन-सहन, वेश-भूषा, तथा आचार-व्यवहार में वे राष्ट्रीयता तथा भारतीय संस्कृति के आजीवन उपासक बने रहे। राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरूप सादगी, सदाचार, मितव्ययिता तथा कर्तव्यनिष्ठा उनके जीवन की टेक बनी रही।

आचार्य करुणापति त्रिपाठी विविध शास्त्रों के पंडित तथा विद्याभ्यासी प्राध्यापक रहे हैं, किन्तु उनका पूरा परिवेश राष्ट्रीय जीवन से प्रभावित रहा है। उनका परिवार काशी में राष्ट्रीय गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र था, जिसका प्रभाव त्रिपाठी जी पर पड़ना स्वाभाविक था। अतः वे विचार, व्यवहार तथा लेखन सभी स्तरों पर राष्ट्रीय आदर्शों से प्रभावित हुये।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का हिन्दी-विभाग अपने इतिहास में राष्ट्रीय जीवन की बहुमूल्य विरासत को सँजोये पड़ा है। बाबू श्यामसुन्दर दास की रचनात्मक सामाजिक भूमिका, शुक्ल जी की रचनात्मक साहित्यिक मान्यताएँ तथा लाला जी के रचनात्मक, प्रचारात्मक प्रयास राष्ट्रीय चेतना के विकास में बहुत दूर तक सहायक सिद्ध हुए हैं। हिन्दी विभाग तथा हिन्दू विश्वविद्यालय इसके लिए गर्व कर सकता है। किन्तु उसे इन महापुरुषों के राष्ट्रीय चरित्र से प्रेरणा लेकर आज भी राष्ट्रीय प्रगति में योगदान करने की आवश्यकता का अनुभव करना चाहिये।

मुक्त छन्द के साठ वर्ष और 'निराला'

बाबूराम त्रिपाठी 'विवेक'
शोध छात्र, हिन्दी

प्रत्येक युग की अपनी अलग-अलग मान्यतायें होती हैं जिनके आधार पर उस युग को पहचाना जाता है। ये मान्यतायें चाहे जीवन-सम्बन्धी हों अथवा काव्य-सम्बन्धी। एक ही युग की मान्यतायें हर युग के मूल्यांकन की कसौटी कदापि नहीं हो सकतीं क्योंकि प्रत्येक आनेवाला युग अपने पीछे के युग की अपेक्षाकृत कुछ न कुछ नवीनता अवश्य लेकर आता है। यही नवीनता हमारी प्रगति की निशानी है। प्राय: ऐसा देखने को मिलता है कि हर नये युग को प्रतिष्ठित होने के लिए पर्याप्त कठिनाइयों एवं संघर्षों का सामना करना पड़ता है क्योंकि मानव की परम्परा प्रेमी प्रवृत्ति जल्दी उन मान्यताओं को आदर नहीं देती जो उससे ताल-मेल नहीं खातीं। परिणाम यह होता है कि अपने युग को स्थापित करने के निमित्त युग-प्रवर्तकों को पर्याप्त कुर्बानी देनी पड़ती है।

हिन्दी काव्य-क्षेत्र में मुक्त-छन्द का युग भी ऐसे ही युग का प्रतीक है। इस क्रान्तिकारी युग को प्रतिष्ठित करने के लिए महाकवि निराला को कितनी कुर्बानी देनी पड़ी, कितने प्रहारों को सहना पड़ा इसका आकलन करना सम्भवत: कठिन है। जिस प्रकार हमारी भारत माँ अंग्रेजों के पंजे में जकड़ी हुई मुक्ति के लिए तड़प रही थी, उसी प्रकार कविता-कामिनी भी छन्दों की जकड़ से मुक्त होकर स्वतन्त्र और उन्मुक्त वातावरण में विचरण करने के लिए कराह रही थी। उसकी इस कराह को सुना सभी ने, पर उसे मुक्ति निराला द्वारा ही मिली। निराला की 'जूही की कली' नामक कविता मुक्त छन्द का प्रतीक बनकर सन् १९१६ में प्रकाशित हुई। इसके प्रकाशित होते ही काव्य-दिग्गजों में एक खलबली-सी मच गई। उसकी आलोचनायें-प्रत्यालोचनायें निराला के हृदय को विदीर्ण करने लगीं। लेकिन निराला का हृदय फूलों की पंखुडियों से नहीं बना था, जो विदीर्ण हो जाता वे तो सीना खोलकर महारथियों के प्रहार सहते रहे और उनको दृढ़ प्रत्युत्तर देते रहे। इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि महाकवि निराला को विजयश्री मिल ही गई और पराभूत होकर तत्कालीन साहित्यकारों को उनकी महत्ता स्वीकार करनी पड़ी। जिसके फलस्वरूप कविता-कामिनी छन्दों की कारा से मुक्त होकर उन्मुक्त वातावरण में विचरण करने लगी। आज मुक्त छन्द की साठवीं वर्षगाँठ के शुभ अवसर पर हम उसकी गरिमा और महत्ता का गुण-गान करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते हैं।

एक युग था जिसकी सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वह किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रकार के बन्धन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। चाहे वह गुलामी का

बन्धनें रहा हो, समाज की सड़ी-गली रूढ़ियों रही हों अथवा साहित्य के क्षेत्र का रहा हो, भाव एवं शिल्पगत संकीर्णतायें रही हों। हर प्रकार के बन्धनों को तोड़ देने का एक तीव्र आक्रोश उसकी नस-नस में समाया हुआ था, वह युग था छायावाद का। इस युग में जहाँ एक ओर भारत माता अंग्रेजी सत्ता की बेड़ियों में बँधी स्वतन्त्र होने के लिए अकुला रही थी, वहीं दूसरी ओर कविता कामिनी भी छन्दों के बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से थिरकने के लिए लालायित थी।

सच पूछा जाय तो बन्धन चाहे जिस क्षेत्र का हो, कष्टकर ही होता है। उसकी जकड़ से मनुष्य ही क्या, पशु-पक्षी भी घबड़ाते हैं और उससे मुक्त होने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। बन्धन की अतिवादी प्रवृत्ति हमारी प्रगति को अवरुद्ध कर देती है। बन्धन की जकड़ में ही जड़ता वास करती है। तालाब का पानी चाहे कितना ही स्वच्छ क्यों न हो, पर वह पेय नहीं होता। कारण उसका यही है कि उसके जल में प्रवाह नहीं होता हैं, गति नहीं होती; जिसके कारण जल में पावनता और ताजगी आती हैं।

इतने दिनों से कविता को छन्दों के बन्धन की कारा की यातना क्यों सहनी पड़ी; यह प्रश्न विचारणीय हैं। जब बन्धन हर जगह कष्टदायी एवं प्रगति का विरोधी है तो हमारे साहित्यकारों ने कविता की सीमा को क्यों इतना संकीर्ण कर दिया था; जिसमें उसे घुट-घुट कर मरना पड़ा। इस प्रश्न का उत्तर शायद यही हो सकता है कि व्यक्ति की भावनायें एवं विचारधारायें उसकी परिस्थितियों की उपज होती हैं। युगों-युगों से हम पराधीन होते आये हैं और उसी पराधीनता की मुहर हमारे हर कार्यों के ऊपर लगी हुई दिखाई देती हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो युगों से कविता को ये छान्दसिक यातनायें क्यों सहनी पड़ती; उसे तो कब की ही मुक्ति मिल जानी चाहिए थी।

मुक्त छन्द का अभिप्राय: कवि की ऐसी कविता से है जिसमें छन्दों की एकांगिता और विचारों की संकीर्णता न हो। उसमें छन्दों के नियमों का निर्वाह हो या न हो, पर लयता संगीतात्मकता एवं सौन्दर्य-बोध की उपेक्षा उसके लिए असहनीय है। डा० बच्चन सिंह ने भी मुक्त छन्द के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लयता और संगीतात्मकता को उसके लिए अनिवार्य बताया है। वे लिखते हैं कि "जिस प्रकार छन्दोबद्ध कविताओं में गति-लय पर विशेष ध्यान दिया जाता है उसी प्रकार मुक्त छन्द भी इन बन्धनों से बँधा है, छन्दोबद्ध रचनायें लय और संगीत से रहित भी हो सकती है, पर मुक्त छन्द नहीं हो सकता।"[१] महाकवि निराला मुक्त काव्य के लिए किसी भी प्रकार के बन्धन को मान्यता नहीं देते। उनका कहना है कि यदि कविता में किसी भी प्रकार का बन्धन है तो यह निश्चित है कि वह मुक्त छन्द को सीमा से बाहर हो जायेगी। देखिये इस तथ्य को उन्हीं के शब्दों में—"जहाँ मुक्ति रहती है, वहाँ बन्धन नहीं रहती, न मनुष्यों में न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृङ्खलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया तो कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई होती हैं, अतएव उसे मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला

---

१. क्रान्तिकारी कवि निराला—डॉ० बच्चन सिंह, पृष्ठ २७

सकते, न उस काव्य को मुक्त-काव्य कह सकते।"[1] इतने के बावजूद भी निराला मुक्त छन्द को इतनी अधिक स्वच्छन्दता नहीं प्रदान करते कि वह काव्य की सीमा को भी अतिक्रमित कर जाय। निराला के अनुसार मुक्त छन्द का जो सबसे महत्वपूर्ण अंग है—वह है उसमें प्रवाह का होना। यही प्रवाह मुक्त छन्द की कसौटी है जिस पर उसे कसा जा सकता है। 'परिमल' की भूमिका में इस बात की वकालत करते हुए उन्होंने लिखा है—"मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही हैं। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।"[2]

स्वतन्त्रता प्रेमी मानव अपने भावों एवं विचारों को भी स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त करना चाहता है। उसकी इस अभिव्यक्ति को सीमाओं से घेर देना सरासर अन्याय होगा। इस दृष्टिकोण से छन्दों की बन्दिश को यदि कविता के लिए अभिशाप कहा जाय तो कोई अनुचित बात न होगी। यदि हम लीक के फकीर ही बने रहेंगे, तो यह निश्चित है कि हमारी विचार धारायें एवं मान्यतायें समाज को एक नयी दिशा कदापि नहीं दे सकतीं और यही नहीं बल्कि; हम भी अपनी नवीन धारणाओं को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति न दे सकने के कारण अन्दर ही अन्दर घुटते रहेंगे। कविता की छन्दों की जकड़ से मुक्त कराने का समर्थन करते हुए निराला जी ने लिखा है कि "मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती हैं। मनुष्यों की मुक्ति कर्म के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है।"[3]

बात सच भी है। भावों को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए कविता को छन्दों के बन्धन से मुक्ति मिलना नितान्त अपेक्षित है। तुकबन्दी और छन्दों के नियम के चक्कर में पड़कर कभी-कभी कवि के समक्ष इतनी जटिल समस्यायें आ खड़ी होती हैं कि वह अपनी बात को पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं कर पाता। अतः अन्त में तुक मिलना ही चाहिए, ऐसा न हो कि वर्णों एवं मात्राओं की सीमा न अतिक्रमित हो जाय, इन्ही चक्करों में पड़कर उसकी कविता, कविता न होकर केवल कविता के ढाँचे के रूप में हमारे सम्मुख आती है। परिणाम यह होता है कि उसमें स्वभाविक काव्य प्रवाह एवं गति भी नहीं आ पाती। इस दृष्टि से मुक्त-छन्द की उपादेयता हम डॉ० बच्चन सिंह के इन शब्दों में देख सकते हैं—"प्रवाह तथा गति की दृष्टि से साधारण छन्दों की अपेक्षा मुक्त छन्द अधिक स्वाभाविक सिद्ध होता है। छन्दों की बन्दिश की रक्षा के लिए प्रवाह और गति की अवहेलना करनी पड़ती है। कभी-कभी व्याकरण के प्रतिकूल आचरण करना पड़ता है। तुक मिलाने के लिए शब्दों के रूप भी बिगाड़ने पड़ते हैं। मुक्त छन्द में इस तरह का कोई भी बन्धन नहीं है।"[4]

---

१. 'परिमल' की भूमिका—ग्यारहवाँ संस्करण १९६९, पृष्ठ १८-१९

२. 'परिमल' की भूमिका—ग्यारहवाँ संस्करण १९६९, पृष्ठ १९

३. 'परिमल' की भूमिका—ग्यारहवाँ संस्करण १९६९, पृष्ठ १२।

४. क्रान्तिकारी कवि निराला—डा० बच्चन सिंह, पृष्ठ २१।

छन्द-विधान ही काव्य का सब कुछ नहीं है। उसके अभाव में भी कविता जीवित रह सकती है। वैसे तो बहुत से आचार्यों ने कविता की पूर्णता उसकी छन्द-बद्धता में ही देखने का प्रयास किया है और दावे के साथ यह उद्घोष किया है कि बिना छन्द के नियमों का निर्वाह किये कोई कविता श्रेष्ठ कविता नहीं हो सकती। लेकिन इतने के बावजूद भी विश्व की बहुत सी रचनायें हैं जो बिना छन्दों का बाना पहने ही सर्वोत्कृष्ट काव्य की श्रेणी में खड़ी दिखाई देती हैं। उन रचनाओं में ख्याति प्राप्त अमेरिकन लेखक वाल्ट ह्विलमैन की 'हरी पत्तियाँ' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कहने का तात्पर्य यही है कि यह आवश्यक नहीं है कि सच्ची और श्रेष्ठ कविता छन्दों की सीमा में ही उत्पन्न हो सकती है। कविता की यह कसौटी आज के युग में निराधार सिद्ध हो चुकी है। कवि में यदि काव्य-क्षमता है तो उसकी रचनाओं में काव्य के गुणों का समावेश बिना छन्दों के छन्द-बद्धता के निर्वाह से भी हो सकता है। हम अपने इस तथ्य की पुष्टि डा० बच्चन सिंह के इन शब्दों से भी देना चाहते हैं—"कवि यदि प्रकृत्या कवि है तो उसके गीतों में, कविताओं में, एक प्रकार के प्रवाह या लय का समावेश अनायास ही हो जायेगा। यदि हम कवि नहीं है तो लाख छन्दों का सहारा लेने पर भी वह कविता नहीं लिख सकता, पद्य भले ही लिख लें।"[१]

निराला के मुक्त छन्द के जिस आन्दोलन ने तत्कालीन रूढ़ियों एवं परम्पराओं से ग्रस्त साहित्यिक दिग्गजों में खलबली मचा दी थी उसके पीछे भी एक लम्बी ऐतिहासिक परम्परा देखी जा सकती है। यदि हम वैदिक कालीन साहित्य की ओर दृष्टिपात करें, तो हमें तत्कालीन मुक्त-स्वभाव के कवियों की रचनायें छन्दों को बन्दिश का तिरस्कार करती हुई दिखाई देंगी। कहने का आशय यह है कि निराला के जिस मुक्त छन्द को आलोचकों ने केंचुआ छन्द और रबड़ छन्द कहकर तिरस्कृत किया है, उस प्रकार के छन्दों को वैदिक काल के मुक्त स्वभाव के कवियों ने भी अपनाया है। उस काल में छन्द-शास्त्र के नियम इतने कठोर नहीं थे। हिन्दी में छन्दों में यह नियमबद्धता लौकिक संस्कृत से गृहीत हुई है और तब से अनेकानेक प्रकार के नियमबद्ध छन्दों का आविष्कार होता चला आया और उसी के व्यामोह में हमारे कवियों ने अपने भावों को भी नाप-तौलकर अभिव्यक्ति देने शुरू किये। इस बात को डॉ० भगीरथ मिश्र ने बड़ी अच्छी तरह से व्यक्त किया है जो द्रष्टव्य है—"प्राचीन छन्द-शास्त्रियों ने छन्द के नियम पालन की दृढ़ता में भाव की उपेक्षा हो न की वरन् भाव का बलि-दान भी हो गया।"[२]

आलोचकों ने निराला के मुक्त छन्द को घोर व्यक्तिवादी शैली कहकर उसे समष्टि विरोधी शैली की संज्ञा से उच्चरित किया है। अपने इस तर्क की पुष्टि के लिये वे प्राचीन काव्य-परम्परा को सामने रखते हैं जिसमें छन्द-बद्धता सर्वत्र दिखाई देती है। साहित्यिक ही नहीं धर्म, राजनीति एवं इतिहास सम्बन्धी विचार भी छन्दोबद्ध ही मिलते हैं। लेकिन उनके

---

१. क्रान्तिकारी कवि निराला—डॉ० बच्चन सिंह, पृ० २१।
२. 'निराला की कवि-प्रतिभा' निबन्ध—डॉ० भगीरथ मिश्र।

इस तर्क से हम सहमत नहीं हैं क्योंकि काव्य की ऐसी कसौटी हो जिसका सम्बन्ध केवल कविता के कलापक्ष से ही हो; सदा मान्य नहीं हो सकती। हाँ, रही बात संगीतात्मकता की तो कोई आवश्यक नहीं कि छन्दोवद्ध ही रचनाओं में संगीतात्मकता ला सकती है। निराला की बहुत सी ऐसी रचनायें हैं जो छन्द-शास्त्र के नियमों से परे होती हुई भो गेय हैं। रीतिकाल की बहुत सी रचनायें ऐसी हैं जो छन्द-शास्त्र के नियमों का पूर्ण निर्वाह करते हुए भी सामाजिकता से कोसों दूर हैं। कवियों को व्यक्तिवादी भावनाओं को अभिव्यक्त करने से फुर्सत ही नहीं मिली है। वास्तविकता तो यह हैं कि सामाजिकता और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति कवि के व्यापक और संकीर्ण मनोवृत्ति पर निर्भर होती है न कि छन्द-शास्त्र पर कवि का हृदय जितना ही व्यापक और विशाल होगा उसकी कविता उतनी ही जन-जीवन के सन्निकट होगी।

हिन्दी काव्य को मुक्त छन्द निराला की अपनी देन है। युगों-युगों से छन्दों की कारा में कराहती कविता-कामिनी को मुक्त करके हिन्दी काव्य-जगत में निराला ने वही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है, जो भारत के इतिहास में भारत माँ को अंग्रेजों के कठोर पंजों से निकाल कर हमारे देश के शहीदों ने प्राप्त किया है। निराला जी ने एक ऐसा उन्मुक्त मार्ग प्रशस्त कर दिया जिस पर आज के कवि स्वतन्त्र रूप से आगे बढ़ रहे हैं। उन्होंने कितनी कवि-प्रतिभाओं को छन्दों के कठोर बन्धन और तुकबन्दी की जकड़ में घुटने से बचा लिया। डॉ० भगीरथ मिश्र द्वारा लिखी गयी ये पंक्तियाँ महाकवि के इस महान कार्य का उचित मूल्यांकन करती हैं "निराला ने छन्दों के अतिशय बन्धन में भाव-विकास को घुटते हुए देखकर तथा तुकबन्दी के पिंजड़े में बँधे हुए कल्पना के कीर को उड़ने की शक्ति खोते हुए देखकर छन्दों के बहु-मुक्ति का मार्ग उद्घाटित किया। अतः उन्होंने अनेक प्रतिभाशील व्यक्तियों के लिए नयी दिशा प्रदान की।"[१] जहाँ निराला के इस ठोस कदम ने भावों को अभिव्यक्त करने की पूरी छूट दे दी, वही इससे कुछ हानियाँ भी हुई हैं। इस मुक्त छन्द की प्रवृत्ति ने नये-नये कवियों को कविता से छेड़-छाड़ करने का अच्छा खासा अवसर दे दिया है। उनके मुखार-विन्दु से जो कुछ भी निकलता है, वही कविता का रूप धारण कर लेता है। ये नौसिखिये कवि निराला के मुक्त-छन्द के महत्व को कम कर रहे हैं। मुक्त-छन्द करना उतना आसान नहीं है जितना कि वे समझ रहे हैं। उनसे निवेदन है वे सर्वप्रथम मुक्त छन्द का अध्ययन करें और उसके लिए आवश्यक जो बातें निराला जी द्वारा बताई गयी हैं उनको ध्यान में रखकर कविता करें।

—:०:—

१. 'निराला' ओंकार शरद् पृष्ट ३३।

निकाय॥

(पृष्ठ १०२ का शेष)
सही आदमी को सच्ची निगाह से देखती है। घूमिल द्वारा कविता को भाषा में आदमी होने की तमीज तथा शब्दों की अदालत में मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का हलफ-नामा कहा जाना सही आदमी को इन्सानियत के प्लेटफार्म पर खड़ा करना है। उनकी 'मोची राम' कविता का नायक मोचीराम सही आदमी का प्रतीक है। यथा—न कोई छोटा है / न कोई बड़ा है / मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है। यहाँ मानवता को सही ढंग से चित्रित किया गया है। घूमिल ने शोषण-प्रक्रिया को इस प्रकार वर्णित किया है—एक आदमी रोटी खाता है / एक दूसरा आदमी रोटी वेलता है / लेकिन एक तीसरा आदमी भी है / जो न खाता है न वेलता है / वह महज रोटी से खेलता है (कल सुनना मुझे (१९७७) : रोटी और संसद, पृष्ठ ३३)। तीसरे आदमी के प्रश्न पर घूमिल को अपने देश की संसद मौन दिखलाई पड़ती है। यह तीसरा आदमी ही अपने देश का जनतान्त्रिक शासन है। जगूड़ी ने 'बलदेव खटिक' जैसी कविता के माध्यम से राशन लूटकर पेट भरने-वाले रंगतू और नौकरी छोड़नेवाले पुलिस बलदेव खटिक द्वारा अव्यवस्था एवं नौकरशाही को तमाचा मारा है।

इन कवियों के अलावा रमेश रंजक (गीत कवि) बलदेव वंशी, नरेन्द्र मोहन, रामकुमार, कुम्भज, श्री हर्ष, ऋतुराज, सव्यसाची, माहेश्वर, हरदयाल, वेणुगोपाल, विश्वंभरनाथ उपाध्याय, कुमारेन्द्र पारस नाथ सिंह, शलभ श्रीराम सिंह, अशोक चक्रधर, गोविन्द उपाध्याय, मंगलेश डबराल आदि की कविताओं में भी सही आदमी के जीवन-मूल्यों को उभारा गया है। वस्तुतः कविता अथवा काव्य का सही आदमी इन्सानियत का वाजिब गुणनफल है।

●

एक अनुभव

राकेश कुमार दीक्षित 'भावुक'
स्नातक अन्तिम वर्ष

प्रकृति का सुरम्य रम्य
चारों ओर।
एकाएक, सोचता हूँ
इस भूमि से
दूर, अति दूर
जाना होगा।
क्या फिर कभी आ पाऊँगा
भूमि की सिंचाई करते
किसान भाई,
खेत को लहलहाते देख
झूम उठे है।
विचार तरंगित होते हैं
हृदय में
मैं क्या कर पाया ?
कदम बढ़ते है।
शायद खेतों की ओर
जहां भोली-भाली श्याम वर्ण
शीत के मारे सिकुड़ी
मिट्टी खोद रही हैं।

●

श्रीमद्भगवद्गीता का दार्शनिकत्व

रामसूरत
शोध-छात्र, संस्कृत एवं पालि

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

मनुष्य एक चिंतनशील प्राणी है। वह सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के विभिन्न पहलू पर चिन्तन करता रहा है। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक पक्षों पर चिन्तन हुआ है। किन्तु जीवन के इन सब पक्षों से ऊपर एक पक्ष है—आध्यात्मिक पक्ष। श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय ही नहीं अपितु दर्शन जगत् का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें इस आध्यात्मिक जिज्ञासा का सार्वकालिक और सार्वदेशिक समाधान प्राप्त होता है। सम्पूर्ण गीता का उपदेश शोक एवं मोह के महासागर में डूबते हुए अर्जुन को दिया गया है। परन्तु वास्तविक दृष्टि से यदि समीक्षा किया जाय तो इस उपदेश का तात्पर्य प्राचीन काल से अज्ञान समुद्र में पड़े हुए जीव-मात्र को ज्ञान प्राप्त कराना है।

योग का माहात्म्य सर्वविदित है। गीता योग का केन्द्रविन्दु होने के कारण योग-शास्त्र के नाम से भी जानी जाती है। निवृत्ति मार्ग के प्रवर्तक श्री शंकराचार्य ने गीता में ज्ञान-योग, भगवद्भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ आश्रय स्वीकार करने वाले श्री रामानुजाचार्य ने गीता में भक्ति-योग तथा लोकमान्य तिलक प्रभृति विद्वानों ने गीता में कर्म-योग की प्रधानता स्वीकार की है। इन तीनों योगों का समन्वय ही गीता की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती हैं।

वस्तुतः कर्म दो प्रकार का माना गया है, पहला सकाम तथा दूसरा निष्काम। जब हम स्वेच्छा से प्रेरित होकर शारीरिक या मानसिक कर्म करते हैं, उसे सकाम कर्म कहा जाता हैं। उदाहरण के लिए स्त्री, पुत्र, धन आदि सभी के लिए किए गए कर्म सकाम है। गीता में कर्म-योग का तात्पर्य निष्काम कर्म से है। फल की की तृष्णा से रहित कर्म ही निष्काम कर्म कहा जाता है। वास्तविक दृष्टि से यदि इनका परीक्षण किया जाय तो जो मनुष्य तृष्णा के अभाव में कर्म करता है, वह कर्म-फल का कारण नहीं बनता है। गीता में निष्काम कर्म का उपदेश देते हुए भगवान श्री कृष्ण ने कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्व कर्मणि ॥ २–४७ ॥

सम्पूर्ण गीता के माध्यम से अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान् कृष्ण संसार को यह उपदेश दे रहे हैं कि मानव कर्म करने में स्वतंत्र है, फल की इच्छा के बारे में वह स्वतंत्र नहीं है। मानव के कौन-कौन से कर्म हैं तथा उसका क्या फल है, साथ ही उसे वह फल किस योनि में प्राप्त होगा, इन सबका ज्ञान मनुष्य को नहीं अपितु फल देने का सर्वाधिकार विधाता के अधीन हैं। निष्काम कर्म से मतलब कर्मों का त्याग नहीं, अपितु कर्म-फल का त्याग किया जाता है। हमें यह नहीं भूल कर बैठना चाहिए कि निष्काम कर्म अकर्मण्यता की शिक्षा देता है। अतः यह कहा जा सकता हैं कि निष्काम कर्म ईश्वराधीन कर्म है।

दार्शनिकों की दृष्टि में संसार सारहीन तथा आत्मा को परमात्मा स्वरूप समझना ही ज्ञान-योग का स्वरूप हैं। ज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म एक है, अद्वय हैं तथा शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। संसार का नानात्व स्थापन मिथ्या हैं, एकत्व ही सत् है, ब्रह्म ही आत्मा हैं, इसी एकत्व दृष्टि का प्रतिपादन गीता के ज्ञान-योग में किया गया है। कृष्ण ने कहा हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्यति॥ ६-३०॥

[जो पुरुष सम्पूर्णभूतों में सबके आत्म-स्वरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्णभूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं।]

तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञानी का विषम भाव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टि में एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा की ही सत्ता है, अतः उस तत्त्व ज्ञानी का भाव दृष्टि समप्राय हो जाती है। उदाहरण के लिए ज्ञानी मनुष्यों में उत्तम से उत्तम ब्राह्मण, नीच से नीच चाण्डाल, पशुओं में उत्तम गौ तथा मध्यम हाथी में कोई भेद प्रतीत नहीं होती है।

भक्ति जैसा शब्द से विदित है सेवा अर्पित करना है। भगवान् का भजन, अर्चन तथा उपासना, ध्यान करना ही भक्ति है। भक्त भगवान् में सगुणत्व की स्थापना करता हैं, निर्गुणत्व का नहीं। ज्ञानी ईश्वर को ब्रह्म तथा भक्त ईश्वर को भगवान् समझता हैं। ज्ञानी ईश्वर को अद्वैत मानता हैं, जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' आदि। भक्त ईश्वर की उपासना द्वैत भाव से करता है, यथा-भगवान् असीम हैं तो भक्त असीम हैं। भक्ति योग का मुख्य तात्पर्य है 'अनन्यभाव'। अनन्य भक्ति को ही गीता में 'अनन्यचित्त' भी कहा गया है। अनन्यचित्त होने के साथ ही साथ भगवान् में शरणागति भावना भी भक्ति योग के लिए अत्यावश्यक प्रतीत होता है। शरणागति के महत्व को बतलाते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा हैं—

सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वं सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥१८-६६॥

अर्थात् सभी धर्मों को छोड़कर तू मेरे ही शरण में आओ, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर !

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भगवान् को ही परमप्राप्य, परम-गति, परमाश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर सब प्रकार से उन पर निर्भर हो जाना ये सभी ईश्वर की शरणागति के अन्तर्गत है। वास्तव में भगवान् कृष्ण ने गीता में कर्म-योग, ज्ञान-योग तथा भक्ति-योग का जो अपूर्व समन्वय किया है, वह किसी देश के साहित्य को वहाँ के ज्ञानी को, कर्मी को तथा भक्त को महत्वपूर्ण शिक्षा दी है। गीता में इन तीनों का अद्भुत सामञ्जस्य पाया जाता है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजीमां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ।।९-३४।।

इन सबका समन्वय ही श्रीमद्भगवद्गीता का प्रतिपाद्य है।

●

काफिला

पन्ना प्रसाद 'प्रज्ञ'
एम० ए० प्रथम (हिन्दी)

दर्द के इस रेगिस्ताँ में
यादों का काफिला भटक गया
रह गया अकेला
मैं निस्सहाय—
चारों तरफ देखता हूँ कहीं कोई नहीं है,
मेरे मन में बरसाती पंछियों की उड़ती हुई पाँखें हैं
जाड़े की रात में ओस से भींगी हुई घासें हैं,
आत्माभिव्यक्ति के लिए बार-बार हाथ-पाँव मारता हूँ
लेकिन मेरा काफिला दूर निकल गया है।

●

उर्दू शायरी में बरसात

सैयद मंज़र हुसैन हुसैनी,
विधि स्नातक अन्तिम वर्ष

वर्षा ऋतु की रिम-झिम केवल प्यासी धरती में ही नहीं कलाकारों और कवियों के मस्तिष्क में भी नये-नये सोते जगा देती है। इधर पुरवा के झक्कड़ आरम्भ हुये, उमड़ती हुई घनघोर घटा पहले एक काली रेखा बनकर उभरी और देखते ही देखते पूरे आसमान पर छा गई। बदलियों के साये से चारों तरफ हल्का-सा अंधेरा छा गया। प्यासे तालाबों ने मुँह खोल दिये। पेड़ों के मुरझाये हुये पत्ते सर हिला-हिलाकर आपस में बातें करने लगे और कहीं दूर से आती हुई मिट्टी की सोंधी-सोंधी सुगन्ध ने वातावरण को सुगंधित कर दिया। हवा का एक आवारा झोंका इंशा अल्ला खाँ "इंशा" से टकराया और वह झल्लाकर बोले—

न छेड़ ऐ नकहते[1] बादे-बहारी राह लग अपनी।
तुझे अठखेलियाँ सूझी हैं, हम बेज़ार बैठे हैं॥

लेकिन भला उमड़ी घटा किसके रोके रूकी है? इन घटाओं को देखकर "अदम" को किसी की डबडबाई आँखें याद आईं और उन्हें विश्वास हो गया कि इन घटाओं को बरसने से कोई रोक नहीं सकता—

आँख जब बरसी तो बरसेगी छमाछम ऐ 'अदम'
कौन रोकेगा भला उमड़ी हुई बरसात को॥

झूमते बादलों को देखकर बाग में टहलते-टहलते "अख्तर" शीरानी गुनगुनाने लगे—

बाग़ों में झूम-झूम के बादल नहीं उठे।
गेसू बिखर रहे हैं नमीमे-बहार के॥

हवायें सनकी, बिजली लहराई और बादल गरजने लगा। बादल की गरज से हसीनों के कोमल दिल दहल गये और "दाग़" ने दुआ माँगी—

लिपट जाते हैं वो बिजली के डर से।
एलाही ये घटा दो दिन तो बरसे॥

---

१. हवा

निकाय॥

इधर "जोश" ने विवशता से बादलों के दामन में मचलती विजलियों पर दृष्टि डाली और कहा—

'जोश' के पहलू में जब तुम ही मचल सकते नहीं।
फिर घटा के दामनों में वर्क[1] लहराई तो क्या ॥

मंडराती घटा और विजली को देखकर विक्षिप्तों के भी दिल मचल उठे और "अमीर मीनाई" ने दुहाई दी—

क्या बला झूम के घनघोर घटा आयी है।
हाय इस वक्त मेरा गेसुओं वाला[2] न हुआ ॥

और तो और "हसरत" मोहानी ने भी बादलों को देखकर तोबा तोड़ डाली—

बरसात के आते ही तोबा न रही बाकी।
बादल जो नज़र आये बदली मेरी नीयत[3] भी ॥

बारिश की पहली नन्हीं-मुन्नी बूंद धरती माँ की गोद में जा गिरी और देखते ही देखते सावन की झड़ी लग गई। "आरज़ू" ने इसका यह रंग देखा तो बिना-हिचक बोले—

उसने भीगे हुये बालों से जो झटका पानी।
झूम के उट्ठी घटा टूट के बरसा पानी ॥

मँडराती घटायें टूट पड़ीं, उमड़ते बादल बरसे पड़े, प्यासी नदी पानी पीने लगी, सोये हुये खेत जाग उठे और उनके साथ ही कवि की कल्पनाओं की खेतियों की हरियाली होने लगी। तब "ज़ोक़" देहलवी ने मस्त होकर कहा—

अब्र,[4] क़ुदरत[5] है तुझे इसदम लगा दे तू झड़ी।
कहते हैं जाने को वो, देखें तो क्योंकर जायेंगे

मेघदूत ने रिम-झिम के जलतंरग की लय तेजकर दी। नदियाँ लहराती हुई बल खाती दरियाओं के चौड़े चकले सीनों से सिमट गयीं और बरसात अपने पूरे यौवन पर आ गई। ऐसे में "रेयाज़" खैराबादी ने इशारा करते हुवे कहा—

मज़े बरसात के चाहो तो इन आँखों में आ बैठो।
सफेदी है, स्याही हैं, शफ़क़[6] है, अब्रे-बाराँ[7] है ॥

लेकिन वर्षा के हर मज़े सबके भाग्य में कहाँ? काली-काली बदलियों को देखते ही जो दिल किसी की याद में बेक़रार[8] हो गये थे, इस भरी बरसात ने तो उनपर और भी क़यामत ढाई "फ़िराक़" ने जुदाई में बेचैन होकर कहा—

जो जान है मौसम की, क्या जाने कहाँ है।
पानी तो बरसता है, बरसात नहीं होती ॥

---

१. बिजली २. प्रेमी ३. इच्छा ४. वर्षा ५. शक्ति
६. लालिमा ७. घनघोर घटा ८. बेचैनी (विह्वल)

निकाय !!

फ़िराक़ की इस विवशता पर "साहिर" लुधियानवी मुस्कुराकर विजयी अंदाज में बोले—

तुमने सिर्फ़ चाहा हैं, हमने छूके देखा है।
पैरहन[1] घटाओं के, जिस्म बर्क-पारों[2] के॥

"अज्म" ने ऐसी बरसती फुवार देखा तो भूतकाल के धुंधलकों में खो गये और कहा—

जब बरसती है तेरी याद की रंगीन फुवार।
फूल खिलते हैं दरे मयकदा[3] वा होता है[4]॥

और शराबखाने का दरवाजा खुल गया तो हर कवि मौसम की रंगीनी का आनन्द यहीं दुगना करने लगा और तब "जलील" जैसे कवि ने कहा—

जलील फ़स्ले बहारी की देखिये तासीर[5]।
गिरी जो बूंद घटा से शराब होके गिरी॥

तब तो "रेयाज़" ने दावे के साथ कहा—

सौ बोतलें चढ़ाओ तो नशा ज़रा न हो।
पानी है ये शराब जो काली घटा न हो॥

दौर पर दौर चलते रहे, बेखुदी और सर-मस्ती बिजली की चमक और बादलों की गरज के साथ अपने शबाब[6] पर पहुँच गई और "असग़र" गोंडवी ने चुपके से दुआ माँगी—

मौजे-सहबा[7] से भी बढ़कर हों हवा के झोंके।
अब्र यूँ झूम के छा जाये कि मयखाना बने॥

बागों के साथ दिल के घाव भी हटे हुये। कलियों के साथ सीनों में भी चुटकी पैदा हुई और नदियों के साथ आँखें भी छलक उठीं। बे-वक़्त की इस बरखा-बहार को देखकर "खुमार" बोले—

बरसने को बरसीं घटायें मगर कब।
कि जब जल चुका था मेरी आशियाना[8]॥

सावन की ये झड़ी कहीं बे-वक़्त बरसी और कहीं पानी की दो बूँदें भी नहीं गिरीं लेकिन वीरान चमन के बुलबुल भगवान की दया से अनभिज्ञ नहीं। "फ़ैज़" ने उन्हें विश्वास दिलाया—

---

१. वस्त्र, २. चंचल युवतियों, ३. शराबखाने का दरवाजा,
४. खुलता है, ५. प्रभाव, ६. जवानी,
७. शराब की लहर, ८. घर,

है अपनी वहशते-वीरां[1] सर-सब्ज[2] इस यकीं से ।
आयेंगी इस तरफ भी इक रोज़ अब्रे-बारां[3] ।।

आइये अब अन्त में रिम-झिम करती बरसात का एक और रूप भी देखें । यह बरसात किसी के लिये दया का पात्र बनी और बर्बादी का सामान भी लायी थी । "जोश" मलीसयानी ने वर्षा के इस रूप पर भी नजर डाली है और कहा है—

जब अब्र के खुल जाने की माँगी हैं दुआयें ।
बरसी है मुसीबत की घटा और ज्यादा ।।

१. उदास-भय,
२. हरी-भरी,
३. बारिश,

समानांतर जिन्दगी : आदमी और आदमी

अरविन्द चतुर्वेदी
एम० ए० अन्तिम वर्ष (हिन्दी)

आमतौर पर ग्रामीण इलाकों में चलने वाली बसों में आगे और पीछे की सीटों पर बैठने वाली सवारियों में अन्तर होता है। आगे की सीटों पर अच्छे कपड़े-लत्ते, पढ़े-लिखे, अपने अपने इलाके के सम्मानित ऊँचे लोग बैठते हैं और पिछली सीटों पर अनपढ़-नंगे पैरों या चमरौंधे जूते वाले, फटे पुराने कपड़े वाले लोग। अगली सीटों के साथ ब्रीफकेस और चमड़े के बैग होते हैं और पिछली सीटों के साथ गन्दे फटे कपड़ों की गठरियाँ या खाली बोरे और झोले। आगे का आदमी बस में आगे के फाटक से चढ़ता है और पीछे का आदमी पीछे के फाटक से।

बस में होने वाली बातें उनकी अपनी जिन्दगी से कहीं न कहीं जुड़ी होती हैं। कोई जमीन की शीलिंग का मुकदमा जिला से हार गया है तो अब वह हाईकोर्ट जाने की सोच रहा है, कि किस फलाँ के यहाँ सोसाइटी की वसूली की नोटिस आयी है, कि फलाँ का लड़का इस साल एम० ए० कर लेगा, कि फलाँ के छोटे भाई की तबीयत खराब थी और वे उसे शहर के बड़े अस्पताल से दिखाकर ला रहे हैं। पिछली सीटों वाले बतियाते कि पट्टे की जमीन के सिलसिले में परगनाधिकारी के यहाँ काम था. कि बुधुआ की लड़की को किसी ने भूत कर दिया था और टोने-टोटके से वह मर गयी, कि उनके गाँव में जो मकान बनाने के जमीन मिली थी उस पर उनके नये घर बन गये हैं। अभी तो मिट्टी की दीवारों पर छप्पर पड़ा है लेकिन एक दो साल में उनके मकान खपरैल के हो जायेगें, ऐसी आशा करते हैं।

इन बातों से यदि गाँव की बदलती हुई मनःस्थितियों का पता लगता है तो दूसरी और यह भी जाहिर है कि अभी गांव के लिए बहुत कुछ करना बाकी है जरूरत आई हुई तेजी को स्थायित्व देने की और बुनियादी सवालों को हल करने की हैं। यह एक हकीकत है कि गरीब तथा कमजोर आदमी की खिदमत में आजादी के कदम बढ़े हैं, उसका अपना मकान हो गया है। कुछ जोतने बोने के लिए जमीनें भी मिल गयी है और उसमें एकदम नया आत्मविश्वास आया है। लेकिन तब भी अभी बहुत अंधेरे में हैं। जबतक उनके लिए उचित वैज्ञानिक, व्यावहारिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जाती और एक बेहतर जिन्दगी की तालीम नहीं दी जाती तब तक वे स्वयं अपनी मदद नहीं कर पायेंगे। यह आश्चर्यजनक बात नहीं हैं कि जिस आदमी के पास श्रम-शक्ति है वह अभी भी नियतवादी बना बैठा हैं, लाचार है। उसके सामने बड़े लोगों की साजिशे हैं, अन्ध विश्वास हैं। उसके श्रम का उचित मूल्यांकन होना चाहिएं। श्रम-शक्ति को सम्मान मिलना चाहिए।

नये समाज के निर्माण में आज के शिक्षित वर्ग की, जिसका पढ़ा-लिखा होने के नाते उत्तरदायित्व कहीं अधिक है, भूमिका निराशा ही पैदा करती है। शिक्षा का मूल उद्देश्य आदमी को आदमी के अधिक से अधिक निकट लाना बिल्कुल खो गया है। पढ़ा-लिखा युवा नगर की ओर नजर गड़ाये चकाचौंध और ग्लैमर के दलदल में बुरी तरह

धँस गया है। कहते हैं गीदड़ की मौत आती है तो वह शहर की ओर भागता है। गांव से शहर आये, नंगे पैर या चमरौधा जूता डाले, कंधे पर चादर रखे, कुरती और धोती पहने, हाथ में कपड़े का झोला लटकाये, अपने बाप को गागल्स पहने विद्यार्थी का नौकर बताना जानी-सुनी बात हैं। क्या गागल्स की रंगीनों इसी तरह वास्तविक दुनियां की जिन्दगी पर झीना पर्दा चढ़ाती जायगी ?

यह एक पीड़ा-जनक तथ्य है कि गांव का छात्र शहरी छात्र की तुलना में अपने को कम फैशनेबल एवं तथाकथित कम एडवान्स पाता है। वह कक्षाओं में दुबका हुआ भी पीछे की पंक्तियाँ में ही बैठता है। उसकी यह गलत आत्म-हीनता उसके आत्म-विश्वास को निरन्तर मारती रहती है। वह प्रतिक्रिया स्वरूप अन्य ग्रामीणों से अपने को जब गांव जाता है ·अधिक 'शो' करता है। दूसरी ओर शहरी छात्र कभी उसे 'बोर' कर तथा फैशन की दौड़ में परास्तकर स्वयं को गौरवशाली मान लेता हैं। संतुलन का केन्द्र-बिन्दु जो आत्मविश्वास के साथ हे, दोनों से छूट जाता है। दोनों ही गलत फहमी के शिकार बने दौड़ रहे है, सिर्फ दौड़ रहे हैं। सोच समझ के परिप्रेक्ष्य में सबकुछ इतना उलटा-पुलटा होता चला गया हैं कि भागते हुये लोगों के चेहरे पर धूल जम गयी है, और जूतों पर पालिश की चमक बढ़ती गयी है।

गाँव का छात्र जब शहर आता है तो गाँव-पीछे-पीछे लगा रहता है और जब वह गाँव जाता है तो शहरीपन पीछा करता है, लिहाजा वह शहर के लिये शहरी वन नहीं पाता और गाँव के लिये ग्रामीण भी नहीं रह जाता। इस नये आदमी के आधे-अधूरे होने के कई कारण हैं। जहाँ यह स्थिति एक तरफ चली आ रही पुरानी शिक्षा-व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन की माँग का संकेत करती हैं, वहीं दूसरी और शिक्षित ग्राम-युवक के मन में ग्राम के प्रति आकर्षण पैदा करने का भी। यह आकर्षण उनके मन में ग्रामीण इलाकों में ही उसके लिये रोजगार देने ग्रामीण-योजनाओं में लगाने से वहुत हद तक पैदा किया जा सकता है। गाँव की एक बहुत बड़ी जरूरत अंध-विश्वास के अन्धेरे को दूर करने की है। शिक्षित युवजनों को शिक्षा को रोशनी एवं रोजगार देकर क्यों नहीं भेजी जाती ?

गाँधी, नेहरु और लोहिया जैसे महापुरुष जब देश-सेवा का संकल्प लेकर देश के विकास में (व्यापक अर्थों में) लगे तो पहला कार्य जो उन्होंने ने किया वह यहीं कि स्वयं ग्लैमर से हट गये, दिखावे से हट गये। वरना लंदन के वैरिस्टर को हाथ में लाठी लेने और शाकाहारी बनकर नंगे पैर चलने की क्या जरुरत थी। क्या यह सिर्फ ढोंग था ? गाँधी ने जिस सादगी पर जोर दिया आज वह गायव है। विवेकानन्द की एक बात याद आती हैं। उन्होंने कहा था—विदेशों में शिक्षा प्राप्त भारतीयों को यहाँ कार्य करने के लिये अपनी मिट्टी से आत्म-शुद्धि करनी पड़ी है। आदमी वाहरी दिखावे से नहीं विचारों से मौलिक बनता हैं तथा विचारों की मौलिक मिट्टी से जुड़कर सादा बन जाने से ही आती, यह वात हमें याद रखनी चाहिये।

जब तक पढ़े लिखे आदमी की बैठकवाजी नहीं बंद होगी तब तक वह अपनी अपनी पिचकारी से शब्दों और मुहावरों का रंग फेंकता बदरंगियत को ढ़ंकता रहेगा। निर्धन और अमीर, जलील और प्रतिष्ठित, ग्रामीण और शहरी, अनपढ़-मूर्ख और शिक्षित-बुद्धिमान, श्रपजीवी और बुद्धिजीवी आदमी की परिभाषा याद रखते हुये जुड़ जायें, इसी दिशा में कार्य होने चाहिये।

पसीना गुलाब होगा

डॉ० भगवती प्रसाद राय

प्रवक्ता—साध्य महाविद्यालय

योगेश्वर कृष्ण ने गीता में भारत से कहा, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' अर्थात् कर्म ही तुम्हारा अधिकार है। 'एव' पद स्पष्ट सीमा-रेखा का बोधक हैं। कहाँ कर्त्तव्य अधिकार का द्वन्द्व, कहाँ दोनों का अनन्यता-बोध जो हो, वास्तविकता यह है कि कर्म में वेदना होती है। पीड़ा से निसर्गतः अरुचि मानव प्रकृति हैं। कर्म में अधिकतर अनिच्छित श्रम का अन्तर्भाव होता है। उससे जीवन छीजता है, इस तर्क से कुछ लोग कर्म से मुख मोड़ते हैं। उतना ही कर्म करना चाहते है जिससे पेट उधम न मचाए। ऐसे व्यक्ति जीवन की पूजा श्रम-साधन से नहीं करते। इसका प्रतिफल है, कम से कम काम और अधिक से अधिक भोग। यही आकांक्षा प्रत्येक भाग्य के पीछे धूमकेतु-सी दिखाई देती हैं। यदि हम आधुनिक चिकित्सा की बात मानें तो देखेंगे कि उदर अल्सर उच्च रक्तचाप, हृदरोग, एलर्जी, मानसिक असंतुलन या बुढ़ापा अधिकतर जीवन पर मानसिक दबाव की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसका क्या अर्थ समझा जाए? क्या कर्म के दबाव से पलायन किया जाए? कठोर श्रम से जीवन पर बोझ गुरुतर होता है इसलिये कठोर श्रम के प्रति अरुचि स्वाभाविक है। परन्तु दबाव मनुष्य को संघर्ष का अवसर प्रदान करता है, अधिक शक्ति अर्जित करने की क्षमता से जीवन को पौरुषमय बनाता है। इस प्रकार कर्म की वेदना जीवन-रस में नया आस्वाद लाती है।

कुछ कर्म जीवन पर स्वस्थ प्रभाव डालते हैं। वे शरीर के दबाव-तंत्र को कार्य-क्षम और सक्रिय रखते हैं, जिस प्रकार दैनिक व्यायाम शरीर को सक्रिय और चुस्त रखता है। कर्म और क्रीड़ा दोनों का अपरिहार्य तत्व श्रम है। जो हमें करना पड़ता है, वह कर्म है और जिसे हम स्वेच्छया चुनते-करते हैं वह क्रीड़ा है। कर्म जीवन की आवश्यकता द्वारा आरोपित होता है और क्रीड़ा स्वतःस्फूर्त। जब हम अपनी जीविका चलाने के लिए काव्य रचना करते हैं, फुटबाल या क्रिकेट खेलते हैं, मछली पालते हैं, बागवानी करते हैं, तब कर्म के बंधन से बँध जाते हैं पर जब इन्हे स्वेच्छापूर्वक विनोद के लिए करते हैं तब ये क्रियाएँ क्रीड़ा का रस प्रदान करती हैं। भावों के केन्द्र-बिन्दु बदल जाने से श्रम का परिहार होता हैं।

इस प्रकार हम उन सब क्रियाओं को क्रीड़ा कह सकते हैं जो अनुपयोगी हैं, उस व्यायाम को क्रीड़ा कहते हैं जो ऊर्जाव्यय करने के शारीरिक आवेग से उत्पन्न होती हैं, जिसे जीवन की आवश्यकता ने खर्च नहीं किया है। हमारी ऐसी सभी क्रियाएँ कर्म के अंतर्गत

ग्रहण की जाएँगी जो जीवन के लिए आवश्यक या उपयोगी हैं। जाहिर है कि यदि इस प्रकार कर्म और क्रीडा का विभाजन लक्ष्यपूर्वक उपयोगी और अनुपयोगी क्रियाओं में किया जाएगा तो कर्म प्रशंसनीय होगा और क्रीड़ा उपेक्षणीय। मान लें कि हम अपनी पूरी शारीरिक शक्ति का लेखा करते हैं, उसका स्वल्प अंश भी निरुद्देश्य गति में बरबाद नहीं होने देते। ऐसी हालत में क्रीड़ा अपूर्ण अनुकूलन की क्रिया होगी। यह क्रिया बाल्यावस्था के लिए उचित मानी जाएगी क्योंकि उस समय शरीर और मन वातावरण के साथ मिलकर चलने में सक्षम नहीं होते परन्तु युवावस्था में उस क्रिया को अनुचित समझा जायगा और वृद्धावस्था में दया का पात्र माना जाएगा क्योंकि वह मानव प्रकृति के ह्रास और जीवन के अवसरों को पकड़ने की असफलता का लक्षण समझा जाएगा।

इस अर्थ में क्रीडा चपल कृत्य है। ऐसा समझकर कुछ लोग उसके प्रति हेय भाव रखते हैं। किसी अंश तक प्रत्येक नागर इस भांति सोचता है। वह सामाजिक विनोद, कला और धर्म को क्रीड़ा के अधीन मानता है और इस शब्द से उसकी भर्त्सना करता है। जैसे-जैसे कोई जाति अपनी मानसिक परिपक्वता की ओर अग्रसर होती है, वैसे-वैसे क्रीड़ा वृत्ति का ह्रास होता है। परन्तु यदि इस प्रकार अनुकूलन की प्रक्रिया में जीवन के सभी अलंकारों को मँहगा समझकर छोड़ दिया जाएगा तो उसकी प्रकृति का विकास रुक जाएगा, मनुष्य अधिक दरिद्र हो जाएगा। संभवतः विकास की यही दिशा है। मानव के वनवासी पूर्वजों ने अपने श्रम और युद्ध के बीच, अपनी वासना और गाथा के साथ अपने नागर वंशजों के लिए सुरक्षित जीवन से अच्छा जीवन व्यतीत किया।

मनुष्य की सभी उदार और काल्पनिक क्रियाओं को क्रीड़ा कहने में मान्य औचित्य है क्योंकि वे स्वतः स्फूर्त होती हैं और किसी बाहरी आवश्यकता के दबाव या भयवश नहीं की जातीं। आत्मरक्षा के लिए उनका उपयोग बहुत अप्रत्यक्ष और आनुषंगिक हो सकता है परन्तु इसी कारण वे व्यर्थ नहीं कही जा सकती। इसके विपरीत, हम स्वच्छन्द और उदार कृत्यों में, जीवन के अलंकरण और कल्पना के संस्कार में, नियोजित शक्ति के अनुपात में, उपलब्धि के आधार पर किसी जाति की खुशहाली और सभ्यता के स्तर का मापन कर सकते हैं। क्योंकि मनुष्य अपनी प्रतिभा की स्वतः स्फूर्त क्रीड़ा में अपने आपको और अपनी खुशी को पाता है। दासता उसकी हीन अवस्था है। प्रायः वह पृथिवी की कृपणता और स्वर्ग की निष्ठुरता का वैसे ही दास होता है जैसे किसी मालिक या संस्था का। वह तब भी दास ही होता है जब उसकी सारी शक्ति आपदा और मृत्यु के प्रतिकार में व्यय होती है। उस समय उसकी सभी क्रियाएँ बाहर से आरोपित होती हैं उसके स्वच्छन्द भोग के लिए कोई दम या शक्ति शेष नहीं रहती। इस अर्थ में क्रीड़ा अत्यन्त उपयोगी व्यापार है।

स्वस्थ्य जीवन के लिए कर्म उतना ही आवश्यक है जितना भोजन, वायु, जल, निद्रा, समाज या प्रेम। परन्तु दैनिक जीवन को सम्पूर्ण यांत्रिक बना देना अविवेकपूर्ण है। इसीलिए सामान्य जीवन में यम, नियम, संयम का कठोरता पूर्वक निर्वाह नहीं हो पाता। यदि हम संयम द्वारा वासना का परित्याग करने का उपदेश करें तो यह काल्पनिक बात होगी। अच्छा हो कि हम अपने को ज्ञानवान कहने की अपेक्षा वर्धमान कहें क्योंकि मनुष्य का जातीय लक्षण

उसकी विद्वता नहीं, वल्कि स्वयं अपने को और अपने वातावरण को निरंतर सुधारते रहने की उसकी चिरंतन कामना है। वाह्य और आभ्यंतर शक्तियों का सामंजस्य, अनुभव और बोध आत्मा का धर्म है। इसी धर्म के आचरण में आत्माजीवन के ऊँचे सोपानों पर आरुढ़ होती है। अतएव हमारा लक्ष्य जीवन में कर्म के प्रति उपेक्षा नहीं होना चाहिए। हमारा उद्देश्य अपनी रुचि और प्रकृति के अनुसार अपने लिए कार्य का अन्वेषण होना चाहिए जो हर प्रकार से हमारे अनुकूल हो। अनिच्छित दवाव से वचने का सर्वोत्तम मार्ग है, अपने लिए ऐसे वातावरण (पत्नी या पति, स्वामी, समाज) का चयन जो हमारी आन्तरिक अभिरुचियों और वरीयताओं के निकट हो, ऐसे कार्य का चयन जिसके प्रति हमारे मन में आदरभाव हो और जो हमारी वौद्धिक क्षमता की सीमा में आता हो। इस प्रकार हम अपने को निरंतर अनुकूलन के चक्र से वचा लेंगे और अनिष्टकारी दवाव की पीड़ा से मुक्ति पा जाएँगे।

असफल कर्म की उलझन से जीवन रीतता है। निष्फल संघर्ष से उत्पन्न दबाव के प्रत्येक क्षण हमारे जीवन पर अपना अमिट रासायनिक प्रभाव छोड़ जाते है। इससे शरीर के जीवनवाही तक असमय वृद्ध होने लगते हैं। सफल कार्य चाहे कितना भी कठोर क्यों न हो, इस प्रकार का कोई दुष्प्रभाव हमारे शरीर पर नहीं छोड़ता, वल्कि वार्धक्य में भी जीवनी शक्ति कायम रखता है। यही कारण है कि कठोर कर्मियों के अगुआ सर्वाधिक सफल व्यक्ति सुदीर्घ काल तक स्वस्थ चित्त और क्रीड़ाशील वने रहते हैं। महात्मा गाँधी को देखिए, चर्चिल की कथा पढ़िए, चार्ल्स देगाल और पिकासो का इतिहास पढ़िए। सूरदास, तुलसीदास और कवीर का इतिवृत्त देखिए। ये लोग अपने सत्तर, अस्सी या नव्वे वर्षों में भी सफलता-पूर्वक कार्यरत रहे। वास्तव में इन लोगों ने अपने जीवन के कठोर श्रमपूरित क्षणों में मन के अनुकूल कार्य किया। इस तरह श्रम की पीड़ा से श्रान्त नहीं हुए अपितु कर्म की सार्थकता का सुख भोगते रहे। कहा जा सकता है कि वहुत थोड़े से व्यक्ति इस प्रकार की उत्कृष्ट कोटि में आते है। परन्तु यह धारणा गलत नहीं है कि जब तक हम अपने काम के प्रति रुचि रखते हैं और उसमें सफल होते हैं तब तक सामान्य जीवन में कठोर श्रम करते हुए दीर्घजीवी और सुखी रहते है।

प्रासाद निर्माता कारीगर को अपने सुन्दर निर्माण से वही आनन्द प्राप्त होता है जो किसी कवि को अपनी सुन्दर रचना से मिलता है। आनन्द की अलग-अलग कोटियाँ नहीं होती। प्रत्येक कार्य की पूर्णता पर मन विजयोत्सव मनाता है, उसका सुख भोगता है। कुशलता इसमें निहित है कि हम अपनी रुचि का काम प्राप्त कर लें। समाज उस कार्य के प्रति सम्मान की भावना रखता हो। क्योंकि मनुष्य अपने काम से रोटी ही नहीं चाहता, सामाजिक सम्मान की भी आशा करता है। कठिनाई इसलिए उत्पन्न होती है कि हमारे समाज में कार्य के प्रति भी छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जमकर चिपक गया है। इसलिए उक्त कथन हमारे समाज में अटपटा-सा प्रतीत होता है। इसके लिए कर्म के प्रति और अधिक समुन्नत सामाजिक चेतना की आवश्यकता है। निरंतर उपेक्षित होने की भावना जीवन से मौत का परिचय कराती है। सतत् उपेक्षा से सहनशीलता की नींव खोखली होती है। जीवन में भौतिक भोग के कुछ क्षण उन लोगों के लिए वरदान होते हैं जो किसी कला

में कुशल नहीं होते, न उसके आनन्द से परिचित होते हैं। उनकी किसी चीज में विशेष रुचि नहीं होती, उनमें सफलता की भूख नहीं होती। ये लोग मानव समाज के सच्चे दरिद्र हैं।

कर्म में केवल शारीरिक श्रम का अन्तर्भाव नहीं होता, उसका मानसिक पक्ष भी प्रधान होता है। क्रियाहीन चिंतन हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है। क्या आप ऐसे व्यक्ति तो नहीं हैं जिसका मस्तिष्क दस मिनट में सोलह बार बदलता हैं। हम ऐसे लोगों से परिचित है जो अपना पूरा समय चिंता में व्यतीत करते हैं, मन की ऊहापोह में हजार बार समस्याओं का समाधान करते हैं। ऐसी चिंता घातक है, इसे रोकना चाहिए। जब तक क्रिया चिंतन के साथ कदम मिलाकर नहीं चलती तब तक हम अपना भला नहीं करते। वैज्ञानिक दृष्टि से पुष्ट हो गया है कि यदि मनुष्य अपनी मानसिक क्रिया को नियंत्रण में रखे तो उसके दीर्घायु, सुखी, स्वस्थ्य और सफल होने की संभावना अधिक है। यदि उसका मस्तिष्क उसकी क्रिया से अधिक तेज चलता है तो वह उसी तरह का खतरा मोल लेता है जैसा कोई ड्राइवर अपने मोटर को बिना गियर दौड़ाने का प्रयास करता है। इस क्रिया से वह कहीं पहुँचता नहीं और अपने इंजन पर अधिक दबाव डालता है। संभवतः अधिकतर लोगों के शारीरिक दोष और मानसिक पीड़ा का कारण उनका अतिचिंतन होता है।

मनुष्य के सामान्य स्वास्थ्य और सुखी जीवन पर मानसिक क्रिया के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। निष्कर्ष यह है कि अधिकतर मनुष्य बहुत अधिक चिंता करते हैं। यदि हम अपने मस्तिष्क को विश्राम दें तो अल्सर, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग तथा अन्य प्रतिबल जैसे मनः कायिक रोगों के प्रति कम सुग्राह्य हों। हमारा दाम्पत्य और सांसारिक जीवन अधिक सुखी हो। जब मस्तिष्क विश्राम करता है, भावात्मक द्वन्द्व समाप्त होने लगते हैं। यदि कोरी चिंता का त्याग कर, चिंता-विषय के समाधान के निमित्त कुछ कर्म किया जाए तो इससे अधिक लाभ होता है। यदि हम आगे बढ़ना चाहते है तो थके-माँदे मस्तिष्क को विश्राम दें, उसके बाद उसकी शिथिलता भंग करें और कर्मक्षेत्र में उतर जाएँ। पं० जवाहरलाल नेहरू कहते थे कि बिना चिंतन की क्रिया गोरख धंधा है और बिना क्रिया का चिंतन अकाल-पात है। जर्मन कवि गेटे कहते थे कि बिना क्रिया का मनन व्याधि है। आज डाक्टर भी इस बात से सहमत हैं। उनकी सलाह है कि क्रियाहीन चिंतन से चिंतनहीन क्रिया अच्छी है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से पता चलता है कि सामान्यतया औरतें सचेत चिंतन में कम समय व्यतीत करती हैं। वे संवेदनशील प्राणी हैं। इसलिए वे पुरुषों की अपेक्षा प्रतिबल रोगों और मानसिक दुर्घटनाओं से कम पीड़ित होती है।

यदि आप ऐसे व्यक्ति हैं जिसका मस्तिष्क सदा दौड़ रहा है तो निश्चित मानिए कि आप चिरकारी थकान से पीड़ित हैं, कभी अन्त न होने वाली थकान, निराशा और कुंठा के शिकार हैं। यदि आप इस वेदना के पंजे में आ गए हैं तो सर्वोत्तम औषधि का सेवन कीजिए कुछ व्यायाम कीजिए, कुछ कर्म कीजिए। जब माँसपेशियाँ काम करती हैं तब मस्तिष्क विश्राम करता है, यही साधारण-सा गुर है। इससे मनहूसियत भंग होती है, नई प्रेरणा मिलती है, पसीना गुलाब बनता है।

नारी सौन्दर्य

कुमारी उषा राय
शोध छात्रा, संस्कृत

नारी सौन्दर्य का निरूपण करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सौन्दर्य का ही सम्यक विवेचन कर लिया जाय।

सुन्दर है वह जिसे देखकर, सुनकर, सूँघकर, स्पर्शकर और रसास्वादन कर हम में सुप्त-प्रसन्नता का भाव जाग्रत हो जाय और हमारी उत्सुकता स्वतः जाग कर उसके प्रति उत्कण्ठित हो उठे—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ॥"

—कालिदास

और इस प्रकार "शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध" की यथोचित समुचित मात्रा से जनित सौन्दर्यानुभूति क्षण-क्षण पर नवीनता सी प्रतीत होती रहती है : -

"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति
तदेव रूपं रमणीयतायाः।

अब विचारणीय है कि उस सौन्दर्य में कौन सी अद्‌भुत शक्ति होती है जो अपने चमत्कार से तत्क्षण वलात् प्रभावित कर देती है। उसका कुछ सूक्ष्म सांकेतिक-विशद वर्णन कविवर जयशंकर प्रसाद ने अपनी 'कामायनी' के 'लज्जा' अंश में किया है। श्रद्धा द्वारा पूछे जाने पर कि "तुम कौन? हृदय की परवशता?" लज्जा उत्तर देती हैं कि—

अम्बर चुम्बी हिम श्रृङ्गों से
कलरव कोलाहल साथ लिए,
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिए।

अब विचारणीय महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि सौन्दर्य व्यक्तिगत हैं अथवा वस्तुगत। १. व्यक्तिगत—व्यक्तिगत सौन्दर्य का संकेत है—उस व्यक्ति की ओर जिसमें उत्सुकता जगती है; जो उद्दीप्त होता है। यथा—

मीठो-मीठो कछु नहीं मीठो जाकी चाहि।
असली मिसरी छाड़िकै आफू खातसराहि ॥

और भी—

हौं ही बौरी बिरह बसकै बौरी सब गाँव।
कहा जानिकै कहत है ससिहि सीतकर नाँव ॥

— बिहारी

Bu Keats Says :--

Beauty is Truth and Tuth is beauty that is all.

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति की परिस्थिति एवं मनोदशा के अनुसार वही वस्तु कभी प्रिय अर्थात् सुन्दर और कभी अप्रिय अर्थात् असुन्दर लगती है। जैसे वही चन्द्रमा संयोग में शीतल सुन्दर और सुखद तथा वियोग में दाहक और दुःखद प्रतीत होता है:—

"घटै बढ़ै विरहिन दुख दायी"

स्वस्थावस्था में जो भोजन स्वादुकर एवं स्वास्थकर होता है वही भोजन अस्वस्थावस्था में अस्वादुकर और अपथ्य हो जाता है।

२. **वस्तुगत**—वस्तुगत सौन्दर्य उद्दीपन का कार्य अवश्य करता है किन्तु सबको एक सा नहीं, बल्कि उद्दीप्त होने वाले के सहज स्वभाव एवं संस्कारानुसार। वही चन्द्रमा, साधु को प्रिय है, सुन्दर है किन्तु असाधु-चोर एवं कुत्सित कार्य करने वालों को अप्रिय लगता है। स्वच्छ सरोवर में विकसित कमल की नाल में मेढ़की लात मार कर फिटफिटाती हुयी दूर चली जाती है किन्तु वन में स्वच्छन्द विचरण करने वाले भ्रमर गंध पाते ही आकर उस खिले हुए कमल पुष्प पर बैठ जाता है और रस पान करता है। इस प्रकार हम देखते है सौन्दर्य के प्रतीक तथा लोकप्रिय उपमान—कमल, गुलाब, चन्द्रमा, चातक, पिक, मेघ, आदि का प्रभाव भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को उनके सहज स्वभाव संस्कार एवं परिस्थितिवश कभी सुखद और कभी दुःखद अनुभवित होता है।

यदि वस्तुगत उद्दीपन सौन्दर्य की ही प्रधानता होती तो रत्ना के सौन्दर्य पर अति-आसक्त तुलसी दास—उसके रहते हुए—कैसे रत्ना से इतने विरक्त—अनासक्त हो गए कि कि शेष जीवन में फिर कभी मिलना नहीं चाहे। सम्भव है कि यदि रत्ना ने कुछ और संयत वाणी का प्रयोग किया होता तो और—व्यवहार में कुछ और मधुर हुई होती तो वह बात न हुई होती जो हो गयी और सर्वदा के लिए संबंध विच्छेद हो गया। रत्ना का बाह्य सौन्दर्य तुलसीदास को अपने पाश में बाँध न सका।

नारी सौन्दर्य का आधार है आकृति और प्रकृति का समुचित समन्वय।

आकृति—मुख्यत: आकृतिजन्य आकर्षक सौन्दर्य को—जो रंग—रूप—आकार—शारीरिक गठन और स्वास्थ्य पर ही विशेष रूप से निर्भर होता है—ही सौन्दर्य समझा जाता है और यह सत्य भी है कि आकृतिजन्य सौन्दर्य का प्रभाव अनायास अकस्मात् और तत्क्षण पड़ता है। "नाकृति विशेषोऽयंजन:" दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में पली वल्कल—वसना शकुन्तला को देखते ही मुग्ध हो कहने लगता है—

"सरसिजमनविद्धं शैवलेनापिरम्यम्
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिवहि मधुराणां मण्डननाकृतीनाम् ॥"

—कालिदास

मंजरी की सुगंध से उत्सुक पुण्डरीक महाश्वेता के रूप लावण्य को देखते ही प्रेमासक्त विमुग्ध हो गया और कपिञ्जल के समझाने पर कहता है—

"सखे कपिञ्जल। गत उपदेशकाल: पच्यन्ते इव मे अङ्गानि ज्वलतीव शरीरम्"

प्रकृति—किन्तु जब कामदेव समाधिस्थ शंकर जी में काम जगाने का प्रयास कर रहा था—"तथा पार्वती ते जब अपने सामने ही कामदेव को जलता हुआ देखकर अनुभव किया कि अभीष्ट प्रिय की प्राप्ति के लिए आकृतिजन्य सौन्दर्य पर्याप्त नहीं—

"तथा समक्षं दहता मनोभव,
पिनाकिना भग्न मनोरथा सती,
निनिन्दरूप हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्य फलाहि चारुता ॥"

अत: तपस्या करने चल पड़ी—

"कलम ययौ कन्दुक लीलयापि या,
तथा मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
नूनं वपु: काञ्चन-पद्म-निर्मित-
न्मृद प्रकृत्या च ससारमेव च ॥"

और जब उस "स्तन-भिन्न-वल्कला" के शरीर से घोर तपस्या की ऊर्जा निकलने लगी तब शंकर जी स्वयं उनके सम्मुख आ खड़े हो गए और तपस्विनी अपने चिर-अभिलषित अभीष्ट-प्रिय को पाकर कृत कृत्य हो गई।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि केवल बाहरी सौन्दर्य-आकृतिजन्य-रूप लावण्य ही वास्तविक सौन्दर्य नहीं उसकी पूर्णता के लिए प्रकृतिजन्य सौन्दर्य सापेक्ष्य है-अपेक्षित है। यह प्रकृतिजन्य सौन्दर्य-जो शील, विनय, स्निग्ध स्वर, मधुर व्यवहार, स्नेह, श्रद्धा, तप, त्याग आदि पर निर्भर होता है-चिर स्थायी होता है। और वही आकृतिजन्य सौन्दर्य को भी बल और सक्षमता प्रदान करता है। आकृति जन्य सौन्दर्य अल्पकालिक होता है और प्रकृतिजन्य सौन्दर्य आजीवन स्थायी होता है, आकृतिजन्य सौन्दर्य प्राय: वासनामय प्रेम का उद्दीपक होता है और प्रकृतिजन्य सौदन्र्य उद्दीप्त करता है—शुद्ध प्रेम और कभी-कभी श्रद्धा जिसमें सर्वस्व करने की ममता भावना रहती है और—

"इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है,
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल छलकता है।"

और इसी कारण कविवर जयशंकर प्रसाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत-नग-पग-तल में
पीयूष-स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में

अनुभव सिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी कहा है —

"अवला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आखों में पानी।

सावित्री ने अपने पति सत्यवान को तपबल से ही यमराज से छुड़ाकर पुनः सजीव रूप में प्राप्त किया—रूप माधुरी से नहीं।

आजकल की आधुनिकाएँ जो "सूधो पाँव न धरि सकैं सोभा ही के भार" "जिनके सरस कपोलों में ऊषा लेती अगड़ाई" अपनी आकृति-रंग रूप के ही शृगार सँवार 'मेकअप' को अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बना लेती हैं और अपने सौन्दर्य में कमी हो जाने की आशंका से अपने नवजात शिशुओं को अपना स्तन-पान भी नहीं करातीं, वल्कि बन्द डिब्बों का दुग्धचूर्ण घोलकर पिलाती हैं। और उनकी देख-रेख भी नौकर नौकरानियों पर छोड़ स्वयं विनोदार्थ चलचित्र इत्यादि देखने जाती हैं। इसमें शिशुओं का यथोचित संस्कार भी नहीं बन पाता। और इस प्रकार "आँचल में दूध और आँखों में पानी" रहित उनका रूप-सौन्दर्य सारहीन सा प्रतीत होता है।

विश्व सुन्दरियों की चयन मलिका में चुनी गई सुन्दरियों का एक मात्र लक्ष्य वासना-मय प्रेम से सिक्त भोगविलास होता है। इन तथाकथित विश्व सुन्दरियों को इस बात का लेशमात्र भी ज्ञान को कौन कहे मान तक नहीं कि शरीर का सदुपयोग व्यापक अर्थ में धर्म का पालन करने में "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधना" और भी —"धर्मार्थ काम मोक्षाणां शरीरंसाधनं यतः" उन्हें मैक्समूलर की वह उक्ति कभी सुनने ही को नहीं मिली जो उसने सीता-परित्याग-प्रसंग में "त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः" से प्रभावित होकर कहा था कि सीता के केवल एक गुण पर सैकड़ो हजारों हेलेन के सौन्दर्य को निछावर किया जा सकता है।

रूप सौन्दर्य के प्रति "प्रसाद" की कमलावती—जिसकी अगड़ाइयों को लहरों में गुर्जरेश कर्णदेव तैरते थे-और जो अपने रूप-लावण्य के कारण दिल्ली ले जाये जाने पर भारतेश्वरी बनी वह भी आगे चलकर दर्पण में अपना प्रतिविम्ब देखती हुयी तथा पद्मिनी के रंगे हुए चित्र से तुलना करती हुई कहती है कि यद्यपि रूप में मैं पद्मिनी से बढ़कर हूँ किन्तु मुझमें पद्मिनी की पवित्रता कहाँ है।

अतएव मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचती हूँ कि बाह्य (आकृतिजन्य) सौन्दर्य तभी सच्चा सौन्दर्य कहा जा सकता है कि वह निरन्तर भीतरी (आभ्यन्तरिक) प्रकृतिजन्य सद्भावों-सद्-गुणों के सौन्दर्य के अजस्त्र-स्रोत से सिञ्चित होती रहे और तभी वह समन्वित सामञ्जस्यवाला अनुपम सौन्दर्य व्यक्तिगत सौन्दर्य की निहित भावनाओं को उद्‌वुद्धकर एक अनिर्वचनीय सात्विक हृद्य प्रेम रम्य श्रेय का अनुभव कराती है। अन्यथा—

नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं॥

—प्रसाद

●

ललित-निबंध

यात्रा

स्व० वि० स० खांडेकर
अनुवादक—ना० बि सप्रे
अधीक्षक, परीक्षा विभाग

दरवाजे पर लगी बेल बज उठी। ऐसी अबेर कौन आया है, यह मेरी समझ में नहीं आया। चिढ़कर ही मैं दरवाजा खोलने के लिए उठा, तो देखा एक अधेड़—

अधेड़ कहाँ ? वृद्ध ही कहिए ! उसके बाल इतने पके हुए थे कि टोपी न पहने हुए भी वह गाँधी टोपी पहना हुआ सा लग रहा था। साइकिल पर सवार वह सामने खड़ा था। देहात के किसी घोड़े की तरह उसकी साइकिल दीख रही थी। काफी सामान लदा था उस पर।

साइकिल सवार का चेहरा परिचित सा लग रहा था। लेकिन इन साहब को कहाँ और कब देखा है, याद नहीं आ रहा था। शिक्षक द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर देने के लिए खड़े, किन्तु उत्तर न सूझने वाले विद्यार्थी की चुलबुलाहट करते हुए मैं खड़ा रहा।

साइकिल सवार ने पूछा, "क्यों, नहीं पहचाना ?" मेरे चेहरे से उसने इस प्रश्न का उत्तर शायद पढ़ लिया था। उसने तुरंत कहा, "अरे ! मैं गणपुले !"

गणपुले ! मेरा बालमित्र गणपुले ! बचपन में, बगीचे में से अमरूद चुराकर लाने में अग्रणी तथा मुझे खासतौर पर अच्छे अमरूद देने वाला, गुल्ली डंडा खेलते समय उछाल कर गुल्ली लपकने वाला, दो आने दर की गैलरी में बैठकर 'सत्य-विजय' नाटक में भूत द्वारा गाये गये 'मो हिचा पती या नागो असे। म्हणून हिजवरी प्रेम करितसे' इस गीत पर 'वन्स मोअर' कहने वाला गणपुले।

कितने ही वर्षों में गणपुले मुझ से नहीं मिला था। उसे.......अर्थात् मुझे भी जब से मूँछें निकलनी शुरू हुई थी—तब से ! लेकिन 'बालमित्र' शब्द में ही कुछ ऐसी जादू है कि व्यक्तियों के बीच उत्पन्न पारस्परिक अनेक प्रकार की दीवारें उस जादू से एक क्षण में ढह गयीं।

चायपान के बाद गणपुले ने चार ही मिनटों में पूरे चालीस वर्षों की जीवन गाथा सुना दी। वह गाथा भी अन्य लाखों लोगों की गाथा के ही समान थी। शिक्षा-नौकरी-बच्चे-पेन्शन ! अब दो लड़के कमाने लगे थे, इसलिए वह प्रापंचिक जिम्मेदारियों से मुक्त हो गया और अट्ठावन साल की आयु में साइकिल से भारत की यात्रा करने के लिए निकला हुआ था।

दूसरे दिन मैंने गणपुले को टंकाला, पन्हाला, अंबाबाई का मन्दिर इत्यादि कोल्हापुर के दर्शनीय स्थल दिखलाये। उस दिन रात को बातें करते समय उसने मुझसे पूछा—"चाँदनी रात को ताजमहल कितना सुन्दर दिखाई देता है ! वाह ! उस दिन तक मुझे अपने कवि न होने पर अभिमान मालूम होता था। लेकिन उस दिन मुझे अपने कवि न होने पर दुःख हुआ। तुमने तो देखा ही होगा, ताजमहल ?"

मैंने गर्दन हिलाकर नहीं कहा तो वह आश्चर्य चकित हो गया। फिर, उसने एक से एक सुंदर बातों का वर्णन करना शुरू किया। कन्याकुमारी का समुद्र, गिरसप्पा का जलप्रपात, दक्षिण भारत के गोपुर, किसी तो देवालय पर उत्कीर्ण शिवपार्वती का नृत्य, गोमतेश्वर की मूर्ति, इनमें से कुछ भी मैंने नहीं देखा था। इसलिए विपक्ष का वकील एक-एक प्रश्न पूछता चला जाए और कटघरे में खड़ा गवाह हर प्रश्न के उत्तर में 'नहीं-नहीं' करता चला जाए, वैसी ही कुछ मेरी अवस्था हुई।

अंत में गणपुले ऊब कर बोला, 'अरे, लेखक होते हुए भी तुमने यह सब नहीं देखा ? अजीब बात है।"

वह मन ही मन हँस रहा था, मुझ पर तरस खा रहा था। घर में कामधेनु आने पर भी केवल उसके सींग देख कर भाग जाने वाले अभागे की तरह ही अपना बालमित्र है, ऐसा ही कुछ शायद वह मन में सोच रहा था। लेकिन इसमें मेरा क्या कसूर था ?

मैंने काफी यात्रा की थी। बिलकुल यूरोप-अमेरिका तक। लेकिन वह सारी अपनी घर की आराम कुर्सी में बैठ कर। यात्रा वर्णन की पुस्तकें पढ़ कर।

तीसरे दिन गुणपुले जाने के लिए तैयार हुआ। अभी उसे और भी बहुत यात्रा करनी थी। भारत की यात्रा पूरी होने पर वह साइकिल से विश्वपर्यटन पर निकलने वाला था और वह यात्रा पूरी होने के बाद, "मैं साइकिल पर ही चन्द्रमा अथवा मंगल ग्रह पर जाने वाला हूँ" ऐसा उसने मुझे नहीं बतलाया यही मेरा सौभाग्य है।

उस दिन मैंने उसे जाने नहीं दिया। चालीस साल के बाद मिला हुआ बालमित्र पता नहीं कहाँ मिले। मैंने विनती करके उसे रोक लिया।

कोल्हापुर में देखने लायक कुछ बचा नहीं था। इसलिए उसे पाँच-पचीस अच्छी किताबें देकर मैं अपने काम पर चला गया। कुछ देर बाद मैं उसकी पूछताछ करने आया तो वह बिलकुल ऊबा हुआ सा लग रहा था। वह कैलेंडर पर के चित्र देख रहा था।

मैंने उससे पूछा, "कहो, किताबें उलट कर देखीं ?

उसने गर्दन से ही 'नहीं' कह दिया। हेमिंग्वे का उपन्यास हाथ में लेकर मैंने उसके सामने धरते हुए कहा, "यह ओल्ड मॅन ॲन्ड दि सी' पढ़ कर देखो। बहुत अच्छी है।

वह हँसते हुए बोला, "मैं यह उपन्यास पढ़ने की तकलीफ क्यों करूँ ? मैं खुद ही अब बुड्ढ़ा हो गया हूँ और समुद्र तो मैंने इतना देखा है—"

'पुस्तकें ही मनुष्य के सच्चे मित्र हैं' इस सुभाषित की सत्यता गणपुले को पटाने के

लिए साक्षात् ब्रह्मदेव भी असमर्थ होगा, इस बात का मुझे पाँच ही मिनटों में विश्वास हो गया। स्कूल में उसने जो कुछ दो चार कितावें उलटी होगी, उतना ही उसका संबंध था पुस्तकों से। इसके बाद उसने किसी भी पुस्तक अथवा लेखक की ओर नहीं झाँका था। मैं तो उसका बालमित्र था। फिर भी मेरी एक भी पंक्ति उसने नहीं पढ़ी थी। उसका बालमित्र लेखक हुआ है, यह बात वह वर्षों से सुन रहा था। इसमें उसे प्रसन्नता भी थी। लेकिन जहाँ उसे कालिदास से कोई मतलब नहीं था और 'फुलराणी' यह बालकवि जी की कविता है या किसी साबुन अथवा धूपबत्ती का विज्ञापन है, इसकी भी जब उसे कल्पना न थी, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वह मेरी पुस्तक पढ़ने के झमेले में कभी भी नहीं पड़ा। मन ही मन मुझे उसपर हँसी आयी; उसपर तरस हो आयी।

गणपुले जाने के बाद मैं सोचने लगा कि मैंने अभी तक ताजमहल नहीं देखा, इसलिए वह मुझ पर हँस रहा था और उसने हेमिंग्वे का नोबुल पुरस्कार प्राप्त उपन्यास अभी तक नहीं पढ़ा था इसलिए मैं उस पर हँस रहा था। लेकिन इसमें हँसने जैसी कौन सी बात है? यात्रा उसे आनन्द देने वाली एक सनक है तो पढ़ना मेरे लिए आनन्द देनेवाली दूसरी। एक सनकी के लिए दूसरे सनकी पर हँसना क्या अर्थ रखता है?

लेकिन अनजाने ही, यही भूल हम हमेशा करते रहते हैं। इस विशाल दुनिया में हर किसी को अपने खुद के लिए आनन्द की एक छोटी सी दुनिया बनानी पड़ती है। यह नन्हीं सी दुनिया उसका भवन है। इसी के बल पर वह जीवन की लड़ाई में उत्साह से भाग ले सकता है, चिन्ता और संकटों के निरंतर पड़ने वाले आघात सहज ही सह लेता है।

मेरे परिचय के एक केमिस्ट हैं। जब भी मिलेंगे, राजनीति पर ही बातें करेंगे। परसों मेरी उनसे रास्ते में भेंट हुई और उन्होंने सुएझ नहर के सम्बन्ध में आधा घंटे तक अपना भाषण सुनाया। मेरे एक मित्र की पत्नी हैं। सौभाग्य से उसके घर में नौकर हैं। लेकिन जब भी कभी उनके घर जाइए·········मेम साहब घर की सफाई में व्यस्त दिखाई देती है। उसके यहाँ शेल्फ पर रखे हुए पीतल के डिब्बों की चमक अपूर्व होती है। फटे-पुराने कपड़े भी वह इतने साफ धोकर और इतने सुन्दर ढंग से तह करके आलमारी में रखती है कि कोई सोचे अभी कल ही धोबी के यहाँ से धुलकर आये हैं।

ऐसी ही अनेक प्रकार की सनकें होती हैं। दुनियाँ इन सनकों पर हँसती है। लेकिन इसमें हँसने जैसी कौन सी बात है? सारे शौक, सारी क्रीडाएँ, सारा काव्य, सारा चिन्तन— इतना ही क्यों, बल्कि सारे धर्म भी मनुष्य की इसी प्रकार की सनकें ही तो हैं। दैनिक में अनेक बंधनों में मनुष्य की आत्मा घुटती रहती है। वह ऐसे ही किसी न किसी सनक के रूप में मुक्त होने का प्रयत्न करती है। इसलिए, ऐसी सनकें जीवन में अवश्य होती हैं। उनके ही द्वारा हरएक की आत्मा मुक्ति का आनन्द कुछ समय के लिए ही क्यों न हो, चख सकती है।

हम सभी गणपुले के समान यात्री हैं।

●

आधुनिक सन्दर्भ में भारतीय साहित्य-शास्त्र*

डा० प्रेमस्वरूप गुप्त**

आधुनिक सन्दर्भों में भारतीय शास्त्र को लेकर अनेक पहलुओं से बात चलाई जा सकती है। मैं मोटे-मोटे कुछ ही पहलू उठाना चाहता हूँ। ये हैं: आधुनिक रचनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय साहित्य शास्त्र, आधुनिक अध्ययन-अध्यापन के सन्दर्भ में भारतीय साहित्य शास्त्र, अनुसन्धान के सन्दर्भ में भारतीय साहित्य-शास्त्र और आधुनिक संवेदना और आधुनिक अपेक्षाओं के सन्दर्भ में भारतीय साहित्य-शास्त्र। आधुनिक सन्दर्भों के ये चारों क्षेत्र कहीं न कहीं परस्पर जुड़ते भी है और प्रत्येकशः अपने में अनेक प्रकार की समस्याएँ समेटे हुए भी है। आधुनिक सन्दर्भों के इन चारों पहलुओं को लेकर चर्चा को थोड़ा-सा आगे उठाना अप्रासंगिक न होगा।

पहले आधुनिक रचनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय साहित्य-शास्त्र की स्थिति देखी जाए। उपन्यास, कहानी, निवन्ध, आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज डायरी जैसी आधुनिक गद्य-विधाएँ उसका विवेच्य कभी नहीं रही, वे सब आधुनिक उद्भूतियाँ हैं। नाटक भी अपने नये रूप में उससे कोई प्रेरणा नहीं लेता। कविता भी बहुत दिनों से उसके वश से बाहर की बात होती जा रही है। साहित्य-शास्त्र के दो ही मुख्य कार्य होते हैं: एक तो किसी साहित्य की संवेदना को सहृदय-गम्य बनाते हुए उसका उपयुक्त मूल्यांकन करना, दूसरे साहित्य रचना के भविष्योन्मुखी मार्ग की दिशा आलोकित करना। भारतीय साहित्य-शास्त्र आधुनिक रचनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में इन दोनों ही उत्तरदायित्वों को नहीं निभा पा रहा है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर एक उड़ती नजर डाली जाए तो पता चलता है कि रीतिकालीन कृतित्व को छोड़कर साहित्य-शास्त्र साहित्य-रचना का बानी-मुबानी शायद कभी नहीं रहा। यदा-कदा आदिकालीन रचनाएँ और वैष्णव भक्ति-काव्य उससे एक दूरी तक प्रभाव ग्रहण करते रहे, पर सूफी-काव्य और उससे भी बढ़कर सन्त-काव्य सामान्यतः साहित्य शास्त्र की जकड़-पकड़ के बाहर रहे, यही कारण है कि आज भी उसके मूल्यांकन-अध्ययन के लिए साहित्य-शास्त्र की अपेक्षाएँ नगण्य ही रह जाती है। भारतेन्दु-युग से छायावाद तक के कृतित्व तो उसके मुखर नकार की पर्यवसित भूमि पर आ ही पहुँचा है। गद्य की नवीन विधाओं के लिए तो आरम्भ से ही भारतीय साहित्य-शास्त्र ने स्वयं अपने को बाह्य स्वीकार

* काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दिनांक २२-१२-७६ को साहित्य समीक्षा सिद्धान्त परिचर्या में दिया गया व्याख्यान।

** हिन्दी विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय।

कर लिया था, नाटक और फिर कविता भी धीरे-धीरे उसके तन्त्र के बाहर पड़ गये हैं। आज के कृतित्व की संवेदना, भाव-बोध लक्ष्य, रचना-परिवेश, प्रमातृत्व और संप्रेषणीयता के धरातल—सभी कुछ में तो आमूल-चूल परिवर्तन आया है और व्यवस्था की अपेक्षा अव्यवस्था ही अधिक मुखर हुई है। स्थिति यह बनी है कि एक ओर भारतीय-साहित्य शास्त्र आधुनिक कृतित्व के वर्तमान में सन्देह और उसके भविष्य पर प्रश्न-चिह्न लगाता हुआ उसके अस्तित्व और मूल्य को नकारता है, दूसरी ओर आधुनिक कृतित्व भारतीय साहित्य-शास्त्र के जड़त्व और अयोग्यता की घोषणा करता हुआ उसे म्यूज़ियम में रखवा देना चाहता है। यह पारस्परिक नकारवाद ही दोनों का मध्यवर्ती स्वर है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के अध्येताओं के समक्ष इस स्थिति के सुलझाने का मुखर प्रश्न-चिह्न है। हम-सब को यह सोचना है कि यह स्थिति क्यों और कैसे बनी है और इस खाईं को कैसे पाटा जाए।

आपसे बात करने के लिए मैंने दूसरा आधुनिक सन्दर्भ चुना है अध्ययन-अध्यापक का। पहले अध्यापन-क्षेत्र की बात कर ली जाए। हमारे विश्वविद्यालयों में साहित्यशास्त्रीय अध्ययन के दो रूप चलते हैं: एक है सिद्धान्त-परिचय का, दूसरा है उन सिद्धान्तों के प्रयोग-उपयोग का। आप किसी भी विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम उठाकर देख लीजिए। भारतीय साहित्य-शास्त्र के नाम पर कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्तों के नाम रख लिये गये हैं। इन सिद्धान्तों का बहुत ही स्थूल, जड़ और परम्पराविजडित रूप विद्यार्थियों को प्राय: उथले ढंग से थमा दिया जाता है। विद्यार्थी इनका परिचय अधिक जानता है; स्थिति-बोध कम। रस-निष्पत्ति के विविधवाद वह जानेगा, भले ही उनमें से अधिकांश अव्यवहार्य और 'आउट-आफ-डेट' हो चुके हों। नाट्य-रचना के वे सिद्धान्त उसे बताए जायेंगे जो उसे नाटकों में ढूंढ़े न मिलेंगे। ध्वनिवाद और वक्रोक्तिवाद दोनों की प्रशंसा और भेदोपभेद उसे दिये जायेंगे, पर प्रायोगिक धरातल पर दोनों को वह सामंजस्य कहाँ—कैसे करे—इसका रास्ता उसे नहीं मिलेगा। लक्षण-व्यंजना के, ध्वनियों के, गुण-दोषों के, रीति-वृत्तियों के, अलंकारों के, नाट्यांगों और छंदों के भेदोपभेद उसे बताये जाते हैं, पर इन सिद्धान्तों के स्थूल परिचय की अपेक्षा इनके मूल में निहित चेतनाएँ और उसके सामंजस्य-असामंजस्य की ओर ध्यान कम ही दिलाया जाता है। परिणाम यह होता है कि एक ओर तो उनकी दृष्टि में भारतीय साहित्य-शास्त्र अपने में हर—ओर लगभग अगतिशील और जड़वत् सिद्धान्त-शास्त्र रह जाता है, दूसरी ओर उसका बोध प्राय: उन उदाहरणों तक सीमित रह जाता है जो सिद्धान्त परिचय के लिए शास्त्रीय ग्रन्थों से उसे मिले हैं।

अध्यापन-क्षेत्र में भारतीय-साहित्यशास्त्र के प्रायोगिक पक्ष में अनेक प्रकार की विसंगतियां उभरती हैं। मैंने जैसा कि पीछे कहा है, रीतिकाल को छोड़कर भारतीय-साहित्य-शास्त्र की प्रायोगिकता बहुत ही सीमित मात्रा में रह गई है। वैष्णव-काव्य और भारतेन्दु-द्विवेदी-युगीन काव्य में उसका सीमित उपयोग ही होता है। छायावादी काव्य और सूफीकाव्य में हम उसे छूते भर हैं। सन्त-काव्य और आधुनिक कविता के सन्दर्भ में उसकी बात प्राय: नहीं ही चलाते। आधुनिक नवीन विधाओं की बात तो उठती ही नहीं और जहाँ भी उपयोग होता है, उसमें सबका उपयोग नहीं होता जो सिद्धान्त-परिचय के रूप में सिखाया

जाता है। ध्वनि-वक्रोक्ति-शब्दशक्ति-अलंकार-रीति-वृत्तियों के भेदोपभेद पढ़ाने भर के लिए हैं, प्रायोगिक उपयोग के समय एक तरफ रख दिये जाते हैं। इसीलिए तो कि हम उनकी प्रायोगिक अव्यवहार्यता या अनावश्यकता से आधुनिक सन्दर्भों में परिचित हो उठते हैं। पर एक अध्यापन-रूढ़ि खड़ी हो गई है उन्हें पढ़ाये चले जा रहे हैं और सो भी अनेक असामंजस्यों को जीवित रखते हुए। सिद्धान्त-पक्ष पढ़ाते समय हम पढ़ाएंगे : गुण रस के धर्म होते हैं, भाषा के नहीं। वे तीन ही होते है, दस या बीस नहीं। भाषा से उनका सम्बन्ध औपचारिक है। कविता और गद्य में शैली के रूप स्पष्ट करेंगे तो न जाने कितने गुणों की औपचारिक नहीं, तात्विक रूप से उनके साथ जोड़ देंगे। हम पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का बोध भी अपने विद्यार्थी को देते है, उसके ज्ञान को विकसित करने के लिए भी और नये साहित्य-के मार्मिक अनुशीलन के लिए भी। पर भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्त-बोध अनेक बार इतने असमंजस पड़े रह जाते हैं कि व्यावहारिक धरातल पर दोनों की विसंगतियाँ अधिक उभरती हैं।

अध्यापन-क्षेत्र में हमें ध्यान-पूर्वक देखना होगा कि भारतीय साहित्यशास्त्र का कितना और कौन-सा पक्ष उपादेय है और उसकी विसंगतियाँ भी खोजकर दूर करनी होगी। आज के विद्यार्थी और अध्यापक के सामने ये बड़े दीप्त सवाल हैं कि भारतीय साहित्यशास्त्र की प्रायोगिक उपयोगिता कितनी है और वह साहित्यानुशीलन के लक्ष्य को कहाँ तक सिद्ध करती है।

अध्ययन और अनुसन्धान के सन्दर्भों में भारतीय साहित्यशास्त्र की स्थिति आज कुछ मिश्रित प्रकार की है। उसका क्षेत्र बहुत फैला है, कभी-कभी तो जरूरत से अधिक कि पानी बहुत पतला हो गया है। शायद हर प्राध्यापक या आचार्य को आवश्यकता महसूस हुई है कि उसे अपने पद की प्रतिष्ठा के अनुरूप भारतीय साहित्यशास्त्र पर कुछ कहना ही चाहिए और यह कहने का अधिकार भी उसे मानो पदेन प्राप्त है। रीतिकालीन कवि-आचार्य ने जिस प्रकार राज्याश्रय में नियुक्तियाँ पाने या बनाये रखने के लिए आचार्यत्व के क्षेत्र में कुछ-न कुछ हाथ दिखाये थे, विश्वविद्यालयीय आचार्यत्व के बारे में भी कुछ ऐसा ही अनेक बार घटित होता रहा है। इसी प्रकार हर अनुसंधाता को चूँकि कोई न कोई नई बात कहनी है, अतः संगत-असंगत-विसंगत रूप से उसे नई व्याख्या प्रस्तुत करने का आवेश रहा है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के मुख्य ग्रन्थों के अनुवाद आज प्राप्त हैं, पर कितने अनुवाद ऐसे होंगे जो मूल की चेतना को सही रूप में प्रस्तुत करते हों। जब कभी साहित्यशास्त्रीय अध्ययन और अनुसंधान इन्हीं तक सीमित रह गया है तो अजीब चीजें देखने को मिली है। इतना सब होते हुए भी भारतीय साहित्यशास्त्र का अध्ययन और अनुसंधान आज बहुत व्यापक बना है, अनेक सुधी विद्वानों ने उसे गति भी दी है, उसका मार्ग भी प्रशस्त किया है। आधुनिक विज्ञान, मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र और नये मूल्यों के आलोक में भारतीय-साहित्यशास्त्र को समझने-परखने की भी दृष्टि गई है। पर परिणाम की दृष्टि से हम अधिक आगे नहीं बढ़ सके हैं। अभी भी कुल मिलाकर भारतीय-साहित्यशास्त्र के नाम पर हमारे हाथ में रुढ़िबद्ध विधि-विधान ही अधिक आते हैं, उसकी जीवन्त चेतनाएँ उनके बीच अबोली सी पड़ी रह जाती है।

एक उदाहरण से बात साफ कर दूँ। यह धारणा आम-तौर पर बद्धमूल है कि भारतीय-साहित्यशास्त्र 'रस' को ही काव्य का आत्म-तत्त्व मानता है। यद्यपि उसके विविध सम्प्रदायों और सिद्धान्तों में इस विषय में अनेक मान्यताएँ बिखरी हुई है। पर हम हैं कि काव्य के रसात्मवाद को ही भारतीय-साहित्यशास्त्र की केन्द्रीय मान्यता समझते हैं और 'रस' भी वह जो अभिनवगुप्त ने हमें समझा दिया। स्वप्रकाशानन्दमयी संविद् की एकघन विश्रान्ति जो ब्रह्मानन्द-सहोदर हैं और वीतविघ्ना संवित् है। अभिनव तो यहाँ तक कह डालते हैं कि काव्य-शब्दों से भी विभावादि अर्थ हमारी चेतना में आता है, वह सब भाव रूप में परिणत हो जाता है और भाव-तत्त्व अन्ततोगत्वा रस में जो कि संविद्विश्रान्ति-स्वरूप है ही। उन्होंने ध्वनिवाद को भी इसी ढर्रे पर व्याख्यात कर डाला कि भले ही काव्यानुभूति के पार्यन्तिक रूप में अलंकार-ध्वनि या वस्तु-ध्वनि आती हो पर उसकी अन्तिम परिणति रसात्मक ही हो लेती है। अभिनव आत्मानुभूति के बल पर यह बात कहें तो उन्हें कहने का अधिकार इसलिए था कि वे एक असामान्य रहस्यानुभूति-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनका दर्शन ही था कि विश्व का हर पदार्थ जब शिवमय है और भोक्ता मन भी शिवमय है तो चिन्ता करना बेकार है कि मन कहाँ दौड़ता है। उसे जाने दीजिए जहाँ जाए, शिव को छोड़कर जायगा ही कहाँ ?

ऐसी दृष्टि से संपन्न व्यक्ति की हर काव्यानुभूति रसमयी परिणत हो तो आश्चर्य क्या है ? वे ऐसी युवती के शोकानुभव में जो उसके पति की मृत्यु पर उसे एकघनता से प्राप्त हो रहा है, आनन्दानुभूति या रसानुभूति स्वीकार कर सकते हैं। पर सवाल यह होता है कि आम पाठक को, सामान्य काव्य-प्रमाता को यह अनुभूति कहाँ मिलती है और आधुनिक सन्दर्भों में, नये साहित्य में कब मिल पाती है। आज की कविता का भाव-बोध तो प्रमाता को स्व-पर-भाव से मुक्त न रखकर, स्थितियों के स्वारसिक भोग में साझी बनाना चाहता है, तो भारतीय साहित्यशास्त्र के प्रति जो नकारात्मक स्थिति बनी है; उसमें केवल आधुनिक भाव-बोध और आधुनिक संवेदना ही दोषी नहीं है, बहुत कुछ स्वयं भारतीय-साहित्यशास्त्र का वह स्वरूप भी है जिसे जड़ता के साथ हमने पकड़ रखा है और उसे ही प्रतिनिधि पक्ष मात्र रखा है।

साहित्यशास्त्रीय अध्ययन-अनुसन्धान की दो दिशाएँ हो सकती है :एक, उसके अतीत को सही-सही रूप में समझाने की, दूसरे उसमें से उन तत्त्वों को खोजने और व्याख्यायित करने की जो आधुनिक सन्दर्भों में हर गतिशील कदम पर उसे वर्तमान से जोड़ सकें, उसके भविष्य को विकासमान बना सके। हम जब कहते हैं कि भारतीय-साहित्यशास्त्र काव्यानुभूति के चिरन्तन् पहलुओं को ग्रहण करता है तो उसकी चिरन्तनता का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि वे पहलू कभी बदले ही नहीं जा सकते, बल्कि यह होना चाहिए कि उसमें इतनी समाई है कि उसे नवीन सन्दर्भों से सदा जोड़ा जा सकता है। कोई भी शासन-विधान, चाहे वह जनता का हो, चाहे भाषा का, चाहे साहित्य का, अपने स्थूल परिवेश में जड़ बनाकर रखने पर मरणोन्मुख ही होता है। हमें भारतीय-साहित्यशास्त्र में इस जीवन्तता को जागरूक रखने के लिए सोचना ही पड़ेगा।

जाता है। ध्वनि-वक्रोक्ति-शब्दशक्ति-अलंकार-रीति-वृत्तियों के भेदोपभेद पढ़ाने भर के लिए हैं, प्रायोगिक उपयोग के समय एक तरफ रख दिये जाते हैं। इसीलिए तो कि हम उनकी प्रायोगिक अव्यवहार्यता या अनावश्यकता से आधुनिक सन्दर्भों में परिचित हो उठते हैं। पर एक अध्यापन-रूढ़ि खड़ी हो गई है उन्हें पढ़ाये चले जा रहे हैं और सो भी अनेक असामंजस्यों को जीवित रखते हुए। सिद्धान्त-पक्ष पढ़ाते समय हम पढ़ाएंगे : गुण रस के धर्म होते हैं, भाषा के नहीं। वे तीन ही होते है, दस या बीस नहीं। भाषा से उनका सम्बन्ध औपचारिक है। कविता और गद्य में शैली के रूप स्पष्ट करेंगे तो न जाने कितने गुणों को औपचारिक नहीं, तात्विक रूप से उनके साथ जोड़ देंगे। हम पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का बोध भी अपने विद्यार्थी को देते है, उसके ज्ञान को विकसित करने के लिए भी और नये साहित्य-के मार्मिक अनुशीलन के लिए भी। पर भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्त-बोध अनेक बार इतने असमंजस पड़े रह जाते हैं कि व्यावहारिक धरातल पर दोनों की विसंगतियाँ अधिक उभरती हैं।

अध्यापन-क्षेत्र में हमें ध्यान-पूर्वक देखना होगा कि भारतीय साहित्यशास्त्र का कितना और कौन-सा पक्ष उपादेय है और उसकी विसंगतियाँ भी खोजकर दूर करनी होगी। आज के विद्यार्थी और अध्यापक के सामने ये बड़े दीप्त सवाल हैं कि भारतीय साहित्यशास्त्र की प्रायोगिक उपयोगिता कितनी है और वह साहित्यानुशीलन के लक्ष्य को कहाँ तक सिद्ध करती है।

अध्ययन और अनुसन्धान के सन्दर्भों में भारतीय साहित्यशास्त्र की स्थिति आज कुछ मिश्रित प्रकार की है। उसका क्षेत्र बहुत फैला है, कभी-कभी तो जरूरत से अधिक कि पानी बहुत पतला हो गया है। शायद हर प्राध्यापक या आचार्य को आवश्यकता महसूस हुई है कि उसे अपने पद की प्रतिष्ठा के अनुरूप भारतीय साहित्यशास्त्र पर कुछ कहना ही चाहिए और यह कहने का अधिकार भी उसे मानो पदेन प्राप्त है। रीतिकालीन कवि-आचार्य ने जिस प्रकार राज्याश्रय में नियुक्तियाँ पाने या बनाये रखने के लिए आचार्यत्व के क्षेत्र में कुछ-न कुछ हाथ दिखाये थे, विश्वविद्यालयीय आचार्यत्व के बारे में भी कुछ ऐसा ही अनेक बार घटित होता रहा है। इसी प्रकार हर अनुसंधाता को चूँकि कोई न कोई नई बात कहनी है, अतः संगत-असंगत-विसंगत रूप से उसे नई व्याख्या प्रस्तुत करने का आवेश रहा है। भारतीय साहित्यशास्त्र के मुख्य ग्रन्थों के अनुवाद आज प्राप्त हैं, पर कितने अनुवाद ऐसे होंगे जो मूल की चेतना को सही रूप में प्रस्तुत करते हों। जब कभी साहित्यशास्त्रीय अध्ययन और अनुसंधान इन्हीं तक सीमित रह गया है तो अजीब चीजें देखने को मिली है। इतना सब होते हुए भी भारतीय साहित्यशास्त्र का अध्ययन और अनुसंधान आज बहुत व्यापक बना है, अनेक सुधी विद्वानों ने उसे गति भी दी है, उसका मार्ग भी प्रशस्त किया है। आधुनिक विज्ञान, मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र और नये मूल्यों के आलोक में भारतीय-साहित्यशास्त्र को समझने-परखने की भी दृष्टि गई है। पर परिणाम की दृष्टि से हम अधिक आगे नहीं बढ़ सके हैं। अभी भी कुल मिलाकर भारतीय-साहित्यशास्त्र के नाम पर हमारे हाथ में रूढ़िबद्ध विधि-विधान ही अधिक आते हैं, उसकी जीवन्त चेतनाएँ उनके बीच अबोली सी पड़ी रह जाती है।

एक उदाहरण से बात साफ कर दूँ। यह धारणा आम-तौर पर बद्धमूल है कि भारतीय-साहित्यशास्त्र 'रस' को ही काव्य का आत्म-तत्व मानता है। यद्यपि उसके विविध सम्प्रदायों और सिद्धान्तों में इस विषय में अनेक मान्यताएँ बिखरी हुई है। पर हम हैं कि काव्य के रसात्मवाद को ही भारतीय-साहित्यशास्त्र की केन्द्रीय मान्यता समझते हैं और 'रस' भी वह जो अभिनवगुप्त ने हमें समझा दिया। स्वप्रकाशानन्दमयी संविद् की एकघन विश्रान्ति जो ब्रह्मानन्द-सहोदर है और वीतविघना संवित् है। अभिनव तो यहाँ तक कह डालते हैं कि काव्य-शब्दों से भी विभावादि अर्थ हमारी चेतना में आता है, वह सब भाव रूप में परिणत हो जाता है और भाव-तत्व अन्ततोगत्वा रस में जो कि संविदिश्रान्ति-स्वरूप है ही। उन्होंने ध्वनिवाद को भी इसी ढर्रे पर व्याख्यात कर डाला कि भले ही काव्यानुभूति के पार्यन्तिक रूप में अलंकार-ध्वनि या वस्तु-ध्वनि आती हो पर उसकी अन्तिम परिणति रसात्मक ही हो लेती है। अभिनव आत्मानुभूति के बल पर यह बात कहें तो उन्हें कहने का अधिकार इसलिए था कि वे एक असामान्य रहस्यानुभूति-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनका दर्शन ही था कि विश्व का हर पदार्थ जब शिवमय है और भोक्ता मन भी शिवमय है तो चिन्ता करना बेकार है कि मन कहाँ दौड़ता है। उसे जाने दीजिए जहाँ जाए, शिव को छोड़कर जायगा ही कहाँ?

ऐसी दृष्टि से संपन्न व्यक्ति की हर काव्यानुभूति रसमयी परिणत हो तो आश्चर्य क्या है? वे ऐसी युवती के शोकानुभव में जो उसके पति की मृत्यु पर उसे एकघनता से प्राप्त हो रहा है, आनन्दानुभूति या रसानुभूति स्वीकार कर सकते हैं। पर सवाल यह होता है कि आम पाठक को, सामान्य काव्य-प्रमाता को यह अनुभूति कहाँ मिलती है और आधुनिक सन्दर्भों में, नये साहित्य में कब मिल पाती है। आज की कविता का भाव-बोध तो प्रमाता को स्व-पर-भाव से मुक्त न रखकर, स्थितियों के स्वारसिक भोग में साझी बनाना चाहता है, तो भारतीय साहित्यशास्त्र के प्रति जो नकारात्मक स्थिति बनी है; उसमें केवल आधुनिक भाव-बोध और आधुनिक संवेदना ही दोषी नहीं है, बहुत कुछ स्वयं भारतीय-साहित्यशास्त्र का वह स्वरूप भी है जिसे जड़ता के साथ हमने पकड़ रखा है और उसे ही प्रतिनिधि पक्ष मात्र रखा है।

साहित्यशास्त्रीय अध्ययन-अनुसन्धान की दो दिशाएँ हो सकती है: एक, उसके अतीत को सही-सही रूप में समझाने की, दूसरे उसमें से उन तत्वों को खोजने और व्याख्यायित करने की जो आधुनिक सन्दर्भों में हर गतिशील कदम पर उसे वर्तमान से जोड़ सकें, उसके भविष्य को विकासमान बना सके। हम जब कहते हैं कि 'भारतीय-साहित्यशास्त्र काव्यानुभूति के चिरन्तन् पहलुओं को ग्रहण करता है तो उसकी चिरन्तनता का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि वे पहलू कभी बदले ही नहीं जा सकते, बल्कि यह होना चाहिए कि उसमें इतनी समाई है कि उसे नवीन सन्दर्भों से सदा जोड़ा जा सकता है। कोई भी शासन-विधान, चाहे वह जनता का हो, चाहे भाषा का, चाहे साहित्य का, अपने स्थूल परिवेश में जड़ बनाकर रखने पर मरणोन्मुख ही होता है। हमें भारतीय-साहित्यशास्त्र में इस जीवन्तता को जागरूक रखने के लिए सोचना ही पड़ेगा।

भारतीय-साहित्यशास्त्र के अद्यतनीन अध्ययन-अनुसन्धान में दोनों ही प्रकार की कमियाँ दिखाई देती हैं। उसके अतीत को भी साफ-साफ और सही-सही नहीं समझा गया, ऐसा अनेक बार लगता है। सूक्ष्म बातों की बात जाने दीजिए, प्रमुख आचार्यों की मोटी-मोटी मान्यताएँ भी उन्हीं का नाम लेकर मनमाने ढंग से प्रस्तुत कर दी जाती है और कह दिया जाता है, भरत का यह अभिमत है, भट्टनायक यह कहते है, आनन्दवर्द्धन का अभिमत यह है। भ्रान्तियाँ हटनी चाहिए। इन भ्रान्तियों पर भ्रान्तियों की परंपरा खड़ी होती चली जा रही है। दूसरी ओर अतीत का पूरा चित्र भी सामने नहीं आ पा रहा है। ध्वनिवाद को ही ले लीजिए—मूल ध्वनि-सिद्धान्त में आनन्दवर्द्धन ने क्या गति दी, आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के बीच की खाईं कितनी बड़ी थी, अभिनव ने क्या-क्या जोड़-तोड़ कर डाले और उनमें से कितने अव्यावहारिक थे, कितने मम्मट को ही व्यावहारिक लगे और उन्होंने छोड़ दिये, और कितने आज के सन्दर्भों में अव्यावहारिक होने के कारण छोड़ देने योग्य हैं। यदि अध्ययन-अनुसन्धान इन पहलुओं पर जमकर नजर डालें तो निस्सन्देह भारतीय-साहित्यशास्त्र आज के सन्दर्भों में उतना नकार-योग्य न रह जाए जितना कि वह हो गया है। मैंने केवल ध्वनिवाद को लेकर बात कह दी है, ऐसे न जाने कितने पक्ष अनुसन्धान का श्रम चाहते हुए भारतीय-साहित्यशास्त्र के बीच पड़े हुए हैं।

अब सवाल आधुनिक संवेदनाओं और आधुनिक अपेक्षाओं के सन्दर्भ का है। सचमुच ये सन्दर्भ शास्त्रीय कोटि के न होकर भी बड़े महत्व के हैं। देश, समाज और व्यक्ति की आज विचार-सरणि, परिवेश, और भाव-बोध तथा संवेदना सब कुछ बदले हैं। नई चेतना नई समस्या, नया भाव-बोध, नई संवेदना, और साथ-साथ नई-नई उलझने उसके परिवेश के, बाह्य और मानस दोनों ही प्रकार के परवेश के अंग बन गये हैं। जीवन से जुड़नेवाले हर तत्त्व से उसकी मांग हो गई है कि वह सीधे उसके लिए हो। साहित्य से भी उसकी यह अपेक्षा बढ़ गई है। व्यक्ति और समाज के लिए नये मूल्य उभरे हैं, पुराने परिष्कृत भी हुये हैं, अव्यवहार्य टूटे भी हैं और साहित्य इन मूल्यों के विकास-बदलाव में अपना सहयोग भी दे रहा है। तो सीधा प्रश्न है कि क्या भारतीय-साहित्यशास्त्र का इस मूल्य-विकास में कोई उत्तरदायित्व नहीं? और यदि वह किन्हीं जड़ मूल्यों तक ही सीमित है तो उसे क्यों न सचमुच म्यूजियम में रखवा दिया जाए? इस दृष्टि से भी समूचे भारतीय-साहित्यशास्त्र पर दृष्टि डालनी होगी।

भारतीय साहित्यशास्त्र के सम्बन्ध में यह आम धारणा बना दी गई है कि वह आनन्दवादी और सौन्दर्यवादी मूल्यों का ही शास्त्र है। उसके मूल्य अभिजात है जिन्हें चाहे 'प्रतिक्रियावादी' भी कह सकते हैं। आज की युगीन आवश्यकता—अपेक्षा के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि साहित्य में हमें बोधवादी और जनवादी मूल्यों की आवश्यकता है। नये साहित्य, नयी कविता, नया कृतित्व बुद्धिवाद से आक्रान्त होता हुआ बोधवादी मूल्यों को उभार ही रहा है। उधर समाज और युग भी निर्माण की ओर गतिशील होता हुआ जनवादी मूल्यों के विकास में साहित्य का सहयोग चाहता है। प्रचार-प्रोपेगण्डा साहित्य का धर्म नहीं,

पर लोक-मंगल, लोकानुभूति, विश्वमानव की संवेदनाओं का व्यापार—यह तो साहित्य का प्रकृत क्षेत्र होना ही चाहिए। तब सवाल उठाया जा सकता है कि बोधवादी और जनवादी मूल्यों ने भारतीय साहित्यशास्त्र को कैसे और कितनी मात्रा तक जोड़ा जाना चाहिए।

वस्तुत: भारतीय साहित्य-शास्त्र इन मूल्यों से रिक्त भी नहीं है, विमुख भी नहीं। आनन्दवादी और सौन्दर्यवादी मूल्य उसके केन्द्र में अवश्य थे, पर भट्टनायक—अभिनव गुप्त जैसे शैवाचार्यों ने उन मूल्यों को वैयक्तिक आध्यात्मवाद का जामा पहना दिया जबकि भरत की मूल परम्परा में उनमें बोधवादी स्वर भी था, जनवादी स्वर भी। बेचारे दु:खार्त, श्रमार्त और शोकार्त मानव को तस्कीन और विश्रान्ति देनेवाले नाट्य की रचना का लक्ष्य लेकर ही भरत का साहित्य-शास्त्र चला था।

'दु:खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ॥' १।११४

उनके शास्त्र की दृष्टि में उनका नाट्य अबुधों को बोध देनेवाला, बुद्धिविवर्द्धन और उपदेशजनन तथा हितावह भी था। उन्होंने नाट्य को नहीं, अपने शास्त्र को भी केवल भावान्वयापेक्षी नहीं बनाया था, साथ ही साथ कर्मान्वियापेक्षी भी बनाया था—

'कर्मभावान्वयापेक्षी नाट्यवेदो मया कृत:।' १।१०६

यह भारत की चेतना भारतीय-साहित्यशास्त्र के अन्य आचार्यों में से एकदम निकल नहीं गई थी। यह तो आनन्दवादी दार्शनिक शैवाचार्यों के हाथों हुआ कि दु:खी, श्रमार्त समाज को विश्रान्ति 'संविदश्रान्ति' बन गई और 'कर्म-भावान्वयापेक्षी' नाट्य-शास्त्र या कहिए साहित्यशास्त्र सिमिट कर भावान्वयापेक्षी और रसान्त्रयापेक्षी बन बैठा तो भारतीय साहित्य-शास्त्र को जड़ता से मुक्ति दिलाने के लिए हमें उसको नये सिरे से छानबीन करनी पड़ेगी। नज़र तो हमारी खुद ही जानी चाहिए थी, पर कोई बात नहीं, अगर आधुनिक संवेदनाओं और नकारों के आघात से हो प्रेरित होकर हम चेतें और अपनी दृष्टि की जड़ता छोड़ें। और, अन्त में अपने मूल कथ्य को मैं प्रश्नों की भाषा में दुहरा दूँ।

१—भारतीय साहित्य-शास्त्र आधुनिक रचनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में जो अव्यावहारिक और नाकारा हो गया है। इस खाईं को कैसे पाटा जाए?

२—भारतीय साहित्यशास्त्र के उन पक्षों को अध्ययन-अध्यापन की सामान्य चर्चा-भूमि से क्यों न अलग कर दिया जाए जो अपनी व्यावहारिकता खो चुके हैं? यह कोई नई बात न होगी। नाट्यकला की वे असंख्य बारीकियाँ जो नाट्यशास्त्र में वर्णित हैं, सैकड़ों साल से चर्चा से अलग कर दी गईं। अलंकारवाद, नायिका भेद आदि की बारीकियाँ भी पीछे छूटी हैं।

३—अध्यापन-क्षेत्र में भारतीय-साहित्यशास्त्र के समावेश को कितना जोड़ा जाय कि वह प्रायोगिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया जा सके?

४—भारतीय साहित्य-शास्त्र को नये सन्दर्भों के अनुरूप बनाने के लिए नव-रचित

साहित्य, पाश्चात्य चिन्तन और भारतीय प्रकृति के सामंजस्य के साथ कैसे पूर्ण बनाया जाए ?

५—भारतीय साहित्य-शास्त्र के परम्परा प्राप्त रूढ़ स्वरूप में क्या-क्या विसंगतियाँ हैं और उन्हें कैसे दूर किया जाए ?

६—भारतीय साहित्य-शास्त्र के आधुनिक अनुसन्धान से आभासी मौलिकता का नकाब दूर कर सही दिशाएँ कैसे उद्घाटित की जाएँ और अनुसन्धान को किस मात्रा तक व्याख्यात्मक बताते हुए नवीन सन्दर्भों से जोड़ा जाए ?

७—नई संवेदनाओं, नये भाव-बोध, नवीन मूल्यों के साथ साहित्य को जोड़ने के लिए भारतीय साहित्य-शास्त्र को भी नव-चेतना-सम्पन्न कैसे किया जाए ?

आशा है, विद्वान् लोग इस प्रकार की समस्याओं पर भी अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे और भारतीय साहित्य-शास्त्र को चिरन्तन गतिशील बनाने की दिशाएँ उद्घाटित करेंगे ।

क्या ही अच्छा हो कि ये चर्चा-प्रतिचर्चाएँ योजना-बद्ध रूप में आगे बढ़ाई जाएँ, एक मंच विकसित हो जिस पर भारतीय साहित्य-शास्त्र के गम्भीर विद्यार्थी उतरे, जहाँ विद्वानों में छोटे-बड़े की पद-प्रतिष्ठा आड़े न आए, जहाँ शंका समाधान व्यक्तिगत राग-द्वेष के खाते में दर्ज न किये जाएँ और एक क्रमबद्ध सुनियोजित सामूहिक प्रयास से भारतीय-साहित्य-शास्त्र के अभावों को सभाओं में परिणत करने का प्रयास निरन्तर चले और आज की यह गोष्ठी इस प्रयास का श्रीगणेश बने ।

●

चरित्र का हमारे जीवन के सभी पहलुओं पर प्रभाव पड़ता है, हम उसका प्रभाव अपने सामाजिक, राजनीतिक, घरेलू तथा व्यक्तिगत जीवन, सभी स्थानों पर देख रहे हैं। हमारे सामने इस प्रकार के कारण सदा उपस्थित होते रहते हैं जो हमको बचाने के बदले नीचे गढ़े की ओर ले जाते हैं ।

— राजेन्द्र प्रसाद

संरचनात्मक समीक्षा (कहानी)*

डॉ० हरवंश लाल,
निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

कहानी की संरचनात्मक समीक्षा का अभिप्राय स्पष्ट करना कठिन है क्योंकि रचना और समीक्षा ये दो अलग-अलग स्तर है। हां, दोनों में ही चिन्तन और संवेदन संवेतरूप में विद्यमान रहते हैं। यह दूसरी बात है कि आलोचना में जो चिन्तन और संवेदना अपेक्षित है वह आलोचक के ज्ञान, तर्क एवं सूक्ष्म निरीक्षण के द्वारा अभिव्यक्त होती है; जबकि रचनाकार की संवेदना का माध्यम विशुद्ध अभिव्यक्ति है और वह अभिव्यक्ति ही वस्तु स्थिति का बोध करा देती है। समीक्षा रचनाकार की संवेदना को तो स्पष्ट करती ही है साथ ही साथ रचनाकार का ध्यान छूटी हुई वस्तु स्थिति की ओर निर्दिष्ट करती है। कहानी में यह बात और भी अधिक उभर कर आती है। हिन्दी का कथा-साहित्य आज बड़ा समृद्ध कहा जा सकता है। परन्तु उसमें भी परिस्थितियों से समझौते की बात साफ नज़र आती है। विशुद्ध साहित्य न तो परिस्थिति से समझौता मात्र है और न ही कोरा कलावाद। जीवन की व्याख्या के अतिरिक्त साहित्य को अतीत से भी जुड़ना पड़ता है और भविष्य के लिए भी निर्देश करना पड़ता है। परिस्थितियों से समझौते का केवल अर्थ इतना ही हैं कि रचनाकार अपने बोध को विश्वबोध और अपने दर्शन को सामाजिक दर्शन बनाने में समर्थ हो सकता है। कहानीकार के लिए यह कार्य सुगम भी है और कठिन भी। क्योंकि कहानीकार अपने जिये हुए जीवन को ही सामान्य रूप में कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। उसकी यथार्थ अनुभूति समाज के माध्यम से कलात्मक रूप धारण कर लेती है। आज की परिस्थितियों में कहानीकार दोहरे जीवन से जूझ रहा है और शायद इसीलिए उसके शिल्प में अभी कोई ठहराव नहीं। कहानी की संरचनात्मक समीक्षा के लिए यह आवश्यक है कि हम समकालीन हिन्दी कहानी के विभिन्न सोपानों पर दृष्टिपात करें। यह कहना अत्युक्ति न होगी।

समकालीन हिन्दी कहानी

आधुनिक हिंदी नाट्य साहित्य की रंजनात्मक विधाओं में कहानी आज की बहुचर्चित विधा हैं जिसके महत्व का कारण उसकी सार्वजनीनता है। हिंदी कहानी ने अपने जन्म से लेकर आज तक विकास की कई मंजिलें पार की है। हिंदी की प्रथम मौलिक कहानी बंग महिला की 'दुलाई वाली' से ,लेकर चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' तक कहानी की पूर्व पीठिका थी। इसके पश्चात प्रेमचन्द का आगमन कहानी जगत् में ऐसे मोड़ की सूचना देता है जिसने घुटनों के बल चलने वाली कहानी को पैरों के बल चलना सिखाया। इस युग

---

* हिन्दी समीक्षा गोष्ठी में दिया गया व्याख्यान।

में हुए प्रेमचन्द तथा प्रसाद दो कहानीकार वैचारिक स्तर पर दो भिन्न-भिन्न संस्थानों के कहानीकार घोषित हुए। एक के मूल में यथार्थवादी तथा दूसरे के मूल में व्यक्तिवादी विचारधारा थी। एक का समाज वर्तमान का तथा दूसरे का अतीत का था। अतः एक में जहाँ वास्तविकता, विचारात्मकता, रोमांटिकता, आंतरिक संघर्ष एवं अंतर्द्वन्द है जिसमें वर्तमान की अपेक्षा अतीत का राग अलापा गया है। इस वैचारिक मतभेद के कारण प्रेमचन्द का शिल्प बहिर्मुखी तथा प्रसाद का अन्तर्मुखी है, परन्तु फिर भी दोनों लेखकों में आदर्श का झीना आवरण है, समाज कल्याण की भावना है। प्रेमचन्द अपनी परवर्ती कहानियों में रचनात्मक स्तर पर अवश्य बदले हुए दिखलायी पड़ते है और उनका पुराना आदर्श नये यथार्थ में घीसू के माध्यम से दिखलायी पड़ता है परन्तु इन दोनों की कहानी कला में उद्देश्य की भिन्नता के अतिरिक्त आदर्श भावना में समानता है और जीवन को परिवर्तित करने की कामना है। सच तो यह है कि प्रेमचन्द का यथार्थ समष्टि चेतना से तथा प्रसाद का यथार्थ व्यष्टि चेतना से ओत-प्रोत है। ये युग प्राचीन तथा अर्वाचीन मूल्यों के संघर्ष का युग था जिसे उन्होंने प्रचलित मान्यताओं द्वारा सुलझाने का प्रयास किया। परन्तु प्रेमचन्द की परवर्ती 'कफन' तथा 'पूस की रात' कहानियाँ इस तथ्य की साक्ष्य है कि नई समस्याओं को सुलझाने के लिए परम्परागत स्वरूप पर्याप्त नहीं है। अतः इन कहानियों में प्रेमचन्द जी नये बोध और आधुनिकता को ग्रहण करने वाले सशक्त कहानीकार के रूप में दिखलाई देते हैं जिसमें उन्होंने आदर्श रहित यथार्थवादी विचारधारा को मूल में रखा है। अतः जहाँ उनकी पूर्ववर्ती कहानियों में यथार्थ ओढ़ा हुआ है वहीं परवर्ती कहानियाँ में वह कहानी के आंतरिक रचाव में समाया है।

प्रेमचन्दोत्तर काल में प्रेमचन्द परम्परा के कहानीकार यशपाल में ये यथार्थवादी विचारधारा बदले हुए रूप में समाजवादी यथार्थ के रूप में दिखलाई पड़ती है। वह सामाजिक उत्तरदायित्व को स्वीकारते हैं। आधुनिकता को भौतिकवाद के वैचारिक धरातल पर स्वीकार करते हैं। इन्होंने कहानियों में स्वयं चिन्तक का कार्य किया है। वह समस्याओं को उठाकर उसका समाधान भी कर देते हैं। उनका उद्देश्य समाज सुधार की भावना है जिसमें वह एक उपदेशक के रूप में दिखलाई पड़ते है। इसी कारण उनकी अभिव्यक्ति में सपाटता है तथा बीच-बीच में व्यंग्य के छींटे हैं।

इस कहानीधारा के साथ ही व्यक्तिवादी विचारधारा भी समान रूप से बहती रही है जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी आदि रचनाकारों ने व्यष्टि चिंतन, व्यष्टि-सत्य एवं व्यष्टि-चेतना की अपनी कहानी के मूल में स्वीकारा है। वर्गपात्रों के स्थान पर व्यक्तिपात्रों की सृष्टि की है। व्यक्ति के आन्तरिक संवेगों को विश्लेषित किया है। वास्तव में इन कहानियों में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक चिन्तकों (फ्रायड, एडलर, युंग) का प्रभाव था। फलतः कहानी की विषयवस्तु व्यक्ति के अन्तर्मन से केन्द्रित हो गई। प्रेम को एक वैयक्तिक मूल मानने हुए इन्होंने अपनी कहानियों में पति-पत्नी एवं प्रेमी के त्रिकोण को उठाया है। पत्नी, एक रात, मास्टर जी आदि जैनेन्द्र की कहानियों में नारी एक पहेली है। इन कहानीकारों की कहानियों में यौन कुंठा, हीन भावना, मन की विक्षिप्त अवस्था आदि का उद्घाटन है। जैनेन्द्र की कहानियों में मन का

विश्लेषण मूल समस्या है। इन कहानियों में कथाकारों का मनोवैज्ञानिक तथा चिन्तक रूप दिखलायी पड़ता है। पर मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के कारण इनका शिल्प निबन्धात्मक है। प्रसाद की कहानियों में जिस आन्तरिक द्वन्द्व को उठाया गया है, जिस व्यक्ति सत्य की खोजने का प्रयास है वही भावनात्मकता से उतर कर बौद्धिक स्तर पर जैनेन्द्र की कहानियों में है।

वस्तुत: स्वतंत्रता पूर्व की कहानी यथार्थ की तलाश की कहानी है। यह यथार्थ के प्रति एक चाह, जिज्ञासा या धारणा ही व्यक्त करती है। यह यथार्थ की अभिव्यक्ति का साहित्य नहीं है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में पिछली परम्परा भी स्पष्ट दिखाई देती है और १९५५ के आस-पास तक यह पुरानी धारा किसी न किसी रूप में पाई जाती रही है। हाँ, यह सच है कि ५० के आस-पास कुछ कथाकारों की कृतियों में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन कथ्य एवं शैली में परिलक्षित हुआ। निश्चय ही यह वृहत्तर परिवेश में द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका एवं भारतीय परिवेश में देश के विभाजन के कारण हुआ था। स्वतंत्रता के बाद विभिन्न देशव्यापी योजनाओं, शिक्षा के प्रचार तथा संयुक्त परिवार के विघटन के फलस्वरूप भी कहानियों में परिवर्तन दिखाई दिया। कहानियाँ परिवेश के पर्यवेक्षण की वस्तु बन गईं। कथाकार अपनी अभिव्यक्ति में अधिक जिम्मेवार हो गया। सन् '५० के बाद विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक एवं वैयक्तिक विचारधाराओं के इस परिवर्तित क्रम को 'नई कहानी' की संज्ञा से अभिहित किया गया। शुरू में यह मात्र एक नामांकन था, बदले हुए कथा साहित्य के तेवर उद्घोषित करने के लिए।

किन्तु धीरे-धीरे यह परिवर्तन एक विशेष रूढ़ि और दलगत स्वार्थ में परिणत हो गया तथा युवा बुद्धिजीवियों द्वारा उसकी प्रतिक्रिया भी हुई। यों 'नई कहानी' नाम से मानी जानेवाली कथाकृतियों में पिछली परम्परा के तत्व मौजूद थे किन्तु यह कहने में कोई संकोच नहीं कि ग्राम्य, कस्बे तथा शहरी वातावरण पर कुछ निर्दोष और प्रांजल रचनाएँ भी इस बीच प्रकाशित हुई। निर्मल वर्मा की 'परिंदे', 'लंदन की रात', शेखर जोशी की 'कोशी के घटवार' और राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' इस परिवर्तन की साक्षी हैं।

कहानी में १९५० के आस-पास जो परिवर्तन आए, परिवर्तन इससे पिछली पीढ़ी के लेखकों की कृतियों में जो मानसिकता थी उसका पर्दाफाश करने की इच्छा स्वरूप ही परिलक्षित हुए। १९५० से पहले लेखक आदर्श की ओर उन्मुख थे, मगर इसके साथ ही वे जीवन के घिनौने सत्य पर पर्दा डालना चाहते थे। इस पर्दे के उन्मूलन की इच्छा सन् १९५० के बाद लेखकों में उपजीं। इसका मूल कारण यह था कि देश के विभाजन के समय जो जन-समुदाय की उथल-पुथल हुई और पंजाब तथा बंगाल से विस्थापित लोग इस देश में आए तो उनके अपने परिवेश में दबे ढँके न रह सके और इसके फलस्वरूप हिन्दी कहानी से भी एक ऐसी पीढ़ी लेखकों को आई जिन्होंने जीवन के कटु सत्यों को जीवन्त रूप में चित्रित करना आवश्यक समझा।

'६० के आस-पास कथाकारों का एक वर्ग आन्तरिक ऊहापोह तथा विभिन्न मनः स्थितियों के सूक्ष्म निरीक्षण को कलात्मक गरिमा के साथ अभिव्यक्ति देने के लिए अग्रसर हुआ। कथाकारों के इस दल ने नई कहानी की यथार्थोन्मुख रचनाओं के विपरीत तटस्थ द्रष्टा बनकर कथाकार का स्वयं के साथ साक्षात्कार आवश्यक माना। इन कथाकारों ने इस प्रकार की कहानियों को 'सचेतन कहानी' की संज्ञा दी। ये कथाकार 'अमेरिकन एक्टिविस्ट ग्रूप' से प्रभावित थे। जीवन के विभिन्न पक्षों का सटीक चित्रण इनकी रचनाओं में पाया जाता है। महीप सिंह, योगेश गुप्त, मनहर चौहान आदि की कृतियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

यों सचेतन कहानी, नई कहानी और इनके परवर्ती नाम अकहानी और समान्तर कहानी में कोई विशेष विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। इन आन्दोलनों से सम्बद्ध कथाकार किसी एक आन्दोलन से सम्बद्ध होकर अन्य लेबलों के नीचे भी रचनाएं प्रकाशित करते रहे हैं। लगता है कि अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए कथाकारों ने यह छिटपुट प्रयास किये हैं। किन्तु इससे यह तो हुआ ही कि विभिन्न कथाकार किसी विशिष्टता के लिए समर्पित होकर सृजन कार्य में लगे रहे और कथा साहित्य की नई प्रवृत्तियों का विकास हुआ।

अकहानी ग्रूप के कथाकारों ने विभिन्न शैलीगत प्रयोग किए और कहीं-कहीं परम्परावादी कथ्य की अनिवार्यता तक को नकारा गया। विशिष्ट मनःस्थिति के क्षण विशेष को इस माध्यम से अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया गया। श्री गंगा प्रसाद विमल, दूधनाथ सिंह, राजकमल चौधरी तथा रमेश बक्षी की कथाकृतियाँ अकहानी तत्व के समीप हैं।

नई कहानी के इन विभिन्न स्वरूपों में कथाकार निश्चय ही कई नई शैलियों और नये विषयों को संस्पर्शित करते रहे है तथा कई निषिद्ध तथा क्रांतिपरक विचारधाराओं को कहानी के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। यह निश्चय ही शुभ है और पिछली कथा परम्परा से हटकर नये मार्गों को खोजने का यह प्रयास अप्रतिम है।

नई कहानी का आविर्भाव भारत के लिए कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यह भारतीय साहित्य की आवश्यकता थी। इसने नये भावबोध को ग्रहण किया है। ये व्यक्ति की आपबीती कहानी है। इसने स्वातन्त्र्योत्तर नये मानव को देखने का नया दायित्व संभाला है। जीवन और जगत् के विस्तृत परिवेश से अपनी कहानी के लिए कथ्य लिया है। सन् १९५० के आस-पास कहानी लेखकों की जो नयी पीढ़ी उभरी वह मूलतः गाँव से जुड़ी थी। अतः शेखर जोशी, रेणु, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, भीष्म कहानी, शिवप्रसाद जैसे कथाकारों ने ग्राम्य अंचल एवं कस्बाई परिवेश को ही अपनी-अपनी दृष्टि एवं संवेदना के स्तर पर उभारा है। इनमें भारतीय ग्रामीण जीवन का पूरा नक्शा दिखलाई पड़ता है। '५०-६० के मध्य ये ग्राम जीवन किसी न किसी बहाने से इस कहानी के मूल में रहा। ये इस कहानी की उपलब्धि थी। इसमें अंचल विशेष के जीवन को अपनी कथा का आधार बनाकर नये शिल्प के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। सन् ६० के आस-पास नगर कथा का आन्दोलन दिखलाई पड़ता है। नये कथाकारों की नई पीढ़ी जिसमें निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, उषा प्रियंवदा, ज्ञान रंजन,

गंगा प्रसाद विमल, रवीन्द्र कालिया आदि कथाकार शामिल हैं, नगर और महानगर के जीवन को आधार बनाया तथा अपने आपको आधुनिकतावादी सिद्ध करने का दावा किया। भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत' में नागरिक जीवन की कृत्रिमता का उद्घाटन है जहाँ असलियत को छिपाने के लिए जीवित माँ को सामान घर में छिपाया जाता है। नगर जीवन के अकेलेपन, अजनबीपन, आत्मनिर्वासन अब और विवशता का चित्रण इन कहानियों में क्षण बोध का थीमेटिक प्रयोग है। अस्तित्ववादी प्रभाव के फलस्वरूप संकट, संत्रास एवं मृत्यु बोध इन कहानियों की वैचारिकता में गहरे समाये हैं।

सन् ६५ के बाद नये कथाकारों में धर्म तथा रूढ़ियों के प्रति अनास्था है। शायद यह योरोप के अस्तित्ववादी दर्शन का अंधानुकरण है। योरोप की पृष्ठभूमि में द्वितीय महायुद्ध था। वहाँ पर अस्तित्व की बात नये सिरे से की गई थी। ऐसी धारणा है कि इन लेखकों मे विद्रोह का स्वर है पर संत्रास, मृत्यु और अजनबियत के नारे वर्तमान भारतीय परिवेश में ठीक प्रतीत नहीं होते। लगता है ये कथाकार का ओढ़ा हुआ कथ्य है। इसी विरोध को गंगा प्रसाद विमल ने अकहानी नाम से नये आन्दोलन में स्थापित किया, जो पाश्चात्य 'एंटी-स्टोरी' की छाया है। इसके मूल को भारतीय परिवेश में खोजना व्यर्थ है।

कुछ व्यंग्यकारों ने जिसमें हरिशंकर परसाई प्रमुख हैं, व्यंग्य कलाओं के माध्यम से समाज के घृणित पक्ष पर व्यंग्य किया है। "लंका विजय के बाद" कहानी में उसका एक पात्र अपने शरीर में इसलिए घाव बना रहा है क्योंकि नकली भाव से ही पद दिये जाते हैं। सीधा आदमी आज की दुनियाँ में बुद्धू करार दिया जाता है। इन कहानियों में मूल्यों के विघटन को संकेतित किया है।

इन चार पाँच वर्षों में कहानी फिर बदली है किन्तु नग्न यथार्थ कहानी की गरिमा को धूमिल करता है। इस काल में १०० से अधिक लघु पत्रिकाओं में प्रतिपक्ष या विपक्ष की कहानियाँ निकलीं जो राजनीति और सत्ता के भौंडेपन को खोजने वाली थीं तथा जनता को सचेत करती थीं। पर आजकल सन्नाटा है। इस कहानी का कोई निर्णायक बिन्दु नहीं है, ये दिशाहीन हैं। निकट भविष्य में पैने यथार्थ की ऐसी कहानियाँ लिखी जाएंगी जो वैचारिक क्रान्ति लेकर आएँगी।

'५० से ७५ तक की नई कहानी की इस यात्रा में शिव प्रसाद सिंह, कमलेश्वर, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, गिरिराज किशोर, दूधनाथ सिंह, महीप सिंह, राजेन्द्र यादव, महेन्द्र भल्ला, मन्नू भंडारी, ज्ञान प्रकाश, कृष्णा सोबती, सान्त्वना निगम, मृणाल पांडे, आदि हस्ताक्षर उभर कर आये हैं। इनसे नये लेखन की विशेष आशाएं हैं। संक्षेप में नई कहानी की वस्तुगत शिल्पगत उपलब्धियाँ हैं: सूक्ष्म यथार्थ बोध, मनुष्य के सहज स्वरूप का उद्घाटन, धरती से जुड़े होने का भाव, नये जीवन मूल्यों की तलाश, निर्मम एवं कटु सत्य का उद्घाटन, संबंधों की टकराहट एवं नये शिल्पगत प्रयोग।

एक बात इस संबंध में और कहना चाहूँगा कि सर्जनात्मकता की दृष्टि से यद्यपि नई

कहानी समृद्ध है, फिर भी समीक्षा के स्तर पर संतोष जनक कार्य नहीं हुआ है। नई कहानी संबंधी जो भी समीक्षा ग्रंथ देखने में आये हैं वे या तो बँधे-बँधाए खांचे में समाविष्ट हैं या गुटबंदी से ग्रस्त हैं। समीक्षा के नाम पर उसका स्वस्थ रूप आजतक सामने नहीं आ सका है। निश्चय ही नई कहानी की स्वस्थ समीक्षा की आज नितांत आवश्यकता है। समीक्षा के माध्यम से उनकी विषयवस्तु, कथानक संबंधी परिवर्तित दृष्टिकोण, पात्रों का विन्यास, भाषा-शैली एवं शिल्पगत अंगों में पुरानी कहानी से आज की कहानी में क्या अंतर आया है तथा वह अंतर किस रूप में आया है, इसकी ओर दृष्टि डालने की आवश्यकता है। नयी कहानी अपनी सार्थकता एवं संप्रेषणीयता में किन आयामों को पार कर चुकी है इसकी ओर भी दृष्टि डालने की अपेक्षा है।

अंत में मेरा कहानी लेखकों से आग्रह है कि वे सतही यथार्थ को त्याग कर ठोस यथार्थ की कहानियाँ लिखें, जिनमें जीवन के नये मूल्यों का संकेत हो। वे भारतीय संस्कृति के आंतरिक मूल्यों को वर्तमान परिवेश से आत्मसात् कर उद्घाटित करें तथा विज्ञान के इस युग में तकनीकी विकास के समानान्तर व्यक्ति के विकास की दिशा का निर्देश करें।



अपने पैरों पर खड़ा हुआ किसान अपने घुटनों पर झुके हुये जेंटिलमैन से ऊँचा है।

— फ्रेंकलिन



क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र हर एक को अपने पैरों पर खड़ा रहना सीखना चाहिए।

— विवेकानन्द

समकालीन हिन्दी आलोचना--- १९५० के बाद*

डॉ० भगवती प्रसाद सिंह
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

सन् १९५० के बाद की हिन्दी आलोचना के अनेक आयाम, विविध रूप और कई स्तर हमारे सामने हैं। 'नयी समीक्षा', 'सर्जनात्मक समीक्षा', 'प्राध्यापकीय आलोचना', 'शास्त्रीय आलोचना', 'शोध और 'अनुसन्धानपरक आलोचना' और 'शैली वैज्ञानिक आलोचना' आदि कई नाम बार-बार हमारे सामने आते हैं—कभी सहज ढंग से और कभी आरोप-प्रत्यारोप के अंदाज में। इससे यह तो स्पष्ट है कि समकालीन आलोचना समकालीन रचना के ही समानान्तर -- एक जीवंत विधा के रूप में विकसित हो रही है साथ ही उसमें एक द्वन्द्व की स्थिति भी बनी हुई है।

समकालीन आलोचना पर विचार करते हुए एक विशेष बात यह लक्षित होती है कि उसका सूत्र केवल आलोचना के हाथ में नहीं रह गया है बल्कि वह रचनाकार के हाथ में भी उतना ही है जितना आलोचक के। पिछले दशक में 'आलोचना क्यों' जैसा प्रश्न रचनाकारों की ही ओर से खड़ा किया गया था। नये रचनाकारों को शायद ऐसा लगा था कि उनकी रचना का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है। उन्हीं की ओर से 'प्राध्यापकीय आलोचना' नाम भी दिया गया, जिससे यह ध्वनि निकलती है कि आलोचना परीक्षोपयोगी होती जा रही है और वह रचना के साथ नही चल रही है। यहाँ पर यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि रचनाकारों का उपर्युक्त आरोप एकदम निराधार नहीं है। ऐसी आलोचनाएँ भी देखने में आती हैं जिनमें काव्य शास्त्र की आत्मा पर ध्यान न देकर केवल भरत, दण्डी अरस्तू आदि का नाम दुहराया जाता है। हिन्दी में शोध कार्यों के रूप में जो आलोचना हो रही है, वह भी एक संकीर्ण रूप लेती जा रही है। अतः इस प्रकार की आलोचना का विरोध तो स्वाभाविक है परन्तु विरोध के आग्रह में प्राध्यापक वर्ग द्वारा लिखी गयी किसी भी आलोचना को 'प्राध्यापकीय' कहकर उसकी खिल्ली उड़ाना ठीक नहीं। कहना न होगा कि आचार्य शुक्ल से लेकर आजतक हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने में प्राध्यापक वर्ग की विशिष्ट भूमिका रही है और है।

रचनाकारों को आलोचक के रूप में सामने आना एक सुखद स्थिति है। इससे साहित्य को रचनाकार की दृष्टि से पहचानने का अवसर मिला है। पर प्रायः यह देखा गया है कि रचना-

* हिन्दी समीक्षा गोष्ठी में दिया गया व्याख्यान।

कार आलोचक अपने आलोचनात्मक विश्लेषण में तटस्थ नहीं रह पाता। वह अपनी रचनात्मक मान्यताओं को जान या अनजान में आलोचना पर थोपने लगता है। यदि रचनाकार किसी समकालीन रचना-आन्दोलन से सम्बद्ध है तब तो वह और भी तटस्थ नहीं रह पाता। समकालीन हिन्दी साहित्य में कविता और कहानी के विविध आन्दोलनों के साथ जुड़े हुए रचनाकारों ने इसी प्रकार की आलोचना के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पिछले कुछ वर्षों में जो आलोचना पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सामने आयी है उसमें तो और भी खतरनाक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। रचनाकारों के गुट के आधार पर आलोचकों के भी गुट बन गये लगते हैं। वे अपने-अपने दल के लेखकों का नाम बार-बार लेते हैं और उन्हीं की प्रशंसा करते हैं। उनकी आलोचना-शब्दावली में भी पत्रकारिता की मुहावरे बाजी अधिक है। वस्तुतः समकालीन आलोचना को इस प्रकार की गुटबाजी और संकीर्णता से मुक्त होने की आवश्यकता है।

आलोचना की सर्जनात्मकता की चर्चा पिछले दिनों बार-बार हुई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आलोचना का कार्य रचना का साक्षात्कार करना है। इस साक्षात्कार के लिये आलोचक को भी रचना के समानान्तर यात्रा करनी पड़ती है। इस यात्रा में उसे रचना की भाषा का विशेष रूप से विश्लेपण करना पड़ता है। उसकी संरचना की और उसके बिम्ब-वैशिष्ट्य की पहचान करनी पड़ती है, जिसे 'नयी समीक्षा' कहा जाता है वह रचना के साथ-साथ चलने पर बल देती है। 'सर्जनात्मक आलोचना' भी इसी पर बल देती है। पर आलोचक का काम कृतियों के साथ चलकर उसकी व्याख्या करना मात्र नहीं है। वह और आगे बढ़कर कृति के गुण-दोष को परख कर उसका मूल्यांकन भी करता है और उस पर अपना निर्णय भी देता है। मूल्यांकन का अर्थ किसी प्रकार का उपदेश देना या अपनी नैतिक मान्यताओं को लादना नहीं है बल्कि पूर्ण तटस्थ दृष्टि से कृति का विश्लेषण करना है। यदि आलोचना मूल्यांकन नहीं करती तो उसकी स्वतन्त्रता खंडित होती है और वह एक तात्कालिक दृष्टि से ग्रस्त हो जाती है। आलोचना के लिये एक सही संतुलित दृष्टि जरूरी है, जिसके आधार पर वह न केवल समकालीन कृतियों का बल्कि पुरानी कृतियों का भी मूल्यांकन कर सके।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सन् १९५० के बाद की हिन्दी आलोचना अपने अनेक आयामों में पर्याप्त समृद्ध है और वह रचना के समानान्तर ही तेजी से विकासशील है। समकालीन कविता और कहानी की आलोचना में इधर बहुत काम हुआ है। कृतियों के भाषा परक और शैली वैज्ञानिक अध्ययन भी बहुत हो रहे हैं। आलोचना के अतिरिक्त रचनाकारों ने भी समकालीन आलोचना में महत्वपूर्ण योग दिये हैं। पर इन सबके बावजूद समकालीन आलोचना में तटस्थता और निष्पक्षता की जरूरत है। नये या पुराने के आग्रह में दृष्टि एकांगी होती है, जिससे कृतियों का समग्र मूल्यांकन नहीं हो पाता। अतः आज जरूरत है गुटबाजी से मुक्त एक समग्र दृष्टि की, जिससे नयी और पुरानी दोनों प्रकार की कृतियों का सही मूल्यांकन हो सके।

समकालीन समीक्षा : १९५० ई० के बाद*

डॉ० त्रिभुवन सिंह
रीडर, हिन्दी

समकालीन समीक्षा पर विचार-विमर्श करने से पूर्व आधुनिकता और समकालीनता के प्रत्ययात्मक-संदर्भ को जानना नितान्त आवश्यक हो जाता है। आधुनिकता युगबोध और कालबोध की विशिष्टता का गुण है तथा समकालीनता स्थिति-विशेष का। आधुनिकता का आयाम अत्यन्त विस्तृत होता है किन्तु समकालीनता का दायरा सीमित। आधुनिकता वैज्ञानिक एवं तकनीकी काल सापेक्षता का वह भाव है जिसने मानव को नया परन्तु महत्वपूर्ण संदर्भ प्रदान किया है। आधुनिकता मात्र फैशन न होकर विविध दर्शन एवं विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में विकसित मानव-मूल्यों की प्रायोगिक प्रक्रिया है। देश-काल के परिसंदर्भ में आधुनिकता पूर्वाग्रह का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है किन्तु कतिपय मूल्यों एवं मान्यताओं में साम्य भी दिखलाई पड़ता है। आधुनिकता पूर्वाग्रह एवं पूर्व निश्चय से मुक्त बौद्धिक संचेतना की वह मानवीय परिणति है, जिसमें ऐतिहासिक बोध द्वारा अतीत और भविष्य को वर्तमान के मोड़ पर प्रत्यक्षीकृत किया जाता है। समकालीन बोध से आधुनिकता में यथार्थ को ग्रहण करने की शक्ति मिलती है। समकालीनता का सवाल आजादी के बाद क्रमशः विकसित होता गया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत का सारा साहित्य राजनीति से क्रमशः सम्पृक्त होता गया है। यह समकालीनता की ही देन है। सृजन के साथ ही उनके मानों एवं प्रतिमानों में भी परिवर्तन आता गया है।

हिन्दी की समकालीन समीक्षा को विभिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है। इसके स्वरूप और विविधता की चर्चा भी यहाँ सम्भव नहीं और न तो यहाँ पर इसके ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। सन् १९५० ई० के बाद भारतीय जीवन में जो विविधता और परिवर्तन आया उससे अप्रभावित रहना हिन्दी साहित्य के लिए सम्भव नहीं था। प्रस्तुत परिवर्तन इतना व्यापक और विविधता लिए था कि साहित्य-सर्जन की दिशा अनियंत्रित हो उठी, विषय और शिल्प दोनों जिसके शिकार हुए। ऐसी स्थिति में समीक्षा का दायित्व अत्यधिक बढ़ जाता है। सन् १९५० ई० के बाद की समीक्षा जो साहित्य सर्जन के समान्तर चलती रही क्या वह अपने समकालीन दायित्व बोध का निर्वाह कर सकी है? थोड़े से शब्दों में इस पर विचार करने का प्रयत्न करूँगा।

इसे सभी स्वीकार करेंगे कि साहित्य की उपयोगिता व्यावहारिक जीवन में तो है ही, वह मानव-हृदय का दिशा-दर्शन भी करता है। वह जीवनोपयोगी ज्ञान को सुलभ कराने के साथ-साथ मानव को उसके वास्तविक सत्य से परिचित भी कराता है। जिस साहित्य में मानव-मस्तिष्क और हृदय को समुन्नत बनाने की शक्ति नहीं होती और जो उसकी स्वाभाविक नैतिकता को समृद्ध कर पाने में समर्थ नहीं होता, उसे महान साहित्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह

---

* हिन्दी समीक्षा गोष्ठी में दिया गया व्याख्यान।

भी सत्य है कि सभी मानसिक स्तर के लोगों को प्रसन्न करने के लिए साहित्य रचना नहीं की जा सकती और न तो कोई समीक्षा ही ऐसी प्रस्तुत की जा सकती है कि जो सभी प्रकार की कृतियों पर समान रूप से लागू होती हो। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को स्वीकार करते हुए साहित्य में यदि ऐसे मूल्यों को प्रतिष्ठित नहीं किया जा सका कि जिससे विकास का नैरंतर्य एवं उसकी प्रासंगिकता बनी रहे तो वह साहित्य न होकर कुछ और होगा। इसके लिए साहित्य-रूपों की सीमा कभी भी बाधक नहीं बन सकती। कविता से लेकर अकहानी तक इसे समान रूप से प्रतिष्ठित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में सन् १९५० ई० की समीक्षा में जो अराजकता व्याप्त है उसका कोई अर्थ नहीं होता। पुराने-नये और नये-पुराने समीक्षकों की परस्पर नोंक-झोंक तो होती ही रही, प्रासंगिकता और अप्रासंगिकता के संघर्ष का शिकार भी इस काल की समीक्षा को आरंभ में होना पड़ा। इसकी पृष्ठभूमि में वे आलोचक भी थे जो छायावाद की प्रतिष्ठा में उस समय अपनी पूरी शक्ति लगा रहे थे जबकि स्वयं छायावादी कवियों ने छायावाद के अन्त की घोषणा कर दी थी। आलोचना का जो नया दौर सन् १९३६ ई० में हुए 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अधिवेशन के बाद शुरू हुआ था, उसने रचनात्मक साहित्यकारों को भी प्रभावित किया और लेखक तथा आलोचक दोनों धीरे-धीरे राजनीतिक खेमों में इकट्ठे होने लगे, कुछ प्रतिबद्धता के कारण और कुछ फैशन के रूप में। इस प्रकार जो प्रवृत्ति विकसित हुई उसने आगे चलकर सन् १९५० ई० के बाद की समीक्षा के स्वरूप निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पर इतना अवश्य है कि प्रगतिवादी समीक्षा के नाम पर जिस मार्क्सवाद कट्टरता का समीक्षा जगत में उदय हुआ था उसमें थोड़ी उदारता आयी। उदाहरण के लिए शिवदान सिंह चौहान की सन् १९५१ ई० के बाद की समीक्षाओं को देखा जा सकता है। त्रैमासिक पत्रिका 'आलोचना' के सम्पादक के रूप में उन्होंने जिस समीक्षा को स्वीकृति प्रदान की उसमें साहित्य के लिए 'पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा' का आग्रह व्यक्त किया गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रगतिवादी समीक्षक प्रकाश चन्द्र गुप्त ने शिवदान सिंह चौहान से भी अधिक उदारता व्यक्त की और मार्क्सवादी विध्वंसक समीक्षा की बिलकुल उपेक्षा कर दी।

डा० रामविलास शर्मा ने भी जड़ मार्क्सवादी परम्परा की समीक्षा से हटकर रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा शैली की पुनर्व्याख्या की। इतने पर भी इस प्रश्न का उत्तर पाना शेष रहा कि क्या समीक्षा का कोई ऐसा मानदण्ड सामने आ सका है कि जिसके द्वारा समकालीन साहित्य का मूल्यांकन किया जा सके।

प्रत्येक काल की कला का अभिव्यक्ति का अपना माध्यम होता है। अभिव्यक्ति के लिए चित्रकार अपने रंग गायक अपने स्वर और साहित्यकार अपने शब्दों का सहारा लेता है। साहित्यकार को अपनी अभिव्यक्ति के लिए उन्हीं शब्दों का सहारा लेना पड़ता है जिनका प्रयोग हम सभी प्रतिदिन रोजमर्रा की जिन्दगी में आने वाले कामों के लिए किया करते हैं, जिससे वे घिसे सिक्के की भाँति इतने पुराने पड़ जाते हैं कि अपना आकर्षण खो बैठते हैं, जिससे साहित्यकार का कार्य अपेक्षाकृत कठिन हो जाता है क्योंकि उसे अपनी रचना को आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना है। यहीं उससे कला की अपेक्षा की जाती है जिसके लिए

उसे कलात्मक संरचना का सहारा लेना पड़ता है। अतः नवीनता के आग्रह के कारण साहित्य की कलात्मकता को यदि समीक्षक बिल्कुल नकार देने की बात कहेगा तो एक नयी समस्या उत्पन्न हो जायगी जैसा कि इस खेमें के कुछ समीक्षकों का आग्रह रहा है। इतना अवश्य है कि मात्र कला प्रदर्शन ही साहित्य नहीं है अन्यथा हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य की सीमा से न साहित्य आगे बढ़ पाता और न हिन्दी समीक्षा। हिन्दी समीक्षा के इतिहास पर यदि विहंगम दृष्टि डाले तो एक बड़ी विचित्र बात देखने को मिलेगी। समीक्षा के आरंभिक दिनों में रीतिकालीन साहित्य के विवेचन में ही समीक्षकों की अधिकांश शक्ति लगी पर दूसरे दौर तक जाते-जाते उस पर भक्तिकालीन साहित्य हावी हो गया। कबीर, सूर और तुलसी अभी भी किसी न किसी रूप में समीक्ष्य बने हुए हैं पर रीतिकालीन कवियों को लेकर चलने वाला 'बिहारी बनाम देव' जैसे दंगल का अब कहीं कोई नाम लेवा नहीं रह गया। विश्वविद्यालयीय शोध प्रबन्धों को यदि अपवाद के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो हिन्दी शोध प्रबन्धों के रूप में आने वाली समीक्षा को सामयिकता के साथ जोड़ने की अवश्यकता भी नहीं है क्योंकि अधिकांश शोध प्रबन्धों के विवेच्य विषय पुराने ही होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मानव मूल्यों पर आधारित साहित्य ही दीर्घजीवी होता है और उसकी सामयिक प्रासंगिकता को उजागर करना तथा उसकी और साहित्यकार को प्रेरित करना ही समकालीन समीक्षा का धर्म होता है। मात्र फतवागिरी और गुटबन्दी को प्रश्रय देने के लिए अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलापने वाली समीक्षा को समीक्षा की श्रेणी से खारिज करना होगा। उसमें सामयिकता चाहे जितनी भी हो। मुझे स्वीकार कर लेने में कोई हिचक नहीं है कि इस प्रकार की स्थिति सन् १९५० ई० के बाद की समीक्षा में पैदा हुयी है और आज भी वह जीवित है तथा उसे जीवित रखने का श्रेय कुछ सुविधाजीवी समीक्षकों को है जो या तो बड़े-बड़े शिक्षा संस्थानों में प्रतिष्ठित होने के साथ ही किसी न किसी गुट के शिकार हैं अथवा उनकी अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता है या लोकप्रिय हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक हैं; जिनके कारण उन्होंने अपने आस-पास भण्डाबरदारों की खासी फौज खड़ी कर ली है। इन लोगों के लिए नगण्य से नगण्य साहित्यकार को युगमसीहा और सत्-साहित्यकार को दकियानूस एवं रिक्त मस्तिष्क वाला प्रमाणित कर देने में देर नहीं क्योंकि इनके पास विज्ञापन के माध्यम हैं और कुछ बँधे-बँधाये पाठक भी जो इनकी बातें पढ़ने और सुनने के लिए मजबूर हैं। इस स्थिति में युग की स्वाभाविक प्रक्रिया में चल रहे सर्जक की सृष्टि साधना या तो पाठक तक पहुँच नहीं पाती या उसे हतोत्साहित होकर बीच में ही दम तोड़ देना पड़ता है।

समीक्षक का कार्य है नियमन करना और प्रतिभाओं को प्रोत्साहित करना तथा साथ ही अपने ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करना कि जिससे उसकी संस्तुति पर पाठक बिना किसी हिचक के कृति को उठा लें और उसे उसके हृदय तथा मस्तिष्क की सही खुराक मिल जाय। समकालीन समीक्षा इस दायित्व का निर्वाह किस सीमा तक कर पा रही है यह एक विचारणीय प्रश्न है? पिछले बीस वर्षों में हिन्दी समीक्षा इतने गैर साहित्यिक दबावों से आक्रान्त रही है कि कृतियाँ कृतिकार का वास्तविक मूल्यांकन करने के बजाय राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक या नैतिक अभिप्रायों के परिप्रेक्ष्य में रचना (कृति) को

रखकर इन अभिप्रायों का ही विवेचन-विश्लेषण होता रहा है। इस बात की ओर कम ध्यान दिया गया कि कोई भी रचना एक स्वतन्त्र कलावस्तु होती है। ये घटक किसी रचना को समझने के आधार मात्र होते हैं। आलोचना के मानदण्ड नहीं हो सकते। समीक्षा का प्राथमिक धर्म रचना की सम्पूर्णता में उसके जटिल एवं विविध अर्थ स्वरों का उद्घाटन करना है।

रचना और समीक्षा के बीच पिछले २० वर्षों में खाईं इसलिए भी बढ़ती गई कि सही रचना कभी भी सरलीकरण नहीं होती लेकिन समीक्षा तरह-तरह के सामन्यीकरण में फँस गयी। समीक्षा अथवा आलोचना के लिये आवश्यक है कि वह भी उसी रचनाधर्मिता को स्वीकार करे जिससे होकर कृतिकार गुजर चुका है। इस प्रकार रचनाकार और आलोचना की 'प्रतिबद्धता' एक होती है। प्रतिबद्धता से यहाँ मेरा तात्पर्य जीवन, जगत् और समाज की प्रतिबद्धता से है, राजनैतिक मतवाद या किसी प्रकार की आयातित नैतिक 'प्रतिबद्धता' से नहीं। ऐसा न हो पाने से एक ओर जहाँ कम उत्तेजनापूर्ण या कम रचनात्मक साहित्य की बड़े पैमाने पर सृष्टि हुई है, वही आलोचना में भी हल्कापन और तरह-तरह की भ्रामक धारणायें फैलने लगी है। हिन्दी आलोचना में कथ्य और शिल्प के विभाजन की धारणा इसी प्रकार के भ्रम से उत्पन्न हुई है, या 'नयी कविता' के बारे में चर्चा करते हुये जब यह कहा जाता है कि 'नयी कविता' शिल्पवादी या रूपवादी है तो इसी भ्रम का शिकार होकर कहा जाता है। 'नयी कविता' की आलोचना के लिये अपेक्षाकृत नये किस्म के चिन्तन की जरूरत है। चिन्तन के समकालीन सन्दर्भों को मानव स्थितियों, उसमें निहित तनावों और अन्तर्विरोधों को रचनाकार और आलोचक दोनों ही अपनी रचना प्रक्रिया में चरितार्थ करते हैं। यह स्थिति मात्र 'नयी कविता' के लिये ही नहीं उन सभी साहित्य रूपों के लिये अपेक्षित है जो अपनी रचना को नये सन्दर्भों में ढालने का प्रयत्न कर रहे हैं।

रचना और समीक्षा में शैलीगत भिन्नता भले हो पर सामाजिक सन्दर्भों में दोनों परस्पर बहुत दूर तक अलग रहकर अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकते। जहाँ चिंतन के सन्दर्भ वास्तविकता के धरातल से हटे होते हैं, दूरी की संभावना वहीं सर्वाधिक होती है। रचना और समीक्षा दोनों के लिए ही यह स्थिति अलाभकर है। एक दूसरे तरह की विडम्बना इस स्थिति में जन्म लेती है। यानी रचना की अनुपस्थिति में भी आलोचना सम्भव हो जाती है। समकालीन समीक्षा इस स्थिति का अपवाद नहीं है। रचना से असम्पृक्त इस स्वतन्त्र समीक्षा को किस रूप में स्वीकार किया जाय यह एक समस्या हिन्दी के पाठकों के सामने है। इस स्थिति से लाभ उठाकर आलोचक अपने मतवादों और विचारों में निरंकुश होकर अपना खोटा सिक्का भी भुनाने लगता है तथा तरह-तरह के शब्द-छल से भाँति-भांति के विचारों को गढ़ता है। वह अपने पिछलग्गुओं के कूड़ाकरकट को सर्वश्रेष्ठ घोषित करके सही रचना के विरोध में वक्तव्य देता है। इस प्रकार रचना पीछे छूट जाती है और आलोचना महत्वपूर्ण हो उठती है। समकालीन समीक्षा में इसके उदाहरणों की कमी नहीं है जिसे प्रस्तुत करने का इस निबन्ध में न तो अवकाश है और न तो आवश्यकता ही। कुछ प्रतिष्ठित ऐसे समीक्षक इसके सर्वाधिक शिकार हैं जिन्होंने अपनी समीक्षा के विकास-क्रम में साहित्य की विविध विधाओं में विशिष्टता हासिल की और बराबर अपने को बदलते रहे

या यह कहें कि अपना ही विरोध अपनी समीक्षाओं में स्वयं करते रहे। इसका मुख्य कारण यही है कि ऐसे समीक्षकों में स्तरीय समीक्षक की प्रतिमा का या तो अभाव है, या तो वे नयी पीढ़ी का मसीहा बनने के लिए दायित्वहीनता का परिचय दे रहे हैं। इससे सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सन् १९५० ई० के बाद की समकालीन समीक्षा में ऐसे समीक्षक व्यक्तित्व का नितान्त अभाव है जिसे आदर्श कहा जा सके। समीक्षा की विविध दिशाओं में हो सकता है। विराट् समीक्षक-व्यक्तित्व की तलाश जारी हो और वह हिन्दी को शीघ्र ही मिलने वाला हो। इसमें सन्देह नहीं की इस कालावधि में ऐसी प्रतिमाएँ आयी हैं जिनमें भविष्य की महती सम्भावनाएँ निहित हैं। इस दृष्टि से सन् १९५० ई० के बाद की समीक्षा पर एक विहंगम दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

वे समीक्षक आज भी उत्साहपूर्वक हिन्दी साहित्य की गतिविधियों से बराबर जुड़े रहे जो सन् १९५० ई० के पूर्व समीक्षा जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुके थे। कुछ ऐसे समीक्षकों की भी उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण हैं जो स्वतंत्र भारत की उपज हैं। मार्क्सवादी आलोचना के उन्नायकों में से एक शिवदान सिंह चौहान का उल्लेख मैंने ऊपर किया है। उसी क्रम में मैंने प्रकाश चन्द्र गुप्त और डा० राम विलास शर्मा की समीक्षा शैली की ओर भी संकेत किया है। इस परम्परा के आलोचकों में अमृत राय, डा० रांगेय राघव, डा० नामवर सिंह और डा० विजय शंकर मल्ल के नाम प्रमुख है। कुछ ऐसे आलोचक भी सामने आए जो आलोच्य से दूर हटकर अपनी दार्शनिकता के कारण विषयान्तर हो उलझन के शिकार हो जाते हैं। डा० देवराज की समीक्षाओं में इसकी बानगी देखी जा सकती हैं।

इसी युग में मनोविश्लेषणात्मक आलोचना का भी आरम्भ हुआ, पर उसका न तो विकास हो पाया और न समीक्षा की यह पद्धति ही लोकप्रिय हो पायी। इलाचन्द्र जोशी और डा० देवराज उपाध्याय इसी वर्ग के आलोचक हैं। 'अज्ञेय' तथा डा० धर्मवीर भारती की भी कुछ आलोचनाएँ इसी कोटि में आती हैं। इन्हें प्रयोगवादी आलोचना के अन्तर्गत भी रखा जाता है। इन वादों के अतिरिक्त प्रकृतिवाद, बिम्बवाद, प्रतीकवाद और अस्तित्ववाद को भी लोकप्रियता मिली है और कुछ समीक्षकों ने उनकी मान्यताओं के आधार पर समीक्षा प्रस्तुत की है। किसी को अपना लेना भिन्न बात है और किसी का हो जाना भिन्न। जिनवादों के सामाजिक परिवेश से देश का साबिका नहीं पड़ा है उसके आधार पर भी कृतियों की समीक्षा गैर जिम्मेदारी का काम है। इधर कुछ सर्जकों ने उन परिस्थितियों में जीने का फतवा जरूर दिया है पर प्रश्न उनमें जीने का नहीं परिस्थितियों के उपस्थित होने का है। अगर परिस्थितियों के न रहते हुये भी वे उसे जीने का दम भरते हैं तो उनकी यह कारगुजारी औंधी खोपड़ी की उपज मानी जायेगी। आरोपित जीवन की परख सत्य की विरोध होती है। उससे चमत्कार पैदा हो सकता है पर लगाव नहीं। क्या कहीं यह बिलगाव हमारी नियति तो नहीं बनता जा रहा है। आज हर क्षेत्र में 'लिटिल मैन' का आधिपत्य है। शायद हिन्दी के भविष्य के किसी 'ग्रेट मैन' के सामने सबसे बड़ा सवाल यही होगा कि वह इस दलीय दल-दल को कैसे समाप्त करे क्योंकि उसके रहते पुनः सुदृढ़ चिन्तन की नींव पड़ना सम्भव नहीं।

नयी कविता तथा नयी कहानी के साथ-साथ नयी आलोचना का भी उदय हुआ। नयी आलोचना के पक्षधर नयी शब्दावली, नयी पद्धति और नये परिवेश के हिमायती हैं। किसी भी प्रकार वाह्य सीमा इन्हें सह्य नहीं। अपनी व्यक्तिगत ईमानदारी के बूते पर साहित्यिक मूल्यों की तलाश में ही वे अपनी सफलता समझते हैं। वैयक्तिकता की प्रेरणा से प्रेरित समीक्षक बौद्धिकता के सहारे ही साहित्य का मूल्यांकन अपने भावों एवं मान्यताओं के सन्दर्भ में करते हैं। राष्ट्रीय नागरिकता की अपेक्षा इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय नागरिकता अधिक पसन्द है। ये सच्चे अर्थों में मानव मूल्यों का आदर करना जानते हैं और इसी कसौटी पर साहित्य को आंकना इन्हें अभिष्ट है। इस प्रकार की आलोचना प्रस्तुत करने वालों में डॉ० बच्चन सिंह, डॉ० कुमार विमल, डॉ० रघुवंश, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, डॉ० देवी शंकर, अवस्थी, नेमिचन्द जैन, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी और प्रो० नागेश्वर लाल प्रमुख हैं। इस क्षेत्र में डॉ० बच्चन सिंह की उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण है। डॉ० सिंह स्वभाव से रोमांटिक हैं, जो उन्हें वैयक्तिक आदर्शवाद तक ले जाता है। यह दूसरी बात है कि वैचारिक स्तर पर समूह से जुड़े रहना चाहते है। निबन्ध विवेचन की जिस समीक्षा पद्धति को उन्होंने अपनाया है उसे देखकर पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति का बोध होने लगता है। अन्तर है तो बस उतना ही जितना कि दोनों देशों की भावात्मक ग्रहणशीलता में। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की व्यावहारिक समीक्षा का दौर यहाँ आकर बिल्कुल समाप्त जान पड़ता है। आलोच्य के अध्ययन के विना डॉ० बच्चन सिंह की समीक्षा का बोध कर पाना कठिन है। हिन्दी समीक्षा की यह अद्यतन प्रणाली है जिसकी सबल स्थापना डॉ० बचचन सिंह ने अपनी पुस्तक 'समकालीन हिंदी आलोचना साहित्य की चुनौती' में की हैं।

संकलनों और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी आलोचना साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ है। स्वतंत्र समीक्षा ग्रन्थ लिखने वालों ने भी स्वतन्त्र निबंधों के माध्यम से आलोचना साहित्य को समृद्ध बनाया है, जिनके नामों की एक लम्बी सूची दी जा सकती है। इनमें मुख्य हैं—बाबू गुलाबराय, नलिन विलोचन शर्मा, भगीरथ मिश्र, विजयेन्द्र स्नातक, उदयभानु सिंह, देवराज, विजयशंकर मल्ल, रघुवंश, बच्चन सिंह, नामवर सिंह, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त और वचन देव कुमार आदि।

इतिहास और शोध ग्रन्थों के माध्यम से भी आलोचना साहित्य का विकास हुआ है। शोधग्रन्थों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का सम्बन्ध सीधे-सीधे आलोचना से तो नहीं है, पर उनमें आये व्याख्यात्मक परिचय, स्थापनार्थ एवं प्रवृत्तिगत विवेचन आलोचना के ही निकट आते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम-सुन्दर दास, अयोध्या सिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', डॉ० राम कुमार वर्मा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० श्रीकृष्ण लाल, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डॉ० शिवनारायण लाल की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी आलोचना का यह काल जितना उर्वरक रहा है वह किसी भी देश के आलोचना साहित्य के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। इस काल में समीक्षा की विविध दिशाओं और वर्गों का निर्माण हुआ है। स्वतंत्र पुस्तक के रूप में, शोध प्रबन्धों के माध्यम से पत्र-पत्रिकाओं के

लिए, अध्यापन सुविधा के लिए, सैद्धान्तिक आग्रहों की अभिव्यक्ति के लिए तथा विविध साहित्य रूपों जैसे कविता, कहानी, एकांकी, रेडियो रूपक, उपन्यास, लघु उपन्यास आदि को समझने-समझाने के लिए आलोचनाएं लिखी गई हैं। इस प्रकार समीक्षा का जो रूप सामने आता है, उसके आधार पर कहा जा सकता है—कि आलोचकों की मुख्य प्रवृत्ति सैद्धान्तिक, व्यावहारिक, ऐतिहासिक (साहित्यिक प्रवृत्ति या परम्परा की आलोचना), सांस्कृतिक-अध्ययन, विशिष्ट साहित्यकार, विशिष्ट कृति की आलोचना की ओर हो रही है।

आरम्भ में ही पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आलोचना का आरम्भ एवं विकास हुआ है। कितनी पत्रिकाओं का तो जन्म ही आलोचना प्रकाशित करने के लिये हुआ और उनमें से न जाने कितनी मरी और न जाने कितनी अन्तिम सांस ले रही है। हिन्दी के दैनिक समाचार पत्र भी अपने साहित्यिक विशेषांकों द्वारा इस आन्दोलन को गति प्रदान करते रहे हैं, जिनमें 'आज' के साहित्यिक विशेषांक की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसके अतिरिक्त आज की साहित्यिक पत्रिकाओं की भूमिका अत्यन्त निराशजनक है। वे विशेष चौहद्दियों, संकीर्ण विचारधाराओं और व्यावसायिक मनोवृत्तियों की शिकार होती जा रही हैं। स्वस्थ आलोचना साहित्य के सामने जो सबसे बड़ा खतरा है, वह आए दिन चलने वाली पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से दलबन्दी है, जिनकी प्रकाशकीय और गुट सम्बन्धी सीमाएं आलोचना साहित्य के भविष्य पर प्रश्नवाची चिन्ह लगा सकती है। आधुनिक समीक्षकों में दो प्रवृत्तियाँ अधिक देखने को मिलती हैं, उनमें कुछ ऐसे हैं जिनमें पाश्चात्य वादों के प्रति मोह पैदा हो गया है जो हमारी धरती और उसकी प्रकृति के प्रतिकूल है और कुछ तो नवीनता के नाम पर अपना चमड़े का सिक्का चलाने पर बुरी तरह उतारु हो गए हैं। ज्ञान बुरा नहीं होता है, पर अग्राह्य का संग्रह बुरा होता है। आज के हिन्दी भाषी को इससे बचना है। पाण्डित्य प्रदर्शन और नवीनता के आग्रह में आलोचना को जिस दलदल में फंसाया जा रहा है, उसका कुफल सभी लोग भुगत रहे हैं। हिन्दी साहित्य इधर-उधर से लिए गये पाश्चात्य उद्धरणों, मान्यताओं और वादों का दलदल बनता जा रहा है। अपना बहुत कुछ विलुप्त हो गया है और दूसरे का भूत सर पर चढ़ कर बोल रहा है। इससे अधिक बौद्धिक दिवालियापन इसके पहले देखने को नहीं मिला है। अन्य साहित्यों पर भी प्रभाव पड़ा है, लेकिन वहाँ का समीक्षक द्रविड़ प्राणायाम में नहीं उलझा है। यहां तो वे सिर पैर की बातें पनप रहो हैं। क्या आज के समीक्षक अपने उत्तरदायित्व को समझ कर भविष्य की चुनौती का सामना करने के लिए बद्धपरिकर हैं। इसी प्रश्न के सकारात्मक अथवा नकारात्मक उत्तर पर समीक्षा का पूरा भविष्य निर्भर करता है।

इधर एक आत्मघाती प्रवृत्ति का और भी दर्शन हिन्दी-समीक्षा जगत में हुआ है। केन्द्रीय समीक्षक-व्यक्तित्व के अभाव में समीक्षा-साहित्य गुटबन्दियों का शिकार होता जा रहा है और विश्वविद्यालयीय सुविधा प्राप्त समीक्षक अपने आस-पास घूमने वाले लोगों को उछालने में लगे हैं जिससे पाठक की परेशानी और भी बढ़ गई है। इससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक काल में जो विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई, उसका शिकार हिन्दी समीक्षा साहित्य भी हुआ है और हो सकता है इसी के बीच से मूल्यांकन की कोई सही दिशा विकसित हो।

उद्बोधन के स्वर

हरिश्चन्द्र त्रिपाठी

सृष्टि का सबसे बड़ा आश्चर्य है सूर्य जो कभी निस्तेज नहीं होता और अपनी गति में दिन और रात का निर्माण करता चलता है जिससे काल का विभाजन होता है।

मोटे तौर पर मनुष्य की दो श्रेणियाँ होती है। एक श्रेणी के लोग तो काल के शिकार हो जाते हैं जो अपनी आयु से अधिक नहीं जीते और न अपने पीछे कोई ऐसी विरासत छोड़ जाते हैं जिससे आने वाली पीढ़ी उनके नाम को उजागर कर सके और दूसरी श्रेणी के लोग अनन्त अन्तकाल के सिर पर चरण रखकर चलते हैं जो सदा जीवित रहते हैं और कभी मरते नहीं। ऐसे मनुष्य रात-दिन के काले और सफेद धागों से बटी रस्सी से बनी उम्र की परवाह नहीं करते वे सत्य के स्वर का संधान करते हैं जिसमें देश काल और समाज का सरगम प्रतिध्वनित होता है।

यह सत्य है कि राष्ट्रीय चेतना कभी सोती नहीं, वह सदा जागती रहती है और समय को मुट्ठी में बाँधकर उस पर कुछ चिह्न अंकित करती जाती है जो कालान्तर में इतिहास का रूप धारण कर लेता है। इस संदर्भ में भारतीय वाङ्मय ही नहीं विश्व-इतिहास का हर पन्ना बोल रहा है कि जब दुनियाँ सो रही थी, भारत आसमान में सोने का हल चला कर ज्ञान-विज्ञान की खेती कर रहा था। क्योंकि यहाँ का आदमी देवता तुल्य था। दोनों में अन्तर केवल आँखों की पलकों के खुलने और बन्द होने से मालूम पड़ता था। चारों वेद और अठारहवों पुराण इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

समय बदला और परिवर्तनों की धूप-छाहीं में भारत परतंत्र हो गया किसी ओर का नहीं अंग्रेज का जिसके साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं होता था। यह एक विराट प्रश्न चिह्न था, चुनौतियों का किसी ओर के लिए नहीं, उद्बोधन के स्वरों से बनने वाले सरगम के लिए जिसमें भारत की आत्मा त्राण पाने के लिए छटपटाने लगी। कारण परतंत्रता एक जबरदस्त बन्धन है और जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप मेरे विचारों के दर्पण में ही परतंत्र भारत का एक चित्र देखें :

आँख में धुआँ भर जाने से जो दशा आँख की होती है वही विदेशी शासन के सत्तारूढ़ होने से देश और समाज की। सदियों से परतंत्र भारत स्वतंत्रता के पूर्व धुआँ की ही साँस पीकर जी रहा था। राष्ट्र पर विलायती दुर्दान्त शासन का कड़ा पहरा ऐसा मालूम पड़ रहा था मानों दिन की आँख पर रात्रि का काला चश्मा पहने आदमी मुंख से अंग्रेजियत का सिगार पीकर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का धुआँ उगल रहा हो।

, इन्हीं संदर्भों के बीच काले अक्षरों के जादूगर उज्ज्वल स्वरों के उद्घोषक तथा अमर मंत्रों के रचनाकार के रूप में कुछ अद्भुत् एवं अलौकिक उद्‌वोधन के स्वर इसी धरती पर प्रगट हुए जिनकी वाणी में न केवल निष्प्राण राष्ट्र में प्राण फूँकने की शक्ति थी अपितु विश्व के मंच पर भारत के स्वर्णिम इतिहास, कला एवं विज्ञान के साथ-साथ भारतीय जनता के अदम्य साहस एवं उत्साह को प्रदर्शित करने की अभूतपूर्व क्षमता भी जो आज राष्ट्र की प्रेरणा स्रोत वनी हुई है।

जिस प्रकार कल आज से और आज से आने वाले कल से मिलकर समय का अखण्ड और अविभाज्य अंग बन जाता है, उसी प्रकार उद्‌वोधन के भिन्न-भिन्न स्वर आपस में मिलकर राष्ट्र की आत्मा के अमर संगीत का प्राण जो कभी मरते नहीं और राष्ट्र को सदा शक्ति एवं प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं।

हर उद्‌वोधन के स्वर में एक आग होती है। एक अद्‌भुत प्रकाश जिसके प्रज्वलित होने मात्र से राष्ट्र जग जाता है और समग्र राष्ट्र में एक चेतना एवं स्फूर्ति की लहर दौड़ जाती है। राष्ट्र की परतंत्रता या गुलामी ही तो राष्ट्र को मौत है। परतंत्रता का जनाजा निकालने और उसकी अन्त्येष्टि करने के लिए ही तो समय-समय पर उद्‌वोधन के स्वर फूटते है, अर्थात् राष्ट्र के अमर गायकों का जन्म होता है जो देश काल एवं परिस्थितियों के विशेषज्ञ तथा भूत-भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों के सूत्रधार होते हैं।

रात ढलने से पूर्व और स्वतंत्रता मिलने के पहले ही स्वर वेला में 'गीताञ्जलि' के के अमर गायक रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'इक्ला चलो, इक्ला चलो' भैरवी सुनाई पड़ी जिसमें भारतीय गगन मण्डल से परतंत्रता का जनाजा निकलने की मातमी धुन बज रही थी जो भारतीय स्वतंत्रता के अमर संगोत का पूर्वाभ्यास था। राष्ट्र ने उद्‌बोधन के प्रथम स्वर, धरती के सर्वश्रेष्ठ गीतकार तथा विश्व ने एक महान कवि के रूप में गुरु रवीन्द्र का अभिवादन किया।

कवि अपने में सृजन कर्ता एवं स्रष्टा दोनों होता है। 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' की उक्ति सत्य ही है। गुरु रवीन्द्र की लेखनी में सरस्वती की न जाते कितनी धाराएँ फूटी जिनमें भारतीय संस्कृति और कला मूर्तिमान होकर एक साथ खड़ी हो गयी है। 'चित्रा', 'चित्रांगदा' और 'गीतांजलि' की त्रिवेणी में भारत का भूत-भविष्य और वर्तमान तीनों साकार होकर स्नान करते और मंत्र स्तवन का पाठ करते हुए दिखाई व सुनाई पड़ते हैं। आधुनिक युग में भारत की आत्मा और विश्वमानवता की संगीत का इतना बड़ा गायक शायद ही दूसरा कोई हुआ हो। निःसन्देह जिस प्रकार पंचतत्वों से शरीर की रचना होती है उसी प्रकार उद्‌बोधन के स्वरों से राष्ट्र का निर्माण किन्तु शरीर अस्थाई और क्षणभंगुर होती है और उद्‌बोधन के स्वर अमर और शाश्वत।

कवि रवीन्द्र के स्वर में यदि सूर्य का तेज एवं प्रकाश है तो बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय के स्वर में चन्द्रमा की ज्योत्सना की तरलता एवं स्निग्धता। वन्देमातरम् के अमर गायक वंकिमचन्द्र जी की दिव्य दृष्टि में वन्देमातरम् गीत :—

सुजलां, सुफलां मलयज शीतलां शस्य श्यामलां वन्दे !

का स्वर संधान करते समय अवश्य ही एक स्वतंत्र एवं अद्‌भुत भारत का चित्र रहा होगा

जो आज हम देख रहे हैं। कितना अद्भुत एवं विचित्र देश है यह कि यहाँ के पर्वत और नदियाँ भी मातृभूमि की गौरव गाथाएँ कहते सुनते नहीं अघाते। अजन्ता के भित्ति-चित्र और प्रयाग का महाकुम्भ इतिहास के करिश्मे नहीं तो और क्या हैं?

सूर्य सदा पूर्व में ही उगता है। राष्ट्र के उद्बोधन का प्रथम स्वर भी पूर्व में ही उदय हुआ, अन्तर केवल इतना है कि दिशा बोध कराने वाला तथा आसमान में उगने वाला सूर्य केवल एक है और उद्बोधन के स्वर अनेक और अनन्त जिनसे हमारा साहित्यकाश भरा पड़ा है।

आम के बौर और महुए के फूल भी एक प्रकार के उद्बोधन के स्वर ही तो हैं जो सृष्टि के आदिकाल से भारत की संस्कृति एवं सभ्यता की सुगंधि के प्रतीक के रूप में महक रहे हैं और उनमें लगने वाले फल भविष्य के शुभ संदेश हैं जिनसे सुख-समृद्धि का रस चूता रहता है। किन्तु यहाँ उद्बोधन के स्वर का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में हुआ है, जो भारत की धरती, आकाश, पेड़-पौधे, नदी-तालाब, वन-पर्वत से लेकर सूर्य-चन्द्र और नक्षत्रों तक की दुनिया के अतिरिक्त यहाँ के इतिहास भूगोल धर्म-काम, रीति-रिवाज, चिन्तन-मनन तथा सभ्यता एवं संस्कृति को वाणी के पारदर्शी दर्पण में खड़ा कर एक ऐसा सांगोपांग महल तैयार कर सके जिसमें राष्ट्र का भूत-भविष्य और वर्तमान बोलता हुआ दिखाई और सुनाई पड़े वही वास्तव में सच्चा उद्बोधन का स्वर है।

कहना असत्य न होगा कि जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र में ज्वार-भाटा आता है और उसकी उत्ताल तरंगे चन्द्रमा को छू लेने के लिए व्याकुल हो आकाश पाताल एक कर देती हैं उसी प्रकार पूर्ण चन्द्रमा रूपी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए हमारे राष्ट्रीय उद्बोधन के स्वरों ने राष्ट्र के नव जागरण काल में राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने के लिए किसी प्रकार की भी कोई कोर कसर नहीं छोड़ी; इतिहास इसका साक्षी है।

सच्चे उद्बोधन के स्वर में गीत, राग, पराग और प्रकाश ही नहीं अपितु आग भी होती है किन्तु उस आग में धुआँ नहीं वाणी होती है जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों एक साथ पढ़े और सुने जा सकते हैं। कुछ के नाम और उनकी वाणी दोनों एक साथ यहाँ उल्लिखित हैं।

जैसे श्री मैथिली शरण गुप्त, श्री माखन लाल चतुर्वेदी, श्री रामधारी सिंह, 'दिनकर' श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान, श्री गोपाल सिंह 'नेपाली' श्री श्याम नारायण पाण्डेय तथा श्री सोहन लाल द्विवेदी आदि ऐसे ही उद्बोधन के स्वर हैं। जिनकी वाणी में आग भी है और पराग भी जो राष्ट्र के भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों को रातों-दिन प्रकाशित करते रहते हैं।

यदि 'भारत-भारती' स्वर्णिम अतीत के इतिहास का स्वर बोल रहा है तो 'हिमकि-रीटिनी' और 'कुरु क्षेत्र' में स्वतंत्रता की महाग्नि की आहुति देने का मंत्र, 'जौहर' और 'हल्दीघाटी' में तलवार की टंकार सुस्पष्ट सुनाई पड़ रही है जो एक जीवित राष्ट्र की अमर निशानी है। श्री गोपाल सिंह 'नेपाली' की सुप्रसिद्ध कविता 'कल्पना करो नवीन कल्पना करो' में देश के नव-निर्माण का स्वप्न तरंगित हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्बोधन के स्वर में कल से आज और आज से आने वाले कल तक के भारत का आद्योपान्त इतिहास जिसमें 'सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम्' का समन्वय है, बोल रहा है।

साकेत के कुछ प्रमुख स्थल और उदात्त

मीरा खन्ना
शोध, हिन्दी

उपर्युक्त शोर्षक कुछ विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। जिज्ञासा होती है कि क्या 'साकेत' और उदात्त दो पृथक् शब्द हैं अथवा पर्यायवाची। क्या 'साकेत' की महिमा 'औदात्य' से पृथक है। साकेत तो वास्तव में औदात्य का ही प्रतिरूप है अथवा औदात्य की परिभाषा अपने पारिभाषिक सूत्रों में साकेत में ही पूर्ण हुई है। इसकी विवेचना के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि आखिर औदात्य शब्द की क्या व्यंजना है।

"उदात्त शब्दस्य औदार्यम् ऐश्वर्यं चार्थः"

"उत (उत्कर्षेण) आदीयते (गृह्यते) स्म इत्युदात्तम" अर्थात् उत्कर्ष का ग्रहण ही उदात्त है। यह 'उदात्त' क्या है? महान् आत्मा की प्रतिध्वनि जिसके मध्य व्यक्ति का जीवन किसी विराट् की कल्पना में ही तदाकार नहीं होता वरन् उसकी 'स्वत्व' 'परत्व' में तदाकार हो जाता है। उसकी आत्मा किसी विशालता की कल्पना में विलीन हो उठती है। उसका यह महती रूप शून्य में विलीन नहीं होता वरन् सत + चित + आनन्द का त्रिरूप हो जाता है। इसी विशालता को देखने के परिप्रेक्ष्य में हमें एक बार पुनः अपनी विस्मृत भारतीय संस्कृति की ओर लौट जाना होगा। उदात्त की विवेचना में भारतीयों की दृष्टि महान् है। भारतीय वाङ्मय में वैयक्तिक रूप से यद्यपि 'उदात्त' शब्द का प्रयोग नहीं परन्तु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर उदात्तता की पराकाष्ठा हमें भारतीय चिन्तकों में ही दिखाई देती है। उनकी विराट् कल्पना में जिन सूक्ष्म तत्वों की झाँकी दिखाई देती है वास्तव में वही 'उदात्त' का सर्वस्व है।

भारतीय संस्कृति से यहाँ मेरा तात्पर्य यद्यपि विराट् की कल्पना से है लेकिन आज उस विराट् से पृथक् होकर ही हमें उदात्तता का मूल्यांकन करना होगा क्योंकि युग की विचारधारा दूसरी-ही ओर है। अतः उसे 'उसी' रूप में समझाने का प्रयत्न अधिक श्रेयस्कर होगा। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर औदात्य का चिन्तन किया जायगा तथा अनन्त, एवं विराट् जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मात्र भाव की विशदता एवं महनीयता के लिए ही किया जायगा।

'उदात्त' का सामान्य अर्थ दयालु, त्यागी, दाता, श्रेष्ठ, प्रभाविष्णु एवं उदार माना गया है। उदात्त चरित, उदात्त चिन्तन एवं उदात्त भावना ही समाविष्ट रहती है। जीवन में जब तक महत का, विराट का अवतरण नहीं होता, तब तक उदात्त का उद्घोष सुनाई नहीं पड़ता। जब तक व्यक्ति की विचार धारा स्वार्थ के कटघरे एवं 'स्व सुख' की कल्पना में ही मचलती

रहेगी तब तक किसी महत विचारधारा का उदय होना असम्भव है। लोंजाइनस का यह कथन कि "यह सम्भव नहीं की जीवन भर क्षुद्र उद्देश्यों और विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके।" आज राष्ट्र कल्याण की झूठी दुहाई देने वाले व्यक्ति इस महत् आदर्श के महत्व को क्या समझे। आज के योगवादी संघर्षकालीन युग में जबकि मानव मानव' की सत्ता को, उनके सुख-दुःख को नहीं समझ रहा है, यहाँ तक कि अपने 'अपने' के प्रति स्वार्थी बन रहा है। उस समय लोकोत्तर महापुरुष राघवेन्द्र राम के औदात्य चरित्र को समझने वालों की आशा करना निरी मूर्खता हो है। विषयासक्त भोगवादी क्या जाने त्याग, तपस्या एवं आदर्श जीवन का मूल्य। यही कारण है कि आज श्री मिथिलाधिपनन्दिनी शरण जैसे आदर्श एवं नैतिकपूर्ण व्यक्तियों का मूल्य आंकने वालों का अभाव ही अभाव है।

हमारे वैदिक ऋषियों ने जगत् के माध्यम से जिस अनन्त की यथार्थता में विचरण किया है वहाँ भी उन्होंने जिन साधनों की याचना की है वह कटिमात्र के लिए नहीं। लोक-कल्याण की यह भावना उनके औदात्य विचारों का ही परिणाम है। महाभारत के शान्तिपर्व में नारद-शुकदेव संवाद में नारद ने शुकदेव से कहा था कि सत्य बोलना अच्छा है, परहितार्थ सत्य और भी अच्छा है। मेरे मत से सत्य वह है जो भूतमात्र के आत्यंतिक कल्याण का हेतु हो—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यावपि हितं बदेत्।
यद्भूतहितमत्यंतमेतत् सत्यं मतं मम॥

जो सत्य है वही औदात्य है। यदि लोक-कल्याण ही सत्य की सीमा है तो औदात्य उसका प्रतिरूप है। औदात्य विचारों द्वारा ही आत्मा का उत्कर्ष एवं उन्नयन संभव है; जिसके अभाव में 'जीव' की यथार्थता हिरण्यमयपात्र से सदा-सदा के लिए अवरित रह जाती है। लार्ड लिस्टावेल की यह धारणा कि उदात्त के द्वारा आत्मा का जो उत्कर्ष, विस्तार और प्रसार होता है वह एक ऐसा महत्वपूर्ण अंश है जिसके अभाव में कला की महान् कृतियाँ तथा विराट प्रकृति की महान् विभूतियाँ सदा के लिए मौन रखी जा सकती है।

भारतीय संस्कृति से हटकर यदि औदात्य की विवेचना का सांगोपांग अध्ययन करना हो तो यूनानी लेखक दिओन्युसिअस लोंजाइनस (लोंगुनिस) की प्रमुख कृति "पेरिह्प्सुस" जिसका शब्दार्थ है 'औदात्य के विषय में' और जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'आन दि सब्लाहम'। किसी युवा रोमन मित्र या शिष्य को सम्बोधित करते हुए एक पत्र के रूप में लिखा गया है। डॉ-नगेन्द्र ने पेरिह्प्सुस के हिन्दी अनुवाद 'काव्य में उदात्त तत्व' तथा डॉ० निर्मला जैन ने 'उदात्त के विषय में' शीर्षक से किया है। लोंगिनुस का सारा ध्यान उन स्रोतों पर ही आधारित है जिनसे उदात्त उत्पन्न होता। लोंगिनुस के शब्दों में "उदात्त महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है।"

उपर्युक्त उदात्त तत्व विवेचन के अनन्तर श्री मिथिलाधिपनन्दिनीशरण (जिन्हें आदर से लोग दद्दा भी कहते हैं और कवि-जगत जिन्हें मैथिलीशरण गुप्त नाम से जानता है) के 'साकेत' के कुछ महत् स्थलों पर दृष्टि डालेंगे। यों तो 'साकेत धाम' की महिमा से महव

चरित्र परिचित ही हैं फिर ग्रामवासी दद्दा की वाणी का क्या महत्त्व होगा—इसे भी समझ लिया जाए।

साकेत की सृष्टि उदात्त चरित्र सृष्टि है इसमें सन्देह नहीं। जो स्वयं उदात्त है, महान है, जिसका जीवन ही 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम' ही हुआ उसके विषय में कुछ संकल्प-विकल्प करना अपनी अज्ञता का परिचय मात्र देना होगा। कवि गुप्त ने सर्वत्र जीवन के उदात्त सिद्धान्त की विवेचना की है। वह उद्देश्य चाहे गृहस्थ जीवन का हो अथवा सामान्य मानव का। जीवन में कर्म का प्रतिपादन हो अथवा त्याग का सर्वत्र कवि के विचारों में उदात्तता ही है। 'साकेत' में पदार्पण करते ही देखिए कैकेयी के वर-याचना पर राजा दशरथ की उक्ति जिसमें उन्होंने 'सत्य' को ही सर्व धर्मों का सार कहा हैं। वस्तु-विशेष को सत्यता का भाव ही तो मुक्ति।[1] जो वस्तु जिस रूप में है उसी रूप में जानना ही तो मुक्ति को परिभाषा है। राजा दशरथ का यह कथन—

सत्य से ही स्थिर संसार,
सत्य ही सब धर्मों का सार,
राज्य ही नहीं, प्राण-परिवार,
सत्य पर सकता हूँ सब वार"।

लक्ष्मण की इस याचना 'पर कि हे राम आप राज्य कीजिए उस अवसर पर राघवेन्द्र की गर्वोक्ति देखिए—

मनः शासक बनो तुम, हठ न ठानो
अखिल संसार अपना राज्य मानो

क्या अयोध्या ऐसे ऐश्वर्यपूर्ण राज्य का त्याग साधारण मनुष्य कर सकता है। जिसने सत्य की अग्नि में स्वयं को तपाकर स्वर्णतुल्य, बना लिया है; उसी के मुखारबिन्दु से यह अमृततुल्य गर्वोक्ति निकल सकती है। यह सत्य है भोगवादी कवित्व इसका मूल्य नहीं समझ सकते। राम का यह कथन—

और किसलिए? राज्य मिले?
है जो तृण-सा त्याज्य मिले
× × ×
धर्म बेचकर धन जोड़ूँ
× × ×
धर्म बड़ा धन धाम नहीं

महापुरुष की दृष्टि में धर्म ही उसके जीवन की नींव होती है जिस पर उसका समग्र जीवन रूपी भवन टिका रहता है। उसके जीवन के स्तम्भ धर्मारूढ़ होकर ही उसे प्रेरित करते हैं।

१ छान्दोग्यपनिषद् ८/३/४

उसके जीवन में भोग की प्रधानता मात्र भोगने के लिए ही नहीं होती वरन् भोग मिश्रित भोग का ही वरण करता है। कवि की दृष्टि में धर्ममय जोवन के समक्ष यह वाह्य वैभव तृण-मात्र है। सुख की चरम परिणति भोग में नहीं वरन् त्याग में है—

त्याग प्राप्त का ही होता

× × ×

राज्य राम का भोग्य नहीं

कवि की यह विचारणा ईशावास्योपनिषद् से गृहीत हैं। जहाँ कहा गया है कि संसार के भोगों को त्यागपूर्वक भोग करो। किसी दूसरे को धन की आकांक्षा मत करो ?—

ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १/१

वास्तव में कवि का उद्देश्य त्याग, वैराग्य एवं आत्म विग्रह ही है। त्याग से तात्पर्य वानप्रस्थाश्रम से नहीं वरन् धर्म-युक्त भोगों के भोग से है। सुमन्त के आग्रह पर कि हे राम आप पिता की इच्छा को मान लीजिए। सुमन्त क्या समस्त साकेत परिवार को उन्हें सत्य से डिगा न सका। सुमन्त के प्रति राघवेन्द्र के वचन सुनिए जिसको सुनकर समस्त हतप्रभ से रह जाते हैं—

स्पृहा बड़ी या धर्म बड़ा

× × ×

मै स्वधर्म से विमुख नहीं हूंगा कभी

ऐसे ही चरित्र उदात्तता का मार्ग खोलने में कटिबद्ध हो सकते हैं। जिन्होंने जीवन में कुछ सिद्धान्तों को तय कर लिया हैं और उसी पर उनका जीवन कटिबद्ध है, वास्तव में वही अनुकरणीय है, फिर रामचरित्र की तो महानता ही क्या। जहाँ दूसरों के परोपकार में ही सन्तोष एवं श्रद्धा है। जहाँ दूसरों के कल्याण की भावना में ही 'स्व' सुखदाकार हो गए हैं। यह क्या है ? औदात्य का परिणाम। औदात्य यदि महान आत्मा की प्रतिध्वनि है, तो सम्पूर्ण राम साहित्य उदात्त का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण—

"निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी,
हम हों समष्ठि के लिए व्यष्टि बलिदानी"।

उपनिषद् की इस पंक्ति पर दृष्टि डालिए जहाँ असंभूति को विनाशमूलक कहा गया है—

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेयोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥ ईशावास्योपनिषद्, १/१४

वास्तव में राम की गर्वोक्ति ने अपराधी के अपराध को धो डाला। जिसने चौदह वर्ष की अवधि के एक क्षण में भी उस अपराध पर दृष्टि न डाली। ऐसे अन्धकार में वही हृदय डग सकता है जो स्वयं प्रकाशरूप हो। चित्रकूट की सभा में कैकेयी के अनुरोध पर राम की

उक्ति पर ध्यान दीजिए। पढ़ने से ऐसा लगता है मानो राम ने स्वयं ही चौदह वर्ष की अवधि तय की हो। उस समय राम का यह कथन—

सन्तुष्ट मुझे तुम देख रही हो वन में
सुख धन-धरती में नहीं, किन्तु निज मन में।

क्या यह कवि का कटु सत्य नहीं है। क्या सांसारिक पदार्थों में स्थायित्व है; यदि नहीं है तो फिर इसे स्वीकार करने में बाधा क्यों। इससे बढ़कर औदात्य और क्या होगा जिससे सत्यासत्य का भाव करा कर हमको चेतावनी दे दी फिर उससे विवाद क्यों। केनोपनिषद् की इन पंक्तियों पर जरा ध्यान दीजिए। यम-नचिकेता संवाद में नचिकेता का यह उत्तर कि ये सुख-भोग मनुष्य के लिए 'श्वोभाव' हैं—आज हैं; कल नहीं।...................

"मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता" केनोपनिषद्—१।२६-२७

राम-चरित्र की उदात्तता ने अति कर दी है। जीवन के सर्वगत् पहलुओं से गुजरते हुए भी कहीं खोंच न लगी। उदात्त पात्र हर क्षण उदात्त बना रहे यह उसके उदात्त की प्रतिमा हो कहलायेगी। यह वही निभा सकता है जिसका जीवन उदात्त के साँचे में ही ढाला गया हो। ऐसा ही रूप था श्री मिथिलाधिपनन्दिनीशरण के इष्टदेव का।

जरठ जाबालि की दुर्बुद्धि पर शायद सबको ही क्रोध आता हो। जाबालि के स्वार्थ-पूर्ण वाणी को सुनकर राघवेन्द्र क्रोधित हो जाते हैं और वास्तव में उनका यह क्रोध तथ्यपूर्ण था। जिसका जीवन तप, त्याग एवं आदर्श की त्रिमूर्ति रूप है जिसने अपना सारा जीवन सत्य की तपाग्नि में तपा दिया; जिसने 'स्व' सुख को 'परत्व' में समाहित कर दिया उसके समक्ष जाबालि मुनि के स्वार्थ पूर्ण भाषण कैसे स्थायित्व पा सकते हैं। राम की औदात्य वाणी सुनिए—

"यह भावुकता है।" "हमें इसी में सुख है,
....
भावुकजन से ही महत्कार्य होते हैं,
ज्ञानी संसार असार मान रोते हैं!"

संक्षेप में यदि कहा जाए तो साकेत परिवार ही उदात्त परिवार है। राघवेन्द्र के अवतार लेने का कारण-'पथ दिखाने के लिए संसार को, दूर करने के लिए भू-भार' के लिए ही हुआ है। तत्पश्चात् दशरथ का पुत्र-वियोग में जीवन-त्याग, राम का वनगमन, लक्ष्मण का भ्रातृस्नेह हेतु पत्नी-प्रेम का त्याग, भरत का तपस्वी जीवन, चित्रकूट में ग्लानि गलित भरत का प्रायश्चित आदि अनगिनत प्रसंग है जिन्हें उदात्त की परिभाषा में सम्मिलित किया जा सकता है। वास्तव में दशरथ-कुल-नन्दन का चरित्र उदात्त चरित्र है। लक्ष्मण के यह शब्द—

"मैं तो निज भव-सिन्धु कभी का तर चुका,
राम चरण में आत्म समर्पण कर चुका।"
....

वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य,
भाभी की भगिनी, तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।

दाम्पत्य-रति ने भी यह सिद्ध कर दिया कि रति का उद्देश्य मात्र कामदेव ही नहीं है वरन् उसके आगे और भी कुछ हैं। अन्त में समस्त माताएँ अपने पुत्रों को राम-चरण में अर्पित करती हुई उसी तात्विक ज्ञान का संदेश देती है जिसे देने के लिए ही प्रभु ने पृथ्वी पर अवतार धारण किया अन्यथा अवतार लेनी की क्या आवश्यकता थी।

'जाओ बेटा,—'राम-काज, क्षण-भंग शरीरा।''

समग्ररूपेण कवि का उद्देश्य उदात्त ही है। कवि ने राम-सीता, लक्ष्मण-उर्मिला एवं अन्य पात्रों के जीवन से जिन महान् सिद्धान्तों की, जीवन के जिन महत् संदेशों की घोषणा की है—वास्तव में वे ही उदात्त की परिभाषा हैं। विश्वमंगल के निमित्त स्वत्त्व का त्याग है। विश्वमंगल ही एक ऐसी साधना है जिसमें समस्त अध्यात्मवाद, योग, समाधि, वेद—पुराण एवं उपनिषद् का सार निहित है। वास्तव में दद्दा के काव्य में गंगा-यमुना की धारा सदृश ही वेद—उपनिषद् की धारा आकर समहित हो उठी है जिसने इसी धरातल पर यह सिद्ध कर दिया कि योग की सविकल्प समाधि समष्टि का कल्याण है और यही उदात्त जीवन है।

●

घुटन

लालजी 'आलोक'
एम० ए० (मनो०), बी० एड्० (छात्र)

खालीपन का एहसास लिए
माँस के लोथड़े को
घसीटता चला आया -
उम्मीद में, किरणों के
पर—
कोहरा बन के रह गयी जिन्दगी,
घुटन का लबादा ओढ़े
पिपासित मन को
सान्त्वना देता चला आया
उम्मीद में, सावन के
पर—
रेगिस्तान बन के रह गयी जिन्दगी
बैसाखी को साथ लिए
ठूँठ टाँगों को
लटकाता चला आया—
उम्मीद में, पूर्णता के
पर—
मृगतृष्णा बन के रह गयी जिन्दगी।

●

त्याग और शौर्य के प्राचीन स्मारकः गोवर्द्धन व देउलिया

डॉ० सुरेश भ्रमर
प्रा० भा० इति० पुरा० विभाग

हिन्दुस्तान की धरती शुरू से ही वीरमाता रही है···· सारे के सारे इतिहासी पन्ने वीरगाथाओं से भरे पड़े रहे हैं। यहाँ शौर्य और त्याग के प्रतीकों का सम्मान अतीत में अपनी पूरी धार लिए रहा है–कमोबेश–अभी भी धार में वही तेजी है। राजस्थान इस ओर अपनी विशिष्टता के लिए निश्चित रूप से गर्व कर सकता है कि उसने देश को वीर, महापुरुष और वीरांगनायें दिये अनेकों की संख्या में-एक नहीं ! जिन्होंने जब तब परिस्थितियों के अनुकूल न रहते हुये भी आततायी आक्रमणकारियों से, चाहे वह जो भी रहा हो, युद्ध कर अपनी स्वतंत्रता, स्वाभिमान और प्रतिष्ठा को उनकी आँच से बचाये रखा—कई-कई बार अपने प्राणों की आहुति देकर भी। राजस्थान का ढेर सारा हिस्सा-किलों, राजप्रासादों, मंदिरों, शिलाओं एवं पहाड़ियों को साक्षी बनाये न जाने कितने ही पुराने शौर्य स्मारकों को आज भी उठाये खड़ा है। निश्चित रूप से ये स्मारक बोल नहीं सकते पर उनका मौन भाषा से भी कहीं अधिक मुखरता और तल्खी लिए हुए है जिनसे बराबर गूँज सी उठती रही है—"त्याग शौर्य स्वाभिमान और देश-प्रेम की धार बराबर बनी रहे।"

राजस्थान के इन शौर्य प्रतीकों में स्थान-स्थान पर बिखरे गोवर्द्धनों एवं देउलियों का अपना विशिष्ठ स्थान रहा है—प्रतीक रूप से पुरानी गाथाओं को दुहराते रहते हैं ये बार बार·······सचमुच वीरों की स्मृतियों को किसी भी प्रकार से संजोये रखने में राजस्थान ने कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी। यद्यपि 'राजस्थान के इतिहास' ग्रंथ में प्रसिद्ध इतिहास-विद् कर्नलटाड ने बहुत सारी विशिष्टताओं का वर्णन किया पर इन प्रतीकों को न जाने क्यों नहीं छेड़ा। इन स्मारकों पर सबसे पहले प्रकाश डालने वाले विद्वानों में प्रो० भण्डारकर का काम उल्लेखनीय है जिनके प्रयत्न का ही परिणाम रहा कि ये स्मारक अध्ययन के क्षेत्र में आ सके। डॉ० भण्डारकर के बाद श्री विजयशंकर श्रीवास्तव ने इन स्मारकों पर प्रकाश डाला और गोवर्द्धन व देउलियों की सिलसिलेवार चर्चा की। श्री विजय शंकर जी की जानकारियों को ग्रहण करने से मुझे अपने विवरण को संयोजित करने में अच्छा खासा सहयोग मिला।

समय काल की दृष्टि से सातवीं-आठवीं सदी में राजपूतों के उद्भव के साथ ही स्मारक स्तम्भों और शिलापट्टों की परम्परा और भी गहराई लेने लगी। इन स्मारकों में में गोवर्द्धन और देउली का बहुत ही सम्मानपूर्ण स्थान रहा है !

गोवर्द्धन :

युद्ध क्षेत्र या किसी अन्य सत्कार्य में वीर गति पाने वाले योद्धाओं या महापुरुषों की स्मृति रूप में उनकी अस्थि भस्मावशेषों पर मंदिर का रूप लिए शिखरों की लघु आकृति वाले स्तम्भ बनाये जाने लगे जिन्हें ही गोवर्द्धन कहा गया। फलोधी (जोधपुर), नागौर जिले के बीठन एवं जैसलमेर के लोदवा नामक स्थान से प्राप्त स्मारकों में स्पष्ट रूप से इनके 'गोवर्द्धन' नाम दिए जाने का उल्लेख है। सम्भवत: 'गोवर्द्धन' नाम दिए जाने के पीछे एक प्रमुख कारण यह रहा ही कि स्तम्भ स्मारकों में गोवर्द्धन पर्वत को अपनी उँगलियों पर उठाये हुये श्रीकृष्ण का अंकन प्रायः मिलता है।

मंदिर का रूप लिए छोटे शिखर वाले इन स्मारकों पर नया प्रकाश डाक्टर यल० पी० टैसीटोरी द्वारा तात्कालीन बीकानेर रियासत के उदरामसर एवं किलचू नामक गाँवां में इन गोवर्द्धनों की खुदाई के बाद पड़ा जहाँ उन्होंने इस प्रकार के अवशेषों से मिट्टी के बर्तन भी प्राप्त किये थे। घनेरु नामक स्थान पर मिले एक गोवर्द्धन पर जो, वि० सं० १०१३ का है, देवनागरी मिश्रित कुटिल लिपि में एक अभिलेख भी उत्कीर्णित है। गंगा नगर जिले के पल्लू नामक स्थान से प्राप्त गोवर्द्धन पर भी देवनागरी मिश्रित कुटिल लिपि विक्रम संवत् १०१६ का अभिलेख है। इस स्मारक स्तम्भ पर चित्रों का अंकन सजीवता लिए हुए है। स्तम्भ के मुख्य भाग की ताक पर शिवलिंग की पूजा में निमग्न एक स्त्री-पुरुष युगल का सूक्ष्म अंकन है। दूसरी तरफ की ताक में गणेश जी विराजमान हैं। इस स्मारक पर आमलक भी है।

कभी-कभी किन्हीं गोवर्द्धनों की चारों दिशाओं के ताकों पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा सूर्य की प्रतिमाओं का अंकन सम्भवत: इन देवताओं की सृष्टि, पालन संहार तथा तेजस्विता के प्रतीक होने के कारण मिलता है। "समरभूमि में भी वीरता और धैर्य के साथ मृत्यु का वरण करने वाला योद्धा कभी भी मरता नहीं बल्कि उसकी आत्मा अमरता को प्राप्त कर शिव में विलीन हो जाती है"—इस विश्वास का परिचय बार-बार इन स्मारकों में देखने को मिलता है। इसीलिए योद्धा को प्रतीक रूप में शिव लिंग बनाकर चित्रित किया गया है। पल्लूवाला यह गोवर्द्धन स्तम्भ आजकल बीकानेर संग्रहालय में सुरक्षित है।

श्री विजयशंकर श्रीवास्तव ने प्राचीन देवरद (वर्तमान दोरद) से प्राप्त गोवर्द्धन के चार विशालकाय स्मृति पट्टों का ब्यौरा दिया है। उक्त स्मारकपट्ट भरतपुर संग्रहालय में हैं। ये स्मृतिपट्ट लगभग आठ फीट ऊँचे हैं। इनमें भी योद्धा को शिवलिंग के रूप में दिखाया गया है लेकिन नीचे हिस्से में क्षीरसागर में शेषशय्या पर शयन करते विष्णु का अंकन हैं। बीच का हिस्सा मृत्युलोक का परिचायक है। इसमें वीरात्मा घोड़े पर सवार होकर अच्छे कामों हेतु निरीक्षण करते हुये तथा उनके लिए संघर्ष करते हुए और कभी-कभी चिता में प्रवेश करते हुए भी दिखलाया गया है। सांसारिक बंधनों के प्रतीक रूप में नृत्यांगना मंडली का सजीव चित्रण है। सबसे ऊपर के हिस्से में देवलोक का चित्रण है जहां ब्रह्मा, विष्णु और शिव का वास है। कभी-कभी

त्रिकाय !!

नीचे के हिस्से में मृत्युलोक में विचरते हुये वीरात्मा को घोड़े पर सवारी के स्थान पर ऊँट की सवारी करते दिखलाया गया है।

देउलियां

पति ही स्त्री का सब कुछ है अतः पति की मृत्य के बाद पत्नी का जीना धिक्कार है, ऐसा विश्वास समूचे हिन्दू समाज को डँस रहा है। पुराने दिनों में तो पति के शव के साथ सती हो जाने की प्रथा भयावह रूप लिए हुए थी। इन सतियों की स्मृति में उनके परिवार के लोग तालाब, खेतों, मंदिरों या अन्य किसी सार्वजनिक प्रकार के स्थानों पर स्मारक रूप में 'देउली' बनवा दिया करते थे। देउली या देवली का सहज अर्थ देवकुलिका या देवकुल माना जाता है। देउली शब्द का इन स्मारकों के लिए सबसे पहला प्रयोग बीकानेर के अणरवीसर नामक स्थान से प्राप्त एक स्मारक लेख में पाया जाता है। यह स्मारक लेख विक्रम संवत १३४० का है। जोधपुर स्थित उस्तरां के स्मारक लेख में भी स्पष्ट रूप से देउली निर्माण का उल्लेख है।

बिना देउली नामकरण वाले लेखों में घटियाला (जोधपुर) से मिले वि० सं० ९४७ के एक स्मारक लेख में रेणुक नामक एक व्यक्ति के दिवंगत होने के दिन ही उसकी पत्नी सम्पल्ल देवी के सती होने का उल्लेख है। जोधपुर के ही बड़लू नामक स्थान से प्राप्त स्मारक स्तम्भ लेख में सती का नाम तो नहीं पर जिस व्यक्ति के लिए सती होने का स्मारक बना, उसका नाम महावाराह दहितराज दिया हुआ है। महावाराह की उपाधि सम्भवतः उसके किसी उच्च राज कर्मचारी होने का संकेत करती है। बीकानेर के बोरासर नामक स्थान में प्राप्त वि० सं० ११६४ के एक स्तम्भ लेख में अपने सुहाग की रक्षा हेतु सती हो जाने का उल्लेख है।

देउली पर के चित्रों में वीरगति पाये पुरुष की कभी खड्ग और ढाल लिए तो कभी केवल खड़ी अवस्था में अपने साथ सती होने वाली स्त्रियों को अंकित किया गया है। दिवंगत आत्मा को शिव का स्वरूप मान लेना तो एक परम्परा सी बन गई थी। साथ की स्त्रियां हाथ जोड़े खड़ी अंकित दीख पड़ती हैं। चित्रों के ऊपर सूर्य और चन्द्र का अंकन उस विश्वास को बनाए रखने के कारण है जब तक सूर्य और चन्द्रमा अपने प्रकाश से पृथ्वी को अवलोकित करते रहें तब तक ये स्मारक भी चिरस्थायी रहें। कभी-कभी दिवंगत आत्मा घुड़सवार के बजाय ऊंट पर सवार दीख पड़ती है। ऐसा ही परिवर्तन नाडोल से प्राप्त एक स्मारक स्तम्भ पर है जिसमें नीचे १८वीं सदी का देवनागरी में लेख भी है। मेवाड़ के लोहारी नामक स्थान पर प्राप्त पृथ्वीराज द्वितीय के वि० सं० १२३६ के स्मारक स्तम्भ के ऊपरी भाग में, उसके चारों ओर सती होने वाली रानियों की आकृतियाँ हैं और नीचे उन रानियों के नाम की सूची है। देवीकुंड सागर से प्राप्त देउली में राजा के साथ सती होने वाली पाँच रानियों के साथ पाँच दासियों का भी चित्रण है। यह देउली राव कल्याण मल की मृत्यु के बाद उसकी रानियों के सती होने की है। रानियों के साथ दासियों का सती होना एवं चित्रण से लगता है कि वे विश्वास पात्र और प्रिय दासियाँ रही होंगी। ऐसा ही

राजा अमरसिंह के गंगीभेद कुंड देउली स्मारक लेख में भी है। इसमें उनके साथ दस रानियां, नौ नौकर एवं नौ रानी की सहेलियों के सती हो जाने का उल्लेख है। ये अमरसिंह महाराणा प्रताप के पुत्र थे। महाराजा राजसिंह के वि० सं० १८४७ के देउली लेख में स्वामिभक्ति की अनूठी गाथा मिलती है जिसमें राजा की मृत्यु पर उसका एक स्वामीभक्त नौकर भी राजा की चिता में प्रवेश कर जाता है।

स्मारकों में सबसे ज्यादा प्रसिद्धि मिली १७वीं सदी में अपने पति के साथ सती होने वाली नारायणी बाई के झुंझनू में बने स्मारक को। यह स्मारक आज भी राणी सती दादी के मंदिर के नाम से पूजित है।

यूं भी न जाने कितनी अज्ञात स्त्रियों के त्याग की अनुपम गाथा यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं-एक रानी से लेकर एक आम स्त्री तक की, जो देउली के रूप में आज भी मिलती है। आज भी चित्तौड़, बीकानेर एवं जोधपुर के किलों के दरवाजों पर सती होने की प्रक्रिया में उन द्वारों से गुजरने वाली स्त्रियों के हाथों के छापे उनके त्याग और शौर्य की कहानी कहते रहते है वर्तमान में हम सबसे।

इनसान को जानने की अपेक्षा इनसानों को जानना कहीं अधिक आसान है।

—रोशेफूकाल

ऐतिहासिक उपन्यास

रवीन्द्रनाथ राय
शोधछात्र, हिन्दी

यह शब्द इतिहास और उपन्यास के समिश्रण से बना है। ऐसा उपन्यास जिसमें इतिहास का तत्व मिला हो। यह कहना स्वाभाविक होगा कि उपन्यासकार इतिहास के गड़े मुर्दों को क्यों उखाड़ता है? उसके सामने समाज में अनेक विषय हैं जिस पर वह उपन्यास लिख सकता है। इसके बहुत से कारण हो सकते है किन्तु सबसे प्रमुख कारण यह है कि समाज में ऐतिहासिक पात्रों या घटनाओं के प्रति सहज विश्वास रहता है जिसका लाभ लेखक को मिलता है। भारतीय साहित्य में धार्मिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों के प्रचार के लिये सदैव इतिहास का सहारा लिया गया। सर्वाधिक प्रयोग धार्मिक मूल्यों को समाज में स्थापित करने के लिये इसका प्रयोग हुआ। आर्य धर्म की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद उस काल का इतिहास अपने अन्दर छिपाये हुये है। पुराणो में इतिहास का तत्व इस प्रकार से मिला हुआ है कि उसको अलग कर पाना कठिन है किन्तु इनमें इतिहास के तत्व हैं। प्राचीन काल में भारत में कथा, इतिहास तथा पुराण करीब-करीब समान ही समझे जाते थे। पुराणों को तो बहुत काल तक प्रामाणिक इतिहास माना गया, आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं जो इसे इतिहास ही मानते हैं।

पुराणों के पीछे धर्म की छाप सदैव विद्यमान रही है, जिससे उसके ऐतिहासिक स्वरूप की चर्चा कभी नहीं हो पायी है। इन ग्रंथों के माध्यम से अवतारवाद की स्थापना आर्य धर्म में हुई अर्थात् धर्म को अनुकरणीय बनाने का प्रयास किया गया और उसके पीछे धार्मिक उद्देश्य रखे गये। ऐतिहसिक उपन्यासों की रचना भी सोद्देश्य हुआ करती है। ऐसी स्थिति में इतिहास का आश्रय लेने से रचना पाठक का सहज विश्वास प्राप्त कर लेती है; उसके लिये बाह्य प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। ऐतिहासिक उपन्यास का मुख्य उद्देश्य निम्न होता है।

१—राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करना।

२—व्यक्ति और समाज में अच्छे गुणों की स्थापना करना।

३—उपन्यास के माध्यम से पाठक को इतिहास का ज्ञान करना।

इनमें पहला उद्देश्य ही प्रमुख है। लेखक पाठक के इतिहास के प्रति सहज विश्वास का लाभ उठाकर समाज में चारित्रिक मूल्यों की स्थापना करता है। व्यक्ति का सहज स्वभाव

होता है कि वह इतिहास से सीखने और समझने का प्रयास करता है। राम और कृष्ण का नाम-मात्र लेने से हिन्दू समाज अपने आप आदर्श पुरुष की मूर्ति उपस्थित हो जाती है और जीवन के प्रत्येक समस्या समाधान में इन दोनों महापुरुषों के जीवन से उदाहरण दिये जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्येक हिन्दू राम और कृष्ण के रास्ते पर चलना अपना आदर्श मानता है। इसी प्रकार का कार्य लेखक इतिहास पुरुष के माध्यम से राम सामयिक समस्याओं के समाधान से लेकर राष्ट्रीय चरित्र निर्माण का कार्य ऐतिहासिक उपन्यास के माध्यम से करता है।

ऐतिहासिक उपन्यास तथा अन्य उपन्यासों में अन्तर होता है। जहाँ एक तरफ सामाजिक और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नायक के रूप में चोर असामाजिक तथा पागल तक को नायक की भूमिका में रखकर उसका विवेचन किया जाता है और उनमें उदात्त गुणों की कल्पना करके उन्हें सामाजिक स्वीकार किया जाता है तथा उसके दोषों को समाज पर आरोपित किया जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास प्रसिद्ध पुरुषों के माध्यम से देश पर मर मिटने वालों, वीरों तथा जातीय गौरव के प्रतीक ऐसे पुरुषों के जीवन को उपन्यास के माध्यम समाज के सामने रखा जाता है जिससे लोग इन गुणों से प्रभावित हो और अपने जीवन में अपनायें। एक तरफ जीवन और समाज की कुरूपताओं को साहित्य के माध्यम से रखा जाता है और कुरूपताओं को साहित्य के माध्यम से रखा जाता है और दूसरी तरफ समाज तथा व्यक्ति को महान बनाने का प्रयास किया जाता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का प्रयोग ताने बाने के रूप में किया जाता है। बाकी रंग भरने का कार्य लेखक की कल्पना ही करती है। इस प्रकार कल्पना के माध्यम से सरसता का संचार करके इतिहास की दम घोंटू निरसता से मुक्ति मिल जाती है। उपन्यास में प्रमुख रूप से तीन तत्वों की प्रधानता रहती है। पात्र, घटना तथा वातावरण। ऐतिहासिक उपन्यासों के लिये इनका चयन इतिहास से होना चाहिये। ऐतिहासिक विश्वसनीयता में वातावरण का प्रमुख हाथ रहता है। इसी के माध्यम से ऐतिहासिक औचित्य तथा काल का बोध होता है। इसमें खास करके उस काल के वस्त्र, आभूषण हथियार, सामाजिक रीति-रिवाज तथा धार्मिक विश्वासों का ध्यान रखा जाता है। उपन्यास में वातावरण निर्माण में भाषा का महत्व सर्वोपरि है। भाषा से तात्पर्य यह नहीं कि उस काल की भाषा का प्रयोग किया जाय वरन संबोधनों आदि के माध्यम से भ्रम उत्पन्न किया जाय। वस्त्र, आभूषण आदि का ज्ञान उस काल की मूर्तियों तथा समसामायिक साहित्यों से हो जाता है। एक-एक वस्तु का गंभीरता से अध्ययन करके और उनकी सत्यता की पुष्टि के बाद ही प्रयोग होना चाहिये। अपने देश में अजन्ता, एलोरा तथा अन्यान्य स्थानों पर ऐसी मूर्तियां हैं जो अपने समय के बहुत बड़े काल खंड को अपने में समेटे हैं, इसकी परख उपन्यासकार के लिये आवश्यक है। संबोधनों के प्रयोग में लेखक को बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। ऐतिहासिक औचित्य के सबसे बड़े पोषक राहुल सांकृत्यायन ने अपने उपन्यास 'जय यौधेय' में जहाँ एक तरफ 'सखी' शब्द के लिये प्राकृत का 'सही' शब्द प्रयोग करते हैं। वहीं अंग्रेजी के शब्द 'पार्टी' का

निकाय !!

प्रयोग करके सब किये पर पानी फेर देते हैं। ऐतिहासिक अनौचित्य से बचना सरल कार्य नहीं हैं, इसके लिये लेखक को श्रम तथा प्रयास दोनों करना पड़ता है।

भारतीय इतिहास में कुछ ऐसे मोड़ हैं जिनकी परख उपन्यासकार के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार का एक मोड़ बारूद के प्रयोग से इतिहास में आता है। भारत में सर्व प्रथम बारूदी हथियारों का प्रयोग बाबर ने पानीपत के मैदान में २१ अप्रैल १५२६ ई० को किया। इसके पूर्व बारूदी हथियारों का प्रयोग करना उपन्यास की सफलता में संदेह पैदा कर सकता है।

ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास नहीं है। इतिहास विज्ञान के करीब पहुँचता जा रहा है उसमें कल्पना को कोई स्थान नहीं है। उसके सहायता से घटनाएँ उसके समय तथा और बाह्य कारणों की ही जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उपन्यासकार घटना के मूल में जा कर मासिक स्थिति तथा घटना के मूल में छिपे कारणों का बाहर लाने का प्रयास करता है। इसमें वह कल्पना का सहारा लेता है। इस प्रकार उसकी कल्पना इतिहास की सूखी नदी में साहित्य सलिल प्रवाहित करती है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के नायक की तुलना महाकाव्यों के नायक से की जा सकती है। इसके नायक भी मानवोचित गुणों से सम्पन्न रहते हैं तथा जातीय गौरव के प्रतीक के रूप में समाज के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं। आज के इस काल में जिसमें हर प्रकार के मूल्यों सामाजिक, नैतिक और धार्मिक का तेजी से ह्रास होता जा रहा है, उच्च मानवीय गुणों का प्राय: साहित्य और समाज दोनों से लोप होता जा रहा है। ऐतिहासिक उपन्यास उनको स्थापित करने का एक प्रयास है। ऐतिहासिक उपन्यास अनास्था के इस युग में आस्था का बीज साहित्य में बो रहा है।



कोई भी सहृदय व्यक्ति, सूरज की तरह सबसे गिरी हुई दशा में भी अपने महान् व्यक्तित्व की झलक दिखाता है।

—सर पी० सिडनी

चौराहे का आदमी

नगेन्द्र प्रताप सिंह
एम० ए० हिन्दी (अन्तिम वर्ष)

आज तुम्हें याद करना है
यादों के चौराहों से देखकर
मैं जानता हूँ कि तुम भी चौराहे पर खड़े हो
ठीक विश्वविद्यालय के सामने
पुनश्च कि तुम भी चौराहों के आदमी हो
सड़कों के वासी और फुटपाथी सम्प्रदाय के / हितचिन्तक हो
क्योंकि तुम बने-बनाये घर के बाहर हो
लंका पर खड़े हो यही तो मुझे शंका है
मतलब कि रात को फुटपाथ पर सोने वालों के
साथ तुम भी रात काटते हो
लेकिन खड़े हो। उनकी बाँह थामे हो / तुम उन बेसहारों के प्रतीक हो
तुम्हारा वहाँ खड़ा होना बहुत कुछ कह जाता है
नयनों में अश्रु भरकर
आज तुम्हारी नयी व्याख्या—तुम्हारे खड़े होने की व्याख्या
फिर समाचारों में आना चाहती है
तुम निरर्थ शैली में लंका में नहीं हो
तुम्हारी स्टेच्यू सार्थक अर्थ खोजती है
हे लंकावासी ! यदि भयाक्रांत होते तो 'अयोध्या' भी भाग जाते
जहाँ सुख सौरभ होता
पर नहीं, तुम पीड़ित मानवता के साथ हो।
टीसते घावों का दर्द तुम जानते हो।
संस्कृति के भ्रंशन का दर्द तुम जानते हो।
'विश्वविद्यालय' उन्हीं बिम्बों की स्थली है / उन्हीं मानवता बिम्बों की
जिसमें तुम्हारी दूरदर्शी आत्मा पली है
तुम्हारी प्रतिमा की सारी नयी व्याख्या वही
जो आज युवा चेतना चाहती है / तुम्हारी राहों को पकड़ कर
तुम अफीमची की भाषा में बोलने के आदी नहीं
अतिवादी मानवीयता की तरह
तुम क्रौंच मिथुनदर्शी और 'मानसशिल्पी' की
समन्वयवादी भाषा बोल रहे थे
पूरे भारत को विश्वविद्यालय में समाहित किया
'लघु-भारत' बन गया विश्वविद्यालय
हिन्दुत्व, मालवीय और भिक्षावृत्ति को घोलकर

हास्य-व्यंग्य

यदा यदा हि धर्मस्य

ना० वि० सप्रे
परीक्षा नियंत्रक कार्यालय

स्वर्ग से मृत्युलोक की ओर खुलने वाले उस विशाल बरामदे में से उस समय मराठा अगरवत्ती की सुगन्ध उड़ रही थी। बरामदे में, मृत्युलोक से आयात किये गये कीमती पारदर्शक परदे लगे हुए थे, जिसमें से भगवान इन्द्र और शचिरानी की आकृतियाँ झिलमिला रही थीं। भगवान इन्द्र इन दिनों छुट्टी पर थे और शचीरानी के साथ शतंरज की बाजी लड़ा रहे थे। स्टीरियो पर किसी भारतीय फिल्म की धुन धीमे-धीमे स्वर में बज रही थी और स्वर्ग के उस वातावरण को और भी स्वर्गीय बना रही थी। एक ओर कोने में सिंहासन-नुमा कुर्सी पर, बिना विभाग (और बिना काम) के मंत्री नारदजी तानपूरे पर खोये हुए सुरों को खोजने का असफल प्रयास कर रहे थे। वातावरण में एक प्रकार की स्निग्धता छायी हुई थी, तभी ……तभी, सामने के खंभे पर टँगे हुए बैरोमीटर का पारा जोर-जोर से उछलने लगा। नारदजी का ध्यान एकाएक उधर गया। उनकी तन्द्रा टूटी। लगा जैसे खोये हुए सुर मिल गये हों। मुँह से अकस्मात् ही निकल गया, "प्रलय ……महाप्रलय हो गया, भगवान्!"

प्रलय' शब्द मात्र से वातावरण की गंभीरता एकाएक टूट गयी। "क्या हुआ, देवर्षिजी?" शचीरानी ने चिन्तित स्वर में पूछा।

"उधर देखिए, महारानीजी!" देवर्षि ने बैरोमीटर की ओर संकेत करते हुए कहा। अब तक भगवान इन्द्र की तन्द्रा भी पूरी तरह टूट चुकी थी और वे बड़ी ही व्यग्रता से, बैरोमीटर में उछलने वाले पारे की ओर देख रहे थे।

जब से नये इन्द्र ने स्वर्ग के शासन की बागडोर संभाली थी, तभी से उन्होंने स्वर्ग को अत्याधुनिक बनाने का प्रयास किया था। उन्होंने मृत्युलोक के कितने ही देशों से आर्थिक तथा राजनीतिक संबंध स्थापित कर लिये थे। उन देशों से व्यापार चल निकला था। स्वर्ग से एक विशिष्ट क़िस्म की शराब का निर्यात किया गया था, जिसके बढ़ाने में वहाँ इलेक्ट्रानिक उपकरण लगाये गये थे। इससे, एक तो भगवान इन्द्र अन्य देशों की जानकारी के मामले में स्वावलंबी हो गये थे, दूसरे देश-विदेश की यात्रा के सिलसिले में नारदजी पर, स्वर्ग के राजस्व का जो खर्च होता था, वह काफी हद तक घट गया था।

बैरोमीटर की ओर देखकर, भगवान इन्द्र ने कहा, "ये छुट्टियाँ भी बेकार गयी, नारदजी! मृत्युलोक के एक बड़े देश भारतवर्ष में, जनतंत्र खतरे में पड़ गया है। कितने ही दिनों से मुझे सूचना मिल रही है कि वहाँ वस्तुओं के भाव आसमान छू रहे हैं। दिन-दहाड़े

चोरी-डकैती तथा राजनीतिक हत्याएँ जैसी दुर्घटनाएँ हो रही हैं। जनता का मनोबल टूट रहा है और लोग पागलों की तरह किसी नयी व्यवस्था की खोज में दौड़ रहे हैं।"

भगवान इन्द्र की बात को अत्यंत सहज ढंग से लेते हुए नारदजी बोले, "लेकिन इसमें तो दोष आप का ही है, भगवान !"

"मेरा दोष ?" भगवान इन्द्र ने साश्चर्य पूछा।

"और नहीं तो क्या ? पिछले कितने ही दिनों से आप छुट्टियाँ मना रहे हैं। हमारे मन्त्री भी चैन की ही वंशी बजा रहे हैं। कुछ भी काम नहीं हुआ है और अगर कुछ काम हुआ भी है, तो वह केवल स्वर्ग की रूपसज्जा सँवारने में। अलबत्ता, आपका विदेश विभाग सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आदान-प्रदान के नाम पर, यहाँ की अप्सराओं और वहाँ की रूपसियों की अदला-बदली में व्यस्त रहा। आप चाहते तो भारत में नैतिकता का इतना ह्रास नहीं हुआ होता।"

पति पर हुए इस आकस्मिक हमले का प्रतिवाद शचिरानी ने किया। बोली, "पहले तो आप ही सलाह देते हैं और बाद में इन्हें दोष देते हैं। आप ही ने तो कहा था कि भारत में इन दिनों सरकारी सन्तों की बाढ़ आ गयी है और यदि समय रहते उनका प्रबन्ध नहीं किया गया तो हमारी स्वर्ग की लुटिया डूब जाएगी।"

"ठीक कहती हो, रानी !" भगवान इन्द्र ने पत्नी का समर्थन करते हुए कहा, "इनकी तो यह पुरानी आदत है। कोई आश्चर्य नहीं कि यदि भारत में वर्तमान असंतोष के पीछे भी देवर्षि जी का ही हाथ हो ! क्यों, देवर्षि जी ?"

अपनी प्रशंसा में कहे गये संवाद से नारद जी उछल पड़े। तानपूरे पर उंगलियां फेरते हुए बोले, "शायद आप नहीं जानते कि इन दिनों मैं किसिंजर को अपना गुरू स्वीकार कर चुका हूँ। यह बात और है कि लोग किसिंजर को अमरीकी नारद की संज्ञा देते हैं। किसिंजर की अपनी विशेषताएँ हैं। उधर, वह पैरों में पंख बाँध कर शान्ति का अग्रदूत बनता फिरता है, तो इधर वास्तव में आगामी युद्धों के बीज बोता है। उसे समझना कठिन है। तभी तो आपके प्रयासों से उसे शान्ति का पुरस्कार मिला और मैं बदनाम नारद ही रह गया। खैर, मैंने तो मृत्युलोक में लोक और तन्त्र दोनों को ही प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया। उधर, गल्ले की सरकारी खरीद जैसे समाजवादी कार्यक्रम कराकर मैंने सरकार तथा उनके अनुयाइयों को प्रसन्न किया तो दूसरी ओर चीजों के दाम बढ़वाकर व्यापारी वर्ग को सन्तुष्ट कर दिया। आज मृत्युलोक में महंगाई का इतना अधिक प्रचार किया जा रहा है, विपक्ष सरकारी पक्ष को बदनाम करने लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहा है, लेकिन क्या इन परिस्थितियों का सीधा लाभ वहाँ की जनता को नहीं हो रहा है ? तिजोरियाँ किसकी भर रही हैं ? वहाँ की जनता की ही न ? साधारण जनता तो मँहगाई में ही विश्वास करती है, क्योंकि उसके बिना मँहगाई भत्ते की कल्पना करना असंभव है।"

"आपकी कथनी सर्वथा उचित है और करनी हमारी विदेश नीति के अनुकूल। किन्तु एक भय है कि यदि भ्रष्टाचार के विरोध में होने वाला आन्दोलन सफल हो गया तो

किसी दिन आन्दोलनकारी यहाँ आ धमकेंगे और हम से हिसाब माँगना शुरू करेंगे।" भगवान इन्द्र ने अपनी शंका प्रस्तुत की।

"आप इसकी चिन्ता न करें। मैं स्वयं ही कोई न कोई समाधान ढूँढ़ रहा हूँ। वैसे भी, इधर कई दिनों से बैठे-बैठे गठिया हो रहा था। अब चलूंगा, फिरूँगा, नेतागिरी करूँगा तो अपने आप ही दर्द कम हो जाएगा।"

शचीरानी ने पूछ ही लिया, "क्या आप नेतागिरी करेंगे और वह भी भारत जैसे देश में?"

"नेतागिरी मेरा स्वभाव है, देवी! अगले ही क्षण में भारत की भूमि पर अवतरित हो रहा हूँ। वहाँ, अभी तक जनता में यह विश्वास कायम है कि जब भी देश में धर्म की हानि होती है, मैं अवतार लेता हूँ और धर्म की स्थापना करता हूँ। यदा-यदा हि धर्मस्य...."

और, देखते ही देखते नारदजी अन्तर्ध्यान हो गये।

भारत की जिस भूमि पर नारदजी के चरण पड़े वह उस प्रदेश की राजधानी थी। उस दिन पूरा शहर बन्द था, जिसके अन्तर्गत दुकानें बन्द थी, व्यवसाय ठप था, सरकारी बसों का आना-जाना बन्द था। अन्य प्रदेशों से लाखों की संख्या में स्वयं सेवक मँगवाये गये थे, जिससे उस शहर की आबादी एकाएक ही बढ़ गयी थी। लोग झुण्ड के झुण्ड बनाकर क्रांति मैदान की ओर बढ़ रहे थे। नारदजी भी उसी रेले के साथ आगे बढ़ते रहे। उनसे नहीं रहा गया तो उत्सुकतावश एक राही से पूछ ही बैठे। "आप लोग किधर जा रहे हैं?"

"अरे, आप नहीं जानते पण्डितजी? आज हमारे गणनायक जी आ रहे हैं।"

"गणनायकजी? क्या आपके यहाँ प्रधानमंत्री का नाम गणनायक हो गया है?"

"नहीं जी।" राही ने तुच्छता का प्रदर्शन करते हुए कहा, "कहाँ गणनायक जी, कहाँ प्रधानमंत्रीजी! गणनायकजी हमारे हृदय सिंहासन पर विराजमान हैं, तो प्रधानमंत्री सरकारी कुर्सी पर कहीं मुकाबला भी है?"

नारदजी ने उस राही से उलझना उचित न जानकर केवल इतना ही कहा, "आपके गणनायक जी आपके लिए क्या करने वाले हैं?"

"यह पूछिए कि क्या नहीं करने वाले हैं? वे हमारे लिए सुख और शान्ति का सन्देश लाने वाले हैं। वे पहले भ्रष्टाचार और गरीबी दूर करेंगे जो हमारे जीवन में नासूर बन कर रह गयी है। उन्होंने इस कार्य के लिए, पहले इसी शहर को चुना है। धीरे-धीरे उनका कार्यक्षेत्र बढ़ेगा और बाद में पूरे देश में फैल जाएगा।"

उन लोगों के साथ चलते-चलते, नारदजी शहर से दूर एक ऐसे मैदान में पहुँचे जहाँ लाउडस्पीकर की ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। मैदान में मानव-समुद्र लहरा रहा था। नारदजी घूम-घूम कर उपस्थित जन-समूह का निरीक्षण कर रहे थे। अधिकारी लोग मध्यम वर्ग के तथा ऊँचे स्तर के थे। उसके शरीर पर कीमती रेशमी वस्त्र अथवा महंगी खादी की पोशाक थी तथा सिर पर घुमी हुई श्वेत टोपियाँ थीं। वे सब गणनायकजी का भाषण सुनने आये थे किन्तु बाजार-भाव में उतार के रुख को देखकर चिन्ता प्रगट कर रहे थे। इतने में, मंच पर से सूचना प्रसारित हुई कि गणनायक जी आ पहुँचे हैं। सूचना प्रसारण के बाद एक अत्यंत जोशीला

गीत सुनाया गया, जिसकी तर्ज लड़ाई के समय गाये जाने वाले गीत की थी। गीत समाप्त हुआ। गणनायकजी ने माइक संभाला और उसमें से अमृतवाणी टपकने लगी। भाइयों! एक अर्सा हुआ, जब इस मैदान में हमने विदेशी दुश्मनों से लोहा लेने की शपथ ली थी। इतने दुःख और शर्म की बात है कि आज इसी मैदान में हमें अपने ही शासन के, अपने ही मित्रों के आचरण के विरुद्ध कुछ संकल्प लेने हैं। अपने विदेशी दुश्मनों के छक्के छुड़ाने के बाद जब हमने अपने ही भाइयों के हाथ में शासन की बागडोर सौंपी थी तो हमें विश्वास था कि वे हमारी सुख-चिन्ता वा ख्याल रखेंगे, हमें जीने लायक जिन्दगी बहाल करेंगे।"

गणनायक जी का गला रुँध गया था। पानी की एक घूंट पीकर वे बोले, "लेकिन हुआ इसके विपरीत ही। हमारे ही भाइयों ने शासनतंत्र में आते ही अपने को अधिक से अधिक सशक्त बनाने का प्रयास किया। उन्होंने अपने भाई भतीजों की एक लंबी पलटन तैयार कर दी। तो-हमारा पहला काम होगा इस पलटन को उखाड़ कर फेंकना। वर्तमान शासन ने हमें जो खाना खिलाया वह दूषित था, जो शिक्षा दी, वह भ्रष्ट थी। आप तो जानते ही हैं कि हम जैसा खाना खाते हैं, वैसी ही हमारी बुद्धि होती है। इससे अच्छा तो यह था की हम ऐसी शिक्षा न पाते। तो हमें एक क्रांति का सूत्रपात करना है। सामाजिक क्रांति, आर्थिक क्रांति, राजनीतिक क्रांति, यहाँ तक कि क्रांति की भी क्रांति........"

गणनायक जी का भाषण अब रंगत पर आ रहा था की इतने में एक कोने से कुछ लोग दौड़ते हुए मंच की ओर बढ़े। एक छोटा सा हंगामा हुआ और नारदजी मंच के पास पहुँचे। बोले, "आप क्रांति की बातें करते हैं, भ्रष्टाचार दूर करने का वादा करते हैं, लेकिन किसके बूते पर? क्या कोई फार्म्यूला हैं, आपके पास?"

गणनायक जी ने नारदजी की ओर इस प्रकार देखा, गोया किसी नासमझ बच्चे पर तरस खा रहे हों। फिर, जनसमूह की ओर मुखातिब होकर बोले, "मेरे भाईसाहब चाहते हैं कि मैं क्रांति का सूत्रपात करूँ। कोई फार्मूला दू। लेकिन, भाई मेरे मैं क्रांति का मसीहा नहीं हूँ। मैं जिस क्रान्ति की बात कर रहा हूँ। वह आप ही लोगों में से पैदा होगी। आप ही लोग उसका सूत्रपात करेंगे।"

नारदजी पुनः बोले, "सब कुछ जब हमें ही करना है, तो फिर आप किस मर्ज की दवा हैं?" नारदजी के मुँह से इतना निकलना ही था कि जनता में खड़े कुछ मोटे ताजे व्यक्तियों ने नारदजी को पकड़ लिया और गणनायक जी की उपस्थित में ही उनकी अच्छी खासी मरम्मत कर दी। पिटते रहने पर भी, नारदजी की जुबान बन्द नहीं हुई। बोले, "तो यही है, आपकी क्रांति? आप लोग देखेंगे कि अगली बार इस मंच पर गणनायक जी की जगह मैं खड़ा रहूँगा और आपको उपदेशामृत पिलाऊँगा........"

कुछ दिनों के बाद।

ऐसे ही एक सजे-सजाये मंच पर, नारदजी भाषण देने के लिए खड़े थे। मृत्युलोक के मंच पर स्वर्ग लोग के एक नेता का भाषण वैसे भी एक ऐतिहासिक घटना थी। तिसपर, उनका वेष, आवेश और शैली, भारतीय परिवेश में अत्याधुनिक लग रही थी। इस कार्यक्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें न किसी टोली ने मंगलाचरण अथवा क्रांतिगीत

गाया और नही किसी पार्टी के क्षेत्रीय नेता ने उनका परिचय कराया। उन्होंने स्वयं ही कहना प्रारंभ किया, "मैं स्वर्ग से आया हूँ, आप से खुलकर बातें करने। मैं न आपका अमूल्य समय नष्ट करना और न ही आपको भाषण की लंबी खुराक पिलाऊँगा। सच तो यह है कि मेरा आज का भाषण, भाषण की निस्सारता सिद्ध करने के लिए ही है। इधर कई दिनों से मैं गुप्त रूप से उपस्थित होता रहा हूँ। मैंने हर सम्मेलनों में बढ़ती हुई अनैतिकताओं के संबन्ध में भाषण सुने हैं और उन्हें सुनकर हर भला आदमी यही सोच सकता है की इस समय भारत में दो प्रकार के आदमी हैं—एक वो जो शासन को बागडोर सम्हाले हुए हैं तथा भ्रष्टाचार और पाप के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। दूसरे, बेचारे वे लोग हैं जो पूर्णतः नीतिमान हैं, जो भ्रष्टाचार का नाम सुनकर काँप उठते हैं, और जो शासन की बागडोर से कोसों दूर हैं—अलबत्ता, शासन में आना चाहते हैं।"

जनेऊ में लटकी हुई शीशी में से नारदजी ने अमृत की कुछ बूँदें गले के नाचे उतारी और एक बार जनसमूह का निरीक्षण किया। सभी शान्त थे, स्तब्ध थे। मानों कोई सुनहला सपना देख रहे हों और जरा सा हिलने डुलने से भी सपना टूट सकता हो। नारदजी ने आगे कहना शुरू किया, "भाई मेरे, मैं तो स्वर्ग का निवासी हूँ, भगवान इन्द्र का तुच्छ सेवक हूँ। मैंने स्वर्ग का सुख भी देखा है और वहाँ चलने वाली नीति-अनीति के नमूने भी देखे है। मैंने स्वर्ग में कितनी ही क्रांतियाँ करवायी हैं। यही नहीं, मैंने रूस, अमरीका, चीन, जापान जैसे देशों का भी दौरा किया है और वहाँ की राजनीति में खुलकर हिस्सा लिया है। स्वर्ग में मेरा नाम नारद है, अमरीका में मैं किसिजर हूँ तथा अन्य देशों में कुछ और। आपके देश में कुछ लोग बातें तो क्रांति की करते हैं लेकिन रास्ता जनतंत्र का दिखलाते हैं। यह तो बन्दूक दिखा-कर दूध पिलाने वाली बात हुई। यदि वास्तव में क्रांति लानी है, तो घर-घर से उसकी शुरूआत होनी चाहिए कि लड़कों को चाहिए कि वे अपने माँ बाप की सतत् निगरानी करें कि उनमें कितनी नैतिकता है। यदि वे देखें कि उनके माँ-बाप एक दूसरे के प्रति आस्थावान नहीं हैं या अपने बच्चों के प्रति आकृष्ट नहीं हैं तो उन्हें अपने-अपने घरों में विद्रोह करना चाहिए। हर लड़के को चाहिए कि वह अपने माँ-बाप का ध्यान आकृष्ट करने के लिए घंटी बजाएँ। यदि उनके घर में पर्याप्त घंटियाँ न हो तो वे अपने माँ-बाप से कहकर घण्टियाँ मँगवा सकते हैं। जब घर-घर में क्रांति हो जाए, तो फिर समाज में क्रांति माहौल पैदा करें। आज स्थिति यह है कि माँ-बाप को अपने बेटे-बेटियों की शादियों में हजारों रुपये खर्च करना पड़ता है। इन हजारों रुपयों को एकत्र करने में अभिभावकों को रिश्वत आदि अनीतियों का सहारा लेना पड़ता है। आपको चाहिए की इस दकियानूसी विवाह-संस्था का ही अन्त कर दें। न रिश्वत की जरूरत होगी, न परिवार नियोजन का चक्कर रहेगा। हो सकता है कि विवाह संस्था टूट जाने पर, समाज में कुछ अनियमित बातें शुरू हो जाएगी। लेकिन अगर दस बुराइयों के बदले में एक ही बुराई मिल रही हो तो उसकी विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इसके बाद, शिक्षा में क्रांति लानी होगी। आमूलचूल सुधार करना होगा। पुरानी पुस्तकें, पुरानी शिक्षा पद्धति, सब कुछ बदलना होगा। वर्त्तमान प्रशासन ने अपने स्वार्थ के लिए शिक्षक और शिक्षार्थी ये दो वर्ग बना कर रखे हैं। इस वर्ग भेद को दूर

करना होगा। यदि शिक्षक को कोई बात न मालूम हो तो वह विद्यार्थी से पूछ सकता है और यदि विद्यार्थी के पास फीस के लिए रुपया न हो तो शिक्षक उसे दे सकता है। कितना आदर्श दृश्य होगा कि विद्यार्थी शिक्षक की तनख्वाह लेकर घर लौट रहा है और शिक्षक विद्यार्थी की फीस जमा करने के बाद बचे हुए पैसों को गिन रहा हैं। हमें ऐसी ही क्रांति लानी है। जीवन के हर क्षण में जीवन के हर पग में। लेकिन, मैं जानता हूँ कि आप से यह काम नहीं हो सकेगा। क्योंकि आप तो भाषण सुनने के कायल हैं। आपको प्रतिदिन नयी पिक्चर और नया भाषण चाहिए। और सच तो यह है कि क्रांति का सूत्रपात सीधे स्वर्ग से ही करना होगा। अनाचार का सूत्रपात वहीं से होता हैं। स्वर्ग पहुँचते ही मैं वहाँ क्रांति का बिगुल बजाऊँगा। यह तो मेरा काम है, मेरा स्वभाव है। जब-जब धर्म की हानि होती है, अनाचार की सीमा बढ़ने लगती है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ। यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ·······।"

और ठीक इसके बाद, पता नहीं वह किसी राजनीति पार्टी की कारस्तानी थी अथवा कोई दैवी संयोग, सभास्थल की बत्तियाँ एकाएक बुझ गयीं और जब कुछ देर के बाद वे पुनः जल उठी तो सबने देखा कि उनमें से सब मौजूद थे, लेकिन नारदजी अन्तर्ध्यान हो गये थे।

●

पृष्ठ १७६ का शेष

पद्मपुराण (१।३३।३८) का मत है कि विषयासक्त-चित्त-लोग धर्म भक्ति को त्यक्त करने वाले लोग भी यदि काशी में मर जाते हैं, तो वे पुनः जन्म नहीं लेते; सहस्त्रों जन्मों के योगसाधना के उपरान्त योग-प्राप्ति होती है किन्तु काशी में मृत्यु होने से इसी जन्म में परम मोक्ष-प्राप्त होता है।

स्कन्द पुराण (काशी खण्ड ६४।६६) अनुसार, समय से ग्रह नक्षत्र गिर सकते हैं किन्तु अविमुक्त मरने से कभी भी पतन नहीं हो सकता। नारदीय पुराण (उ० ४८।३३-४४) का मत है कि दुष्ट प्रकृति वाले पुरुषों या स्त्रियों द्वारा जो भी दुष्ट कर्म जान या अनजान के किये जाये किन्तु जब वे अविमुक्त में प्रवेश करते हैं तो वे (दुष्ट कर्म) भस्म हो जाते हैं।

पापों का नाश करने के अतिरिक्त काशी के नाश के साथ विद्या की महान परम्पराएँ भी जुड़ी हुई हैं। स्कन्दपुराण (काशी खण्ड, ६६।१२७) के अनुसार "विद्यानां सदनं काशी" अर्थात् यह विद्या का सदन है। "आइने-अकबरी" (जिल्द २, पृ० १५८) में आया है कि बनारस पुरातन काल से हिन्दुस्तान का प्रथम पीठ रहा है।

भगवान शिव का कथन है कि "यथा प्रियतमा देवि त्वं मम सर्व सुन्दरी तथा प्रियतरं चैतन मे सदानन्दकाननम्" ,स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ३२।१११)

अर्थात् तुम हे सर्वसुन्दरी देवि, जिस प्रकार तुम मुझे प्रियतम अथवा सबसे प्रिय हो उसी प्रकार आनन्दकानन अर्थात् वाराणसी भी मुझे सदैव प्रिय है।

पुराणों के दर्पण में काशी का सौन्दर्य निहार कर आखें चमत्कृत हो जाती है और मन श्रद्धानत हो जाता है।

●

काशी : पुराणों के दर्पण में

प्रदीप नारायण सक्सेना
शोध छात्र, दर्शन

तीनों लोकों से न्यारी काशी नगरी को विश्व की प्राचीनतम नगरियों में से एक होने का गौरव प्राप्त है। नरसिंह पुराण में (अ० ६५, १५) में काशी के लिए वाराणसी शब्द का प्रयोग हुआ है। इस पुराण के अनुसार "वाराणास्यां तु केशवम्" अर्थात वाराणसी में भगवान विष्णु "केशव" गुह्यनाम से स्मरण किये जाते है एवं यहाँ पर भगवान विष्णु के केशव रूप का दर्शन करके मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है।

काशी एक प्राचीनतम नगरी तो है ही, साथ ही साथ यह महान धार्मिक नगरी भी है। काशी का नाम सुनते ही मन श्रद्धानत हो जाता है। लगभग तीस शताब्दियों से वाराणसी पावन नगरी के रूप में पूजित है।

प्राचीन ग्रन्थों में अक्सर काशी का उल्लेख मिलता है। पाणिनि के महाभाष्य (जिल्द २ पृ० ४१३) में एक बड़ा रोचक दृष्टान्त मिलता है कि काशी में बने एवं मथुरा में बने एक ही आकार के वस्त्र के मूल्य में काफी अन्तर है। इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है कि आज की ही भाँति ई० पू० २सरी शती में भी काशी अपने उत्तम कोटि के वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थी।

यह वर्णन मिलता है कि चीनी यात्री फाह्यान (६६९ से ४१३ ई०) भी काशी राज्य की वाराणसी नगरी में आया था। ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग ४०० ई० में काशी जनपद का नाम था और वाराणसी उसकी राजधानी। किन्तु महाभाष्यों के निर्देशों से प्रगट होता है कि काशी नगर तथा देश दोनों का नाम था। सम्भवतः टॉलेमी द्वारा वर्णित "कस्सिद" काशी ही है।

हेमचन्द्र की "अभिधान चिन्तामणि" (श्लोक ९०४) के अनुसार काशी, वाराणसी एवं शिवपुरी पर्याय है। इसका एक प्रचलित नाम अविमुक्त भी रहा हैं। विष्णु पुराण (५।१४) एवं ब्रह्म पुराण (अ० २०७) में भी काशी, वाराणसी एवं अविमुक्त एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुये है।

वायु पुराण (अ० ११) के अनुसार दिवोदास वाराणसी का राजा था। पुराणों में प्राप्त वाराणसी सम्बन्धी गाथा से यह प्रकट होता है कि इस नगरी का कई बार नाश हुआ और इस पर कई कुलों का राज्य स्थापित हुआ।

महाभाष्य (जिल्द १ पृ० ३८०) में पतञ्जलि ने वाराणसी को गंगा के किनारे अवस्थित कहा है। वायु पुराण(४५।११०)काशि-कोशल को मध्यदेश के प्रदेशों में सम्मिलित करता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि नरसिंह पुराण (६५/१५) के अनुसार वाराणसी में भगवान विष्णु के केशव रूप का दर्शन करके मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। नारदीय पुराण (उत्तर, अ० २९) में भी आया है कि सर्वप्रथम काशी माधव (विष्णु) का नगर था, किन्तु आगे चलकर शैव क्षेत्र हो गया।

मत्स्य पुराण (अ० १८०-१८५) कूर्म पुराण (१/३१-३५), लिंग पुराण (पूर्वार्घ, अ० ९२), पद्मपुराण (आदि, ६३-३७), अग्निपुराण (११२), स्कन्दपुराण (काशी खण्ड अ० ६) आदि पुराणों में काशी अथवा वाराणसी की विशद प्रशस्ति गायी गयी है।

अग्निपुराण (११२/६) ने वाराणसी की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि यह वरुणा एवं असि नामक दो धाराओं के बीच में है। जो क्रम से इसकी उत्तरी और दक्षिणी सीमायें बनाती हैं। पद्मपुराण (आदि, ३३।४९), मत्स्यपुराण (१८३।६२), स्कन्द पुराण (काशी खण्ड, ३०।६९-७०) एवं वामन पुराण (श्लोक ३८) भी वाराणसी की यही व्युत्पत्ति करते हैं।

स्कन्दपुराण के काशी खण्ड में काशी एवं इसके उपतीर्थों के विषय में लगभग १५००० श्लोक है। स्कन्दपुराण (काशी खण्ड २६।३४) के अनुसार शंकर ने सर्वप्रथम इसको आनन्द-कानन कहा और तब अविमुक्त कहा। शिव की यह नगरी आनन्द देती है, अतः यह आनन्द-कानन या आनन्दवन है। पुनः स्कन्दपुराण (काशी खण्ड ३९।७४) के अनुसार आरम्भ में यह पवित्र स्थल आनन्द कानन था और आगे चलकर यह अविमुक्त बना, क्योंकि यद्यपि शिव मन्दर पर्वत पर चले तो गये, किन्तु उन्होंने इसे पूर्णतया नहीं छोड़ा, बल्कि यहाँ अपना लिंग छोड़ गये।

काशी शब्द 'काश' अर्थात् चमकना से बना है। स्कन्दपुराण (काशी खण्ड २६/६७) में आया है कि काशी इसलिए प्रसिद्ध है कि निर्वाण के मार्ग में प्रकाश फेंकती हैं, अथवा इसलिये कि यहाँ ज्योतिस्वरूप देव अर्थात् शिव भासमान हैं।

कुछ कारणों से यह श्मशान या महाश्मशान भी कही जाती हैं। यह अटल धारणा है कि काशी में मरने पर संसार से मुक्ति मिल जाती हैं। स्कन्दपुराण (काशीखण्ड ३१/१३०) के अनुसार यदि कोई महाश्मशान में पहुँच कर वहाँ मर जाता है तो भाग्य से उसे पुनः श्मशान में नंगा सोना पड़ता अर्थात् उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता।

स्कन्द पुराण के अनुसार 'श्म' का अर्थ है 'शव' और 'शान' का सोना (शयन) या पृथ्वी पर पड़ जाना। जब प्रलय होती है तो महान तत्त्व शवों के समान यहाँ पड़ जाते हैं। तब ये स्थान महाश्मशान बन जाता है। मत्स्य पुराण ने अनेकशः वाराणसी को श्मशान कहा है। परम पुराण (१/३३/१४) में उल्लेख आया है कि शिव कहते हैं— 'अविमुक्त एक विख्यात श्मशान है, मैं काल लेकर यहाँ रहकर विश्व का नाश करता हूँ।'

वाराणसी की महत्ता सहस्त्रों श्लोकों में मिलती है। मत्स्य पुराण (१८०/४७) के अनुसार वाराणसी सर्वोत्तम तीर्थ स्थल हैं, सभी प्राणियों के लिये यह मोक्ष का कारण हैं। प्रयाग या इस नगर में मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यह तीर्थराज प्रयाग से भी महान हैं। ज्योंही व्यक्ति अविमुक्त में प्रवेश करता है, सहस्त्रों अतीत जीवनों में किये गये एकत्र पाप नष्ट हो जाते हैं।

अविमुक्त की व्युत्पत्ति लिंग पुराण में इस प्रकार दी गई है; अवि का अर्थ है 'पाप'। अतः यह पाप से मुक्त अर्थात् रहित हैं। इसलिये अविमुक्त में प्रवेश मात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं।

पुनः मत्स्य पुराण (१८४/३६) के अनुसार भोगपरायण एवं कामचारिणी स्त्रियाँ भी यहाँ पर काल में मृत्यु पाने पर मोक्ष पाती हैं। [शेष पृष्ठ १७५ पर]

संस्कृत भाषा की विलक्षणता

कु० अर्चना भार्गव
शोध छात्रा, संस्कृत एवं पालि

संस्कृत शब्द 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु क्त प्रत्यय से बना है जिसका वास्तविक अर्थ है— संस्कार की गई भाषा। इसी अर्थ को समझाने के लिये भर्तृहरि ने कहा है :—

"वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते"।

मेरी दृष्टि में संस्कृत भाषा का अर्थ यह भी हो सकता है कि वैदिक संस्कृत में जो नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन शब्दों के लिये विशृंखलाएँ बिखरी हुई थीं उनका एक सुसंबद्ध करते हुये संस्कार किया गया, इसी से भाषा का नाम संस्कृत हुआ। संस्कार का अर्थ ही है गुणाधान।

"संस्कारों नाम गुणाधानम्"। जैसे वैदिक संस्कृत में तवे, एतवे आदि अनेक प्रत्यय एक ही अर्थ को प्रस्तुत करते हैं जबकि संस्कृत भाषा में एक ही सुगठित 'तुमन्' प्रत्यय उसी के लिये अर्थ का बोध कराता है।

संस्कृत शब्द स्वयं अपने व्यक्तित्व को प्रगट करता है। 'सम्यक् कृतं संस्कृतम्'। संस्कृत भाषा में एक विशेष अपनत्व की भावना निहित है। संस्कृत एवं संस्कृति के कारण ही भारत की प्रतिष्ठा है। "भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा"। यदि संसार की समस्त भाषाओं के स्वरूपों की तुलना की जाय तो स्पष्ट होगा कि संस्कृत ही सब भाषाओं का मूल है। पश्चिमी विद्वानों ने मिश्र देश का साहित्य सबसे प्राचीन माना है किन्तु वह भी विक्रम के चार हजार वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं है जबकि हमारे वेदों की रचना लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के अनुसार छः हजार वर्ष विक्रम से भी पूर्वकाल में हुई।

भाषा विज्ञान के एक विज्ञान के रूप में आरम्भ होने पर भी सर्वप्रथम संस्कृत सम्बन्धी भाषा वर्ग को ही लिया गया। संस्कृत के अध्ययन से ही ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं के शब्दों की रचना के विवेचन में विशेष सहायता मिली है। पाश्चात्य भाषाविदों के अनुसार संस्कृत से पूर्व कोई अन्य भाषा बोली जाती थी, उसी में परिवर्तन होकर संस्कृत भाषा की उत्पत्ति हुई तथा वे प्राकृत भाषा से भी संस्कृत की उत्पत्ति मानते हैं किन्तु उसका कोई समृद्ध स्वरूप उन्होंने अभी तक उपस्थित नहीं किया है। अतः ये मत सर्वथा काल्पनिक हैं। भाषा-विज्ञानवादियों का कहना है कि संस्कृत, ग्रीक आदि कुछ भाषायें सहोदर हैं, क्योंकि

उनमें बहुत कुछ समानतायें हैं इसलिये संस्कृत को मूलभाषा नहीं मान सकते। परन्तु फिर भी हम इतना कह सकते हैं कि जो काल्पनिक भारोपीय मूलभाषा हैं उसके लगभग सभी तत्व वर्तमान संस्कृत भाषा में विद्यमान हैं अतः इससे भी संस्कृत भाषा की ही प्रधानता सिद्ध होती है।

संस्कृत भाषा को 'देववाणी' भी कहा जाता है। प्रत्येक भारतीय के जन्म से मृत्यु पर्यन्त समस्त संस्कार इसी देववाणी की छत्रछाया में प्रस्फुटित होते हैं। भारतीय आर्ष-वाङ्मय में देववाणी के लिये 'संस्कृत' शब्द का व्यवहार वाल्मीकीय रामायण और भरत नाट्यशास्त्र में मिलता है। देवों की प्रार्थना पर इन्द्र ने देवभाषा के प्रत्येक शब्द को मध्य से विभक्त किया और प्रकृति, प्रत्यय-विभाग के संस्कार द्वारा संस्कृत होने से देववाणी का दूसरा नाम 'संस्कृत' हुआ। इसीलिये दण्डी ने अपने काव्यदर्शं में लिखा है—

"संस्कृत नाम दैवी वाग् अन्वाख्याता महर्षिभिः।"

संस्कृत भाषा के तीन रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हैं।

१. वैदिक संस्कृत

२. लौकिक संस्कृत

३. सरल संस्कृत

वैदिक संस्कृत में संहिता आदि की रचना हुई है तथा लौकिक संस्कृत में वाल्मीकि रामायण, काव्य, नाटक आदि की रचना हुई है और सरल संस्कृत तो जन साधारण की भाषा है ही। लौकिक संस्कृत को नियमबद्ध करने का समस्त श्रेय मार्तण्ड महर्षि पाणिनि को है जिन्होंने अष्टाध्यायो में समस्त सूत्रों को एक ऐसे सूत्र में गूँथ दिया है कि मानव लहरों की हिलोरें लेकर झूम जाता है। इसीलिये कहा गया है कि पाणिनि का व्याकरण संस्कृत भाषा का मेरुदण्ड है।

संस्कृत भाषा इतर भाषाओं की अपेक्षा अत्यन्त कठिन है ऐसा लोक में प्रवाद फैला हुआ है और यह कठिनता निम्नलिखित कारणों के कारण दुरुह्य बनी हुई है।

संस्कृत से इतर भाषायें	संस्कृत भाषा
१. नाम पदों और क्रियापदों में द्विवचन नहीं होता है।	१. यहाँ द्विवचन होता है।
२. आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों में भूतादिकाल के द्योतन के लिये लकार आदि का बाहुल्य है।	२. यहाँ क्रियापद का बाहुल्य न होकर अबाहुल्य है।
३. पदों के आदि और अन्त के भेद से सन्धि नहीं होती है।	३. सन्धि का बाहुल्य है।
४. यहाँ प्रायः एक-एक वस्तु के लिये एक-एक नाम ही होता है।	४. अमरकोश आदि के भेद से श्लिष्ट आदि पदों का बाहुल्य है।

५. नित्य व्यवहार में उपयोगी वस्तुओं के लिये सभी नाम उपलब्ध हैं।	५. कुछ ही नाम उपलब्ध होते हैं।
६. यहां दीर्घ समाज नहीं होते हैं।	६. यहाँ अधिकतर दीर्घ समाज ही होते हैं।
७. विशेष्य और विशेषण में समान लिंग वचन और विभक्ति का नियम नहीं होता है।	७. यहाँ यह नियम मुख्य रूप से होता है।
८. प्रकृति और प्रत्यय का पृथक् प्रयोग होता है।	८. यहाँ तो दोनों का साथ-साथ ही प्रयोग होता है।
९. इन सब कारणों के द्वारा यहाँ व्याकरण सरल और लघु होता है	९. इन सब कारणों के द्वारा संस्कृत-व्याकरण कठिन और जटिल होता है।
१०. ग्रन्थकार सरलभाषा के द्वारा अपने अभिप्राय को शीघ्र ही द्योतित कर देते हैं।	१०. यहाँ ग्रन्थकार पाण्डित्य के साथ अपने अभिप्राय को प्रकाशित करते हैं।

इन्हीं कारणों के कारण संस्कृत भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा कठिन है। किन्तु यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो यह कठिनाई शीघ्र ही सरलता का रूप धारण कर लेती है। कठिन कारणों का निवारण करना ही सरलता है जैसे कि नाम पदों में द्विवचनान्त वाक्यारम्भ में तदनुसार क्रिया के द्वारा समाप्त करने से महान कष्ट होता है। इसलिये जहाँ तक सम्भव हो सके नामपदों में द्विवचन का प्रयोग त्याग देना चाहिये। इसी प्रकार संस्कृत में क्रियापदों का बाहुल्य न होने का कारण यही है कि वहाँ कुछ ही लकारों से सब लकारों का कार्य सिद्ध हो जाता है। जैसे लट् लकार में 'स्म' लगाने से भूतकाल का भी कार्य सिद्ध हो जाता है। अतः गूढ़ मनीषा के द्वारा उपर्युक्त सभी कठिन नियमों का निवारण शीघ्र ही हो जाता है और तब हमें ज्ञात होता है कि संस्कृत एक बहुत ही सुन्दर व अद्वितीय भाषा है।

संस्कृत भाषा का विशेष महत्व है। समस्त भाषाओं में संस्कृत भाषा ही ऐसी भाषा है जिसका प्राचीन संस्कृति और साहित्य से सीधा संबंध है, यह भाषा स्वयं में ही बेजोड़ है। संस्कृत हमारी संस्कृति की वाणी है। संस्कृत अत्यन्त ही समृद्ध भाषा है, और है आधार अधिकांश भारतीय भाषाओं की। आर्य परिवारों के लिए, जो कि संस्कृत का न केवल प्राचीनतम भाषा के रूप में ही मान करते हैं अपितु जिनके लिए संस्कृत देवभाषा है। यहाँ तक कि संस्कृत को राष्ट्रभाषा के रूप में भी स्वीकार किया गया है। देश को एक सूत्र में बाँध लेने की क्षमता भी संस्कृत भाषा में ही है। संस्कृत हमारे देश की नहीं वरन् संसार की प्राचीनतम भाषा है, संस्कृत की प्राचीनता और वरीयता को पश्चिम भी मान चुका है। और आज विश्व में अनेक देश हैं, जो संस्कृत को महत्व देते हैं।

यदि संसार की मुख्य-मुख्य भाषाओं का सभी दृष्टियों से अध्ययन व विवेचन किया जाये, तो उनसे संस्कृत के सहस्रों लुप्त शब्दों का ज्ञान हो सकता है। और उससे सब भाषाओं का संस्कृत से सीधा सम्बन्ध भी स्पष्ट हो सकता है। मुख्य बात तो यह है कि संस्कृत भाषा

में आदि से लेकर आज तक कोई मौलिक व वास्तविक परिवर्तन नहीं हुआ है। क्या किसी मानव में क्षमता है कि वह व्याकरण की डोरी को हिला दे ? अतः यह कहना आवश्यक हैं कि यदि व्याकरण के नियमों को सरलता से जान लिया जाये तो वाङ्मय में गति होना कठिन नहीं होता है। यदि संस्कृत का अध्ययन किया जाये तो हमारे समस्त प्राचीन संस्कृति का एक अक्षय भण्डार उपस्थित हो सकता है। संस्कृत भाषा में ही भारत की अमूल्य निधियाँ निहित हैं। यदि संस्कृत के लिए हमारा मन सुसंस्कृत नहीं है तो संस्कृत का अध्ययन पूर्णरूप से निरर्थक है :—

"यदि नो संस्कृता दृष्टिः यदि नो संस्कृतं मनः।
यदि नो संस्कृता वाणी संस्कृताध्ययनेन किम्" ॥

जो लोग कहते हैं कि संस्कृत भाषा कठिन है वे वास्तव में उसकी गहराई से परे हैं। किसी भी वस्तु को कठिन कहना आसान है पर उसका समझना ही कठिनता है। यदि संस्कृत भाषा के महत्व को न समझा जाये तो उसमें भाषा का क्या दोष है, ठीक भी है—

"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
नेत्राभ्यां तु विहीनस्य, दर्पणः किम् करिष्यति ॥"

संस्कृत भाषा की महानता केवल अध्यात्मिक ग्रन्थों का ही संकेत नहीं करती है अपितु कालिदास, भवभूति आदि की ओर भी हमारी दृष्टि स्वतः ही ले जाती है। यहाँ तक कि जीवनोपयोगी कोई भी विषय क्यों न हो, इतना अभूतपूर्व विवेचन अन्य किसी भाषा में उपलब्ध नहीं है। संस्कृत साहित्य सर्वाङ्गीण है। कौटिल्य के एक ग्रन्थ के ही अध्ययन से हम संस्कृत साहित्य में लिखे गये राजनीतिशास्त्र से सम्पूर्ण परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ तक कि संस्कृत भाषा को भारतीय संविधान में भी सम्मानीय स्थान दिया गया है; किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। वैदिक तथा लौकिक वाङ्मय में भारतीय चिन्तन की महानिधियाँ छिपी हुई हैं जिनका परिचय देना एवं प्रचार करना हम भारतीयों का सौभाग्य व अनुपम कर्त्तव्य है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये संस्कृत का अध्ययन परम आवश्यक है। संस्कृत के युग की संस्कृति से समस्त मानव आच्छादित है। वैदिक संस्कृति को तो भारतीय अपनी संस्कृति मानकर विशेष गर्व करते हैं यही कारण है कि इस संस्कृति ने आच्छादित तो समस्त भू-मण्डल को किया था पर इसका सौभाग्य विशेषकर भारतीयों को ही प्राप्त है।

निष्कर्ष यही है कि संस्कृत भाषा संसार की समस्त भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ है और जो-जो महान् पुरुष इसका सर्वाङ्गीण अध्ययन कर चुके हैं उनका दायित्व है कि वे अन्य आत्माओं को इस ओर आकृष्ट करके संस्कृत की विशालता का परिचय दें क्योंकि दीपक ही दीपक को जलाता है। यही कारण है कि हम संस्कृत भाषा को अपनी संस्कृति की गरिमा का द्योतक मानते हैं और मानते रहेंगे।

●

शाकाहार-एक विवेचन

डॉ० रवीन्द्र कुमार बैनर्जी
अंग्रेजी विभाग

मानवदेह मनुष्य के सब कर्मों का आधार है। उस देह को स्वस्थ्य रखने के लिए आहार की आवश्यकता है। परन्तु कैसा आहार? यह एक आश्चर्य की बात हैं कि आधुनिक मनुष्य ने एक ओर तो विज्ञान में अद्‌भुत उन्नति की है, वह चन्द्रमा से चट्टान तोड़कर लाया है, मंगल ग्रह से वह तथ्य संग्रह कर रहा है परन्तु वह अपने शरीर के बारे में कुछ भी ख्याल नहीं करता। अज्ञानतावश मांस-मछली-मुर्गी-मदिरा का प्रयोग दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है और नये-नये रोगों की उत्पत्ति हो रही है। १९५७ में वाराणसी में विश्व शाकाहारी सम्मेलन को भेजे गये अपने संदेश में स्व० डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने बड़ी ही समयोचित चेतावनी दी थी। उन्होंने कहा था—"मुझे समय-समय पर आश्चर्य होता है कि क्या हम कभी यह भी विचार करते हैं, जो कि हमें करना चाहिये, कि हम क्या भोजन करते हैं? हमारा खाद्य और खाने की आदतें हमारे जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं और उनके द्वारा हमारे वातावरण और जीवन दर्शन बनते हैं।"

चाहे जिस दृष्टिकोण से हम देखें—धार्मिक, नैतिक, जीव-वैज्ञानिक और आर्थिक—हमें स्पष्ट पता चलता है कि मांसाहार की कोई आवश्यकता नहीं है। यह तामसिक वृत्ति मनुष्य ने अपनायी है केवल प्रवृत्ति का दास बनकर।

पहले हम धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण से विचार करें। पातञ्जल योग सूत्र में महर्षि पातञ्जलि ने 'साधन पद' में जो पाँच 'यमों' और पाँच 'नियमों' का उल्लेख किया है उनमें 'अहिंसा' और 'शौच' (देह, मन की पवित्रता) पर बल दिया है। जीव मात्र को यदि हम प्रेम से न देखें, हर जीव में सृष्टिकर्ता का रूप यदि हमें न दीखे तो योग करना सम्भव नहीं। गीता में भगवान कृष्ण ने सत्रहवें अध्याय के ७, ८, ९ और १०वें श्लोकों में अति स्पष्ट रूप से आहार को तीन प्रकार बताया है और सात्त्विक, राजसिक और तामसिक आहार के प्रभेद पर प्रकाश डाला है। भगवान कृष्ण ने बार-बार 'सर्वभूत हिते रताः', 'अद्वेष्टा सर्व भूतानां', 'निर्वैरः सर्वभूतेषु'—सब प्राणियों के हित में लगे रहने का उपदेश दिया है। सन्त कबीर ने कितने मार्मिक और स्पष्ट रूप से कहा है :—

डाली तोड़ूँ न पाती तोड़ूँ, न कोई जीव सताऊँ।
पात पात में प्रभु बसत हैं, वाहि को शीश नवावूँ ॥

ईशावास्योपनिषद का छठवां श्लोक कितना स्पष्ट है और कबीर की पंक्तियों से उसका कितना मेल है :—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति ।
सर्वे भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

—"इस प्रकार जो मनुष्य प्राणिमात्र को सर्वाधार परमात्मा में देखता है और सर्व-अन्तर्यामी परमात्मा को प्राणिमात्र में देखता है वह कैसे किसी से घृणा या द्वेष कर सकता है ?"

हम मनुष्य अपने मद में चूर हुए यह सोचते हैं कि विश्व की रचना भगवान ने केवल मनुष्य जाति के लिए की है और अन्य प्राणियों को जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। किन्तु शान्त चित्त से विचार करने पर हमें स्पष्ट पता चल जायगा कि प्रकृति में कोई भी वस्तु—एक धूल का कण तक—मनुष्य नहीं बना सकता। हर वस्तु में वही एक शक्ति, एक चेतना केन्द्रित है। जीव मात्र वास्तविक रूप में हमारा भाई है विश्व बन्धुत्व केवल कवि–कल्पना नहीं परम सत्य है। भेंड़, बकरी, मुर्गा और मनुष्य सबका पिता एक ही परमेश्वर है। मांसाहारी यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि आधुनिक विज्ञान तो यह बताता है कि पेड़-पौधों में भी चेतना है तब भेड़, बकरी को मारने में और आलू टमाटर को खाने में फर्क क्या है ? जीव हत्या तो दोनों प्रकार से हुई ? परन्तु साधारण बुद्धि से भी अगर सोचा जाय तो हम देखेंगे कि भेड़-बकरी-मछली की चेतना और वनस्पति की चेतना में बहुत प्रभेद है। जिस फल को पेड़ ने गिरा दिया या जो फसल पक गई उसे खाने में कोई जीव हत्या नहीं होती। किन्तु माँ–बकरी क्या अपने बच्चों को लाकर हमें कहेगी—'इन्हें आप मार कर खा जाइये ?' रूस में हाल में जो प्रयोग हुए हैं वे रोमांचकारी हैं। एक पनडुब्बी-जहाज में खरगोश के छोटे-छोटे बच्चों को भेज दिया गया तथा हजारों मील दूर माँ—खरगोश को प्रयोगशाला में रखा गया तथा उसके दिमाग में कई तरह के तार लगा कर वैज्ञानिक यन्त्रों से जोड़ दिया गया। अब नियत समय पर एक-एक कर खरगोश के बच्चों को मार डाला गया। जब-जब बच्चों को मारा गया। ठीक उसी समय हजारों मील दूर प्रयोगशाला के यन्त्र में माँ–खरगोश के दिमाग ने अपनी व्यथा और वेदना रेकार्ड किया। यह कैसे सम्भव हुआ आधुनिक भौतिक विज्ञान इसे नहीं बता सका।

अब हम जीव-विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से देखें। पृथ्वी के हर उन्नत देश में शाकाहार को लेकर गम्भीर शोध कार्य हो रहे हैं। मनुष्य के दाँतों की बनावट मांसाहारी जन्तु के दाँतों जैसी नहीं बल्कि फलाहारी बन्दरों के दाँतों जैसी है। मनुष्य तथा अन्य शाकाहारी जन्तुओं की त्वचा में हजारों रंध्र (Pores) होते हैं जिनसे पसीना निकलता है किन्तु मांसाहारी जन्तु जैसे कुत्ता, बिल्ली, शेर की त्वचा में रंध्र नहीं होते और उन्हें पसीना नहीं आता। कुत्ते, बिल्ली, शेर के पेशाब में तीव्र अम्ल होता है जब कि मनुष्य और शाकाहारी जन्तुओं के मूत्र में क्षार अधिक होता है। मांसाहारी जीवों की आँतों की लम्बाई बहुत कम होती है जब कि मनुष्य और अन्य शाकाहारी जन्तुओं की आँत की लम्बाई बहुत अधिक होती है। मांसाहारी जन्तु पानी या तरल पदार्थ को जीभ के सहारे पीता है किन्तु

मनुष्य और अन्य शाकाहारी जन्तु होंठों के सहारे पेय पदार्थ को पीते हैं। इन सब तथ्यों से पता चला है कि मनुष्य को प्रकृति ने स्वभावतः शाकाहारी बनाया था, किन्तु मनुष्य ने अपने स्वभाव के विरुद्ध मांसाहार की आदत डाली। केवल यही नहीं—एक बिल्ली को अंगूर के गुच्छे दिखाने पर वह जरा भी ध्यान नहीं देगी किन्तु मछली दिखाने पर वह उसे लपक कर खा जायेगी। इसके विपरीत ऐसा कौन सा मनुष्य है अंगूर के गुच्छे को देखकर जिसके मुँह में पानी नहीं भर आये ?

भेड़ बकरे को काटते समय उनका छटपटाना और अपने को बचाने की व्याकुल चेष्टा को मनुष्य अपनी आँखों से नहीं देख सकता इसीलिए चालाक मनुष्य ने कसाई की सृष्टि की है जिससे वह जानवर कटवाता भी है और उसे घृणा की दृष्टि से देखता भी है। किन्तु कसाई को घृणा करने का कौन सा अधिकार मनुष्य को है ? मांसाहारी हैं इसीलिए कसाई भी हैं। कभी किसी ने बिल्ली या शेर को जानवर मारने के लिए कसाई नियुक्त करते देखा ? कच्चे मांस को मनुष्य नहीं खा सकता है इसीलिए उसे रंधन के सहारे तरह-तरह के मशाले डालकर तब खाता है। वास्तविक रूप में जो वस्तु मरा मांस (dead flesh) है उसे मनुष्य ने अपने मन और विवेक को ठगाने के लिए कितने सुरीले और सुन्दर नाम दिये हैं : शम्मी-कबाब, कीमा, मुर्गा-बगदादी, शबनम् चिकेन-अलेगजाण्डर !

अब चिकित्सा विज्ञान के विद्वान गण अपने शोध कार्य से शाकाहार के गुणों पर प्रकाश डाल रहे हैं यह बहुत आशा की बात है। मौलाना आजाद मेडिकल कालेज, नई दिल्ली के डॉ० एन० पी० वर्मा ने एक शोध-पत्र में बताया है कि मांसाहारियों को मधुमेह की बीमारी होने की सम्भावना अधिक रहती है क्योंकि मांस में रेशे या fibre content का बड़ा अभाव रहता है जो कि हमें हरी शाक सब्जियों से प्राप्त होता है। चिकित्सा-विज्ञान हमें बतलाता है कि आँख के लिए दो लाल गाजर और गुड़ रोज खाना चाहिये; हरी शाक सब्जी और आम, पपीता, केला इत्यादि खाने से हमें विटामिन और खनिज पदार्थों की कमी नहीं होती। चिकित्सा विज्ञान से हमें यह भी पता चलता है कि मरे मांस के आहार से कई तरह के विष हमारे शरीर में प्रवेश करते हैं जैसे अड्रनलीन, थकान-विष (फेटीग-टॉक्सिन), मुर्दा-विष (टोमेन)। इनसे हमारे शरीर में तरह-तरह की बीमारियाँ होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। १९७६ में चिकित्सा विज्ञान के लिए नोबुल पुरस्कार पाने वालों में डॉ० कार्लटन गैजडुसेक भी एक थे। उनके शोध कार्य ने मांसाहार पर जो प्रकाश डाला है वह चौंका देने वाला है। न्यू गिनि द्वीप में एक प्रकार के आदि-वासी रहते हैं जिनका नाम है 'फोर-ट्राइब'। यह नर मांस भोगी हैं। इनकी एक अजीब प्रथा है—अपने ही मरे आत्मीय के मांस को यह एक प्रकार के धार्मिक-अनुष्ठान के रूप में खाते हैं। इन लोगों में एक प्रकार का डरावना रोग जिसे स्थानीय भाषा में 'कुरु' कहा जाता है बहुत फैल गया। यह दिमाग और स्नायु मंडल का रोग है। इसका कारण पता नहीं चल रहा था। गैजडुसेक साहब को गहरे शोध कार्य से पता चला कि इस रोग का सीधा सम्बन्ध नर मांस भोजन से है। उन्होंने इस जाति को बहुत समझा-बुझाकर नर मांस भोजन से रोका है। इसके बाद भी क्या कोई सन्देह

रह जाता है कि मांसाहार से कितना अनिष्ट हो सकता है ? आखिर मरा मांस मरा मांस ही है चाहे मनुष्य का हो या जानवरों का।

अब हम संक्षेप में आर्थिक दृष्टि से इस समस्या पर विचार करें। जिस मांस को सबसे अच्छा प्रोटीन कहकर मांसाहारी फूले नहीं समाते उस मांस में ६०% जल रहता है, प्रोटीन रहता है केवल १८ से २०%। चिनिया बादाम, मसूरदाल, राजमा, चना, हरा मटर और सोयाबीन से कहीं सस्ते में हमें शुद्ध और अधिक प्रोटीन प्राप्त होता है। सोयाबीन तो मनुष्य को प्रकृति की एक अपूर्व देन है। सोयाबीन में ४२ से ४५% प्रोटीन रहता है। ३ रुपये से कुछ अधिक में जहाँ हमें एक किलो सोयाबीन प्राप्त होता है उसी मात्रा में प्रोटीन मांस से प्राप्त करने के लिए हमें लगभग २५ रुपये खरचने होंगे। मछली का दाम तो और भी अधिक पड़ेगा। एक इकाई जमीन पर पहले दाना पैदा कर उसे जानवरों को खिलाकर, उसके बाद उन जानवरों को खाना बहुत खर्चीला पड़ता है। उसी इकाई जमीन पर गेहूँ, चना या सोयाबीन पैदा करने पर अधिक मनुष्य पल सकते हैं। भविष्य में केवल आर्थिक कारणों से ही मनुष्य को शाकाहारी बनना पड़ेगा यह कई बड़े वैज्ञानिक हमें आँकड़ों के सहारे बतला रहे हैं।

कवि शैली और बर्नार्ड शॉ ने जिस सुनहरे भविष्य की कल्पना की है जब मनुष्य सारी हिंसा को भूलकर ईश्वर के राज्य में हर जीव-जन्तु के साथ भाई-चारे के नाते जोड़कर रहेगा, क्यों न हम सब उस स्वप्न को साकार बनाने के लिए आज ही से प्रयत्न करें ?

●

महामना के अमृत वचन

१—अपने विश्वास में दृढ़ता, दूसरे की निन्दा का त्याग, मतभेद में सहन-शीलता और प्राणिमात्र से मित्रता रखनी चाहिये।

२—पर्व-पर्व पर मिलकर महोत्सव मनाना चाहिए। सब भाइयों को मिलकर अनाथों की, विधवाओं की, मन्दिरों की और गौ माता की रक्षा करनी चाहिए और इन सबके लिए दान देना चाहिए।

३—यह भारतवर्ष जो हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध है, बड़ा पवित्र देश है। धन, धर्म और सुख का देनेवाला यह देश सब देशों से उत्तम है।

४—कहते हैं कि देवता लोग यह गीत गाते हैं कि वे लोग धन्य हैं जिनका जन्म इस भारत भूमि में होता है, जिसमें जन्म लेकर मनुष्य स्वर्ग का सुख और मोक्ष दोनों को पा सकते हैं।

५—मनुष्य को पाप से छुड़ाने और पुण्य के मार्ग में ऊपर उठाने के लिये और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों के सम्पादन करने के लिए शास्त्र के अनुसार दीक्षा ही एक परम साधन है। दीक्षा का विधान अन्त्यज पर्यन्त सभी सनातन धर्मियों के लिये आया है जिसके प्रभाव से अन्त्यज भी शुद्ध, पवित्र, सदाचारी और मान्य बन सकता है।

कृषि, विज्ञान तथा समाज-विज्ञान

दो गज़ल

कपिल देव जुल्का
बी० काम० (द्वितीय वर्ष)

☐ उजड़ा हुआ घर ये तुम्हें फिर बसाना होगा,
गम को अब अपने दिल से मिटाना होगा।
तुमने जब प्यार किया जिसने जो दर्द दिया,
तुमको हँस-हंस के यह दुनिया को बताना होगा।
बेवफाई मिली बढ़ते में वफा के तो क्या,
प्यार जमाने से तुम्हें कर के दिखाना होगा।
जिसके बारे में कभी सोचता रहता था तू,
वो महल ख्वाबों का फिर तुमको बनाना होगा।

●

☐ हर एक रंज में राहत है आदमी के लिये,
पापों में मौत भी मिलती है जिन्दगी के लिये।
जो काम आये न ये दोस्ती मेरे हमदम,
तो छोड़ दूं, मैं यह दुनिया तेरी खुशी के लिये।
हर एक रंज में राहत है आदमी के लिये,
पापों में मौत भी मिलती है जिन्दगी के लिये।
चमन में फूल भी हरेक को नहीं मिलते,
बहार आती है लेकिन किसी-किसी के लिये।
हर एक रंज में राहत है आदमी के लिये,
पापों में मौत भी मिलती है जिन्दगी के लिये।
किसी ने दाग दिया है दोस्ती के नाम पर,
किसी ने जान भी गँवाई है दोस्ती के लिये।
हर एक रंज में राहत है आदमी के लिये,
पापों में मौत भी मिलती है जिन्दगी के लिये।

●

सूखा ग्रस्त क्षेत्र : समस्याएँ एवं समाधान

डॉ० महातिम सिंह
सस्य विज्ञान विभाग, शुष्क कृषि परियोजना

भारतवर्ष में प्रतिवर्ष कहीं न कहीं सूखा अवश्य पड़ता है। इसका प्रधान कारण वर्षा का समय पर और पर्याप्त मात्रा में न होना ही माना जा सकता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि सम्पूर्ण भारतवर्ष मानसूनी वर्षा के क्षेत्र में आता है जिसकी यह विशेषता है कि कहीं वर्षा होती है तो कहीं नहीं। साथ ही वर्षा समान रूप से नहीं होती है। सूखा-ग्रस्त क्षेत्र (Drought Prone Areas) ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ सूखा प्रायः पड़ता है। उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर (मैदानी क्षेत्र को छोड़कर), वाराणसी (केवल चकिया तहसील), इलाहाबाद (करछना और मेजा तहसील), बाँदा (करवी, मऊ और नरायनी तहसील), जालौन (कालपी और ओरई तहसील) तथा हमीरपुर (सुमेरपुर, मौदहा, चरखारी, सरीला और महोबा विकास खण्ड) जिले सूखा-ग्रस्त क्षेत्र माने गये हैं। ऐसा निर्णय लेने के लिए विगत कई वर्षों के वर्षा के आँकड़ों का अध्ययन किया जाता है। वाराणसी के समीप इस प्रकार के सूखा-ग्रस्त क्षेत्र गंगा नदी के दक्षिण, वाराणसी एवं मिर्जापुर के वे क्षेत्र हैं जो पठारी हैं और जहाँ पर ४०" के समीप प्रतिवर्ष वर्षा होते हुए भी एक भी फसल अच्छी प्रकार उगा लेना सम्भव नही होता। मुख्यतयाः वाराणसी जिले में चकिया और नौगढ़ एवं मिर्जापुर में पठारी क्षेत्र आते हैं।

वर्षा के आँकड़ों को ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से इस निष्कर्ष पर आसानी से पहुँचा जा सकता है कि सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों के अतिरिक्त भी ऐसे क्षेत्र अन्य जिलों में हैं जहाँ पर किसी न किसी वर्ष सूखे की समस्या अवश्य उत्पन्न हो जाती है। ये क्षेत्र वाराणसी, गाजीपुर, आजमगढ़, जौनपुर और प्रतापगढ़ जिलों के मैदानी भाग में हैं। इस सम्बन्ध में सबसे दिलचस्प बात यह है कि अभी भी इन सभी जिलों में औसतन ३० प्रतिशत क्षेत्र ही सिंचित हैं और शेष ७० प्रतिशत क्षेत्र असिंचित हैं और जहाँ कृषि प्राकृतिक वर्षा के ऊपर ही निर्भर है। सूखे क्षेत्र एवं सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में रहने वाले किसानों की आर्थिक स्थिति इस प्रकार की नहीं है कि वे एक न्यूनतम जीवन स्तर की कल्पना मात्र भी कर सकें। प्रायः इन क्षेत्रों के एक चौथाई लोगों को सूखे की विषम परिस्थितियों में घास की रोटियों एवं जंगली फलों के ऊपर ही जीवन निर्वाह करना पड़ता है। ऐसे दृश्य की कल्पना शब्दों में सम्भव नहीं है लेकिन यह दृश्य बहुत ही दर्दनाक होते हैं। इन सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों की ओर भारत सरकार एवं प्रादेशिक सरकारों का ध्यान आकर्षित हुआ है, लेकिन इन सभी क्षेत्रों की समस्याएँ

ऐसा विकराल रूप धारण कर चुकी हैं कि उनको बिना अच्छी प्रकार समझे समाधान निकालना आसानी से सम्भव नहीं है। प्रस्तुत लेख में इन प्रमुख समस्याओं का यथा सम्भव विवरण प्रस्तुत करने की ओर एक लघु प्रयास मात्र है। फिर भी यह विश्वास किया जा कि इन समस्याओं की सही जानकारी के साथ सभी ओर से प्रयत्न किया जाये तो कोई कारण नहीं है कि ये सूखा-ग्रस्त क्षेत्र भी समय के साथ उतनी प्रगति कर सकेंगे जिसकी बदौलत यहाँ के लोग भी सन्तोष की साँस ले सकें। सिंचित क्षेत्र और सूखा-ग्रस्त या सूखे क्षेत्र के किसानों की हालत में जमीन आसमान का अन्तर है और जब तक यह परिस्थिति बनी रहेगी तो देश का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं होगा। आवश्यकता इस बात की है कि इन क्षेत्रों की दशा सुधारने के लिए युद्ध-स्तर पर प्रयास करना पड़ेगा। सूखा-ग्रस्त क्षेत्र की समस्यायें मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं :—

१—वर्षा के पानी का प्रबन्ध,

२—कृषि उत्पादन की अनिश्चितता,

३—आवागमन के साधनों का नितान्त अभाव।

(१) वर्षा के पानी का प्रबन्ध

प्रायः सभी सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में इतनी प्राकृतिक वर्षा होती है, जो इजराइल जैसे देश से कहीं अधिक है जहाँ पर सफल कृषि की जाती है। यदि इस वर्षा के पानी को उचित तरीके से नियन्त्रित कर दिया जाय तो ये सूखा-ग्रस्त क्षेत्र भी वर्ष पर्यन्त हरे-भरे रह सकते हैं। चूँकि ये सूखा-ग्रस्त क्षेत्र पठारी हैं और जमीन ढालुआँ है जैसे ही वर्षा होती है ढाल के कारण पानी शीघ्रता से नीचे की ओर निकल पड़ता है। यह बहता हुआ पानी इन सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों की उपजाऊ मिट्टी को बहा ले जाता है और मैदानों में पहुँच कर बाढ़ की विभीषिका पैदा करता है। इन क्षेत्रों को भूमि के नीचे चट्टानों का होना स्वाभाविक है जिसके कारण वर्षा का पानी जमीन के अन्दर भी बहुत दिनों तक रुक नहीं पाता। यही कारण है कि अगर कोई फसल इस जमीन पर बोई भी जाती है तो वह 'भूख और प्यास'' दोनों से ही प्रभावित होता है। इसी आधार पर इन क्षेत्रों की भूमि के बारे में यह मत प्रायः व्यक्त किया जाता है कि "इन क्षेत्रों की जमीन भूखी ही नहीं बल्कि प्यासी भी होती है''। अतः इन क्षेत्रों की सबसे बड़ी समस्या वर्षा के पानी के प्रबन्ध से सम्बन्धित है। यदि इस दिशा में अनुसंधान प्रयत्नों को संगठित रूप से लगा दिया जाये तो इन क्षेत्रों की कृषि व्यवस्था को एक नया रूप दिया जा सकता है।

सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों के धरातलीय बनावट (स्थलाकृति) को ध्यान पूर्वक देखने से यह स्पष्ट रूप से मालूम किया जा सकता है कि ये क्षेत्र कई जल संचयन (Watershed) क्षेत्रों में विभाजित हैं। प्रत्येक जल संचयन क्षेत्र से वर्षा का पानी छोटे-छोटे नालों द्वारा बहकर क्रमशः बड़े नाले और नदियों में जाता है। इस प्रकार जो पानी इस क्षेत्र के लिए प्रकृति से मिलता है वह शीघ्र ही इन क्षेत्रों से बाहर चला जाता है। यदि वर्षा के अधिकांश पानी को किसी प्रकार उसी स्थान पर रोक दिया जाये; जहाँ वह प्राप्त होता है तो प्रत्येक जल संचयन क्षेत्र को कम से कम वर्षा के अधिकांश भाग में हरा-भरा रख कर फसलों का उत्पादन समु-

चित रूप से किया जा सकता है। वैसे यह काम इतना आसान नहीं है लेकिन क्रमशः नियोजित प्रयास करने से इस लक्ष्य को भी पूरा किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप किसी एक जल संचयन में जितने भी नाले हैं उनको उनके उद्गम स्थान की दिशा से नीचे को ओर क्रमशः इस प्रकार छोटे-छोटे रेगुलेटर डैम नियंत्रक बाँध से बाँट दिया जाय कि रेगुलेटर डैम की ऊँचाई के बराबर पानी नालों में एक लम्बी अवधि तक इकट्ठा रहे। चूँकि जमीन के नीचे चट्टानों का फैला होना स्वाभाविक है। इन नालों में एकत्रित पानी नीचे रिसने के बजाय बगल के खेतों में फैलने का प्रयास स्वभावतः करेगा। यदि ऐसा होता है, जैसा कि प्रायः अनुभव भी किया जा चुका है, तो सबसे पहले भूमिगत जल एवं नमी की मात्रा साधारणतया बढ़ जायेगी जिसके सहारे इस क्षेत्र में वनस्पति एवं फसलों का उगाया जाना सम्भव हो सकेगा। इस दिशा में किये गये अनुसंधानों से यह बात प्रायः सिद्ध हो चुकी है कि यदि इस भूमि जल को किसी माध्यम से सिंचाई के लिए निकाल लिया जाय तो दो तरह के लाभ इन क्षेत्रों के किसानों को हो सकता है-(१) सबसे पहले नालों में जल धारण की क्षमता बढ़ने के साथ-साथ जल संचयन क्षेत्र से वर्षा के पानी के बह जाने की सम्भावना कुछ सीमा तक कम हो जायेगी। दूसरे इससे निकला हुआ पानी सूखे-ग्रस्त क्षेत्रों में लघु सिंचाई के साधन बन सकते हैं; जिससे फसलों की उन अवस्थाओं पर सिंचाई कर उपज को बढ़ाया जा सकता है जिसपर सूखे की स्थिति का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार की सिंचाई को (जीवन रक्षार्थ) सिंचाई कहा जाता है। इस सन्दर्भ में चौड़े मुँह वाले कुओं के निर्माण ने एक नई दिशा दी है और वर्षा के पानी के प्रबन्ध के सिलसिले में इन कुओं का बहुत बड़ा योगदान होने की सम्भावना बन चुकी है। इस प्रकार के कुएँ मिर्जापुर के क्षेत्र में राबर्ट्सगंज में बनाये जा चुके हैं और किसानों को पसन्द भी है। इस सम्बन्ध में यह बात कहना आवश्यक हो जाता है कि ऐसे कुओं के निर्माण में प्रारम्भ में व्यय अधिक होने की सम्भावना है लेकिन इस प्रकार के कुओं का निर्माण बड़े-बड़े नहरों और जलाशयों के निर्माण से किन्हीं माने में अच्छा साबित हो सकता है क्योंकि इस प्रकार के कुओं से जल संचयन क्षेत्र में सिंचाई हो सकेगी जब कि नहरों या जलाशयों से जिन क्षेत्रों का पानी इकट्ठा होता है उनको कोई लाभ नहीं होता।

उपरोक्त कार्यों के सम्पन्न होने के बाद यदि जल संचयन के अन्दर आने वाले खेतों को कन्टूर विधि से मेड़बन्दी कर दी जाय तो वर्षा के पानी को एक लम्बी अवधि तक इन खेतों और नालों में रोका जा सकता है। प्रायः यह देखा गया है कि एक निश्चित अवधि के अन्दर (२४ घंटे के अन्दर) इतनी वर्षा कभी नहीं होती कि वह खेतों के चारों ओर बनाई गई एक-डेढ़ फीट ऊँची मेंड़ को तोड़ सके। यदि हर मेंड़ इतनी सक्षम हो सके कि वर्षा के पानी को रोकने की इस प्रकार की क्षमता धारण कर सके तो वर्षा का पानी इस क्षेत्र से न तो बाहर जायगा, नहीं उससे भूमि कटाव होगा और न तो मैदानी क्षेत्रों में प्रलयंकारी बाढ़ों का दृश्य पैदा होगा। लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में हर खेत में हर प्रकार की मेड़ों को बना लेना और उसको आने वाले वर्षों में बनाए रखना दोनों ही किसान की आर्थिक परिस्थिति के बाहर की बात है। चूँकि सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों के किसानों

की आर्थिक स्थिति साधारणतया ठीक नहीं है, जब तक सामूहिक ढंग से इस कार्य को नहीं किया जाता, यह लक्ष्य कभी भी पूरा नहीं हो पायेगा।

वर्षा के पानी को संचित करने के अन्य तरीके भी इन क्षेत्रों में अपनाये जा चुके हैं जिनमें बन्धी और जलप्लावित बन्धियाँ मुख्य रूप से महत्वपूर्ण हैं। लेकिन ऐसी बन्धियों के कुछ ऐसे दोष रहे हैं जिनके कारण इनकी उपयोगिता साधारण रूप में अच्छी नहीं पाई गई हैं। उदाहरणस्वरूप इन बन्धियों में पानी की वर्षा के मौसम में बड़े-बड़े क्षेत्रों में रोकने की व्यवस्था ढाल की ओर मिट्टी के बाँध बनाकर की जाती है। इससे दो प्रकार की हानि होती है। सबसे पहले वर्षा के पानी को एक बड़े क्षेत्र में केवल वर्षा के समय रोकने से फसल उत्पादन की दिशा में रोक लगती है, दूसरे वर्षा काल के बाद इन बन्धियों में रुके पानी को शीघ्रता से निकाला जाता है तो इन बन्धियों के समीप के खेतों में भी सिंचाई का लाभ नहीं उठाया जाता। ऐसा इसलिए किया जाता है, क्योंकि जिस किसान के खेत में पानी इकट्ठा रहता है उसे अपने खेतों को समय पर बुआई की चिन्ता रहती है। साथ ही उस किसान को यह भी भली-भाँति मालूम है कि दूसरे किसान उस पानी का सिंचाई के लिए प्रयोग कोई भुगतान नहीं करेंगे। इन परिस्थितियों में उस किसान का शीघ्रता से पानी निकालकर अपना खेत खाली करने का निर्णय सामाजिक दृष्टि से स्वार्थमय कहा जा सकता है लेकिन उसके अपने स्तर पर पूर्णतया उचित है। आवश्यकता इन परिस्थितियों में यही है कि इस समस्या का एक ऐसा समाधान निकले जिससे उस किसान के भी हित की रक्षा हो और अन्य किसानों का भी लाभ हो।

इन बन्धियों में रुके पानी को अन्य किसानों के खेतों की सिंचाई के लिए प्रयोग किया जा सकता है, जो फसल उत्पादन की दिशा में बहुत ही लाभप्रद होगा; बशर्ते उस पानी का एक साधारण मूल्य दे दिया जाय। इस प्रकार की व्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ेगी। यदि ऐसा सम्भव हो सकता है तो एक बड़ी समस्या का समाधान निकल सकता है। सूखा-ग्रस्त एवं सूखे क्षेत्रों में अक्टूबर एवं नवम्बर के महीनों में खेतों की बुआई खरीफ की फसलों के बाद इसलिए नहीं हो पाती है कि जमीन में नमी का अभाव रहता है जिसके कारण भूमि को प्रारम्भिक जुलाई भी सम्भव नहीं हो पाती। यदि बोने के पहले खेत की अच्छी तैयारी के लिए पलेवा करने के लिए सिंचाई का पानी मिल जाये तो रबी की फसल बनाने की दिशा में प्रयत्न किया जा सकता है। इस प्रकार की बन्धियाँ सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में काफी मात्रा में बनाई जा चुकी है। इनसे उत्तरोत्तर लाभ उठाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

सूखा-ग्रस्त क्षेत्र में प्रायः वनस्पति का अभाव होता है। इस सन्दर्भ में जंगलों का लगाना ही एक मात्र समाधान हो सकता हैं। लेकिन जंगलों को एक छोटी अवधि में स्थापित नहीं किया जा सकता। इसलिए इस दिशा में भी एक आसान विकल्प की आवश्यकता है। पिछले कुछ वर्षों के अनुसंधान कार्यों एवं व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर यह सुझाव दिया जा सकता है कि जिस किसी भी स्थान पर सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में नमी को बढ़ाये जाने की सम्भावना है वहीं पर शीघ्र बढ़ने वाले वनस्पति को बढ़ावा देना चाहिए जिससे धीरे-धीरे

इतनी वानस्पतिक वृद्धि हो जाय जो जंगलों से होने वाले प्रभाव को उत्पन्न कर सके। यह मानी हुई बात है कि जैसे-जैसे वनस्पतियाँ बढ़ेंगी वातावरण पर उसका प्रभाव पड़ेगा और ये सूखा-ग्रस्त क्षेत्र भी हरे-भरे हो जायेंगे।

(२) कृषि उत्पादन की अनिश्चितता

सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों की परिस्थितियाँ इस प्रकार की हैं कि वहाँ पर ऐसे व्यवसायों को बढ़ावा शीघ्रता से नहीं दिया जा सकता जिनको व्यवसायिक उद्योग की संज्ञा दी जाती है क्योंकि ऐसे उद्योगों की प्रारम्भिक आवश्यकताएं आसानी से उपलब्ध कराई नहीं जा सकती। अतः सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों का एक मात्र व्यवसाय कृषि है और इसी को आगे बढ़ाने में इन क्षेत्रों का कल्याण निहित है। इस सन्दर्भ में यदि इन क्षेत्रों के कृषि उत्पादन आँकड़ों को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ एक फसल भी निश्चित रूप से सफल नहीं होती है, जब कि वर्षा इतनी होती है, कि एक फसल का ले लेना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। इजराइल में जहाँ वर्ष में ८" के लगभग वर्षा होती है। कृषि उत्पादन इस स्तर का होता है जिसकी तुलना किसी अन्य उन्नतिशील देशों से की जा सकती है। सूखा ग्रस्त क्षेत्रों में भी हम शुष्क कृषि की तकनीक को अपनाकर कृषि उत्पादन को बढ़ा सकते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि इस तकनीक को गाँव-गाँव एवं किसानों तक पहुँचाने के लिए प्रसार कार्यों को अधिक गतिशील करना पड़ेगा और उनको नई दिशा देनी होगी।

इन सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में फसलों के असफल होने का एक मात्र कारण यही है कि किसान ऐसी फसलों और किस्मों की खेती करते हैं, जिनकी अवधि काफी लम्बी होती है। वर्षा इन क्षेत्रों में केवल जुलाई, अगस्त-सितम्बर के महीनों में होती है। इसलिए जो भी फसल या फसल की किस्म ११० दिन से ऊपर की अवधि की होती है, उसको प्रकृति के सहारे ही छोड़ना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि ये फसलें या तो असफल हो जाती हैं या इतना कम उत्पादन देती हैं जिसके भरोसे सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों के किसानों के जीवन स्तर को बढ़ाने या बनाये रखने का कार्य नहीं हो सकता। यदि सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में फसलोत्पादन को आगे बढ़ाना है तो फसलों या फसल की ऐसी किस्मों को प्राथमिकता के साथ उगाने की आवश्यकता है जिनसे हम सफल उत्पादन ले सकें चाहे उत्पादन कम हो लेकिन उनसे आमदनी अधिक हो। यह अनुभव की बात है कि सिंचित क्षेत्रों में प्रायः उन्हीं फसलों की खेती की जाने लगी है जिनसे अधिक उत्पादन मिल जाता है। जैसे—गेहूँ, धान, ज्वार, मक्का, बाजरा आदि। इसी आधार पर दलहनी एवं तेलहनी फसलों को सिंचित क्षेत्रों में प्राथमिकता नहीं मिल पाती। अतः यह बात विचारणीय है कि सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में तेलहनी एवं दलहनी फसलों को क्यों न अधिक बढ़ावा दिया जाय। यह मानी हुई बात है कि इन फसलों से होने वाली आमदनी अन्न वाली फसलों की तुलना में काफी अधिक हो सकती है। अतः जब इन फसलों को सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में प्राथमिकता के साथ उगाते हैं तो इसका अर्थ यही होगा कि इन क्षेत्र के किसानों की आमदनी बढ़ती है। यह कोई ऐसा नीति का प्रश्न नहीं है जिसको लागू न किया जा सकता। आवश्यकता केवल इतनी है कि इन क्षेत्रों के किसानों को इस प्रकार की खेती के लिए उत्साहित किया जाय। सम्भव है आरम्भ में उनकी अन्न की आव-

श्यकता को बाहर से पूरा करना पड़े जिसकी व्यवस्था सरकारी सहायता से ही सम्भव होगी। यहाँ पर यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इस पक्ष पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में चल रहे शुष्क कृषि परियोजना के अनुसंधानों के परिणाम का सहारा इन क्षेत्रों के किसानों को सुगमतापूर्वक दिया जा सकता है।

सूखा-ग्रस्त क्षेत्र के किसानों की आमदनी बढ़ाने के लिए कृषि के साथ-साथ पशु-पालन को भी अपनाने की आवश्यता होगी। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में किए जाने वाले कार्यों का एकमात्र उद्देश्य इन क्षेत्रों का हरा-भरा एवं सम्पन्न बनाना ही है। यदि ऐसा सम्भव होता है तो पशु-पालन की दिशा में चारे की समस्या कुछ आसान हो जाएगी। प्रायः सभी सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों में वर्षा की अवधि में काफी मात्रा में घास उगती है लेकिन ये घासें इस प्रकार की नहीं होती जिनसे उत्पादन लिया जा सके। अनुसंधानों के आधार पर घासों की ऐसी किस्मों को विकसित किया जा चुका है जिससे उत्पादन को कई गुना बढ़ाया जा सकता है। ऐसी घासों का बीज घास एवं चारा अनुसंधान केन्द्र झाँसी और राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान केन्द्र करनाल से प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि घासों का उत्पादन वर्षा के अवधि में भी बढ़ जाय तो उनको ऐसे रूप में संरक्षित कर रखा जा सकता है जिसमें उनकी पौष्टिकता बनी रह सकती है। फलस्वरूप पशु-पालन की दिशा में वर्ष-पर्यन्त पौष्टिक चारे की पूर्ति की व्यवस्था हो सकती हैं। इन क्षेत्रों के किसानों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए दूध वाले जानवरों, भेड़ पालन, सूअर पालन तथा मुर्गी पालन आदि पहलुओं को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। इस दिशा में कुछ प्रयास इस प्रकार के नहीं हैं जिनसे इन क्षेत्रों की शीघ्रता से आच्छादित किया जा सके। चूँकि ये क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हैं, पशु-पालन के एक या दो प्रयास काफी नहीं है।

(३) आवागमन के साधनों का नितान्त अभाव

सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों को सबसे कठिन समस्या आवागमन साधनों का अभाव है। प्रायः ये क्षेत्र देश के ऐसे कोनों में स्थित हैं, जहाँ किसी भी प्रकार के आवागमन की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं जिसके परिणाम स्वरूप ये क्षेत्र उन सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं जो आज के कृषि विकास एवं अन्य विकासों के कारण बनते हैं। जैसाकि पहले व्यक्त किया जा चुका है चूँकि ये क्षेत्र कृषि में भी अविकसित है, प्राथमिकता के साथ इस व्यवसाय को को आगे बढ़ाने में ही इन क्षेत्रों का हित-निहित है। यह मानी हुई बात है कि कृषि-विकास की उन्नतिशील तकनोक को जब तक प्रत्येक गाँव तथा प्रत्येक किसान तक नहीं पहुँचा दिया जायेगा, तब तक कृषि विकास का सम्पूर्ण लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर कृषि अनुसंधानों के माध्यम से उन्नतिशील तकनीक इतनी सुलभ करा दी गई है कि यदि उसे समुचित रूप से हर खेतों तक पहुँचा दिया जाय तो कोई कारण नहीं है कि हर खेतों का उत्पादन बढ़ न जाय। कृषि विकास कार्यों के सन्दर्भ में वस्तु स्थिति यही है कि अभी तक उन्हीं किसानों और क्षेत्रों तक इसकी पहुँच हो पायी है जिन तक आसानी से पहुँचा जा सकता है या जो किसान उन्नतिशील तकनोक स्वयं प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय

परिस्थितियों में आवागमन के साधनों के सन्दर्भ में सड़कों का बहुत बड़ा योगदान रहा है और रहेगा। लेकिन ये सूखा-ग्रस्त क्षेत्र ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ शायद ही कोई मार्ग होगा जिससे वर्ष-पर्यन्त आवागमन हो सके। छोटे-छोटे नाले एवं नदियों पर पुलों के अभाव में इन सड़कों पर वर्षा के मौसम में विशेषकर और अन्य महीनों में भी आवागमन प्रायः रुक सा जाता है। यदि इन क्षेत्रों के कृषि विकास को त्वरित गति देना है तो सड़कों के निर्माण पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो सूखा-ग्रस्त क्षेत्र और सिंचित या विकसित क्षेत्रों की खाईं शीघ्र ही इतनी भयावह हो जायेगी कि वह एक बहुत बड़े सामाजिक असन्तुलन का कारण बन जायेगी।

ये सूखा-ग्रस्त क्षेत्र ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ दुनिया की सुख-सुविधा के न्यूनतम साधन भी उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। इसके कारण विकास कार्यों में लगे कार्य-कर्ता इन क्षेत्रों में कार्य करने में परेशानी अनुभव करते हैं और जैसे ही अवसर मिलता है इन क्षेत्रों से विकसित क्षेत्रों की ओर जाने का प्रयत्न करते हैं। इन क्षेत्रों में यदि कृषि विकास को बढ़ावा देना है तो कृषि विकास में लगे कार्य-कर्ताओं को उन विशेष सुविधाओं को देने की व्यवस्था करनी पड़ेगी जिनके अभाव में वे इन क्षेत्रों से दूर जाने की प्रयास करते हैं। इन सुविधाओं में आश्रितों को उचित शिक्षा तथा चिकित्सा ही मुख्य हैं जिन्हें शीघ्रता से उपलब्ध कराने की आवश्यकता है। इस दिशा में इन क्षेत्रों में भी सुविधानुसार ऐसे स्थानों को प्राथमिकता के आधार पर विकसित करने की आवश्यकता है जो ऐसे क्षेत्रों के गाँवों को भी नई रोशनी देने में सहायक हों। ऐसे स्थानों को यदि केन्द्र बिन्दु मानकर कार्य किया जाय तो इन गाँवों के उद्धार की बात कुछ माने में आगे बढ़ सकेगी। चूँकि शहरों की आबादी शीघ्रता से बढ़ती जा रही है इन केन्द्रों के विकास से शहरों की बढ़ती हुई आबादी की समस्या का समाधान मिल सकेगा। जैसे-जैसे ऐसे स्थानों की प्रादुर्भाव होगा उन्हीं स्थानों पर लघु तथा ग्रामीण उद्योगों को प्रयत्न होना चाहिए।

सूखा-ग्रस्त क्षेत्रों की समस्याएँ अनेक हैं लेकिन सभी को एक साथ सुलझाया नहीं जा सकता। अतः प्रस्तुत लेख के माध्यम से जिन समस्याओं को ओर संकेत किया गया है, यदि उनका भी समाधान निकाला जा सका तो इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की आर्थिक स्थिति भी शीघ्रता से सुधर सकेगी, यही आशा की जाती है। इस कार्य को पूरा करने में सभी का सहयोग वांछित है।

●

क्रोध करने का अर्थ है दूसरों की गलतियों का
अपने से बदला लेना।

—पोप

नये शैक्षिक प्रतिमान की नयी परख नयी दिशा

डॉ० एस. पी. अहलुवालिया
रीडर, शिक्षा संकाय

शिक्षा समाज की मेरुदण्ड है। समाज का प्रत्येक पहलू इसी से संलग्न होकर स्थायी और स्थिर अस्तित्व बनाये हुये है। विगत ६० वर्षों से विभिन्न आयोग शिक्षा की संरचना के सम्बन्ध में अपनी संस्तुति देते आ रहे हैं। इस प्रकार इन विभिन्न आयोगों द्वारा प्रस्तावित शिक्षा संरचनायें सफलता एवं असफलता के शीर्ष एवं गर्त पर सामाजिक लहर की भाँति अग्रसारित हो रही हैं। परन्तु इन संरचनाओं के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या इन संरचनाओं ने समाज के उन उद्देश्यों को पूरा किया है? जिसकी इनसे अपेक्षा की जाती थी। यदि इनके द्वारा समाज की समस्याओं का समाधान नहीं हुआ तो क्यों? क्या इन संरचनाओं का उद्गम स्थान सही है? वस्तुतः इन विभिन्न संरचनाओं में कोई मौलिक विभेद नहीं है। सभी एक ही आँख द्वारा विभिन्न रंगों के चश्मों से देखे गये अभिदृश्य हैं; अस्तु इन संरचनाओं में इतनी शक्ति नहीं है कि पूर्ण सामाजिक क्रान्ति पैदा कर सके। आज जब हमने यह दृढ़ निश्चय लिया है कि अगले दस वर्षों में देश से बेरोजगारी एवं अशिक्षा को दूर कर देंगे तो इस संदर्भ में हमें नवीन शैक्षिक संरचना (१०+२+३) पर पुनः विचार करना होगा। क्या यह हमारी भविष्य की कल्पनाओं को हमारे सामने मूर्तिमान कर सकेगी।

विगत दो वर्षों से भारतीय क्षितिज पर नये प्रतिमान (१०+२+३) को कृत्रिम सूर्य की भाँति चमकाने का प्रयास किया जा रहा है। दशों दिशाओं में इसका यश गान गूँज रहा है। लोग इस मधुर-गान की तरंग में सम्मोहित होते जा रहे हैं। नारेबाजी के इस युग में शिक्षा में रुचि रखने वाले व्यक्तियों को सजग तथा सतर्क रहना होगा। उन्हें यह देखना है कि क्या इस नव प्रचारित तथा प्रसारित संरचना में वे सभी तत्व उपस्थित हैं जो किसी समाज की सुदृढ़ता के लिये आवश्यक हैं।

वास्तव में यह नवीन शैक्षिक संरचना (१०+२+३) की संस्तुति 'कोठारी आयोग' की मौलिक देन नहीं है। इसके लगभग ५० वर्ष पूर्व 'सैडलर-आयोग' (कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग १९१७-१९१९) ने इस व्यवस्था की अनुशंसा की थी। उस समय १० वर्ष की शिक्षा के पश्चात "मैट्रिक" तथा मैट्रिक परीक्षा के दो वर्ष के पश्चात इण्टर तथा प्रथम उपाधि की परीक्षा इण्टर परीक्षा के दो वर्ष पश्चात ली जाती थी। परन्तु ये तीनों परीक्षायें विश्वविद्यालयों द्वारा ही संचालित होती थीं। इण्टर कक्षाएँ सम्बद्ध कालेजों से होती थी और उनमें स्नातक कक्षाओं के समान अध्यापन कार्य होता था। इस प्रकार

तत्कालीन शिक्षा संरचना जो १० +२+३ पर आधारित थी। इसे आयोग ने निम्न सुझाव दिये :—

१. इण्टर कक्षाओं के छात्रों को माध्यमिक कक्षा के समान ही शिक्षा देने की आवश्यकता है, अतः इण्टर कक्षाओं को विश्वविद्यालयों से अलग कर दिया जाय।

२. इण्टर परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात ही छात्रों को विश्वविद्यालयों में प्रवेश दिया जाय।

३. माध्यमिक शिक्षा परिषद की स्थापना की जाय। इस परिषद पर माध्यमिक स्कूलों एवं इण्टर कालेजों के निरीक्षण एवं नियन्त्रण का भार हो।

४. डिग्री कोर्स तीन वर्ष का कर दिया जाय। इस प्रकार आयोग की १०+२+३ की योजना का क्रियान्वयन आंशिक रूप से केवल उत्तर प्रदेश (तत्कालीन संयुक्त प्रान्त) में ही लागू हुआ। प्रथम उपाधि कोर्स को तीन वर्षीय करने के सम्बन्ध में कोई कदम नहीं उठाया और न इण्टर शिक्षा को व्यावसायिक बनाने का ही कोई प्रयास हुआ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राधाकृष्णन आयोग (विश्वविद्यालय आयोग १९४८) ने भी १०+२+३ शिक्षा प्रणाली को अंगीकार करने की संस्तुति की। आयोग ने उच्चतर माध्यमिक स्तर को व्यवसायपरक बनाने पर जोर दिया ताकि इण्टर परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात छात्रों को विविध व्यवसायों की ओर मोड़ा जा सके जिससे विश्वविद्यालयों में लगनेवाली भीड़ कम हो सके। प्रथम उपाधि कोर्स तीन वर्षीय करने के सम्बन्ध में आयोग का सशक्त तर्क था कि "माध्यमिक स्तर पर गहन तैयारी एवं उपाधि कोर्स में एक वर्ष बनाने के फलस्वरूप उच्च शिक्षा का स्तर निश्चय ही ऊँचा होगा।" परन्तु दुर्भाग्यवश ये सुझाव अमल न किये जा सके।

माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं के अध्ययन हेतु डा० ए० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर के नेतृत्व में गठित माध्यमिक शिक्षा आयोग (१९५२–५३) के सामने यह समस्या उपस्थित हुई। आयोग तत्कालीन संरचना (१० + २ + ३) के मध्यवर्ती पाठ्यक्रम (दो वर्षीय इण्टर) से संतुष्ट नहीं हुआ तथा इसे अनुपयुक्त समझ कर २ वर्ष के दो भागों में विभक्त कर एक वर्ष विद्यालयी शिक्षा में जोड़ने का सुझाव दिया तथा शेष एक वर्ष प्रथम उपाधि पाठ्यक्रम में संलग्न कर तीन वर्षीय बनाने का प्रयास किया। इस प्रकार विद्यालयीय शिक्षा ११ वर्षीय तथा प्रथम उपाधि शिक्षा तीन वर्षीय हो गयी जिसे ११+३ के रूप में प्रकट किया जा सका। १०+२+२ के समान ही ११+३ में प्रथम उपाधि तक १४ वर्ष का समय लगता है परन्तु विद्यालयीय तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा के बीच विभाजक रेखा इण्टर विघटित हो जाता है। जिस दो वर्षीय इण्टर पाठ्यक्रम को बनाये रखने तथा इसे व्यावसायिक करने का प्रस्ताव कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (१९१७–१९) तथा विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (१९४८–४९) ने रखा था। इण्टर के पश्चात छात्रों में विविध पाठ्यक्रमों की ओर मोड़ने का प्रस्ताव था। ताकि विश्वविद्यालय के परिसर में प्रवेशार्थियों की 'क्यू' छोटी हो सके।

नये प्रतिमान की विशेषताएं

(१) देश के सभी भागों में एक सा ही शिक्षा क्रम रहेगा जिससे एक प्रान्त से दूसरे

प्रान्त में जाने वाले छात्रों की शिक्षा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसके साथ-साथ एक प्रान्त के लोग दूसरे प्रान्तों के लोगों से बौद्धिक स्तर पर एकता स्थापित कर एक दूसरे निकट आ सकेंगे। साथ ही राष्ट्रीय एवं सामाजिक एकता को बल मिलेगा।

(२) इस प्रणाली में वैकल्पिक विषयों का चयन छात्र कक्षा १० के बाद किया करेंगे।

(३) कार्यानुभव के माध्यम से छात्रों के मस्तिष्क एवं हाथ में सम्बन्ध स्थापित होगा परिणामस्वरूप उनमें आत्मनिर्भरता एवं आत्म सम्मान की भावना का उदय होगा।

(४) शारीरिक शिक्षा प्रारम्भ होने के कारण छात्रों के स्वास्थ्य में भी सुधार होगा।

(५) शिक्षा को रोजगार एवं सामाजिक उपादेयता के कारण अधिक उपयोगी एवं बुद्धि संगत बनाया जा सकेगा।

(६) विश्वविद्यालयों को बढ़ती हुई जनसंख्या पर अंकुश लगाकर कम किया जा सकेगा।

(७) शिक्षा का गिरता हुआ स्तर ऊपर उठाया जा सकेगा, जिससे भारतीय विश्व-विद्यालय के स्नातक का वही दर्जा रहेगा, जो पश्चिम के किसी भी विश्वविद्यालय का है।

(८) मेडिकल कालेज, इंजीनियरिंग कालेज तथा अन्य उच्च व्यावसायिक कालेजों में प्रवेश प्राप्त करने के लिये विश्वविद्यालय में प्रथम वर्ष का पाठ्यक्रम करना पड़ेगा। इसके अलावा प्री यूनिवर्सिटी कोर्स आदि अनेक विविधाएँ स्वतः समाप्त हो जायेगी।

नये प्रतिमान के क्रियान्वयन में कठिनाइयाँ :

(अ) विद्यालयीय शिक्षा में एक वर्ष की वृद्धि—

१—शैक्षिक संरचना में एकरूपता शैक्षिक वर्षों की समान संख्या से नहीं आती अपितु शैक्षिक स्तरों से आती हैं। आजतक विभिन्न प्रदेशों में प्रथम उपाधि के लिए लगने वाले वर्षों की संख्या पृथक्-पृथक् है। परन्तु विभिन्न विश्वविद्यालयों से निकलने वाले स्नातकों के शैक्षिक स्तर में बहुत अधिक अन्तर नहीं पाया जाता। एक विश्वविद्यालय के स्नातक छात्र अन्य विश्वविद्यालयों की स्नातकोत्तर कक्षाओं में सहज ही प्रवेश प्राप्त करते हैं और कोई विशेष कठिनाई भी महसूस नहीं की जाती। १०+२+३ की संरचना आरम्भ करने के बाद भी असम के विश्वविद्यालयों में क्या उसका एक वर्ष घटाकर स्तर को निम्न किया जायेगा ?

२—एक वर्ष की अवधि बढ़ाने से शैक्षिक स्तर बढ़ेंगे या नहीं, यह विवादास्पद प्रश्न है। एक वर्ष की वृद्धि किये बिना भी अच्छे शिक्षक, प्रशिक्षण सुधरी हुई शिक्षण विधियाँ, पुनर्गठित पाठ्यक्रम उचित प्रकार से तैयार की गई पाठ्य पुस्तकें तथा सही शैक्षिक साधनों का उपयोग करने से शैक्षिक स्तर बढ़ाया जा सकता है तथा जो स्तर १२ वर्षों में सम्पादित करना अपेक्षित है, उसे ११ वर्षों में प्राप्त किया जा सकता हैं। इसके विपरीत एक वर्ष बढ़ाने के बाद भी यदि उपयुक्त साधन-सुविधाओं की व्यवस्था नहीं की गई तथा अध्यापन में गुणात्मक सुधार नहीं किये गये तो स्तर जहाँ के तहाँ रहेंगे, अथवा घट सकते हैं।

३—राज्य सरकारों की वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखते हुए ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे सेकेण्डरी एवं हायर सेकेण्डरी कक्षाओं में नये पाठ्यक्रम चलाने के लिए आवश्यक साधन-सुविधाएँ जुटा पायेंगी। इसका परिणाम होगा—नवीन संरचना की असफलता तथा स्तरों की गिरावट। इन सबका दोष मढ़ा जायगा अध्यापकों पर। समाज पर इसका और भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। छात्रों, संरक्षकों, शिक्षकों तथा आयोजकों में घोर निराशा व्याप्त होगी, जो किसी भी प्रगतिशील राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

(ब)

यह उचित है कि परिपक्व नागरिकता के लिए सभी विद्यार्थियों को अविशिष्टीकृत सामान्य शिक्षा प्राप्त हो। हमारे संविधान के अनुसार अनिवार्य शिक्षा आयु १४ वर्ष तक निर्धारित की गई है। इस ११ वर्षीय (८ + ३) हायर सेकेण्डरी प्रारूप प्रारम्भ हुआ तथा इन्हीं के आधार पर बहुत से प्रान्तों ने इण्टर कक्षाएँ विघटित कर दीं। उत्तर-प्रदेश में यह योजना भी लागू नहीं हो सकती। इस प्रकार इस आयोग ने भी शैक्षिक संरचना (१० + २ + ३) की विशेषताओं पर तो प्रकाश डाला किन्तु दुर्भाग्यवश सार्जेण्ट कमीशन (१९४४) की सिफारिशों पर बल दिया जो १९५६ से प्रारम्भ हुई।

शैक्षिक संरचना (११ + ३) अभी अपना प्रथम दशक भी पूरा नहीं कर पायी थी कि भारत सरकार के द्वारा सन् १९६२ ई० में डा० सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में "भावनात्मक एकता समति" का गठन हुआ जिसने पुनः शैक्षिक संरचना (१० + २ + ३) का समर्थन किया। राज्य शिक्षा मन्त्रियों की बैठक (१९६४) में यह निश्चय किया गया कि डिग्री पाठ्यकम के पूर्व १२ वर्षीय स्कूली शिक्षा का उद्देश्य समस्त देश के सामने होना चाहिए। कोठारी आयोग को पिछले समस्त आयोगों एवं समितियों का बल मिला। उसने नवीन शैक्षिक संरचना (१० + २ + ३) की अनुशंसा करते हुए शनैः शनैः २० वर्षों में उसके क्रियान्वयन पर बल दिया। परिणामस्वरूप १९६८ में यही "नेशनल पॉलिसी रिजोल्यूशन ऑन एजूकेशन" का आधार बनी। इसके पश्चात् १९७२ में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (CABE) की भी मंजूरी मिल गयी।

अन्त में कोठारी कमीशन (१९६४-६६) के संस्तुति पर NCERT ने १९७५ में प्रो० रईस अहमद की अध्यक्षता में एक समिति बुलाई। इसमें सारे देश के लगभग २०० शिक्षा विभाग के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। उन्होंने १० + २ + ३ शिक्षा प्रणाली को सारे देश में लागू करने पर बल दिया तथा कक्षा १० तक के लिए पाठ्यक्रम की एक नयी रूपरेखा भी तैयार की। पाठ्यक्रम निर्माण समिति ने आधुनिक शिक्षा प्रणाली को अपूर्ण बतलाया तथा बालक के सर्वांगीण विकास में असहाय बताया। इसलिए समिति ने नयी शिक्षा प्रणाली को लागू करने पर बल दिया। इस समिति ने कक्षा १० तक सामान्य शिक्षा पर जोर दिया। इससे बालकों का ज्ञान विस्तृत होगा तथा सर्वांगीण विकास में सहायता मिलेगी।

इस प्रकार १० + २ + ३ का बीजारोपण कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (१९१७-१९१९) द्वारा हुआ। जबकि दूसरा व्यापक समर्थन "विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग" (१९४८) में किया गया। परन्तु 'दुर्भाग्य निर्णय' माध्यमिक शिक्षा आयोग (१९५२-५३) के

द्वारा हुआ और शिक्षा आयोग (१९६४-६६) में दूसरी धारा 'परिपक्वता' प्रस्तावित हुई तथा अब इसको लागू करने की पूर्ण-परिपक्वता का कार्य NCERT कर रही है।

नये प्रतिमान की विशेषताएँ:—

इस ढांचे में विद्यालयीय शिक्षा १२ वर्ष की होगी जिसमें १० वर्ष तक सामान्य विषय अध्ययन व एक कार्यानुभव करने हेतु निम्न माध्यमिक विद्यालय तथा आगे दो वर्ष अर्थात् ११ व १२ में व्यावसायिक शिक्षा दी जायगी।

कक्षा ९ के स्थान पर कक्षा ११ में जाकर विभिन्न वर्गों में लोग अपनी-अपनी रूचि के अनुसार विषय व वर्ग चुनेंगे। दस वर्षीय स्कूली शिक्षा के उपरान्त ४० प्रतिशत छात्र अपने जीवनयापन में लग जावेंगे। कक्षा १० तक अनिवार्य शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात छात्रों के मस्तिष्क में भी परिपक्वता आ जायेगी और कक्षा ११ में वे अपने भावी जीवन के निमित्त विषयों का चयन आसानी तथा सूझबूझ के साथ कर सकेंगे।

सामान्य शिक्षा कक्षा १० के पश्चात् शिक्षा प्रक्रिया को दो शाखाओं में विभक्त कर दिया जायेगा। जिसकी अवधि दो वर्ष होगी प्रथम; विद्या शाखा एवं द्वितीय रोजगार व कार्यानुभव शाखा। कक्षा १० के पश्चात्-शेष छात्रों में से ५० प्रतिशत छात्रों को विद्याशाखा एवं ५० प्रतिशत छात्रों को कार्यानुभव शाखा में प्रवेश मिल सकेगा। विद्या शाखा का उद्देश्य छात्रों को विश्वविद्यालयीय एवं अन्य व्यावसायिक शिक्षा हेतु तथा रोजगारपरक शाखा का उद्देश्य एक व्यक्ति के मध्यम स्तर के व्यवसाय हेतु जो अपने आप में पूर्ण होगा, तैयार करना होगा। इसके पश्चात् प्रथम उपाधि प्राप्त करने हेतु तीन वर्ष लगेंगे।

महाविद्यालयों में प्रथम डिग्री दो प्रकार की होगी—दो वर्ष का 'पास कोर्स' और एक वर्ष का 'आनर्स कोर्स।' प्रथम दो वर्ष का 'पास कोर्स' सामान्य रूप से उत्तीर्ण होने के लिए है परन्तु विद्यार्थी अपनी इच्छानुसार 'आनर्स कोर्स' अर्थात् तृतीय वर्ष में अध्ययन कर सकते हैं—ऐसा प्राविधान है।

प्रथम डिग्री के पश्चात् द्वितीय डिग्री अर्थात स्नातकोत्तर या अन्य डिग्री हेतु केवल वही प्रवेश कर पायेंगे जिसने तृतीय वर्ष का आनर्स कोर्स सहित स्नातक उत्तीर्ण किया हो।

इस योजना की निम्न विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है—(१) इस संरचना से लाभ यह है कि जो छात्र दसवीं कक्षा के पश्चात् जीवन यापन में जाना चाहेंगे, जा सकेंगे। अभी तक छात्रों को कक्षा का लक्ष्य पूरा करने में भी अभी कम से कम १० वर्ष और चाहिए। निकट भविष्य में अनिवार्य शिक्षा आयु १६ वर्ष तक होने की कोई सम्भावना नजर नहीं आती। इसका परिणाम होगा कि जो विद्यार्थी स्वेच्छा से अथवा साधन सुविधाओं के फलस्वरूप १६ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। वे १४ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों की तुलना में बेहतर नागरिक होंगे।

(स) पाठ्यक्रम आरम्भ करने में कठिनाइयां—

१० + २ + ३ ढांचे के अनुसार कुछ राज्यों ने कक्षा ९ व १० में उसी पाठ्यक्रम के

निकाय ::

अनुसार शिक्षण शुरू कर दिया है। उनका अनुभव इस बारे में सुखद नहीं रहा है जिन राज्यों ने नवीन पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया है, वहाँ शिक्षकों, छात्रों तथा अभिभावकों के लिए सर दर्द बन गया है। परीक्षाफल एकदम गिर गया है। जिन राज्यों में नया पाठ्यक्रम आरम्भ किया गया, उनके समक्ष निम्न समस्यायें आयीं है—

१—पाठ्यक्रम में विषयों की इतनी भरमार कर दी गयी है कि छात्रों के लिए पढ़ना व समझना काफी दुरूह हो गया है।

२—सभी छात्रों के लिये विज्ञान का अध्ययन भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र आदि के रूप में करना सम्भव नहीं है। प्रत्येक विद्यार्थी में विज्ञान सीखने की क्षमता नहीं हुआ करती है।

३—सुदूर आंचलिक ग्रामों में विज्ञान पढ़ाने के लिये न प्रयोगशालाएं हैं न साधन-सुविधाएं। विज्ञान उसी प्रकार से पढ़ाया जा रहा है जैसे की भाषा की पाठ्यपुस्तकें।

४ विज्ञान की अलग-अलग शाखाओं को पढ़ाने के लिए कम से कम दो शिक्षक होने चाहिए। इतनी संख्या में विज्ञान के प्रशिक्षित शिक्षक उपलब्ध करवाना राज्य सरकारों के लिए कठिन कार्य है।

५—सामाजिक विज्ञान भी पांच शाखाओं में विभक्त हो गया है। प्रत्येक शाखा के लिए पृथक शिक्षक न रखा जाय तब भी न्यूनतम दो शिक्षक अवश्य चाहिए। ग्रामीण अंचलों में इतने अधिक शिक्षकों की व्यवस्था करना राज्य सरकारों के लिये आर्थिक दृष्टि से सम्भव नहीं प्रतीत होता।

६—कार्यानुभव के सम्बन्ध में कोई स्पष्टता नहीं आ पायी है। कार्यानुभव के लिये न तो शिक्षक हैं न ही सुविधाएं और न साधन उपलब्ध हैं।

७—वैकल्पिक धाराओं में जिन विशिष्ट विषयों का अध्ययन कक्षा ९ से आरम्भ होता था, वे अब कक्षा ११ से पढ़ाये जायेंगे। इससे फलस्वरूप विशिष्ट विषयों के अध्ययन में गहनता नहीं आ पायेगी। ऐसी आशंका की जा रही है।

८—इस पाठ्यक्रम के पश्चात् व्यावसायिक शिक्षा के पाठ्यक्रम पर दृष्टिपात किया जाये तो नैराश्य ही दिखायी देता है। यदि व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी व्यक्तियों को धंधा-रोजगार नहीं मिला तो उससे जो निराशा एवं कुण्ठा व्याप्त होगी, वह भयंकर होगी।

क्या यह परिवर्तन वांछनीय है ?

उपर्युक्त कठिनाइयों को देखते हुए शैक्षिक प्रतिमान का परिवर्तन आवश्यक प्रतीत नहीं होता। वस्तुस्थिति यह है कि मात्र संरचना बदल देने से व वर्षों की वृद्धि तथा आयु की वृद्धि कर देने से शालाएं नहीं बदलती हैं। छठीं लोकसभा के अप्रत्याशित परिणामों द्वारा नयी जनता सरकार का गठन एक ऐसा सुन्दर अवसर प्रदान कर रहा है कि शैक्षिक ढांचे में आमूल परिवर्तन पर पुनः विचार किया जाय। मुक्त चिन्तन के द्वारा ही भावी शिक्षा

योजना का स्वरूप मुखरित हो सकेगा। क्योंकि ऐसी शंका है कि पिछली सरकार ने "समाजवाद, लोकतन्त्र और धर्म निरपेक्षता" के विषय मात्र से ही शैक्षिक ढांचे में परिवर्तन हेतु सोचा था। परन्तु विद्यार्थियों पर दबाव डालकर नहीं बल्कि स्वतन्त्र आत्म-प्रकाशन की भावना दिखाकर शिक्षा की संरचना में परिवर्तन करना चाहिए। यह परिवर्तन हो जायगा तो अधिक दिनों तक टिकेगा न कि अस्थायी होगा जैसा कि किसी का कथन है—

"एक वर्ष के लिये योजना बनानी हैं तो अनाज उत्पादन की योजना बनाओ, दस वर्ष के लिए योजना बनानी है तो पेड़ों को रोपने और उनके विकास की योजना बनाओ, सौ वर्षों के लिए योजना बनानी हैं तो मनुष्य की शिक्षा की योजना बनाओ।"

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि विभिन्न प्रयोगों की संस्तुतियों के कचरे को कोठारी आयोग ने इकट्ठा करके एक निर्जीव रंग से रँग दिया है और इस रंग द्वारा शिक्षा रूपी भवन की रंगाई की जा रही है। आशा ही नहीं अपितु विश्वास भी किया जा रहा है कि यह रंग वर्षाऋतु की प्रथम बूँदाघात से घुलकर अपने उद्‌भव स्थान पर पहुँच जायगा। यह शिक्षा रूपी भवन पुनः अपनी मौलिक मटमैली ज्योति से भी मन्दतर ज्योति से प्रकाशमान होगा। अस्तु जनता पार्टी की सरकार की गठन एक ऐसा सुअवसर प्रदान कर रहा है कि शैक्षिक ढांचे में आमूल परिवर्तन पर पुनः विचार किया जाय। समय की चुनौती है कि प्रत्येक नागरिक को अच्छा भोजन, अच्छी सुरक्षा और अच्छी शिक्षा प्रदान की जाय। आशा है कि मुक्त चिन्तन के द्वारा ही भावी शिक्षा योजना का स्वरूप मुखरित होगा जो समाज एवं शासन को एक नयी दिशा प्रदान करेगा।

●

सद्‌गुणों का होना ही काफी नहीं है। उन्हें व्यवस्थित रखना भी नितांत आवश्यक हैं।

—रोशफोकाल्ड

नवीन शिक्षा प्रणाली (१०+२+३)

अकबाल नारायण सिंह
उप-ग्रन्थाधीक्षक अध्ययन केन्द्र, कमच्छा

कोठारी कमीशन की आधारभूत संस्तुतियों के प्रभाव स्वरूप सम्पूर्ण देश के लिए समान शिक्षा-व्यवस्था उपलब्ध करने के उद्देश्य से १० + २ + ३ के कार्यान्वय की योजना वनाई गई है। वस्तुतः आयोग ने शिक्षा की प्रक्रिया को तीन स्तरों में विभक्त किया है—(१) प्रथम स्तर पर स्कूल से पूर्व की एवं प्राथमिक स्तर की शिक्षा (२) द्वितीय स्तर पर हाई स्कूल तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा, (३) तृतीय स्तर पर अवर स्नातक, स्नातकोकोत्तर तथा उच्च-शोध स्तरी शिक्षा।

इस त्रिस्तरीय शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी पहले दस वर्षों की शिक्षा स्कूल में प्राप्त करके बोर्ड की परीक्षा उत्तीर्ण करेगा; तदनन्तर दो वर्ष की स्कूली शिक्षा तथा फिर तीन वर्ष की विश्वविद्यालयी 'स्नातक शिक्षा' प्राप्त करेगा।

अध्ययन के विषयः—

१० वर्षीय विद्यालय की पद्धति में कक्षा ६ व १० में अध्ययन के निम्न विषय रक्खे गए हैं :—

१. दो भाषाएँ—हिन्दो, अंग्रेजी के साथ एक भाषा वैकल्पिक—असमिया, बंगालो, गुजराती, कन्नड़, मराठी, मलयालम, मनीपुरी उड़िया, पंजावी, सिन्धी, तमिल, तेलुगू, उर्दू, संस्कृत, फ्रेन्च, जर्मन, रुसो, अरबी, फारसी, पुर्तगाली और तिब्बती में से कोई एक।

२. विज्ञान—भौतिक, रसायन और जीवविज्ञान।

३. गणित।

४. समाज विज्ञान—इतिहास व नागरिक शास्त्र, भूगोल, अर्थशास्त्र और वाणिज्य।

५. स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा।

६. कार्यानुभव—निम्न में से कोई एक (१) कृषि पर आधारित—कृषि, उद्यान विज्ञान, खाद्यसरंक्षण, दुग्ध, उत्पादन, कुक्कुट पालन, मधुमक्खी पालन एवं मत्स्य पालन।

२—विज्ञान एवं उद्योग पर आधारित—विद्युत सेवा, रेडियो सुधार, सरल वैज्ञानिक उपकरण सुधार, लुहारगिरो, सिलाई, छपाई, साबुन निर्माण, बिस्कुट बनाना, काष्टकला और कताई।

३—ललित कला पर आधारित–चित्रकला, संगीत, नृत्य, फोटो निर्माण, पुतली निर्माण, खिलौना निर्माण और बुनाई-कढ़ाई।

४—सेवा पर आधारित—पाक शास्त्र, मातृ-शिल्प, स्काउटिंग एवं गाइड, सामाजिक सेवा, प्राथमिक चिकित्सा, परिचर्या, शाला जलपान व्यवस्था और सहकारी विक्रय केन्द्र।

आज शिक्षा जगत में इस १०+२+३ की विशेष चर्चा है। इसके पाठ्क्रम को देखने से विषयों की भीड़ दिखाई देती है। छोटे-छोटे बच्चों का पुस्तकों एवं कापियों से बस्ता भारी कर देने से उनका ज्ञान भी बढ़ जायगा—यह आवश्यक नहीं है। हाई स्कूल कक्षाओं में १६ विषयों का चक्कर है—कहीं यह चक्कर छात्रों के लिए चक्रव्यूह तो नहीं जिसमें छात्र ऐसे उलझ जाएं कि उनको कुछ भी हाथ न लगे, पढ़ने की इच्छा ही रफू चक्कर हो जाय। इस तरह की शंकाए विद्यमान रहेगी। वैसे विषयों का भार तो बढ़ा दिया गया है पर शिक्षण-विधि का ख्याल रक्खा गया है अथवा नहीं सन्देहास्पद है। नवीन शिक्षा पद्धति में पीरियड बढ़े हैं पर थ्योरी विषय के घन्टे कम हुए है। कम समय में अधिक विषय पढ़ाने में नवीन शिक्षण पद्धति की आवश्यकता है। वास्तव में जितने भी रिफ्रेसर कोर्स चलाए गए हैं वे अध्यापकों के लिए केवल इस पद्धति की जानकारी की पर्याप्तता के अलावा और कुछ ज्ञान नहीं दे पाए होंगे। वैसे भाषा के शिक्षक कहते हैं कि इस योजना में छात्रों को भाषा पर अधिकार करने के लिए अधिक समय नहीं मिलेगा। गणित एवं विज्ञान के शिक्षक अलग ही परेशान है कि अब तक विज्ञान के छात्रों के लिए ही प्रयोगशाला की समस्या थी।

अब दोगुने और विद्यार्थियों के आ जाने से प्रयोगशालाओं की व्यवस्था सीमित साधनों से कैसे हो पाएगी। अब तक छात्र-समुदाय का कुछ ही अंश विज्ञान पढ़ता था; इन्हीं के लिए प्रयोगशालाओं की उचित व्यवस्था नहीं है। जब सभी छात्रों को अनिवार्य रूप से विज्ञान पढ़ाया जायगा तो सुदूर ग्रामीण अंचलों में प्रयोगशालाएं कैसे स्थापित हो पाएंगीं? ऐसा तो नहीं कि विज्ञान की पढ़ाई भी 'नानी की कहानी' या 'तोता मैना' की जबानी बन जाय।

दूसरी तरफ प्रशासन भी परेशान हैं कि कुछ राज्य जैसे मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि राज्यों में माध्यमिक विद्यालय ११ वर्ष के हैं। इनको दस वर्षीय में बदला जाय या १०+२ में। इसके अलावा शिक्षकों का क्या होगा? अतिरिक्त शिक्षकों की नियुक्ति के लिए वित्त का प्रबन्ध कैसे किया जाय।

उत्तर प्रदेश में स्नातक शिक्षा की अवधि दो वर्ष है इसे तीन वर्षीय करने में अधिक शिक्षकों की व्यवस्था एवं वित्त का प्रश्न पैदा कर देती है। वित्त की समस्या का सुझाव उतना आसानी से नहीं हो पाएगा जितना सरलता से लोग दे देते हैं। उत्तर प्रदेश में कुल अठारह विश्वविद्यालय हैं इनमें अधिकांश विश्वविद्यालयों में जैसे—बुन्देलखण्ड, रूहेलखण्ड, कुमायूं, गढ़वाल, आगरा, मेरठ, कानपुर, अवध आदि ने स्नातक कक्षा का अध्यापन न करके केवल सम्बद्ध महाविद्यालयों के छात्रों की परीक्षा ले लेते हैं। इलाहाबाद, गोरखपुर, लखनऊ में स्नातक कक्षाएं है—पर सम्बद्ध महाविद्यालय अनेक हैं, इनमें भी स्नातक कक्षाओं में दो वर्ष

में एक और वर्ष जुट जायगा। उद्देश्य एक वर्ष जोड़ने तक ही नहीं समाप्त हो जाता, द्वितीय वर्ष के पाठ्क्रम के अतिरिक्त तृतीय वर्ष में विशेष 'आनर्स' पाठ्यक्रम के रूप में पढ़ाई होगी। समस्या है—क्या अध्यापक ऐसा शैक्षणिक वातावरण इन कालेजों में रचा पाएगा।

दस वर्षीय शिक्षा की सफलता और असफलता का वहुत कुछ सम्वन्ध इन प्रशिक्षण महाविद्यालयों पर ही है। इनमें सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम के नाम पर जो कुछ पढ़ाया जा रहा है उसमें भी संशोधन की आवश्यकता है। सामूहिक परिचर्या, कार्यगोष्ठी, सेमीनार, समर-इन्स्टीट्यूट आदि के माध्यम से सेवारत व्याख्याताओं को इस सम्वन्ध में जानकारी दी जा सकती हैं। इस तरह के कार्यक्रम का समय अब तक तभी निश्चित किया जा सका है जब विद्यालय में अवकाश का क्षण हो—उस समय में भला कितने लोग अपने व्यक्तिगत आराम का समय छोड़कर मानसिक एवं शारीरिक श्रम का भार लेना पसन्द करेंगे।

कुछ आवश्यकताओं को तो सरकार ने अनुभव किया है; तदनुसार तैयारी की जा रही है। जैसे पाठ्यक्रम का पुनर्निरीक्षण व्यावसायिक पाठ्यकमों को तैयारी आदि। परन्तु तैयारी के एक गम्भीर पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया गया हैं वह है शिक्षकों की तैयारी। यह दृढ़ विश्वास है कि शिक्षा में किसी प्रकार के परिवर्तन की कोई भी योजना तब तक प्रभावी नहीं हो सकती जब तक उस शिक्षा से सम्बद्ध शिक्षकों का आत्मीय सहयोग न हो।



दूसरी सीता

□ विजय कुमार श्रीवास्तव
स्नातकोत्तर डिप्लोमा (पत्रकारिता)

ज़ब्त हुए कई दिन
जब यूँ ही गुजरने लगे
लगा ज़िन्दगी इंच दर-इंच
रेखाओं में सिमट गई।
वन्दना में;
जो हाथ जुड़े
मूर्तियाँ खण्डित हो
उजड़ने लगीं।
आँखों में
नींद लिये
कई रात सोने का
बहाना कर गये,
नियॉन की रोशनी में
नहाकर, तुम
दूसरी सीता कहला गये।

योग एवं स्वास्थ्य

डॉ० के० एन० उडुपा*
डॉ० रामहर्ष सिंह**

योग तथा आयुर्वेद अत्यन्त प्राचीन भारतीय विद्यायें हैं। इनका लक्ष्य मानव मात्र को मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ रखना तथा उसे आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्त कराना है। आयुर्वेद तो हमारे देश में लम्बे समय से स्वास्थ्य रक्षण एवं व्याधि चिकित्सा का माध्यम रहा है और आज भी देश की स्वास्थ्य सेवाओं का एक महत्वपूर्ण अंग है। योग के विषय में पिछले कुछ वर्षों में नये ढंग से रुचि ली जाने लगी है। योग के विषय में रूचि जागरण की यह लहर मुख्यतः भारतीय न होकर पश्चिमी देशों से प्रारम्भ हुई है। इसका सबसे अधिक प्रचार विश्व के सबसे अधिक वैभव संपन्न देश अमेरिका में देखा गया है। इसके कुछ प्रमुख कारण हैं। पश्चिमी देशों में तीव्र भौतिक विकास के साथ ही मानव जीवन में व्यापक अस्थिरता आयी है तथा मानसिक तनाव भयानक रूप से बढ़ा है। परिणामतः कई गम्भीर मानसिक तनाव अन्य रोगों का प्रसार तेजी से होने लगा है। एक तरफ जहाँ कई विकसित देशों में अधिकांश संक्रामक तथा पोषणाभाव जन्य व्याधियों पर काबू पा लिया गया है वहीं मानसिक तनाव जन्यरोग द्रुत गति से बढ़ते जा रहे हैं। ऐसे रोगों की रोकथाम के सभी उपाय असफल हो रहे हैं क्यों कि ये रोग ऐसी परिस्थितियों की देन है जो हमारे आधुनिक जीवन के अभिन्न अंग हैं। इस कठिन परिवेश में वैज्ञानिकों तथा विचारकों का ध्यान योग की ओर जाना स्वाभाविक है। क्योंकि योग को चित्त-वृत्तियों के निरोध के माध्यम से मानसिक तनाव से मुक्ति दिलाने का एक साधन माना गया है।

योग विज्ञान एक नवीन परिवेश में हमारे सामने उभड़ रहा है परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि योग आयुर्वेद के समान ही एक प्राचीन ज्ञान है और इसे प्राचीन भारतीय मूल्यों के संदर्भ में विकसित किया गया है। यह प्रधानतः दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक विषय है। वस्तुतः योग आयुर्वेद का ही एक अंग है। महर्षि सुश्रुत द्वारा प्रतिपादित 'समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।' स्वास्थ्य की परिभाषा आयुर्वेद के समग्र मनोदैहिक विचार शैली

---

* निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान
** रीडर, काय चिकित्सा विभाग

की परिचायक है। इसी प्रकार त्रिदोष तथा त्रिगुण सिद्धांत पर आधारित मनुष्य के मनोदैहिक गठन को परिचायक देह तथा मानसी प्रकृतियों का विवरण तथा असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग प्रज्ञापराध परिमाणादि कहे गये रोगों के हेतु अत्यन्त वैज्ञानिक एवं आयुर्वेद के समग्रता के परिचायक हैं। आयुर्वेद (आयु-जीवन + वेद-ज्ञान आयुर्वेद) शब्द का अर्थ है जीवन-विज्ञान। आयुर्वेद में मन, आत्मा तथा शरीर के संयोग को ही जीवन माना गया है। और इसी अर्थ में मानव जीवन को आरोग्य प्रदान करके धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति कराना ही आयुर्वेद का लक्ष्य है। आयुर्वेद की तुलना में योग विज्ञान का लक्ष्य कुछ सीमित है। योग शास्त्र में मनुष्य के मानसिक विकास तथा मोक्ष प्राप्ति को ही बल दिया गया है, चरक ने भी कहा है – योगा मोक्ष प्रवर्तकः। दूसरी तरफ आयुर्वेद जीवन के चारों लक्ष्यों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति का साधन माना गया है। इस प्रकार योग आयुर्वेद का ही एक पक्ष मात्र है।

कुछ भारतीय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि किसी एक ही व्यक्ति ने भिन्न-भिन्न नामों से मानवता के समग्र कल्याण हेतु निम्नलिखित तीन विशिष्ट शास्त्रों की रचना की।

(१) पतंजलि—१	योग दर्शन–चित्त शुद्धि निमित्त।
(२) पतंजलि—२	व्याकरण महाभाष्य–वाणी शुद्धिर्निमित्त।
(३) पतंजलि—३ (चरक)	आयुर्वेद (चरक संहिता)–शरीर शुद्धि निमित्त।

पातंजल योग दर्शन में योग दर्शन एवं साधना की अष्टांग कला का सूत्र रूप में, परन्तु अत्यन्त व्यवस्थित वर्णन है। आयुर्वेद के प्रमुख मूलभूत ग्रन्थ चरकसंहिता में भी विभिन्न संदर्भों में योग दर्शन एवं साधना के अधिकांश सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। चरक ने यम-नियम विषयक आचार तथा सद्वृत्ति से लेकर मोक्ष प्रवर्तक अन्तरंग योग एवं अष्ट ऐश्वर्यों का वर्णन लगभग उसी प्रकार किया है जैसा कि पतंजलि ने योग सूत्रों के माध्यम से किया है। अन्तर केवल इतना है कि आयुर्वेद में इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विज्ञान के संदर्भ में किया गया है जबकि पातंजल योग दर्शन में दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष को प्रधानता दी गयी है। योगसूत्रों में प्रतिपादित मोक्ष प्रवर्तक योग एवं अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति आधुनिक मानव का लक्ष्य नहीं हो सकता। आज तो योग से अपेक्षा है सामाजिक पर्यावरणजन्य मानसिक तनाव से मुक्ति। अतः योग को केवल एक दार्शनिक विषय के रूप में न छोड़कर इसे आयुर्वेद के ही समान एक स्वास्थ्य विज्ञान का रूप देना अधिक श्रेयस्कर होगा। यद्यपि यह ध्यान रखना भी अत्यन्त आवश्यक है कि योग को फिजिकल एजुकेशन के समान मात्र भौतिक स्वास्थ्य का माध्यम न समझकर इसे मानसिक विकास तथा संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास का माध्यम समझा जाय। केवल कुछ हठयौगिक क्रियाओं की सहायता से शरीर सौष्ठव वृद्धि का प्रयास करना वस्तुतः योग दर्शन एवं साधना की वास्तविकता को झुठलाना है।

पतंजलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि-योग के ये आठ अंग बताये हैं। वस्तुत: ये योग साधना की आठ सीढ़ियाँ है जिस पर अग्रसर होता हुआ एक साधक पूर्ण योगस्थ होकर तज्जन्य सिद्धियों को प्राप्त करता है।

योग शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है दो विपरीत वस्तुओं का मिलन या विलय। पतंजलि ने चित वृत्तियों के निरोध को ही योग माना है—योगः चित्त वृत्ति निरोधः। कुछ यौगिक क्रियाओं पर किये गए शरीर क्रियात्मक अध्ययन के आधार पर हम यह कहना अधिक उचित समझते हैं कि शरीर तथा मन के समरस होने की प्रक्रिया ही योग है। योग साधना से मन तथा शरीर एक दूसरे से सहयोग करते हुए जीवन के लिए श्रेयस्कर मार्ग को अपनाते हैं। अर्थात् योग साधना द्वारा विकसित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति मन तथा शरीर के असामंजस्य एवं मानसिक तनावजन्य विकारों से पीड़ित नहीं होता।

कुछ यौगिक क्रियाओं पर किये गये अपने वैज्ञानिक शोध पर आधारित अन्यत्र प्रकाशित शोधपत्रों के संदर्भ से हम कह सकते है कि कई यौगिक क्रियायें शरीर तथा मन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। आसनों तथा प्राणायाम का विधिवत् अभ्यास करने वाले कुछ युवकों के अध्ययन से हमें पता चला है कि ये प्रक्रियायें मस्तिष्क की कार्य क्षमता तथा स्मृति को बढ़ाती हैं तथा मनुष्य के चिड़-चिड़ेपन को कम करती हैं। साथ-साथ ये क्रियायें रक्त में शर्करा तथा कोलेस्ट्राल की मात्रा कम करती हैं तथा थायरायड, ऐड्रिनल तथा टेस्टिस जैसी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की कार्यशीलता बढ़ाकर साधकों को अधिक तेजस्वी एवं कार्यक्षम बनाती हैं। इन साधकों में ई० ई० जी० द्वारा मस्तिष्कीय विद्युत तरंगों के परीक्षण द्वारा भी तत्सम परिवर्तन देखे गये हैं।

विपस्सना पद्धति से ध्यानाभ्यास करने वाले सामान्य स्वस्थ युवकों के एक दल पर किये गये परीक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि लगातार ध्यानाभ्यास करने से रक्त में कई महत्वपूर्ण न्यूरोह्यूमर्स तथा एन्जाइम्स की मात्रा बढ़ जाती है। परिणामत: ध्यानाभ्यासी व्यक्ति अधिक सचेत तथा कार्यक्षम हो जाते हैं।

रक्तचाप, हृदोग, आमाशय व्रण, तमक श्वास, आमवात तथा कई अन्य मनोदैहिक विकारों से पीड़ित रोगियों पर कुछ यौगिक क्रियाओं के चिकित्सीय प्रभाव के अध्ययन से भी आशाजनक परिणाम सामने आये हैं। श्वसन तथा प्राणायाम के अभ्यास से उच्च रक्तचाप के रोगियों में रक्तचाप में कमी आ जाती है तथा कम से कम मात्रा में रक्तचाप विरोधी औषधियों की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त इन रोगियों में महत्वपूर्ण लाक्षणिक सुधार देखा जाता है। इसी प्रकार तमक श्वास एवं आमवात के रोगी भी कुछ आसनों के अभ्यास से काफी लाभान्वित होते हैं। चित्तोद्वेग, मानसिक तनाव तथा तम इत्यादि मानसिक रोगों की चिकित्सा में ध्यानाभ्यास तथा तत्सम प्रक्रियाओं से समुचित लाभ संभावित है।

इस प्रकार योगाभ्यास स्वस्थ व्यक्ति में स्वास्थ्य रक्षण के अतिरिक्त संपूर्ण व्यक्तित्व विकास में तथा विभिन्न प्रकार के मनोदैहिक तथा मानसिक रोगों से पीड़ित व्यक्तियों में रोगों से मुक्ति दिलाने में सहायक हो सकता है। योग की अनेकानेक क्रियाओं की वास्तविक उपयोगिता के ज्ञानार्थ व्यापक अनुसंधान की आवश्यकता है।

●

मध्य गंगा घाटी के पुरातत्व पर नया प्रकाश

डा० पुरुषोत्तम सिंह
इतिहास विभाग

गंगा की उपत्यका अत्यन्त प्राचीन काल से ही मानव की क्रीड़ास्थली रही है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के अनुशीलन से अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि आर्यों ने सबसे पहले प्राचीन ब्रह्मर्षि देश तथा गंगा की उपरली घाटी में अपने आवास बनाये। परन्तु उत्तर वैदिक काल तक पूर्व में आर्यों का प्रसार सदा नीरा नदी तक हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि गंगा का मैदान इस युग में गहन वनों से आच्छादित था। आर्यों को अपने पूर्वाभिमुख निष्क्रमण में इन वनों को जलाकर अपने आवास बनाने पड़े थे। छठी शताब्दी ई० पू० तक आते-आते सम्पूर्ण उत्तर भारत में षोडश महाजनपदों का विकास हो चुका था और कालान्तर में इन्हीं में से कुछ ने अन्य को आत्मसात् करके साम्राज्यवादी शक्तियों को जन्म दिया; जिसकी पूर्णता चौथी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा एक विशाल साम्राज्य की स्थापना से हुई।

गंगा घाटी के आर्यीकरण में तमाम अनार्य जातियों से आर्यों को संघर्ष करना पड़ा था। प्रश्न यह उठता है कि इन आर्य-अनार्य प्रजातियों की भौतिक संस्कृति के उपादान क्या थे और क्या उनके अवशेष पुरातात्विक साक्ष्यों से प्रमाणित होते हैं। इस सदर्भ में यह उल्लेख्य है कि गंगा-घाटी में गत दो दशकों में पुरातात्विक अन्वेषणों से कुछ नये तत्व प्रकाश में आये हैं, जिसके आकलन से गंगा-घाटी में निवास करने वाले प्रारम्भिक लोगों के विषय में आवश्यक जानकारी मिलती है।

विश्व के अन्य भागों से प्राप्त प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदि-मानव का विकास कई चरणों में होता हुआ वर्तमान प्रगति तक पहुँचा है। संस्कृतियों की विभिन्नता के कारण इन चरणों की प्रगितिहास के विद्वानों ने पूर्ण पाषाण काल, उत्तर पाषाण काल तथा नव पाषाण काल आदि नाम दिए हैं। पूर्व पाषाण काल के पत्थर के उपकरण हमें दक्षिण मिर्जापुर क्षेत्र में रिहन्द तथा सिगरौली नदी घाटी में मिलते हैं। इसी प्रकार के उपकरण बाँदा जिले में यमुना का एक सहायक नदी के किनारे भी मिले है। परन्तु हाल के वर्षों की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धि इलाहाबाद जिले में बेलन नदी-घाटी से ऐसे उपकरणों का मिलना है। मिर्जापुर के दक्षिणी अंचल में चोपन के समीपवर्ती क्षेत्रों तथा बाँदा जिले के टोंस नदी-तट से उत्तर पाषाण कालीन उपकरण भी मिले हैं। संस्कृतियों के विकास क्रम के तीसरे चरण में हमें पत्थर के काफी छोटे उपकरण मिलते हैं। इन संस्कृतियों को

सुक्षाणिक युगीन कहते है। इस संस्कृति के उपकरण १८८० से ही कारलाईल, कार्वन तथा रिवेट्टकार्नाक जैसे विद्वानों को मिर्जापुर की सिगरौली घाटी से ही मिलते रहे हैं। परन्तु इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने हाल के वर्षों में इस क्षेत्र में जो कार्य किया है, इससे कुछ नये तथ्य प्रकाश में आये हैं। मिर्जापुर से लगभग ७० कि. मी. पूर्व लेखट्टिया नामक शिलाश्रय के उत्खनन में इस संस्कृति का विकास चार चरणों में दिखाई देता है। इस उत्खनन से पहली वार यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो सका है कि इस क्षेत्र में पाये जाने वाले शिलाश्रयों में जो चित्रकारी अंकित हैं इसके प्रेणता यही Microlithic संस्कृति के लोग थे। यहाँ के उत्खनन में १७ प्रागैतिहासिक नर-कंकाल मिले हैं जिनसे ज्ञात होता हैं कि आदि-मानव का इस जीवन के अन्त के वाद किसी भावी जीवन में विश्वास था।

प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के अवशेष अभी तक बाँदा, इलाहाबाद और मिर्जापुर के पहाड़ी क्षेत्रों में ही मिलते रहे हैं। परन्तु प्रतापगढ़ जिले में सुक्षाणिक युगीन संस्कृति के अवशेषों की उपलब्धि एक अभूतपूर्व घटना थी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० गोवर्द्धनराय शर्मा के निर्देशन में इस क्षेत्र में जो पुरातात्विक शोध हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि गंगा नदो के बायें तट पर गंगा के प्राचीन (Terrace) पर इस संस्कृति के लोग निवास करते थे। प्रतापगढ़ जिले के सरायनहर राय नामक स्थान पर उत्खनन से यह स्पष्ट हो गया है कि आज से लगभग १० हजार वर्ष पूर्व यह क्षेत्र छोटी-छोटी झीलों से भरा हुआ था। आखेट की सुविधा होने के कारण प्रागैतिहासिक मानव दक्षिण के पहाड़ी अंचल से इस क्षेत्र में आकृष्ट होता था और सम्भवत: वर्ष के आठ महीने इधर निवास करता था। सराय नहरराय के उत्खनन में एक दर्जन से अधिक नर-कंकाल मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इस काल में भी मृत्यु के बाद किसी प्रकार के जीवन में इनका विश्वास था। उल्लेख्य है कि यहां से प्राप्त पुरुष तथा स्त्री दोनों के नर-कंकाल ६ फीट या इससे कुछ अधिक ही लम्वे हैं। इससे स्पष्ट है कि आज की तुलना में प्रागैतिहासिक मानव अधिक लम्बा, वलिष्ठ और स्वस्थ था। रेडियो-कार्बन प्रणाली से इस संस्कृति की तिथि ८४०० ई० पू० के आस-पास ठहरती है।

संस्कृतियों के विकास-क्रम में अन्तिम पाषाण-युगीन संस्कृति को नव पाषाण कालीन संस्कृति कहते हैं। इस काल तक आदिम-मानव भोज्य पदार्थों का सग्रंह करने के स्थान पर उसका उत्पादन करने लगा था। स्थायी निवास बन गये थे और धीरे-धीरे गाँवों का विकास हो रहा था। नव पाषाण कालीन संस्कृतियों के अवशेष भारत के विभिन्न भागों—काश्मीर दक्षिण भारत तथा पूर्वी भारत—से मिले थे। परन्तु गंगा घाटी के क्षेत्र में अभी हाल तक इस संस्कृति के अवशेष नहीं मिले थे। छपरा से ८ मी० पूर्व घाघरा के बाँये तट पर स्थित चिरांद नामक स्थान पर एक अवशेष प्रकाश में आये हैं जो रेडियो – कार्बन प्रणाली से ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य से जान पड़ते हैं। प्रो० गोवर्द्धन राय शर्मा एवं उनके दल ने इलाहाबाद से ८० कि० मी० दक्षिण पूर्व में कोल्डिहवाँ नामक प्रागैतिहासिक स्थल का अभी हाल में जो पुरातात्विक उत्खनन किया है उससे पाषाणकालीन संस्कृति पर नया प्रकाश पड़ता है। इस स्थान का उत्खनन १९७१-७२ से १९७३-७४ तक तीन वर्षों तक किया गया। इस उत्खनन में उन्हें नव पाषाण कालीन प्रमुख पत्थर के औजार Celts के साथ-साथ

कई प्रकार के microlithics तथा मिट्टी के वर्तन मिले हैं। यहाँ से प्राप्त अवशेषों से स्पष्ट है कि मनुष्य ने पशुपालन और कृषि में दक्षता प्राप्त कर ली थी और स्थायी निवास बनाकर रहने लगा था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि मध्य गंगा घाटी घने वनों से आच्छादित थी, इनको पत्थर के औजारों से साफ करना प्रागैतिहासिक मानव के लि‍ए सम्भव न था। परन्तु धातुओं के उपकरणों के निर्माण के साथ इन वनों को साफ किया जाने लगा। तांबे के भारी उपकरण तथा इनसे जुड़ी हुई एक प्रकार की मिट्टी के वर्त्तन जो उपरली गंगा घाटी की एक विशेषता है, मध्य गंगा घाटी में नहीं मिलते। ऐसा लगता है इस क्षेत्र में घनी बस्तियों का उदय लौह युग के प्रारम्भ के साथ सम्भव हुआ। लौह काल के उदय की तिथि के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं। परन्तु अब यह स्पष्ट हो चला है कि इस धातु का सीमित मात्रा में प्रयोग उत्तर भारत में १००० ई० पू० के आस-पास प्रारम्भ हो गया था। लौह युग की प्रथम व्यापक संस्कृति चित्रित भूरे मृत्पात्रों की है, जिसके अवशेष पूर्वी पंजाब, हरियाणा, उत्तरी राजस्थान तथा उपरली गंगा-घाटी में सैकड़ों स्थानों से मिले हैं। मध्य गंगा घाटी में यह मृत्पात्र कौशाम्बी तक मिलते हैं। उनके समकालीन मध्य गंगा घाटी में दूसरे किस्म के मिट्टी के वर्तन मिलते हैं, जिन्हें ब्लैक-स्लण्ड-रेड वेयर नाम दिया गया है। इस दिशा में का० हि० वि० वि० वाराणसी ने जो उत्खनन किये हैं उनसे इस क्षेत्र में बसने वाले प्रथम मानव की कुछ संस्कृतियाँ प्रकाश में आई हैं।

राजघाट :

काशी विश्व के प्राचीनतम जीवन्त नगरों में एक है। जहाँ विश्व की अन्य प्राचीन संस्कृतियों के नगर आज केवल मिट्टी के ढूहे मात्र रह गये हैं, काशी नगर आज भी फल-फूल रहा है। इस नगर का प्राचीन इतिहास जानने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से प्रो० अवध किशोर नारायण ने १९५७ ई० में नगर में उत्तर-पूर्व में गंगा के उत्तरी तट पर स्थित राजघाट के प्राचीन टीले का सीमित उत्खनन किया। खुदाई का यह कार्य १९६० से १९६७ तक चलता रहा जिससे तमाम नये प्रमाण प्रकाश में आये। कुछ प्रमुख तथ्य निम्नलिखित हैं—

प्राचीन काशी का प्रारम्भ ई० पू० ७वीं ८वीं शती में प्रारम्भ हो गया था और विकास का यह क्रम आज तक अबाध गति से चलता रहा। प्रत्येक काल की संस्कृतियों की अपनी विशिष्टता के कारण इस कहानी को छः कालों में विभक्त किया गया है। प्राचीन वाराणसी नगर आज के मुख्य नगर से उत्तर पूर्व को ओर गंगा और वरुणा के बीच में बसा हुआ था। प्राचीन नगर के अवशेष आज एक विशाल टीले के रूप में बचे हैं। इस टीले पर काशी रेलवे स्टेशन, सर्वसेवा संघ, बसंत महाविद्यालय आदि संस्थायें बसी हुयी हैं। नगर का कुछ भाग, वरुणा के बायें तट पर सराय मोहाना नामक गांव के आस-पास बसा हुआ था। नगर को गंगा की बाढ़ से बचाने के लिए चौथी-पाँचवीं शती ई० पू० में एक विशाल बाँध बनाकर सुरक्षित किया गया था। इस बाँध की नींव की चौड़ाई ६० फीट से

अधिक थी। खुदाई में बहुत से भवनों के अवशेष, मुहरें, मनके, मृदभाण्ड, मूर्तियाँ तथा कई प्रकार के मिट्टी के बर्तन मिले हैं, जिनसे विभिन्न काल के लोगों के दैनिक जीवन के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। खुदाई में गुप्त राजाओं चन्द्रगुप्त, कुमार गुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त की चार स्वर्ण मुद्रायें भी प्राप्त हुई हैं।

प्रहलादपुर

प्रह्लादपुर का प्राचीन टीला गंगा के दायें तट पर वाराणसी जिले के चन्दौली तहसील के धानापुर पुलिस स्टेशन से १२ कि०मी० दूर दक्षिण-पूर्व में स्थित है। यहाँ पर फरवरी-अप्रैल १९६३ में सीमित खुदाई से ज्ञात हुआ कि संस्कृतियों का विकास क्रम ई० पू० छठीं-सातवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ। जो ईसवी सन् के प्रारम्भ के आस-पास तक चलता रहा।

अयोध्या :

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में रामायण और महाभारत का विशिष्ट स्थान है। वास्तव में ये दोनों महाकाव्य भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड हैं और आज भी करोड़ों भारतीयों के जीवन दर्शन के आधार हैं। अयोध्या भारतीय जन मानस के लोक नायक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की जन्मभूमि के रूप में पुरातत्व के विद्वानों के लिए हमेशा से आकर्षण का केन्द्र रही है। परन्तु आश्चर्य की बात है कि अभी तक यहाँ व्यापक पुरातात्विक उत्खनन नहीं हो सका था। १९७० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से सीमित मात्रा में यहाँ पुरातात्विक शोध हुये। जैन घाट राम जन्म भूमि (लक्ष्मण टेकरी) तथा नल टीला क्षेत्रों में उत्खनन से यह सिद्ध हो चुका हैं कि यह नगर छठी पांचवी शती ई० पू० में जीवन्त था। चित्रित धूसर मृत्पात्र जिसे पुणवेदों ने महाभारत के राजाओं से सम्बधित करने का प्रयास किया है, इस खुदाई में नहीं मिले। कई अप्रत्याशित कारणों से शोध का यह कार्य असमय में रोक देना पड़ा। हर्ष की बात है कि प्रो० व्रजवासी लाल के निर्देशन में १९७४ से यहाँ पुरातात्विक उत्खनन फिर से प्रारम्भ किया गया है जिससे नये तथ्यों के उद्घरित होने की आशा है।

भीतरी :

गाजीपुर जिले में सैदपुर कस्बे से लगभग ५ मील उत्तर पूर्व में स्थित भीतरी नामक टीला पुराविदों को काफी समय से ज्ञात था। यहाँ से प्राप्त एक स्तम्भ पर प्रसिद्ध गुप्त राजा स्कन्दगुप्त का एक लेख मिला है जिससे पुष्यमित्रों के विद्रोह और हूणों के आक्रमण तथा स्कन्दगुप्त द्वारा उनके दमन का हवाला मिलता है। यहाँ के प्राचीन टीले का उत्खनन करने पर तीन मन्दिरों के भग्नावशेष प्रकाश में आये हैं। स्कन्दगुप्त के प्रस्तर स्तम्भ के समीप ही एक विशाल गुप्त कालीन मन्दिर के अवशेष मिले हैं जिससे गुप्त कालीन स्थापत्य एवं मन्दिर निर्माण कला पर नया प्रकाश पड़ता है। इन अन्वेषणों के अतिरिक्त हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग की ओर से काम्पिल्य (जिला फरूखाबाद) में गत वर्ष सीमित समय में उत्खनन हुआ। इस उत्खनन कार्य को आगे चलाने की भी सम्भावना है जिससे उस क्षेत्र के पुरातत्व विषय नये तथ्य प्रकाश में आगेंगे।

●

भारतीय प्रशिक्षित पत्रकार परिषद : संगोष्ठी

नव-निर्माण में पत्रकारों की भूमिका

आयोजक
दयानन्द

प्रेस प्रजातान्त्रिक ढांचे का एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण अंग है तथा पत्रकार इसके जीवन-शैली का निर्माण करते हुए समाज का निर्देशन करता है। जनमत को संचारित करने का कार्य पत्रकार घटनाओं को प्रस्तुत करते हुए जन मानस को दिशा प्रदान करता है। देश-काल के परिवर्तन के साथ प्रेस एवं पत्रकारों की भूमिका में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अब प्रश्न उठता है कि पत्रकार अपने व्यवसाय को किस रूप में ग्रहण करें? पत्रकारों के सामने व्यावसायिक सन्दर्भ में कई विकल्प प्रस्तुत होते हैं। राष्ट्रीय निर्माण, जन-हित, दल एवं वर्गहित, स्वहित एवं विश्व हित इत्यादि कई ऐसे विकल्प हित के सन्दर्भ में सामने आते हैं और पत्रकारों को इन्हीं में से चयन करते हुए अपने व्यवसाय को रूप एवं दिशा देना पड़ता है।

वस्तुतः पत्रकारिता का अस्तित्व एवं महत्व सर्वहित में समाहित है। इस दृष्टि से पत्र-कारों को अपने व्यवसाय को जनहित के रूप में ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु पत्रकारों को घटनाओं का सार्थक, सही, व्यापक और विश्वसनीय विवरण प्रस्तुत करते हुए अपने राष्ट्र, समाज एवं मानवता के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में चित्र प्रस्तुत करना ही अपे-क्षित है। पत्रकार अपने टिप्पणी और आलोचना को ऐसे मंच के रूप में उपयोग करें जो समाज तथा राष्ट्र के मूल्यों एवं लक्ष्यों को प्रस्तुत करता हो। समाचार पत्र एवं पत्रकार स्वतंत्र एवं निर्भीक होकर सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करें, इसकी अपेक्षा समाज का हर वर्ग करता है। पत्रकार से समाज एवं राष्ट्र के एक जागरूक प्रहरी होने के नाते उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि जनहित की रक्षा करते हुए वे ऐसे दृष्टिकोण को विकसित करें जो सामाजिक एवं व्यक्तिगत अधिकारों को दिलाने में सक्षम हो सके।

राष्ट्रीय एवं सामाजिक नव निर्माण में पत्रकारों की कैसी भूमिका हो इस सन्दर्भ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पत्रकारिता विभाग के प्रशिक्षणार्थी पत्रकारों के दृष्टिकोण प्रस्तुत है—

जनता तथा सरकार के बीच सद्भावना उजागर हो

□ रंजीत कुमार

तीसरे या चौथे दशक के भारत तथा आज सातवें दशक के भारत में विशाल अन्तर है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि यह बदली हुई परिस्थिति न होती अगर पत्रकारों ने राष्ट्रीय विकास में सक्रिय योगदान न दिया होता। कहना न होगा कि समाज परिवर्तन में पत्रकारों की बहुत बड़ी भूमिका रही है, सती प्रथा जैसी भीषण सामाजिक बुराइयों का निराकरण राजा राम मोहन राय ने समाचार पत्रों द्वारा ही किया था। सामान्य परिस्थिति में जब कि शासन अपने कार्यक्रम को जनता के लाभ के लिए आगे बढ़ना चाहती है तो ऐसी परिस्थिति में पत्रकार समाचार पत्रों के सशक्त माध्यम से जनता तथा सरकार के बीच एक सदभावना पैदा करता है, एवं राष्ट्रीय नवनिर्माण एवं विकास में सरकार के कार्यक्रमों में सहयोग देने के लिए एक जनमत तैयार करने में सहयोग देता है। पत्रकारों की सबसे महत्व पूर्ण भूमिका प्रजातांत्रिक देश में होती है। जनता को विभिन्न राजनैतिक परिस्थितियों से अवगत कराने तथा उन्हें शिक्षित करने का कार्य पत्रकारों का ही है।

देश-सेवा, लोकतंत्र एवं समाजवाद के हित में सत्य का प्रकाशन हो

□ कु० अरुणा कजारिया

पत्रकारिता के बदलते हुये आयामों ने नई-नई विधाओं को जन्म दिया, शायद तेजी से बदलते जा रहे समय का साथ देने के लिये यह जरूरी भी था। इन्हीं आयामों के परिणाम स्वरूप पत्रकारों के कार्य और विचार की दिशा भी बदलती गयी।

पत्रकारों को राष्ट्रीय एकता के लिये धर्म निरपेक्षता, लोकतंत्र एवं समाजवाद को अपना आदर्श स्वीकार करना चाहिए। उन्हें समाजहित में जो सत्य हो उसका प्रकाशन करना चाहिए। पत्रकारों को देश के नव निर्माण में पत्रकारिता के उन अग्रदूतों का अनुसरण करना चाहिए जो त्याग की मूर्ति, निर्भयता, निडरता के प्रतीक, देश सेवा की भावना से ओत-प्रोत, राष्ट्र के लिये सब कुछ अर्पित कर गरीबी में रहने वाले देव-स्वरूप थे।

पत्रकारिता पेशा नहीं देश सेवा का माध्यम होना चाहिये। सामाजिक दुर्बलताओं तथा सामाजिक चेतना को समय की कसौटी पर देखते रहना ही पत्रकारों की भावना होनी चाहिए। पत्रकारिता ने राष्ट्रीय एकता का सूत्र पात किया है।

हमारी प्रगतिशील तथा रचनात्मक कार्यों में पत्रकारों का समर्थन नितान्त अपेक्षित है। प्रदेश तथा देश की नवीन रचना के लिये पत्रकारों को एक नवीन रचनात्मक भूमिका में प्रवेश करने का सुअवसर मिल रहा है। इन सबके लिये जरूरी है कि पत्रकारों को आवश्यक सुविधा प्रदान की जाय तथा पत्रकार स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना तथा विकास के कार्य में सहयोग दे सकें।

पत्रकार कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहयोग करें

□ हरिवंश नारायण सिंह

भारतीय सन्दर्भ में स्वतन्त्रता-पूर्व पत्रकारों की भूमिका राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक था। कुछ लोगों का विचार है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त पत्रकारिता के क्षेत्र में एक गतिरोध, जड़ता एवं दिशाहीनता आ गयी थी; लेकिन यह सर्वथा भ्रामक एवं मिथ्या विचार है। राष्ट्रीय विकास के जब-जब नये-नये आयाम अपनाये गये; चाहे योजना का आरम्भ हो या और किसी नयी पद्धति का प्रयोग पत्रकारों ने सराहनीय भूमिका निभायी है। कहा जाता है कि जिस तरह राजाराम मोहन राय के युग में पत्रकारिता पुनर्जागरण का प्रतीक एवं गाँधी के जमाने में स्वतन्त्रता की वाहक थी; उस तरह आज इसके समक्ष लक्ष्य या उद्देश्य नहीं है। यह विचार मिथ्या, भ्रामक एवं असंगत है। लोकतन्त्र में पत्रकारिता का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहयोग देना है, जिसकी ओर स्वतंत्रता के उपरान्त हम अग्रसर हैं।

'आर्थिक विकास' में पत्रकारों की भूमिका विशेषकर विकासशील देशों में और भी महत्वपूर्ण हैं। जब कभी भी जन-कल्याणकारी भावना से प्रेरित होकर सरकार ने विकास के लिये पंचवर्षीय योजनायें, राष्ट्रीयकरण या अन्य विकास के उपक्रम या उपादान अपनायी है; तो इन योजनाओं के क्रियान्वयन के पूर्व जनता में इन कार्यों के प्रति साख, सहयोग उत्पन्न करने का सराहनीय कार्य पत्रकारों द्वारा हुआ है। भारतीय-संदर्भ में बहुत सी नयी आर्थिक नीतियों का लक्ष्य तक न पहुँचने का महत्वपूर्ण कारण यह रहा है कि लोगों की पुरानी मनोवृत्ति, रूढ़िवादिता एवं मानसिकता में आशातीत परिवर्तन नहीं हो सका है। अभी इस क्षेत्र में पत्रकारों की भूमिका एवं पहल विकास के लिए आवश्यक है। 'परिवर्तन' की आधार-शिला एवं 'विकास की नींव' में पत्रकारिता की भूमिका अत्यावश्यक है। पत्रकारिता के इसी महत्व के कारण भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति जैफरसन ने सरकार विहीन समाचार पत्रों के प्रति आस्था व्यक्त की थी। बर्क ने इसे 'चतुर्थ राज्य' की संज्ञा दी तो नेपोलियन को बैनट के मुकाबले अखबारों से भय ज्यादा प्रतीत होता था। इन सब कथनों के मूल में यह निर्विवाद सत्य निहित है कि सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक परिवर्तन की पहल या आधार पत्रकारों द्वारा रखी जाती है।

समाज सुधार में पत्रकारिता की पुरानी शैली अपेक्षित

□ अमर सिंह

आज भारत की ८० प्रतिशत से भी अधिक जनता अज्ञान के अन्धकार में भटक रही है। धार्मिक अन्धविश्वास, सड़ी-गली परम्पराओं की जंजीर उन्हें जकड़े हुये है। ऊपर से धर्म के ठेकेदार एवं धनी वर्ग उसे आगे बढ़ने नहीं देता। परन्तु सच यह है कि कोई भी राष्ट्र इतने बड़े जनसमूह को साथ लिये बगैर आगे नहीं बढ़ सकता। उनके लिए, देश के लिए समाज और राष्ट्र के लिये उन्हे अच्छा बुरा देखने के लिए आँख देनी होगी, सोचने-समझने के लिये मस्तिष्क एवं दुख दर्द कहने के लिए जुबान और उस पत्रिकारिता को जीवित रखना होगा जिसकी नींव राजाराम मोहन राय ने डाली और जिसे गाँधी जी ने पल्लवित किया।

सुविधा की संस्कृति से हटकर पत्रकार निर्धनों का नेतृत्व करें

□ रामकृपाल सिंह

'आहार न अन्न है न फल, आहार मूर्ख है वह है बुद्धियान का' इस कहावत को हमारे यहाँ के बुद्धिजीवियों ने, जिसमें प्रमुखता पत्रकारों, लेखकों और कवियों की रही, भरपूर चरितार्थ किया है। समृद्धि को शोषण का परिणाम बनाने के अथक प्रयास में राजनैतिक, औद्योगिक और व्यापारिक पूँजीपतियों के पीछे अपने ज्ञान को क्रय करते हुए आज यह वर्ग उस हालत में पहुँच गया हैं जहाँ इसकी दशा बड़ी दयनीय हो गयी है। सुविधा और संघर्ष के चुनाव में सुविधा का चुनाव करना तो पत्रकारों का विशेष गुण रहा है कम से कम स्वतन्त्र भारत में। आज जब करोड़ों सदियों के तिरस्कृत भूखे नंगे अपनी मंजिल अपने आप प्रशान्त करने का प्रयास कर रहे हैं तो भी यह वर्ग राजनीतिक कर्म को दुष्कृति का पर्याय करने में लगा हुआ है। मुझे आशा है कि भविष्य में पत्रकार सुविधा-संस्कृति की लालच में पड़कर अल्पसंख्यकों की वकालत करने के बजाय उन तमाम करोड़ों भूखे नंगों की रहनुमाई करेंगे जो आशा से आज भी इनकी तरफ नजर उठाये देख रहे है।

युगानुकूल सर्वोत्थान में पत्रकार द्विपक्षीय आन्दोलन करें

□ राजीव शुक्ल

राष्ट्रीय नवनिर्माण द्विपक्षीय परिवर्तन पर आधारित होती है। शासन या सरकारी स्तर एवं जन स्तर पर ही नवनिर्माण की भूमिका प्रस्तुत की जाती है। इनमें से किसी भी एक पक्ष की तटस्थता एवं असहयोग कभी भी राष्ट्रीय स्तर पर नवनिर्माण कार्य को पूरा नहीं कर सकती है। सरकारी नीतियाँ जन आकांक्षाओं के अनुरूप हो एवं जन आकांक्षायें समकालीन आवश्यकताओं पर आधारित हो, इसकी सदैव अपेक्षा की जाती है। वस्तुतः नवनिर्माण सामाजिक परिवर्तन का एक आयाम है और यह आयाम युग की बुनियादी माँगों एवं अपेक्षाओं पर आधारित होती है। लोकतन्त्र में पत्रकारिता वृहद स्तर पर एक द्विपक्षीय जन-सम्प्रेषण व्यवस्था है। एक ओर यह जहाँ सरकार की नीतियों का प्रकाशन करती है वहीं दूसरी ओर जनता को प्रतिक्रियाओं को सरकार तक पहुँचाने का भी कार्य करती है। प्रजातान्त्रिक सरकार अपनी नीतियों को जन प्रतिक्रियाओं के आधार पर पुनरावलोकन करते हुए संशोधन एवं परिवर्द्धन करती है। इस प्रक्रिया के मूल में पत्रकार की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। इसकी अपेक्षा पत्रकारों से की जाती है कि युग के बदलते मानदण्ड के आधार पर वे राष्ट्रीय नवनिर्माण में द्विपक्षीय आन्दोलन को सम्पादित करें। मूलतः भारतीय पत्रकारिता का इतिहास इस तथ्य की ओर संकेत भी करता है। परतन्त्र भारत में भारतीय पत्रकारों ने स्वाधीनता के सन्दर्भ में जन आन्दोलन को दिशा प्रदान किया था। आज इस बात की आवश्यकता है कि सर्वोत्थान के सन्दर्भ में पत्रकार सरकारी स्तर एवं जन स्तर पर आन्दोलन को सशक्त दिशा प्रदान कर नवनिर्माण कार्य सम्पादित करें।

●

परिचर्चा

दहेज

अत्रि भारद्वाज

व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक पैसे तथा मानव शक्ति की भयानक बर्बादी होती है। बावजूद इसके समाज में इसके अतिरिक्त एक और रिवाज का प्रचलन है—दहेज। इस प्रथा के विषय में बतौर सर्वेक्षण मैंने समाज की विभिन्न इकाईयों से मिलकर उसकी विचार-धारा से पाठकों को परिचित करना चाहा है।

सबसे पहले मैं विश्वविद्यालय राष्ट्रीय छात्र संगठन के वरिष्ठ नेता तथा एम०ए० अन्तिम वर्ष के छात्र श्री राजेन्द्र सिंह से इस सन्दर्भ में मिला। श्री सिंह इस प्रथा के समर्थक नहीं हैं। इनके विचार से एक तरफ तो हजारों लोग चौराहे पर लगे नगर महापालिका के नल का पानी पी कर सो जाने का प्रयास करते हैं और दूसरी तरफ धर्म, रीति और समारोह के नाम पर मेहमान तो दूर जानवर को भी खिलाने के बाद बचा भोजन सड़ने के लिए फेंक दिया जाता है। दहेज की दुष्ट परम्परा के कारण अनेकों युवतियों का जीवन परिवार पर बोझ बन जाता है। सामाजिक जीवन का अंग बनी इस कुप्रथा के संदर्भ में स्वयं युवकों को आगे आना चाहिए।

एम० ए० की छात्रा और कुशल आदर्श पत्नी श्रीमती मीरा शर्मा ने दहेज प्रथा के सम्बन्ध में मुझे बताया कि इससे आदमी को स्वावलंबी बनने में कठिनाई आती है और दहेज के कारण आदमी अपनी तथा अपनी पत्नी तक की नजरों में गिर सा जाता है। कभी-कभी तो इस कुप्रथा के प्रभाव से सुयोग्य वर अथवा वधू मिलना कठिन हो जाता है। यह प्रथा पशुवृत्ति का अंकुर है जो बाद में पारिवारिक कलह का कारण बनती देखी गयी है।

श्रीमती शशि शरद कहती हैं कि मेरे विचार से दहेज लेना और देना दोनों ही पाप है। इसी प्रथा की देन का यह परिणाम है कि बहुत सी लड़कियाँ अनब्याही रह जाती हैं और फिर माता-पिता उन्हें बोझ समझने लगते हैं। दहेज लेना ठीक उसी प्रकार है जैसे हम प्रतिदिन बजार में जाकर दैनिक उपयाग की वस्तुओं का मोल भाव करते हैं। विवाहोपरान्त लड़कियों का जीवन अत्यन्त जटिल हो जाता है। वह अपने साथ चहेता दहेज न लाने के कारण ससुराल वालों के तानों और उलाहनों से त्रस्त रहती है, जिसका परिणाम आत्महत्या तक भी होता देखा गया है।

इलाहाबाद बैंक की सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के श्री दीपनारायण सिंह के अनुसार दहेज प्रथा हमारे देश में बहुत पुराने समय से चली आ रही है परन्तु पहले इस

प्रथा का अर्थ वर्तमान अर्थ से भिन्न था। उस समय कन्या के माता पिता वर-वधू को नया जीवन आरम्भ करने के लिए उपहार स्वरूप जीवनोपयोगी वस्तुएँ दे दिया करते थे परन्तु समय के साथ-साथ दहेज का अर्थ भी बदलता गया और आज भयंकर रोग के रूप में हमारे समाज में घर कर गया है।

आज लड़कों के लिए सौदेबाजी होती है और उनका भाव उनके पद के अनुसार कम अधिक होता है। आज वधू पक्ष को मनमाना दहेज देने को बाध्य किया जाता है। परिणाम-स्वरूप माता-पिता पर लड़कियां स्वयं को बोझ महसूस करने लगती है।

ऐसा देखा गया है कि परिवार के लोग उतने प्रसन्न नहीं होते जितना लड़के के पैदा होने पर, कारण स्पष्ट है—दहेज।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के शोध छात्र **श्री दीपक खत्री** दाम्पत्य जीवन को दो प्राणियों के मिल-जुलकर अपने सुख-दुःख बाँटने और खुशमय जीवन व्यतीत करने की संज्ञा देते हैं और दहेज को इस खुशमय जीवन के बीच बनकर खड़ी दीवार स्वीकार करते हैं और इस प्रथा के उन्मूलन हेतु ये दहेज प्रथा के सामाजिक विरोध के हिमायती हैं।

विधि संकाय की छात्रा **कुमारी हेमलता शर्मा** कहती है कि दहेज की मौलिकता खत्म हो गयी है और वर्तमान में इसका मात्र घिनौना तथा विकृत रूप शेष है जिस पर लालच का मुलम्मा चढ़ा हुआ है या यूँ कह लीजिये कि नीलामी लगी हुयी है। जो ज्यादा बोली बोल दे, लड़का उसका। इस प्रथा के उन्मूलन हेतु युवा वर्ग ने जो साहसपूर्ण कदम उठाया है, प्रशंसनीय होने के साथ-साथ यह आशा भी जगाता है कि दहेज भारतीय सभ्यता का अनन्य अंग होने की वजह से यदि जड़-मूल सहित न उखड़ सके तो शायद उसे मौलिकता प्राप्त हो जाय जो अभिशाप नहीं है।

दैनिक 'आज' के युवा पत्रकार **श्री शिशिर कुमार गुप्त** दहेज के आदान-प्रदान के सख्त विरोधी हैं। इसे ये खुले रूप में होने वाली तस्करी की संज्ञा देते है। स्वेच्छया दिया गया दहेज उपहार स्वरूप हैं, परन्तु जबरदस्ती लिया गया दहेज मानवता को खुली चुनौती है जिस पर अंकुश लगना चाहिए। 'जनवार्ता' दैनिक के युवा पत्रकार **श्री आशीश कुमार बागची** के अनुसार यह अप्राकृतिक क्रिया है। इसकी उत्पत्ति सामाजिक असन्तुलन पर निर्भर है और जीवन को पतित बनाती है।

काशी विद्यापीठ में अर्थशास्त्र विभाग के प्राध्यापक और समाजसेवी **डाक्टर रामचन्द्र सिंह** कहते हैं कि हमारे देश में जितनी सामाजिक समस्यायें है, उनमें यह समस्या एक कटु एवं जटिल समस्या है। प्राचीन समय में विवाह के समय से प्रीति से दान दिया जाता था जो आजकल सौदेबाजी की आड़ में दहेज के रूप में जाना जाता है।

महिला महाविद्यालय में अध्ययनरत बी० एस-सी० की छात्रा **कुमारी पूनम भारद्वाज** और आकाशवाणी की गायिका **कुमारी पुष्पा बनर्जी** के अनुसार दहेज प्रथा अन्दर ही अन्दर समाज को खोखला कर रही है।

छात्र-अध्यापकों की चिन्तायें : एक अध्ययन❀

श्रीमती मीरा वर्मा
शोध छात्रा, शिक्षा संकाय

पिछले सैकड़ों वर्षों से मनोवैज्ञानिकों, दार्शनिकों, समाज वैज्ञानिकों एवं साहित्य के अन्य व्यक्तियों ने एक नामहीन और आकारहीन जटिल चिन्ता को पूर्व आरक्षित कर रखा है। यह आधुनिक व्यक्ति को जड़ से रूक्ष कर चुका है। वर्तमान युग चिन्ता का युग है। एक सचेत व्यक्ति युद्ध, खाद्य सामग्री के अभाव, मूल्य सूच्यांक के सतत् वृद्धि, गिरे स्वास्थ्य, शिक्षण एवं प्रशिक्षण आदि जैसे उत्पन्न परिस्थितियों से ही केवल चिन्तित नहीं है अपितु आधुनिक विज्ञान और तकनीकी के युग में यह चिन्ता सर्वत्र किसी न किसी रूप में व्याप्त है।

लगभग चार दशक पूर्व, फ्रायड ने चिन्ता को अभिप्रेरणात्मक एवं व्यावहारिक अवस्थाओं के एक प्रामाणिक समस्या के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया था। भय एवं चिन्ता को बुनियादी मानवीय मूल प्रवृत्तियों के रूप में काफी लम्बे अवधि से स्वीकार किया गया है। जब कोई एक व्यक्ति सामान्यतया या रोग नैदानिक व्यवहार से चिन्तित है तो यहाँ फ्रायड अपने इस कथन में सही है कि चिन्ता के समाधान में उस व्यक्ति विशेष के सम्पूर्ण मानसिक जीवन पर प्रकाश डालना चाहिए।

सामान्य चेतना इस तथ्य को प्रकट करती है कि चिन्ता एक व्यक्ति के कार्य स्तर पर पूर्ण रूप से तो नहीं अपितु आंशिक रूप से एक हानिकारक प्रभाव डालती है। वस्तुतः एक सीमा के बाद यह व्यक्ति के क्षमता को निश्चित ही ह्रास की ओर अग्रसर करती है। इसी प्रकार की दशायें शैक्षिक वातावरण में छात्र-अध्यापकों को उनमें व्याप्त अल्प चिन्तायें उन्हें नियंत्रित कर सकती हैं।

'कन्सर्न्स' (Concerns) अवधारण एक विस्तृत क्षेत्र से युक्त है, जिसमें चिन्तायें, भय, कठिनाइयाँ और छात्र-अध्यापकों की समस्यायें आती हैं। छात्र-अध्यापकों की चिन्तायें शिक्षकों के तैयारी के पूर्व और मध्य में प्रस्तुत होती हैं।

चिन्ता-अनुभूत भय का एक विशिष्ट प्रकार है, जो प्रत्याशित स्व-आदर की भर्त्सना

❀ लेखिका की 'A study of concerns of student-teacher's के आधार पर हिन्दी अंश।

के प्रत्युत्तर में उत्पन्न होती है। यह सदैव संवेगात्मक अनुभवों के प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति के पहलू से जुड़ी होती है। चिन्ताओं के वर्गीकरण के मूल में मुख्यत: समस्या मनोविकारिक चिन्ता एवं सामान्य परिस्थितीय या भय-व्यवहार के निश्चित दशाओं के विकासात्मक चिन्ताओं के मध्य अन्तर स्थापित करता है।

संवेगात्मक सन्दर्भ में चिन्तायें अपेक्षाकृत विलम्ब से प्रस्तुत होती है। बच्चे एवं अभिभावक के सम्बन्ध में चिन्तायें प्राय: प्राथमिक विद्यालय के पूर्व शिक्षण के वर्षों में उत्पन्न होती है। इसके साथ भय-द्वन्द्व बच्चे के उद्भूत प्रस्थिति को प्रभावित करती है।

इस मत से काफी शिक्षाविद् सहमत हैं कि अध्यापक का व्यक्तित्व या मानसिक स्वास्थ्य एवं व्यवहार कक्षा के साथ ही बाहर भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। छात्र-अध्यापकों का मानसिक दबाव, तनाव या चिन्तायें भावी शिक्षकों के व्यक्तित्व एवं मानसिक स्वास्थ्य संगठन को एक महत्वपूर्ण दिशा प्रदान करती है।

भय तथा चिन्ता की मात्रा एवं विस्तार शिक्षा में सामान्यतया विशिष्ट परिस्थितियों में संवेगात्मक कारकों की पृष्ठभूमि में पूर्णतया सम्भावित होते हैं। भय एवं चिन्ता के अभिव्यक्ति के प्रकार प्राय: इतने सूक्ष्म होते हैं कि जिसका खोज करना एक जटिल कार्य है। अभिभावकों एवं शिक्षकों से इसको पहचानने में उनसे विशेषज्ञता होने की अपेक्षा की जा सकती है। यद्यपि निश्चित रूप से उनके ज्ञान विषयक स्तर और उनके सूक्ष्म अभिव्यक्ति से इसे पहचाना जा सकता है।

शिक्षक-प्राध्यापक 'कर्सन्स' का प्रयोग छात्र-अध्यापकों के लिए ज्ञानात्मक अनुभव एवं उत्तेजना निर्माण के आधार के रूप में करते हैं।

अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व :

वैरिंगटन (१९५३) के अनुसार किसी देश का गुण, वहाँ के नागरिकों के गुण पर निर्भर करता है तथा नागरिकों का गुण काफी हद तक वहाँ के शिक्षा पर निर्भर करता है। शिक्षा का स्तर एवं गुण अन्य कारकों की अपेक्षा उनके शिक्षकों के गुण पर निर्भर करता है।

इसलिए छात्र-अध्यापकों के चिन्ताओं का अध्ययन प्रासंगिक मालूम पड़ता है, जिसकी सम्भाव्यता निकट भविष्य में एक अध्यापक के रूप में पद ग्रहण करने की होती है। कहाँ तक चिन्तायें यौन, आयु, योग्यता तथा संस्थाओं के सन्दर्भ में छात्र-अध्यापकों में भिन्नतायें प्रस्तुत करती है, इसका तुलनात्मक अध्ययन लाभदायक प्रतीत होता है। यदि किसी शिक्षक में स्नायु विकृति है तो वह अपने विद्यार्थियों को न तो समझ सकता है और न ही उनके समस्याओं का समाधान ही कर सकता है। इसके साथ ही वह शिक्षण के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के समझने में सफलता भी नहीं प्राप्त कर सकता है।

शिक्षकों के पूर्व-यौन-दोष की चिन्ताओं के अध्ययन के द्वारा उनके स्व-चिन्ताओं से उनको अवगत कराने में सहायता पहुँचाना सम्भव है और इस प्रकार उनके द्वन्द्वात्मक संवेदनाओं को ध्यान में रखते हुए उनके वैयक्तिक लक्ष्यों को समझने का एक प्रयास भी सम्भव है। चिन्ताओं के विश्लेपण और उनके रक्षात्मक ह्रास, विशेषकर जब कोई शिक्षण के लक्ष्यों

एवं उद्देश्यों को प्रस्तुत कर रहा हो जो कि भावी शिक्षक के मूल्य व्यवस्था के अनुरूप न हो, साथ ही इच्छित लक्ष्य विदित की तरह न हो। ऐसी स्थिति में यह प्रक्रिया भावी शिक्षकों को उनके लक्ष्यों की उपलब्धि में समर्थशाली बनाने में सहायक एवं महत्वपूर्ण हैं जिसकी संभाव्यतायें विचाराधीन हैं या उनके ऐसे ज्ञान या अज्ञानताओं का अस्तित्व जिसे वे अपने मूल्य व्यवस्था के सन्दर्भ में प्रतिकूल समझते हो।

अध्ययन का उद्देश्य :

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत सर्वेक्षण का मुख्य उद्देश्य छात्र-अध्यापकों की विविध चिन्ताओं का अध्ययन करना है। ये चिन्तायें उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित भी होती हैं; विशेषकर उनके प्रशिक्षण की अवधि में। प्रस्तुत अध्ययन वाराणसी नगर के २०० पुरुष एवं महिला छात्र-अध्यापकों के सन्दर्भ में किया गया है। अध्ययन के कुछ प्रमुख उद्देश्यों में छात्र-अध्यापकों के चिन्ताओं को स्वास्थ्य, परिवार, शिक्षण-अभ्यास, आर्थिक तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों से इनका पता लगाना है। साथ ही ऐसे कारकों की खोज करना जो छात्र-अध्यापकों के चिन्ताओं में आयु-भेद, यौन-भेद तथा शैक्षिक योग्यताओं के भेद को प्रस्तुत करता हो।

अध्ययन के उद्देश्य की पूर्ति हेतु वाराणसी के चार प्रशिक्षण संस्थाओं के २०० छात्र-अध्यापकों को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय, राजकीय बेसिक प्रशिक्षण महाविद्यालय, आर्य महिला प्रशिक्षण महाविद्यालय एवं बसन्त कालेज राजघाट से चुना गया। छात्र-अध्यापकों के चिन्ताओं के अध्ययनार्थ स्व-निर्मित एक प्रश्नावली तैयार किया गया, जिसमें पाँच उप क्षेत्रों स्वास्थ्य, परिवार, आर्थिक, शिक्षण-अभ्यास एवं विविध चिन्ताओं से सम्बन्धित प्रश्नों को प्रतिष्ठित किया गया।

छात्र-अध्यापकों के चिन्ताओं, कठिनाइयों एवं उनकी समस्याओं पर शोध केवल कुछ प्रतिष्ठित अन्वेषकों द्वारा किया गया है। १९५० के पूर्व मानवीय जीवन के सन्दर्भ में कुछ प्रायोगिक अन्वेषण किये गए थे। १९५० में सर्वश्री मे, मोवर एवं डोलार्ड तथा मिलर द्वारा चिंताओं पर विशद रूप से सिद्धांतों एवं शोध कार्यों को प्रतिपादित किया गया। टेलर (१९५१-५३) द्वारा इस क्षेत्र में पुनः शोध किया गया, इस अवधि में 'टेलर मेनिफेस्ट एन्क्जाइटी स्केल' तथा मन्डलर एवं सारकन्स के चिन्ता प्रश्नावली परीक्षण सामने आये। केटल उनके सहयोगियों (१९५७) ने प्रथमतः वयस्कों के चिन्ताओं के मापन हेतु मनोमिति उपकरण का निर्माण किया।

ट्रावर्स (१९५२) ने महिला छात्राध्यापकों के समूह के बीच उनके प्रशिक्षण अभ्यास अवधि के पूर्व एवं पश्चात् एक वाक्य पूर्ति परीक्षण सम्पादित किया। परीक्षण के परिणाम स्वरूप यह ज्ञात हुआ कि छात्राध्यापकों में उनके विद्यार्थियों के प्रति अनुशासन सम्बन्धी पर्याप्त चिन्तायें ग्रसित थीं। इन चिन्ताओं में परिवर्तन के पूर्व एवं पश्चात् परीक्षण प्रामाणिक नहीं थे। मिलर एवं मोवर (१९५०) ने चिन्ताओं को मानवीय व्यवहार के एक निर्धारक के रूप में स्वीकार किया। थाम्पसन (१९६३) ने छात्र-अध्यापकों के चिन्ताओं के मापन हेतु ३५ विषयों

से युक्त एक 'चेक लिस्ट' का निर्माण किया। यह शिक्षण अभ्यास अवधि के पूर्व एवं पश्चात् के सांकेतिक कारणों पर मुख्यतया आधारित है। इसी सन्दर्भ में जेरसील्ड (१९५५), लाजार एवं ब्रोडकिन (१९६२) ने छात्र-अध्यापकों से व्यक्तिगत चिन्ताओं के विषय पर विचार विमर्श करके उनके मूल कारणों का पता लगाया।

बोवेल एवं फेरारो (१९६०) ने अपने अध्ययन में यह पता लगाया कि विवाहित महिला अध्यापिकायें अविवाहित की अपेक्षा अधिक चिन्ता ग्रस्त हैं। कार्टर (१९७०) ने रंग-भेद के अपने अध्ययन में यह देखा कि श्वेत छात्राध्यापक की अपेक्षा काले छात्राध्यापक मूलरूप से अधिक चिन्तित हैं।

फूलर (१९६९), कून (१९७१), रॉलो, मे, मिलर एवं मोवर, लॉट सॉफ सेन्टर्स (१९५९), वेन्डिग (१९६०), हाकन्सन (१९६२) आदि अन्वेषकों ने चिन्ता के क्षेत्र में उल्लेखनीय अध्ययन प्रस्तुत किया है।

भारतीय अध्ययन में मिश्रा (१९६२) ने इंजिनियरिंग के छात्रों के शैक्षिक उपलब्धि के अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि उच्च उपलब्धिकर्त्ता एवं निम्न उपलब्धिकर्त्ताओं में बुद्धि की अपेक्षा मनोविकारी चिन्ताओं में भिन्नता व्याप्त है। सिनहा (१९६६) के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उच्च उपलब्धिकर्त्ताओं में निम्न उपलब्धिकर्त्ताओं की अपेक्षा उत्तम स्वास्थ्य एवं संवेगात्मक समायोजन की क्षमता है।

दत्ता (१९६१) के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षण सफलता में स्नायु विकार एक प्रभावशाली कारक है। इस सन्दर्भ में चिन्ता एवं स्नायुविकार एक दूसरे से अपना उच्च सह सम्बन्ध रखते हैं। स्कूल स्तर के विद्यार्थियों के चिन्ताओं को निर्धारकों का अध्ययन निभावन, वर्मा एवं कालरा ने १९६२ में किया था। पारिख एवं राव (१९७०) ने दिल्ली के विद्यालयों के शिक्षकों के कक्षा व्यवहार का अध्ययन किया। शिवरूद्रप्पा (१९६८), माहेश्वरी (१९६७), दयाल एवं चटर्जी (१९५५) तथा अहलुवालिया (१९७०) ने शिक्षकों के शैक्षिक एवं व्यावसायिक समस्याओं, अवकाश की गतिविधियों, वैयक्तिक पृष्ठभूमि तथा अभिरूचि का उल्लेखनीय अध्ययन किया है।

कान्ता दोशभ (१९६९)ने जे० बी० टी० के महिला अध्यापिका-प्रशिक्षणार्थियों की समस्याओं का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया उनकी अधिकांश समस्यायें संवेगात्मक क्षेत्र की हैं।

अध्ययन के परिणाम :

प्रस्तुत अध्ययन में प्राप्त आँकड़ों के विश्लेषण से काफी संख्या में उल्लेखनीय निष्कर्ष छात्राध्यापकों के चिन्ताओं के सन्दर्भ में प्राप्त हुए हैं। इनमें से मुख्य तथ्य एवं परिणाम निम्नलिखित हैं—

(१) छात्राध्यापकों की चिन्तायें वैयक्तिक विभेदों को प्रस्तुत करती हैं। एक व्यक्ति की चिन्ताओं की संख्या दूसरे से भिन्न हैं।

(२) छात्राध्यापकों की चिन्ताओं में कुछ आयु-विभेद प्रामाणिक हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश सांख्यिकी दृष्टिकोण से अप्रमाणिक हैं।

(३) शैक्षिक योग्यता के अनुसार छात्राध्यापकों की चिन्तायें प्रामाणिक विभेद नहीं रखती।

(४) छात्राध्यापकों के प्रत्युत्तर पर एक विहंगम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न क्षेत्रों की चिन्तायें यौन पर आधारित हैं जो यह स्पष्ट करती है कि महिला एवं पुरुष छात्राध्यापकों के बीच स्वास्थ्य सम्बन्धी चिन्तायें प्रामाणिक नहीं हैं।

(५) यौन भेद के अनुसार पुरुष, महिलाओं की अपेक्षा पारिवारिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में अधिक सचेत हैं।

(६) आर्थिक क्षेत्र में यौन भेद परीक्षण यह स्पष्ट करता है कि महिलाओं की अपेक्षा पुरुष छात्राध्यापक अधिक संख्या में चिन्तित हैं, क्योंकि सामान्यतया अपने परिवार में पुरुष अकेले अर्थोपार्जन करने वाला प्राणी होता है। इस प्रकार आर्थिक चिन्तायें यौन भेद से प्रभावित हैं।

(७) शिक्षण-अभ्यास क्षेत्र में महिलायें पुरुषों की अपेक्षा अधिक चिन्ताग्रस्त हैं। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि महिलायें अपने प्रगति को जानने के बारे में अधिक चिन्तित होती हैं।

(८) अन्य सामान्य चिन्ताओं के क्षेत्र में सभी विषय यौन भेद के आधार पर अप्रमाणिक उपलब्ध हुए, किन्तु उनमें कुछ संयोगवश प्रमाणिक भी हैं। सामान्य चिन्ताओं के क्षेत्र में पुरुषों की चिन्ता—प्रत्युत्तर महिलाओं की अपेक्षा अधिक हैं। जिससे यह स्पष्ट होता है कि पुरुष अधिक चिन्ताओं से ग्रस्त हैं।

(९) आर्थिक एवं पारिवारिक क्षेत्रों में आयु भेद सांख्यिकी दृष्टि से प्रामाणिक नहीं हैं। यह आलोकन केवल संयोगवश हो सकता है।

(१०) आयु भेद के आधार पर शिक्षण-अभ्यास क्षेत्र में चिन्तायें प्रामाणिक हैं। कम आयु के समूह के छात्राध्यापक शिक्षण अभ्यास के बारे में अधिक चिन्तित है जो कि स्वाभाविक है। यह समूह कार्य के प्रति अधिक चिन्तित है। विद्यार्थियों के प्रति त्रुटि पूर्ण अनौपचारिक व्यवहार के प्रति भी अवसर देखे गए।

(११) योग्यता भेद स्वास्थ्य, पारिवारिक, आर्थिक एवं सामान्य क्षेत्रों में सांख्यिकी दृष्टि से अप्रमाणिक हैं।

थाम्पसन (१९६३) ने अपने अध्ययन से यह देखा कि महिला समूह अधिक चिन्ताग्रस्त है परन्तु मेरे अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुरुष स्वास्थ्य और आर्थिक क्षेत्र में अधिक चिन्तित है। दूसरी ओर ट्रावर्स (१९६५) के अध्ययन के परिणाम शिक्षण-अभ्यास के क्षेत्र में और मेरे अध्ययन के परिणाम एक जैसे हैं।

शारीरिक शिक्षा एवं खेल-कूद : समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० आर० बी० सिंह
प्राध्यापक, शारीरिक शिक्षा
विज्ञान संकाय

क्रीड़ा-जगत के बेताज बादशाह एवरीब्रुन्डेज के अनुसार "खेलकूद राष्ट्र का दर्पण है।" अगर किसी देश के बारे में किसी को जानकारी हासिल करनी है, तो उसके खेल और खिलाड़ियों की हालत से उसका अन्दाजा लगाया जा सकता है। खेलकूद के क्षेत्र में भ्रष्टाचार उस देश के बुरे भविष्य का द्योतक है। इतिहास साक्षी है कि खेलों में खेल भावना (स्पोर्ट्स मैनशिप) के ह्रास के साथ राष्ट्र का ह्रास भी अवश्यम्भावी है।

इसलिये यह आवश्यक है कि इस विषय की पूरी जानकारी पढ़े लिखे लोगों एवं साधारण जनता को करा देनी चाहिए जिससे शारीरिक शिक्षा एवं उसके कार्यक्रमों के विषय में जो भ्रम एवं अज्ञानता है वह दूर हो जाय और इस विषय को भी लोग सम्मान की दृष्टि से देखें और उसके कार्यक्रमों से लाभान्वित हो। साधारणतः लोग शारीरिक शिक्षा से शरीर को केवल हृष्ट पुष्ट बनाये रखना ही समझने है। इसके अतिरिक्त अगर ऐसे लोग युवावस्था में कोई भी खेल खेला हो तो वे अपने आप को शारीरिक शिक्षा विशेषज्ञ मान लेते है। अपने आपको शारीरिक शिक्षा विशेषज्ञ समझना कोई गलत बात नहीं लेकिन जब ऐसे लोग शारीरिक शिक्षा विशेषज्ञ बनकर शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं तो कुछ हानि होना तो स्वाभाविक है लेकिन इससे भी अधिक हानि तब होती है जब ऐसे 'अनाड़ी विशेषज्ञ' वास्तविक विशेषज्ञों को पीछे हटाकर अपने आप को आगे बढ़ाते हैं। ऐसे लोग इस विषय के पक्के शत्रु हैं। यह इसी प्रकार हैं कि अगर कोई बहुत बड़ा मुकदमेबाज अपने आप को कानून का शिक्षक समझ के, रोगी अपने आप को डाक्टर मान ले, अधिक साग सब्जी पैदा करने वाला कृषि संस्थान का निदेशक बन जाय, एक चुनाव हारने व जीतने वाले तथा समाज में भाषण करने वाले राजनीति के प्रोफेसर होने का दावा करें, तो यह सब क्या है ? यह एक विचारणीय विषय है। ठीक उसी प्रकार आजकल पढ़े लिखे एवं अनपढ़ लोगों की भी विचारधारा शारीरिक शिक्षा एवं खेलकूद के प्रति है और वे लोग आज भी इस विषय के बारे में तथा इस विषय के शिक्षकों के बारे में एक अजीब भ्रम-मूलक धारणाएँ बनाये हुये हैं तथा इस विषय को लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा करते हैं

जो हम लोगों के पिछड़ेपन का ज्वलन्त उदाहरण है। उनके भ्रम मूलक धारणाएँ निम्न-लिखित है:—

कुछ महानुभाव शारीरिक शिक्षा को पी० टी० कहते हैं तथा शारीरिक शिक्षकों को पी० टी० वाले कहते हैं। पी० टी० को अंग्रेजी में फिजिकल ट्रेनिंग कहते हैं। जिसका अर्थ शारीरिक प्रशिक्षण होता है। यह शब्द सेना में उन कार्यक्रमों के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं जो प्रातः काल सैनिकों को स्वस्थ्य रखने तथा कुछ व्यक्तिगत कसरतों की एक श्रृंखला बनाकर अभ्यास कराने के लिए किया जाता है।

कुछ लोग हाकी, फुटवाल, वालीवाल, क्रिकेट, तथा वास्केट बाल, कबड्डी, टेनिस आदि खेलों को ही शारीरिक शिक्षा समझते हैं।

कई लोग एथलेटिक्स यानी दौड़ने, कूदने और फेंकने तथा जिमनास्टिक्स जिसमें आपरेटस जैसे लांग हार्स पैरेलवार, हारिजंटल वार, रोमनरिंग एवं दण्ड-बैठक, आसन आदि को ही शारीरिक शिक्षा समझते है।

कुछ पढ़े लिखे लोग इसे फिजिकल कल्चर (Phisical Culture) कहते हैं। इसका अर्थ केवल वेटलिफ्टिंग के द्वारा सुगठित शरीर बनाना होता है। अतः इसे ही शारीरिक शिक्षा समझते हैं।

। वास्तव में इनमें कोई भी शब्द शारीरिक शिक्षा का पर्यायवाचक नहीं है बल्कि ये सभी शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम ((Programms) हैं।

भारत में आधुनिक शारीरिक शिक्षा के आदि-प्रचारक श्री एच० सी० बक ने शारीरिक शिक्षा की परिभाषा देते हुए लिखा है कि शारीरिक शिक्षा; शिक्षा के कार्यक्रम का वह भाग है जिसमें शारीरिक कार्यक्रमों द्वारा बच्चे को विकसित तथा सुशिक्षित किया जाता है। यह शारीरिक कार्यक्रमों द्वारा सम्पूर्ण बच्चों की शिक्षा है। शारीरिक कार्यक्रम साधन है और उन्हें उस पर प्रकार चुनकर कराया जाता है कि इनका प्रभाव बच्चों के सम्पूर्ण जीवन पर पड़ें, जिसमें शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक तथा नैतिक सभी अंग सम्मिलित हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि शारीरिक शिक्षा भी एक महत्वपूर्ण विषय है—इसके अन्तर्गत इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र एवं स्पोर्ट्स् मेडिसिन आदि विषयों का समावेश है। शारीरिक शिक्षा भी एक स्वतंत्र वैज्ञानिक विषय है जिसकी अनिवार्य शिक्षा स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक होनी चाहिए, तभी हम समाज की बहुत से बुराइयों से छुटकारा पा सकते हैं तथा देश में एक अनुशासित एवं स्वस्थ्य नागरिक बन सकते हैं।

वास्तव में शारीरिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति एवं समाज के लिये योग्य नेतृत्व, उपयुक्त साधन तथा पर्याप्त समय उपलब्ध कराना है जिससे ऐसे परिस्थिति का निर्माण हो जो व्यक्ति तथा समाज के लिये शारीरिक दृष्टि से आनन्ददायक हो, मानसिक दृष्टि से प्रेरक तथा संतोषप्रद हो तथा सामाजिक दृष्टि से स्वस्थ्य हो। जिससे व्यक्ति में सहयोग, संयम, साहस, सहृदयता, अनुशासन, शील, नम्रता, नेतृत्व-शक्ति ईमानदारी, वफादारी,

आदि गुणों का विकास कराया जा सके। ये सारी चीजें शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रमों द्वारा ही सम्भव है। इतना ही नहीं समाज में जो 'बाल-अपराध' जैसे बच्चों में चोरी करने की आदत, लूटपाट, खून-खराबी शराब-गांजा पीने की आदत, लाखेरों की तरह बिना उद्देश्य के इधर-उधर घूमने की आदत, जुआ खेलने की आदत, रात-रात भर घर से गायब होने की आदत, व्यभिचार आदि आदतों को समाप्त करने का एकमात्र उपाय शारीरिक शिक्षा और उसका कार्यक्रम है। शारीरिक शिक्षा के सभी कार्यक्रम बहुत ही मनमोहक एवं स्वास्थ्यवर्धक होते हैं, उनसे बच्चों को रचनात्मक कार्यों में लगाया जा सकता है। देश के बच्चे ही देश के भविष्य हैं। अतः वे बच्चे चाहे स्कूल के हों या कालेज एवं विश्वविद्यालय के नवयुवक छात्र हो उन सबमें शारीरिक शिक्षा और उसके कार्यक्रमों के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया जाय तथा सामाजिक गुणों का विकास किया जाय। यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसे समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। इस निर्भरता के कारण प्रत्येक मनुष्य का समाज के प्रति कुछ उत्तरदायित्व भी है जिसे अगर पूरा न किया तो सामाजिक पर्यावरण एवं सामाजिक सुख नष्ट हो जाता है। मनुष्य जब स्वार्थ भावना से प्रेरित हो जाता है तो वह अपना कर्तव्य भूल जाता है और अपना स्वार्थ हल करने के लिये समाज से अधिक आशा रखने लगता है। अगर इसी भावना के लोगों की अधिकता समाज में हो जाय तो समाज की प्रगति एवं देश की प्रगति रुक जायेगी। शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रमों में बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जहाँ बच्चों को समाज के हित के लिये व्यक्ति के व्यक्ति पर निर्भरता का दृश्य दिखाया जाता है और इस प्रकार बच्चों में त्याग की भावना, एक दूसरे की मदद करने की भावना तथा देश के प्रति वफादार होने की भावना एवं देश के लिये एक सुयोग्य एवं अच्छा नागरिक बनने की भावनाओं का विकास किया जाता है।

इन्हीं सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हमारा देश एक नये युग में प्रवेश कर गया है। लोगों में आत्मविश्वास जागा है। परिश्रम एवं कड़ी मेहनत करने के लिये जागरुकता आई है। अनुशासन में रहने की भावना का विकास हुआ है। लोगों में जो संकुचित विचारधारा जम गई थी उसका लोप हो रहा है। लोग अपने पक्के इरादे से अपने कर्तव्य को समझने एवं करने लगे हैं। उनमें अब दूरदर्शिता आई है। इसका प्रभाव समाज के हर संस्थाओं पर पड़ा है। देश के चोटी के नेताओं ने भी शारीरिक शिक्षा और उसके कार्यक्रमों की महत्ता को जन-जन में फैलाने एवं देश को स्वस्थ्य एवं शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिये दृढ़ है। इसीलिये सरकार सांस्कृतिक एवं रचनात्मक कार्यों को कराने के लिये विशेष जोर दे रही है तथा इसके लिये काफी अनुदान भी दे रही है।

शारीरिक शिक्षा का कार्य-क्रम

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि जितने खेल, व्यायाम और मनोरंजनात्मक प्रदर्शन है वह सब शारीरिक शिक्षा का ही कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम को सभी स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों जिलों, प्रान्तों, देश एवं विदेश में आयोजित किया जाता है और उसमें खिलाड़ी अपने शक्ति एवं अभ्यास के अनुसार भाग लेते हैं। खेल-कूद के स्तर को ऊँचा उठाने

के लिये देश के सभी शारीरिक संस्थाओं, विद्यालयों और विभागों में गम्भीरता पूर्वक कार्यक्रम का आयोजन किया जा रहा है। अच्छे-अच्छे खिलाड़ियों को अच्छे-अच्छे खेल विशेषज्ञों के देख-रेख में रखा जा रहा है तथा उन्हें अपने विषय की पढ़ाई के साथ-साथ खेल की अच्छी कोचिंग की शिक्षा दी जा रही है। ऐसे खिलाड़ियों को स्पोर्ट्स हास्टलों में रक्खा जा रहा है। उन्हें खेल के तकनीकों को समझने के लिये खेल सम्बन्धी आधुनिक साहित्य को भी दिया जा रहा हैं। विश्वविद्यालयों, कालेजों एवं स्कूलों में अच्छे-अच्छे खिलाड़ियों को खेल छात्र-वृत्तियाँ दी जा रही है। खेल के प्रशिक्षकों को भी विदेशों में आधुनिक तकनीकों को सीखने के लिये भेजा जा रहा है। सरकार रूस, अमेरिका, जापान और जर्मनी की तरह शारीरिक शिक्षा को स्कूल स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक अनिवार्य करने की योजना पर भी विचार कर रही है। कहीं-कहीं स्कूलों में शारीरिक शिक्षा को एक अनिवार्य विषय भी करा दिया गया है। देश के बहुत से विश्वविद्यालयों में जहाँ शारीरिक शिक्षा विभाग है वहाँ शारीरिक शिक्षा और उसके कार्यक्रमों पर अनुसंधान कार्य भी प्रारम्भ हो गया है। यह सब कुछ होते हुये भी खेलकूद में हमें जितनी सफलता मिलनी चाहिये उतना नहीं मिल पा रही है। इसके पीछे कुछ रहस्य है जो निम्नलिखित है—

१. खेलकूद का जो मूल तत्व शारीरिक शिक्षा है उसे देश के समस्त स्कूलों, कालेजों एवं विश्वविद्यालयों में स्वतन्त्र विषय और विभाग नहीं बनाया गया है।

२. शारीरिक शिक्षकों की नियुक्तियाँ स्कूलों, विद्यालयों एवं विश्वविद्यालय में छात्र-छात्राओं की संख्या को देखकर नहीं किया गया है। दूसरे शब्दों में छात्र-छात्राओं के अनुपात को देखते हुए शारीरिक शिक्षकों की नियुक्तियाँ नहीं के बराबर की गई हैं।

३. शारीरिक शिक्षकों, खेल के प्रशिक्षकों का चुनाव उनकी योग्यता के अनुसार नहीं किया जाता है।

४. खेलकूल के विभिन्न संगठन खेलकूद विशेषज्ञों के अधीन नहीं है। जहाँ से उचित कार्यक्रमों का सम्पादन किया जा सके। इन संगठनों में ऐसे महानुभावों का हाथ है जो खेल एवं खिलाड़ियों के महत्व को नहीं समझते, ऐसे लोग खेल राजनीति में ज्यादा रुचि लेते हैं तथा खेल के माध्यम से अपना स्वार्थ अपनी सामाजिक परिस्थिति ऊँचा उठाने में अपनी सेवा-पदोन्नति कराने में तथा देश-विदेशों में घूमने, बड़ी-बड़ी गोष्ठियों में भाग लेने में व्यस्त हैं। ऐसे लोग खेलकूद को खाने-कमाने का साधन बना लिये हैं। खेलों के विशेषज्ञ ऐसे लोगों के हाथ की कठपुतली बन गये हैं।

५. खेल के लिए खिलाड़ियों का चुनाव सही ढंग से नहीं किया जाता है। इससे अच्छे खिलाड़ियों की प्रतिभा धूमिल पड़ जाती है, तथा खिलाड़ियों एवं क्रीडा प्रेमियों में खेल के प्रति अरुचि पैदा हो जाती है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि ओलम्पिक खेलों में हमलोग कहीं नहीं हैं।

६. शारीरिक शिक्षा में शिक्षकों एवं विभिन्न खेलों के प्रशिक्षकों को उनके अच्छे कार्यों के लिए कोई बढ़ावा नहीं दिया जाता है। अच्छा कार्य करने वाले और मस्ती करने वाले लोगों को एकही वर्ग में रखा जाता है। जब तक इन सब चीजों के तरफ ध्यान नहीं रखा जायेगा तब तक हम खेल के क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकते हैं।

कार्य-परक शिक्षा के माध्यम से ही देश का विकास संभव है

लालजी 'आलोक'
एम० ए० (मनो०), बी० एड० (छात्र)

आबादी की दृष्टि से भारत का स्थान विश्व में दूसरा है। इस बहुसंख्यक जनसंख्या वाले देश की अधिकतर जनता, आज की बेकारी, गरीबी और अपोषण की चक्की में पिस रही है। इस भूखी, नंगी और गरीब जनता वाले देश के लिए शिक्षा का झुकाव किस तरफ हो—यह एक चुनौती का प्रश्न है।

हमारी समझ से यदि शिक्षा कार्यपरक नहीं होगी तो इस देश की भूखी पीढ़ी का क्या होगा? उनकी समस्याओं का समाधान कहाँ मिलेगा?

एक लम्बे अरसे तक भारत का शिक्षा-दर्शन आध्यात्म, मोक्ष, पारलौकिक जीवन तथा ईश्वर के ही इर्द-गिर्द घूमता रहा है। जैसा कि उपनिषदों में परिभाषित किया गया है कि—'सा विद्या या विमुक्तये', लेकिन आज के सन्दर्भ में यह बात कितनी अप्रासंगिक सिद्ध हो चुकी है, इसकी पुनरावृत्ति करना मैं नहीं चाहता। भारत की प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था मूलतः पारलौकिक जीवन से संबंधित थी, लेकिन आज के सन्दर्भ में जैसा कि स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी इत्यादि मनीषियों ने कहा है कि गरीब आदमी को पहले रोटी की जरूरत है, उसके बाद ही उच्चतर और आध्यात्मिक जीवन की।

आज देश का तमाम नेतृत्व-वर्ग, अर्थवेत्ता और मूर्धन्य शिक्षा-शास्त्री प्राण-पण से तन्मय होकर देश में ऐसी शिक्षा-व्यवस्था को जन्म देना चाहते हैं जो कि गरीबी की सीमा-रेखा पर जूझने वाली जनता के लिए एक नयी आशा की किरण हो, जिसमें उनकी रोजमर्रा की समस्याओं का समाधान हो, जो उनको एक खुशहाल और आर्थिक विपन्नता से मुक्त जीवन दे सके। गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा में भी कार्य-अनुभव पर विशेष बल दिया गया है। दस्तकारी, बागवानी, कताई-बुनाई आदि को उन्होंने विद्यालय पाठ्य-क्रम का अभिन्न अंग माना है।

कार्य-परक शिक्षा व्यक्ति में आत्म-विश्वास ले आता है। स्वतन्त्र रूप से जीवन-यापन करने के योग्य बनाता है। रोजी-रोटी की समस्या का समाधान ढूंढ़ता है। व्यक्ति को बेरोजगारी के नरक से उबारकर आत्म-रोजगार की हरियाली में पहुँचा देता है, जबकि आर्थिक समस्या-विहीन शिक्षा-दर्शन व्यक्ति को केवल मानसिक धरातल पर ही सन्तुष्टि प्रदान

कर सकता है, एक ऐसे अव्यावहारिक स्वप्नलोक में पहुँचा सकता है, जहाँ पहुँचने के बाद व्यक्ति अपने परिवार के लिए, अपने समुदाय के लिए और बड़े अर्थों में अपने देश के लिए व्यर्थ हो जाता है।

कार्य-अनुभव से ही नये अन्वेषणों की स्फुरणा भी व्यक्ति के मानसिक आयाम में गतिशील हो उठती है। नये-नये तरीकों का ईजाद होने लगता हैं। देश के प्रचुर प्राकृतिक, भौतिक सम्पदा का तब तक पूर्ण उपयोग नहीं हो सकता, जब तक कि शिक्षा कार्य-अनुभव पर आधारित नहीं होगी। वास्तविक ज्ञान तो प्रायोगिक ज्ञान के आधार पर ही आता है। इस विकासशील देश के बढ़ते हुए उद्योगों की आवश्यकता को दृष्टिगत रखकर हम विचार करें तो यह प्रतीत होगा कि आज इस देश को कार्य-अनुभव वाले व्यक्तियों की ही आवश्यकता है न कि मात्र वाक्-ज्ञान से सम्पन्न वास्तविक कार्य-अनुभव से शून्य किताबी-कीड़ों की।

प्रयोगवादी शिक्षा-दर्शन भी वास्तविक शिक्षा का आधार कार्य-अनुभव ही मानता है। दूसरे शब्दों में कार्यपरक शिक्षा को ही मान्यता देता है। प्रसिद्ध प्रयोगवादी शिक्षा-शास्त्री जॉन डिवी कहा करता था कि मनुष्य की आधारभूत साधारण समस्याएँ—भोजन, वस्त्र, आवास, गृह की सजावट और आर्थिक उत्पत्ति, विनिमय तथा उपभोग सम्बन्धी होती हैं। इसीलिए वह इन समस्याओं के निराकरण करने वाली शिक्षा को पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहता था।

परिवर्तन के तीव्र दौर में से गुजर रहे इस देश के प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा-गाँधी ने भी कई स्थलों पर यह स्पष्ट किया है कि शिक्षा रोजगार-परक हो, कार्य अनुभव पर आधारित हो। शिक्षा-व्यवस्था में आज की इस महान् आवश्यकता को परिलक्षित करके ही १०+२+३ 'पैटर्न आफ एजूकेशन' हमारे देश के शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा लागू किया जा रहा है।

वास्तविकता यह है कि शिक्षा के सिद्धांत और व्यवहार में अविच्छिन्न सम्बन्ध है। एक सिक्के के दो पहलू की भाँति इनको अलग नहीं किया जा सकता। एक की महत्ता दूसरे के ऊपर सिद्ध नहीं की जा सकती। परन्तु इस लेख के माध्यम से मैं यह कहना चाहूँगा कि यदि प्रासंगिकता की दृष्टि से देखें तो इस विकासशील देश की आवश्यकता को देखते हुए कार्य-परक शिक्षा अपरिहार्य है। इसके बिना हम आर्थिक विकास की, और गरीबी-हटाओ आन्दोलन की सफलता की कल्पना तक नहीं कर सकते।

उपरोक्त तथ्यों पर विचार करते हुए निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि भारत को यदि विश्व के विकसित देशों की श्रेणी में खड़ा होना है, शोषणविहीन, सामाजिक न्याय-परक और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न, राजनैतिक दृष्टि से सम्प्रभुता सम्पन्न देश होना है तो कार्य-परक शिक्षा के माध्यम से ही यह सम्भव है।

●

राष्ट्रीय सेवा योजना और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विजय शंकर सिंह

शिक्षा जगत में शिक्षार्थी के चतुर्दिक विकास के लिए पाठ्यक्रम के साथ-साथ पाठ्यसहगामी क्रियाओं का होना नितान्त आवश्यक होता है। ये पाठ्यसहगामी क्रियायें शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार की होती हैं। राष्ट्रीय अखण्डता की सुरक्षा के लिए सुशिक्षित एवं स्वस्थ नागरिक तथा सेना की आवश्यकता हर देश को होती है। इसी उद्देश्य से पाठ्य सहगामी क्रिया के रूप में देश में सैन्य शिक्षा के लिए एन० सी० सी० लागू की गयी। किन्तु वाद में यह देखा गया कि छात्रों की रुचि इसमें क्रमशः कम होती गयी। इस स्थिति को देकर वुद्धजीवी एवं देश के शुभचिन्तकों ने इस पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया और इस समस्या के समाधान के लिए तीन उपाय बतायें—

—जिन छात्रों को फौजी जीवन व्यतीत करना हो या अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाना हो उनके लिए एन० सी० सी० प्रशिक्षण है।

—जिन छात्रों को देश एवं समाज की सेवा करने की लालसा हो उनके लिए एन० एस० एस० (राष्ट्रीय सेवा योजना) है।

— जिन छात्रों को खेल में अधिक रुचि है या जो अच्छे खिलाड़ी हैं उनके लिए एन० एस० ओ० है।

'राष्ट्रीय सेवा योजना' विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के छात्र एवं छात्राओं के लिए एक महत्वपूर्ण 'तरुण योजना' है। इस योजना की शुरूआत सन् १९६९–७० में की गयी। इसका प्रथम शिविर मई-जून सन् '७० में गोविन्दपुर, ऋषिकेश में लगा था। उस वर्ष देश के लगभग ४० विश्वविद्यालय के लगभग ४० हजार छात्र एवं छात्राओं ने भाग लिया था। इस योजना का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है :—

१. बहुमुखी व्यक्तित्व का विकास करना।

२. सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना पैदा करना।

३. श्रम के प्रति आस्था पैदा करना।

४. राष्ट्र की समस्याओं को समझने, सोचने तथा उसके समाधान के लिए अवसर प्रदान करना।

५. राष्ट्र निर्माण कार्यों में भाग लेने के लिए प्रेरित करना।

इस योजना के मुख्य लक्ष्य निम्नलिखित हैं—

(१) जनता के साथ तथा उनके बीच कार्य करना ।

(२) समाज के सृजनात्मक एवं रचनात्मक कार्यों में लगना ।

(३) वास्तविकता के माध्यम से आत्मज्ञान व सामाजिक ज्ञान में वृद्धि अपने में तथा समाज में करना ।

(४) अपने ज्ञान का प्रयोगात्मक इस्तेमाल कर कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं निराकरण करना ।

(५) लोकतांत्रिक नेतृत्व की क्षमता प्राप्त करना ।

(६) कार्यक्रम को विकसित करने की क्षमता में वृद्धि करना जिससे स्वयं कार्यरत रहें ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इस योजना की शुरूआत सन् १९६९-७० में ही की गयी । उस वर्ष छात्रों के अतिरिक्त लगभग ५० छात्राओं ने भी भाग लिया था । इस योजना की शुरूआत उपकुलपति डॉ० कालूलाल श्रीमाली के संचालन में तथा श्री कर्ण सिंह की देख-रेख में की गयी । सन् १९७६ तक छात्र एवं छात्राओं की संख्या एक हजार से अधिक हो गयी हैं । इस योजना के माध्यम से जो कार्य किये गये है वे निम्नलिखित हैं—

१ : गन्दगी एवं बीमारी के विरुद्ध अभियान ।

२ : चेचक उन्मूलन अभियान ।

३ : साक्षरता अभियान ।

४ : आर्थिक विकास के लिए २० सूत्रीय कार्यक्रम का समर्थन ।

५ : ग्रामीण पुनरुत्थान अभियान ।

६ : वृक्षारोपण अभियान ।

७ : प्राथमिक चिकित्सा एवं नागरिक सुरक्षा प्रशिक्षण ।

८ : परिवार नियोजन पर बल ।

९ : अन्य कार्य ।

गन्दगी एव बीमारी के विरुद्ध अभियान :—विभिन्न संकाय के छात्रों में विश्वविद्यालय के अन्दर-संकायों के मैदानों की सफाई किये तथा विभिन्न खेल के मैदानों को साफ कर उसे समतल बनाये । विश्वविद्यालय के बाहर आस-पास के गावों एवं दूर के कुछ गाँवों में शिविर लगाकर इस अभियान की सफलता के लिए कार्य किये । शिविर के नजदीक छोटा-सा औषधालय खोलकर गरीब जनता की निःशुल्क सेवा करते थे । राष्ट्रीय सेवा योजना के छात्रों ने इस अभियान की सफलता के लिए अब तक कुल १५४ गाँवो में जाकर सेवा किये हैं और १८४ कुँओं में कीटाणु नाशक दवा डालकर उसे स्वास्थ्यप्रद बनाया ।

चेचक उन्मूलन अभियान—देश में व्याप्त चेचक के महा प्रकोप से मर रही जनता की प्राणरक्षा के लिए इस योजना के माध्यम से 'चेचक उन्मूलन अभियान' चलाया गया । विभिन्न संकाय के छात्रों ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शिविर लगाकर तथा चेचक के टीके लगाकर

चेचक उन्मूलन किये। इस योजना के माध्यम से लगाये गये चेचक के टीके का आँकड़ा निम्न है—

१. बरियासनपुर (वाराणसी)	शिविर में—	कृषि संकाय—	१३००	व्यक्तियों की
२. राजनहियाँ एवं बनियापुर	,,	—विज्ञान एवं समाज विज्ञान संकाय	१८४१	,,
३. रैपुरिया (चुनार)	,,	कृषि संकाय	४०९०	,,
४. बरेवाँ (,,)	,,	कला संकाय	२८६६	,,
५. आयर (वाराणसी)	,,	,,	४५०८	,,
६. कोल्हुआ (,,)	,,	समाज विज्ञान संकाय	२५५०	,,
७. दिवसीय शिविर एवं भेलूपुर		मिश्रित	७२९	,,
		योग	१७,९८४	व्यक्तियों को

इसमें लगभग १५०० व्यक्तियों को प्राथमिक तथा शेष को द्वितीयक टीका लगाया गया।

साक्षरता अभियान—हमारे देश की अधिकांश जनता गाँवों में रहती है जहाँ शिक्षा के लिए पर्याप्त साधन न होने के कारण उनके बच्चे पढ़ नहीं पाते जो आगे चलकर एक समस्या बन जाते हैं। हमारे देश में निरक्षर प्रौढ़ों की संख्या बहुत है। इस कमी को दूर करने के लिए 'साक्षरता अभियान' चलाया गया। इसके लिए राष्ट्रीय सेवा योजना के कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करके उन्हें सुविधाएँ प्रदान कर निरक्षर प्रौढ़ों को पढ़ाने के लिए छोड़ दिया गया है और वे सब कार्यरत है। विश्वविद्यालय के ऐसे कर्मचारी जो निरक्षर हैं, उनका सर्वेक्षण कर आँकड़ा निकाल लिया गया है और उन्हें साक्षर करने के लिए प्रयास हो रहा है। विभिन्न संकाय के छात्र इस योजना के माध्यम से अपने गाँवों में तथा अपने क्वाटरों के आसपास प्रौढ़ शिक्षा के कार्य में रत हैं।

ग्रामीण पुनरुत्थान अभियान:—गाँवों में अधिकांशतः मजदूर एवं कृषक वर्ग के लोग रहते हैं जो लगभग निरक्षर ही हैं। किस वस्तु का कब, कैसे और कहाँ प्रयोग करना चाहिए इसका ज्ञान न रहने के कारण वे पिछड़े हुए हैं। हर दृष्टि से उत्थान के लिए यह अभियान चलाया गया। इस योजना के माध्यम से उनके शैक्षिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं रहन-सहन के विकास के लिए उपाय बताये गये। आर्थिक विकास के लिए घरेलू उद्योग-धन्धे खोलने के सुझाव दिये गये। गृह वाटिका लगाना, चरखा चलाना, चटाई, डलिया, पंखा आदि बनाना, स्त्रियों के लिए कताई, बुनाई-कढाई, सिलाई आदि बताया गया। सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकास के लिए प्रत्येक गाँव में एक 'युवक समिति' गठित की गयी जो अपने गाँव की हर सम्भव सेवा एवं सुरक्षा करेगी। समय-समय पर समाचार नाटक आदि खेल कर उनका मनोरंजन करती रहेगी। गोबर के दुरुपयोग को रोकने के लिए गोबर गैस योजना के लिए प्रेरित किया गया।

वृक्षारोपण अभियान—समय के सदुपयोग के लिए, वातावरण की शुद्धता के लिए, फालतू जमीन के सदुपयोग के लिए तथा आर्थिक विकास के लिए इस अभियान को चलाया गया। विभिन्न संकाय के छात्रों ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाकर वृक्षारोपण किये। इस योजना के माध्यम से अब तक कुल २३५४ गड्ढे खोदे गये तथा वृक्षारोपण किया गया और १५०० रसदार वृक्षों के थाल बनाकर उसे कीटाणु नाशक दवा छिड़क कर वृक्षों की सुरक्षा की गयी। इस योजना के माध्यम से सारनाथ, जी० टी० रोड-राजातालाब, कंदवाँ एवं चारमारी में, विश्वविद्यालय के भीतर एवं कृषि फार्म मिर्जापुर में वृक्षारोपण किया गया।

प्राथमिक चिकित्सा एवं नागरिक सुरक्षा प्रशिक्षण—आकस्मिक दुर्घटना हो जाने पर हम घायल की क्या सेवा कर सकते हैं इसकी शिक्षा छात्र एवं छात्राओं को दी गयी तथा उन्हें नागरिक सुरक्षा का भी प्रशिक्षण दिया गया। इससे उन्हें यह लाभ हुआ कि नगर पालिका के कार्यकर्त्ताओं के साथ जनता की सेवा यथासम्भव कर सकते हैं और आकस्मिक दुर्घटना होने पर वे घायल की तत्काल कुछ सेवा कर सकते हैं।

परिवार नियोजन पर बल--भारत की बढ़ती हुई अपार जन-संख्या पर रोक लगाने के लिए सरकार द्वारा चलाये गये 'परिवार नियोजन अभियान' पर बल देते हुए इस योजना के छात्र एवं छात्राओं ने गाँवों में जाकर वहाँ की जनता को परिवार नियोजन के महत्व को समझाकर उन्हें परिवार नियोजन कराने के लिए प्रेरित किये। जनता का ध्यान परिवार नियोजन की ओर आकर्षित करने के लिए इस योजना के माध्यम से 'परिवार' फिल्म दिखलाया गया, जिससे प्रेरित होकर बहुत से व्यक्तियों ने परिवार नियोजन कराया। कला संकाय के प्रेक्षागृह में इसी फिल्म को रियायती दर पर लगाकर एक सप्ताह चलाया गया और उससे जो अर्थ की प्राप्ति हुई उसे बाढ़ ग्रस्त क्षेत्रों के लिए दान स्वरूप दे दिया गया।

इस योजना के माध्यम से 'शारीरिक कुशलता अभियान' चलाया गया जिसमें विभिन्न संकाय के १६९ छात्र एवं छात्राओं ने भाग लिया। इसका परीक्षण २८-११-७६ को हुआ। इसमें १, २ और ३ स्टार विजेता को सरकार द्वारा स्टार वितरण किया जायगा।

इस योजना द्वारा लगाये गये शिविर—

दिवसीय शिविर	लगभग १४५०
विशेष शिविर	८०
अखिल भारतीय विश्वविद्यालय शिविर	१

राष्ट्रीय सेवा योजना के छात्र एवं छात्राओं द्वारा किये गये कार्यों की सभी ने सराहना की है। हम राष्ट्रीय सेवा योजना की ओर से आज के प्रगतिशील छात्र एवं छात्राओं एवं युवकों का आवाहन करते हैं कि इस योजना में अधिकाधिक संख्या में भाग लेकर राष्ट्र की प्रगति एवं सुधार में हाथ बटावें।

हिन्दी पत्रकारिता का विकास : कुछ सुझाव*

प्रो० अंजन कुमार बनर्जी
अध्यक्ष--पत्रकारिता
कला संकाय

भारत में पत्रकारिता प्रशिक्षण का इतिहास लगभग ३० वर्ष पुराना है। आज देश के २० विश्वविद्यालयों में पत्रकारिता का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। परन्तु इस बात को कहते हुए मुझे जरा भी संकोच नहीं है कि भारतीय भाषाओं के लिए अधिकांश विभाग उदासीन रहे हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी पत्रकारिता के प्रशिक्षण हेतु हमने विशेष प्रयास किया है। यह विभाग केवल चार वर्ष पुराना है, परन्तु हमारे प्रशिक्षित पत्रकारों को जिन्होंने हिन्दी माध्यम से परीक्षा दी थी, वे विभिन्न समाचार पत्रों, जन-सम्पर्क विभाग में ८० प्रतिशत नौकरी मिल गई है जबकि अंग्रेजी माध्यम से उत्तीर्ण हुए लोगों को इसका आधा भी नहीं मिला।

गत वर्ष के आँकड़े के अनुसार हमारे देश में ८३० दैनिक अखबार प्रकाशित होते हैं; इसका एक चौथाई अर्थात् २२५ समाचार पत्र हिन्दी भाषा में प्रकाशित होते है। परन्तु इन पत्रों का स्तर अंग्रेजी, मराठी या बंगाली समाचार पत्रों से भी पिछड़ा हुआ है। इसके अनेक कारण हैं—जैसे हिन्दी पत्रकारिता में प्रायः पत्रकार नवीन तकनीकों से अपरिचित हैं, उन पर आर्थिक दबाव भी है तथा अनेक कारणों से हिन्दी पत्रों का स्तरीय विकास नहीं हो रहा है। टाइप की सबसे बड़ी कमी, हिन्दी समाचार पत्रों की साज-सज्जा तथा प्रस्तुतीकरण में बाधक बनती हैं जहाँ अंग्रेजी का समाचार पत्र दस पन्द्रह प्रकार के टाइप हेडिंग में प्रयुक्त होते हैं, वहाँ हिन्दी में मात्र चार या पाँच प्रकार के टाइप उपलब्ध हैं।

हिन्दी जन मानस की भाषा है; पर इसका पत्रकार इस कला और शिल्प से कोसों दूर है।

जहाँ तक पत्रकारिता के शिक्षण की बात है हिन्दी का पत्रकार अभी तक समाचारों के लिए अंग्रेजी समाचार पत्रों एवं एजेन्सी पर निर्भर है। यही हाल अन्य भारतीय भाषाओं के अखबारों की भी है। 'समाचार' की हिन्दी सेवा से इसमें सुधार होगा, ऐसी आशा है।

---

* कलकत्ता में हिन्दी पत्रकारिता के १५० वर्ष पर आयोजित समारोह में दिया गया भाषण। इस अवसर पर लेखक को 'पत्रकार शिरोमणि' से अलंकृत किया गया।

हमें पत्रकारिता के शिक्षा के लिए विदेशी पुस्तकों और तकनीक पर चलना पड़ता है, जो कि हमारे देश के स्थिति के अनुकूल नहीं पड़ती है। पाठ्य पुस्तकों का अभाव पत्रकारिता शिक्षा में सबसे बड़ा बाधक है। भारतीय भाषाओं में सस्ते मूल्य पर केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकार पुस्तकें लिखवा कर प्रकाशित करें तो यह कमी दूर हो सकती है। हमारा हिन्दू विश्वविद्यालय इस सन्दर्भ में कुछ कार्य कर रहा है।

पत्रकारिता शिक्षा के साथ-साथ जन सम्पर्क, विज्ञापन, समाचार पत्र प्रबन्ध, रेडियो एवं टेलीविजन का विषय भी जोड़ दिया जाना चाहिए। साथ ही साथ हमें सृजनात्मक आलोचना को अपनाते हुए विकासशील पत्रकारिता को पाठ्यक्रम में शामिल करना होगा। अभी देश की आवश्यकताओं के अनुसार पत्रकार जनता का सही पथ प्रदर्शन कर सकेंगे और सरकार को समय-समय पर सुझाव देकर जनता के भलाई के लिए काम कर सकेंगे।

पत्रकारिता शिक्षा के साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण नितान्त महत्वपूर्ण है, इसके अखबार एवं सम्पादकगण अपने-अपने क्षेत्र के विश्वविद्यालयों के छात्र-पत्रकारों को प्रशिक्षण की सुविधा दें एवं आवश्यकतानुसार उन्हें अपने यहाँ नियुक्त करें तो प्रशिक्षण तीव्र गति से बढ़ेगा और एक नया उत्साह उत्पन्न होगा। अन्त में मैं इस सुझाव के साथ सरकार से कुछ कहना चाहूँगा कि सरकार अपने प्रेस-सूचना सेवा, रेडियो, जन सम्पर्क विभागों, प्रचार क्षेत्र में अगर प्रशिक्षित पत्रकारों को लें और प्रशिक्षण की योग्यता को अनिवार्य कर दे तो कोई ऐसी बात नहीं बचती कि हिन्दी पत्रकारिता के स्तर में सुधार न हो।

प्रशिक्षित पत्रकार पहले स्वयं स्थिति को समय एवं स्थान के अनुसार समझकर कम से कम शब्द में अपनी पूरी बात गहराई के साथ कह सकेगा और नया प्रयोग, नए तकनीक अपनाकर समाचार पत्रों के स्तर को ऊँचा उठाने में, जनता का अखबार बनाने में सर्वाधिक सक्षम सिद्ध होगा ऐसी आशा है।

(•)

आधुनिक भारत में राष्ट्रीय चेतना की पृष्ठभूमि : १९वीं शती

डॉ० हरिहर नाथ त्रिपाठी
राजनीति शास्त्र विभाग

आज राष्ट्र का जो रूप माना जाता है, वह पूँजीवादी व्यवस्था की देन है। इसमें मानव समुदाय के उस संगठन को राष्ट्र मानते हैं जिसमें सामान्य सरकार, निश्चित सीमा, जिसमें व्यक्ति परस्पर सम्बन्ध बना सके, भाषा जैसी अन्य ऐसी विशेषताएँ हों जो अन्य राष्ट्र या अन्य राष्ट्र समुदाय से उसे अलग करती हो; सामान्य हित जो सभी व्यक्तियों में सामान्य रूप से हों और सामान्य भावना या इच्छा का लगाव व्यक्ति के मस्तिष्क में सम्बन्ध स्थापित करता हो। राष्ट्र की इस भावना का विकास विभिन्न राष्ट्रों में विभिन्न प्रकार से हुआ है। आज भी इस भावना का लोप नहीं हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भी राष्ट्रों का ही संघ स्थापित किया गया। सोवियत रूस में राष्ट्रीय गणों का गठन हुआ। लालचीन में तो राष्ट्रीय पूँजीवाद भी है। मार्क्स का आदर्श विश्व भी समाजवादी 'राष्ट्रों' का संघ होगा। स्पष्ट है कि राष्ट्र की भावना आज भी क्रियाशील है किन्तु उसका स्तर बदल रहा है। अब उसका आधार धर्म या संस्कृति बनाने के प्रयास के साथ आर्थिक व्यवस्थाओं पर केन्द्रित होना आवश्यक हो गया। विश्व मानवता का यह स्वरूप जो भारतीय सभ्यता के उदयकाल में सार्वभौम भाव के साथ दिखायी पड़ा था, आज राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है। इस स्थिति में भारतीय राष्ट्र की आधुनिक रूपरेखा दूसरे रूप में चल रही है।[१]

आधुनिक भारतीय राष्ट्र का अध्ययन विभिन्न हेतुओं से विशेष रूप में विकसित होता है। ब्रिटिश सरकार से पूर्ववर्ती भारतीय समाज पूर्णतया पश्चिमी ढंग का सामन्तवादी नहीं रहा है। हिन्दू समाज जाति एवं विभिन्न उपजातियों और सम्प्रदायों में बँटा था।[२] जनसंख्या के दबाव के साथ अतीत की सुरक्षा की भावना एवं विश्वबंधुत्व की भावना का सामाजिक संगठनों से सम्बन्ध होने से राष्ट्र की भावना का दूसरे रूप में विकास होता है। इस विकास को एक दूसरा रूप ब्रिटिश राष्ट्र कल्पना से मिला जो भारतीय समाज के ढाँचे को अन्यथा रूप प्रदान करता है। शिक्षा, यातायात के साधन, नयी शासन व्यवस्था आदि ने उसमें योग दिया। भारतीय ग्राम व्यवस्था, भूस्वामित्व सिद्धान्त, उत्पादन के साधनों पर ग्राम संगठनों के सामूहिक अधिकार आदि विशेषताएँ ब्रिटिश सामन्तवादी व्यवस्था से भिन्न थीं। ब्रिटिश काल के पूर्व राष्ट्रीय भावना हिन्दू मुसलमान की संयुक्त संस्कृति, धार्मिक चेतना, आर्थिक संगठन आदि क्रियाशील थे। लेकिन इनमें राष्ट्र की आधुनिक भावना का अभाव था।[३]

ब्रिटिशों के आगमन के पूर्व भारतीय समाज हिन्दू मुसलमान ही नहीं विभिन्न जातियों एवं कबीलों में विभक्त हो चुका था। ब्रिटिश विजय का प्रभाव इस समाज पर राजनीतिक के स्थान पर सार्वभौम रूप में पड़ा। इङ्गलैंड पूँजीवादी देश था। उसने सामन्तवादी भारत पर विजय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर आर्थिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन कर दिया। पूँजीवादी देश में राष्ट्रीयता की भावना विभक्त सामन्तवादियों की अपेक्षा अधिक थी। ब्रिटिश विजय के साथ पूँजीवादी राष्ट्र भावना का प्रसार भारत में होने लगा जो सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संगठनों में केन्द्रियतावादी रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार सामन्तवादी राष्ट्रभावना का रूप पूँजीवादी राष्ट्रभावना में पर्यवसित होता है। इसी अवसर पर यह भी कहा जाता है कि ब्रिटिशों के पूर्व भारत एक राष्ट्र ही नहीं था, भारतीय सामन्ती व्यवस्था में जो सामूहिकता एवं सहकारिता थी वह नये पूँजीवादी मार्ग, जमीन्दारी, ठेकेदारी, व्यक्तिगत सम्पत्ति के निर्बाध विकास, अखिल भारतीय बाजार की उत्पत्ति, उत्पादन के साधनों में परिवर्तनों से केन्द्रियतावादी प्रयोग से ध्वस्त होने लगी। १७९३ ई० में लार्ड कार्नवालिस की भूमि व्यवस्था ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में यही परिणाम प्रस्तुत किया। ग्राम अधिकार एवं ग्राम पंचायतों, स्थानीय विधि के अधिकार आदि के ढाँचे टूटने लगे। उन पर ब्रिटिश तरीके की स्थापना होने लगी। इसका परिणाम यह भी हुआ कि शिक्षित, मध्यम वर्ग, जमीन्दारों एवं व्यापारियों का एक ऐसा वर्ग पैदा होने लगा जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता की। इस वर्ग की यही राष्ट्रियता थी।

स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन के साथ नये वर्गों का जन्म प्रारम्भ हुआ। जमीन्दार, भूस्वामी, उच्च मध्यम एवं निम्न वर्गों से विभक्त किसान, कृषक मजदूर, व्यापारी, सूदखोर, आदि वर्ग गाँवों में उत्पन्न हुए। नगरों में पूँजीपति, व्यापारी, उद्योगपति, यातायात, खान-कारखाना आदि उद्योगों में लगे श्रमिक, प्राविधिक, वकील, डाक्टर, अध्यापक, पत्रकार, व्यवस्थापक, लिपिक, बौद्धिक एवं शिक्षित मध्यम वर्ग का जन्म हुआ। इसके साथ दूसरी बात यह थी कि भारत मध्ययुग से आधुनिक में तो आया किन्तु उसका औद्योगिकीकरण एवं सामाजिक विकास आधुनिक नहीं हुआ, जो विकास हुआ भी वह क्रमिक नहीं था। आधुनिक भारत के साथ सामन्तों एवं राजाओं की देशी रियासतें भी चल रही थी। तात्पर्य यह है कि विभिन्न वर्गों का अन्तर्विरोध भारतीय राष्ट्रभावना के विकास में गतिरोध उत्पन्न कर रहा था। राष्ट्रभावना की विकासधारा आगे बढ़ रही थी किन्तु गति धीमी थी। नये वर्ग के साथ राष्ट्र भावना का विकास होना चाहिए था किन्तु यह वर्ग अपने अस्तित्व की स्थापना के लिए ब्रिटिश शासन की शक्ति विकसित करने में लगा था। किसी प्रकार की जनतान्त्रिक भावना के विकास से इन वर्गों के हित विनाश की संम्भावना थी। फलतः किसी प्रकार के सुधार व्यवस्था एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के विपरीत ऐसे वर्ग क्रियाशील होने लगे।

राष्ट्रवाद का विकास :

१९वीं शताब्दी भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण से उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना का विकास करती है। इसमें मातृभूमि राष्ट्र एवं देश के देवत्व की स्थापना अनिवार्य थी। पश्चिम में

राष्ट्रवाद फ्रांसीसी क्रांति की उपलब्धि है और भारत का आधुनिक राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन का परिणाम।[४] चूँकि राष्ट्र शताब्दियों के विकास का परिणाम है, इसलिए इसका विकास सार्वभौम नहीं क्षेत्रीय होता है, प्रत्येक देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों से इसका निर्माण होता है। हँसकान सक्रिय रचनात्मक समष्टि इच्छा को राष्ट्र मानता है और राष्ट्रराज्य को वैध राजनीतिक संगठन।[५] इसके लिए लोकप्रिय, सम्प्रभुता, शासन शासित वर्ग एवं जाति का अध्ययन आवश्यक होता है। इन शक्तियों की अभिव्यक्ति में राष्ट्र का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसकी चेतना का उपयोग जनतांत्रिक शक्तियों से लेकर फासी-वादी शक्तियों तक ने किया है।

भारतवर्ष में क्रमशः राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। इस देश की भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक राजनीतिक एवं धार्मिक विशेषताएँ अन्यत्र से भिन्न रही हैं। कहा जाता है कि इसकी शुरुआत साम्राज्यवादियों के द्वारा आयी है। प्राचीनकाल से १९वीं शती तक इतिहास के विभिन्न चरणों में सक्रियता और निष्क्रियता का इतिहास अनिवार्य था। ब्रिटिश शासन से राजनीतिक एकता प्रत्यक्ष होती है। प्रशासन, न्याय और शिक्षा के माध्यम से यह कार्य शीघ्रता से सम्पन्न हुआ। चूँकि यह एकता साम्राज्यवादियों के द्वारा आयी, इसके प्रयोग में कुछ अनिवार्य दोष भी विकसित हुए।[६] राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था ने प्राचीन एवं मध्ययुगीन प्राक्पूँजीवादी व्यवस्था का ध्वंस किया। अखिल भारतीय बाजार का विकास हुआ। फलतः ग्रामीण निष्क्रियता अनिवार्य हो गयी। काम विभाजन विषमता पर आधारित हो गया।[७] फलतः देश में आधुनिकीकरण के साथ परम्परावादी ढाँचा प्रत्येक स्तर पर चलता रहा। ब्रिटिश शासन ने अपने उद्देश्य की पूर्ति में परम्परावादी सामन्ती व्यवस्था नष्ट नहीं करना चाही। जागीरदारी, जमीन्दारी, नये भूस्वामी आदि सभी परम्परावाद के प्रतीक है और ब्रिटिश शोषण के साधन। साथ ही आधुनिक शक्तियाँ विकसित हुईं जिनमें कम्पनी शासन ने धाय का काम किया।[८] इस अभिनवीकरण से कलकत्ता, बम्बई, मद्रास एवं ब्रिटिश शासन से जुड़े अन्य क्षेत्र अग्रणी थे। यहीं से उत्पन्न विचार, भारतीय राष्ट्र की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। यहीं आधुनिक विशिष्टजन की संस्कृति विकसित होती है। नये वर्ग एवं स्वार्थ का जन्म इसकी विशेषता थी। इसका प्रभाव नगर संस्कृति पर अधिक पड़ा। गाँव भी इससे अछूते नहीं रहे।

यातायात के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन, शिक्षा की नयी व्यवस्था एवं जनसम्पर्क के साधनों के रूप में प्रेस की भूमिका में सांस्कृतिक पुनरुत्थान को जन्म दिया। धरती, धरती के व्यक्ति एवं उसका कल्याण स्वर्ग का स्थान लेने लगे। धर्मसुधारकों ने धर्म की लौकिक व्याख्या की। राजाराम मोहनराय ने इसका नेतृत्व किया। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में वेद की अपौरुषेय व्याख्या करते हुए लौकिक विशेषता का प्रयोग करते हैं। उत्तरवर्ती आर्य समाजियों ने एवं स्वयं दयानन्द ने वेद में ईश्वरीय ही नहीं भौतिक विज्ञान की समग्र उपलब्धियाँ खोजीं। उदारवादी मान्यताओं का समर्थन वैदिक आधार पर किया गया। इस प्रकार के प्रयास उतने ही अंश में सफल हुए जितने अंश में वे आधुनिक थे। इस प्रकार के अभिनवीकरण में एक असन्तुलन आया। साम्राज्यवाद का प्रमुख लक्ष्य था शोषण।

यातायात के साधन, प्रेस एवं अन्य इस प्रकार के साधनों का प्रयोग इन्होंने इसी दृष्टि से किया। फलतः समाज का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाया, जिसकी प्रतिक्रिया में पुनरुत्थान-वादी सांस्कृतिक एवं उग्रराष्ट्रवाद का जन्म अनिवार्य हो गया। दयानन्द इसी की अभिव्यक्ति हैं।

ब्रिटिश शिक्षा ने विवेकवाद, वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि दी। इसका प्रयोग मध्ययुगीन ज्ञान के विपरीत करना क्रांतिकारी कार्य था। जनतान्त्रिक शक्तियों की अभिव्यक्ति के रूप में इसे स्वीकार किया गया। इससे नये बौद्धिक नेतृत्व का जन्म हुआ। इसकी पहली प्रतिक्रिया थी भारतीय समाज में सुधार। भारतीय समाज, दर्शन एवं इतिहास की नयी व्याख्या हुई। इस नये सन्दर्भ में भारतीय देवमंडल और अवतारों से कृष्ण की नैतिकता आदर्श बनी। बंगाल में कृष्ण का भक्ति साहित्य उनके कूटनीतिज्ञ व्यक्तित्व में परिवर्तन करता है। यह स्थिति महाराष्ट्र में भी हुई। मोक्ष के स्थान पर 'शक्ति' की अनिवार्यता स्वीकार की गयी। शक्ति साध्य बनी। इसके लिए किसी प्रकार का साधन स्वीकार किया जा सकता था। यह पुनर्जागरण की उपलब्धि थी।[९]

इसी नयी व्यवस्था से उत्पन्न व्यक्ति नया था। यह था स्वयं निर्मित और लौकिक विवेक से सम्पन्न। इसने वह सभी कुछ अस्वीकार कर दिया जो उसे परम्परावादी समाज, स्तरीकृत व्यवस्था और खोखले आदर्शों से प्राप्त होता रहा है। इस युग का प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं था जो विवेक सम्मत नहीं था। मोक्ष अवतारवाद, स्वर्ग की कल्पना सभी कुछ या तो इसने अस्वीकार कर दी या तो उसकी लौकिक व्याख्या कर दी।[१०] लौकिक उपलब्धि से भिन्न मुक्ति को भी अस्वीकार कर दी गयी। धार्मिक दृष्टिकोण, व्यवहार एवं ढाँचे के साथ नयी सामाजिक आर्थिक शक्तियाँ निहित अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति में धर्म सुधार आन्दोलन का नेतृत्व कर रही थी। धर्मपलायन चाहे वह संन्यासी के ही रूप से हो हो, सभी प्रकार निन्दा का विषय बना। इस युग के अधिकांश रचनात्मक साहित्य के पात्र संयासी हैं जिनका लौकिक लक्ष्य मोक्ष से उच्च माना गया। इसी परम्परा का परिपाक बंकिम के 'आनन्दमठ' में होता है। पूरे प्राचीन भारतीय साहित्य की नयी व्याख्या प्रारम्भ हुई जिसका उद्देश्य था राष्ट्रीय चेतना और जनतन्त्र। यह प्रक्रिया मूलतः राममोहन राय, दयानन्द, विवेकानन्द, बंकिमचन्द्र, रानाडे से लेकर गान्धी तक में विकसित होती है।

मुस्लिम धारा :

ब्रिटिश साम्राज्य का प्रभाव पूरे भारतीय समाज पर पड़ रहा था। मुसमानों में यह अभिव्यक्ति दूसरे रूप में होती है। मुहम्मद बिन कासिम से लेकर सर सैयद अहमद खाँ तक भारतीय राष्ट्रीय चेतना और मुसलमानों के बीच का सम्बन्ध विशेष प्रकार से प्रस्तुत होता है। १४६७ ई० में वास्कोडिगामा द्वारा भारत की खोज अन्तराष्ट्रीय जगत् में इस्लाम और ईसाइयों की प्रतियोगिता का कारण बनता है। मुगल साम्राज्य के पतन और ब्रिटिश सम्पर्क से भारतीय मुसलमानों में पुनरुत्थानवादी, रूढ़िवादी एवं विवेकवादी आधुनिकता का बीजारोपण हुआ। टकराहट के बीच सहिष्णुता का भी स्वरूप प्रस्तुत हुआ। कम्पनी के कर्म-

चारियों ने मुस्लिम वेषभूषा एवं संस्कृति की नकल शुरू की। अंग्रेजी भाषा में उर्दू शब्दों का प्रयोग शुरू हुआ। बेंटिंग के समय तक यह स्थिति निश्चित दिशा नहीं प्राप्त कर सकी।[११] मिर्जा अबुतालिब खाँ ने इस दिशा में कार्य प्रारम्भ किया। १७७५ ई०में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना एवं १७६० ई० में लार्ड कार्नवालिस द्वारा शरब में संशोधन और काजी एवं मुफ्ती के रूप में स्वीकृति से मुसलमानों में अभिनवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। किन्तु अब मुसलमान कानून समझने वाले थे और कानून ब्रिटिश शासन के द्वारा होने लगा।[१२] बाध्य होकर मुसलमान विद्यार्थियों को अंग्रेजी स्कूलों में जाने के लिए फतवे जारी किये जाने लगे।[१३] कुछ ऐसे भी फतवे आये कि यदि अंग्रेज मुसलमानों के मजहब में हस्तक्षेप नहीं करते हैं तो उनसे शत्रुता करना ठीक नहीं है। अब्दुल अजीज की स्वीकृति पर अब्दुल हयी ने ईस्ट इंडिया कम्पनी में काम भी किया। मशहूर उलेमा जैसे सदर अल्दीन खाँ और फजललबहक़ खैराबादी ने भी कम्पनी में काम किया। असफल अल्दौला ने न्यूटन के सिद्धान्त का अरबी में अनुवाद कराया। सआदत अली खाँ और वगाज़ी अलाउद्दीन हैदर ने लखनऊ में प्रयोगशाला बनवायी। करामत अली जौनपुरी ने समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया। अब्दुल लतीफ खाँ ने मुहम्मडन लिटरेरी असोसियेशन सी स्थापना की।

मुस्लिम विशिष्टजन कार्नवालिस और जॉन एलिट के सुधारों से सन्तुष्ट नहीं थे। इन सुधारों से जहाँ हिन्दुओं का मध्य वर्ग जमीन्दार और भूस्वामीवर्ग पैदा हो रहा था वहीं मुसलमान दासता की ओर बढ़ रहे थे।[१४] १८३५ ई० में फारसी के स्थान पर अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बनी। फलतः मुसलमान शिक्षा, न्याय और प्रशासन से कटने लगे। ईसाई मिशनरियों ने इस्लाम पर भी आक्रमण किवा। इन परिस्थितियों में मुसलमानों की प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी जिसकी अभिव्यक्ति थी १८५७ ई० में हुए संघर्ष का नेतृत्व। ब्रिटिश शासन के प्रति घृणा व्यक्त करने वालों में अधिकतर निम्न श्रेणी के लोग थे। वे अपने पतन का कारण अंग्रेजी शिक्षा मानते थे। स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे किन्तु उच्च मुसलमानों का वर्ग ब्रिटिश शासन के प्रति आस्थावान् था। वह इस्लाम की अपेक्षा पश्चिमीकरण की ओर झुका था। १८५७ ई० के विद्रोह में मुसमानों की भूमिका ने उच्चवर्गीय मुस्लिम हित को क्षति पहुँचायी। यह वर्ग ब्रिटिश शासन के प्रति मुस्लिम दृष्टिकोण की व्याख्या करना चाहता था। यह कार्य सर सैयद अहमद खाँ के द्वारा हुआ।

अखिल भारतीय दृष्टि :

प्रस्तुत नयी स्थिति में नये वर्ग का जन्म हुआ जो अभूतपूर्व था, इनके विकास की प्रक्रिया का नेतृत्व ब्रिटिश शासन ने किया। फलतः बंगाल में जमीन्दार एवं भूस्वामी का विकास हुआ। नये औद्योगिक एवं श्रमिक वर्ग में बंगाल और बम्बई में जूट और कपड़ों के कारखाने का बीजारोपण किया। फलतः यहीं पेशेवर वर्गों का सबसे पहले विकास होता है। इस नये वर्गों में मुख्य थे १. जमींदार, २. भूस्वामी, ३. गुमास्ता, ४. कृषक, उच्च मध्यम और निम्न वर्गों से विभक्त, ५. कृषि मजदूर, ६. आधुनिक व्यापारी और ७. सूदखोर। शहरी इलाके में जो वर्ग उत्पन्न हुए उनमें मुख्य हैं, १. आधुनिक पूँजीपति, २. उद्योगपति, ३. कलकारखानों के श्रमिक, ४. बीच के व्यापारी या दुकानदार, ५. पेशेवर वर्ग जैसे वकील;

डाक्टर, प्रोफेसर, पत्रकार, मैनेजर, लिपिक आदि नयी आर्थिक व्यवस्था से उत्पन्न नये वर्ग का इतिहास आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का इतिहास है।

आधुनिक उद्योगों का विकास आधुनिक शोषक वर्ग एवं श्रमिक को नये सन्दर्भ में में प्रस्तुत करता है। फरम्परावादी समाज के धर्म, नैतिकता एवं नियम नये समाज के लिए उपयुक्त नहीं रह जाते। नये समाज की आवश्यकताएँ लौकिक थीं। आधुनिक व्यक्ति नयी पूँजीवादी व्यवस्था एवं आधुनिक समाज का सदस्य था। उसके सम्बन्ध का आधार था, आधुनिक शिक्षा एवं पश्चिमी विज्ञान। प्रत्येक शह' एवं कस्बे से लेकर गाँवों तक यह नया सन्दर्भ प्रस्तुत करता है। प्राचीन समाज के अवशेष सम्मान प्राप्त कर सकते थे, न कि शक्ति। लेकिन राजनीतिक कारण से ब्रिटिश शासन इन अवशेष की सुरक्षा चाहता था। देश के एक तिहाई क्षेत्रफल पर देशी नरेश का शासन था। उनकी अपनी सभाएँ थी और सामन्ती-ताम-झाम। इनमें अतीत की अविकसित भावनाएँ जनता के शोषण के लिए आवश्यक थीं। स्वामी दयानन्द का प्रमुख कार्य-क्षेत्र यही देशी रियासतें थीं। किन्तु उनके द्वारा की गयी धर्म एवं नैतिकता की व्याख्या उदीयमान मध्यमवर्ग में राष्ट्रवादी भावना का जागरण करती हैं। स्पष्ट है कि दयानन्द ने सामन्ती एवं आधुनिक वर्गों को एक साथ नैतिकता प्रदान की, फलत. उनका राष्ट्रवाद सामन्ती एवं आधुनिक दोनों से जुड़े व्यक्ति को आकर्षित करता है।

राष्ट्र निर्माण और उसके साधन :

नयी आर्थिक व्यवस्था, यातायात के साधन, नये सामाजिक वर्ग, नयी शिक्षा, प्रेस, भूस्वामित्व के नये नियम आदि से जो नयी स्थिति पैदा हुई उसकी प्रतिक्रिया में पुनरुत्थान-वादी और पश्चिमी मूल्यों को आत्मसात् करने की भावना से उदारवादी विचारधाराएँ विकसित हुई। पहली का प्रतिनिधित्व दयानन्द करते हैं और दूसरी का राजा राममोहन राय। नयी शिक्षा विश्वविद्यालयों एवं आधुनिक ढंग की शिक्षा संस्थानों से विकसित हो रही थी। ईसाई मिशनरियाँ इसका प्रयोग साम्राज्यवादी हित में कर रही थीं। लार्ड डलहौजी के प्रशा-सन काल एवं चार्ल्सउड के लेखों ने पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली की नींव डाली। परम्परावादी व्यवस्था के विपरीत इस शिक्षा व्यवस्था ने ब्राह्मणों का एकाधिकार समाप्त कर ज्ञान का दर-वाजा सभी के लिये खोल दिया। समाज शिक्षा के आधार पर स्त्री और पुरुष दोनों के लिए समान शिक्षा की व्यवस्था हुई। नये उदारवादी, तकनीकी, विवेकवादी एवं आधुनिक राष्ट्र-वादी विचारों को राममोहन ने वैज्ञानिक तथा समानतावादी विचारों के साथ जोड़ा। उन्होंने मेकाले की शिक्षा नीति का समर्थन किया। आधुनिक भारत के निर्माता इसी शिक्षा की उपलब्धि है।[१५]

आधुनिक सन्दर्भ में पूर्व और पश्चिम में वैचारिक टकराहट शुरू हुई। पुनः जागरण में प्राचीन साहित्य नये सन्दर्भ में प्रस्तुत होने लगा। विकिन्स, जोन्स, कोलबुक, विल्सन, रॉथ, लासेन, बोरनोक तथा ओल्डेनवर्ग संस्कृत के पंडित थे। सेनार्ट, एच० याकाबी, बेबर, लुडविक, लोबी आदि संस्कृत के विद्वान् थे। शापेनहावर, श्लेगन, मेक्समूलर, डायसन आदि विचारकों ने प्राचीन भारत की प्रशंसा की। भारत में आर० एल० मित्र, हरप्रसाद शास्त्री,

आर० जी० भंडारकर, रमेशदत्त तथा बालगंगाधर तिलक के कार्य प्रशंसनीय हैं। थियोसाफिकल सोसायटी ने भारतीय राष्ट्रवाद की आध्यात्मिक चिन्तन की व्याख्या की। अंग्रेजी शिक्षा से उत्पन्न प्रबुद्ध भारतीय अखिल भारतीय स्तर पर नये सन्दर्भ में भारतीय व्यक्तित्व का स्वरूप प्रस्तुत किया।

इसी चेतना जागरण एवं जनसम्पर्क में प्रेस, समाचार पत्र तथा भाषा का योगदान स्पष्ट है। अमृतबाजार पत्रिका नामक पत्र शिशिरकुमार घोष द्वारा कलकत्ता में स्थापित हुआ। १९ फरवरी १८९१ को यह दैनिक पत्र के रूप में बदल दिया गया। १८९१ ई० में 'बंगाली' नामक अन्य महत्वपूर्ण साप्ताहिक पत्र शुरू किया गया। इन पत्रों ने सरकारी नीतियों तथा उनके क्रियाकलापों पर सीधा प्रहार किया। बम्बई में जां-ए-जमशेद : गुजराती : १८३१ ई० में तथा दो अन्य पत्र रस्त गोफ्तार तथा अखबार-ए-सौदागर प्रकाशित हो रहे थे। १८५८ ई० में ईश्वचन्द्रविद्यासागर ने सोम प्रकाश : बंगाली : प्रकाशित किया। १८९१ में टाइम्स आफ इडिया : बम्बई :, १८६५ ई० द पायनियर : इलाहाबाद :, १८६८ ई० में द मद्रासमेल, १८७५ ई० में द स्टेट्समैन : कलकत्ता : आदि अनेक पत्र प्रकाशित हुए। इनसे आधुनिक राष्ट्रीयचेतना प्रसारित करने में योगदान मिला। हिन्दी के सदलमिश्र, राजा शिवप्रसाद, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि के अलावा स्वामी दयानन्द ने हिन्दी को राष्ट्रीय महत्व प्रदान किया। अंग्रेजी की प्रतिक्रिया में दयानन्द का प्रयास राष्ट्रीयता की शुरुआत है।

चूँकि भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन से आ रहा था, इसमें राष्ट्रीयता की भावना वहाँ पहले विकसित हुई जहाँ ब्रिटिश शासन पहले आया। निश्चित ही यह राष्ट्रीय चेतना पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलन की देन है। ऐसे आन्दोलन कुछ विशिष्टजन से प्रारम्भ होते हैं किन्तु इनमें एकता के बीज थे। राष्ट्रीय चेतना की शुरूआत प्रान्त, क्षेत्रीयता, भाषायी समूह आदि से खंडित होकर बंगाली, महाराष्ट्री, अब्राह्मण, कायस्थ आदि संकीर्णताओं से व्यक्त होते हैं। मद्रास एवं उत्तर भारत में पुनर्जागरण आध्यात्मिक या धार्मिक बन गया था। वीर राघवाचार्य, सुब्बाराम, पुत्तल, रंगय्या, नायडू, जी० सुब्रह्मण्य अय्यर ने राजनीतिक चेतना का नेतृत्व किया। किन्तु पश्चिम भारत में पुनर्जागरण मूलतः सामाजिक तथा शैक्षणिक था। मराठा ब्रिटिश शासन से आधुनिक और उसकी चुनौती भी स्वीकार करने के लिए तैयार हो रहे थे। फलतः १८५७ में वे इसीलिए ब्रिटिश शासन का विरोध करते थे। उन्होंने १८८५ई० में कांग्रेस के माध्यम से ब्रिटिश शासन का समर्थन किया और अन्ततः उसका विरोध भी। ज्योतिराव फूले ने सत्यशोधक समाज की स्थापना की। १८४९ ई० में दाबोदा पांडुरन ने ब्रह्म समाज की एक शाखा परमहंस सभा की स्थापना की। प्रार्थना समाज का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। बाल आम्ब्रेकर, नाना शंकर सेतु, विष्णु शास्त्री, गोपाल हरि देशमुख पूना ने हितवादी धारा का नेतृत्व किया। यही परम्परा उदार एवं उग्रराष्ट्रवाद को विकसित करती है।

बंगाल में राजाराम मोहन राय से विवेकानन्द एवं बंकिम चन्द्र तक राष्ट्रीय धारा सशक्त रूप में प्रवाहित हुई। आर० एल० मित्र के अनुसार राष्ट्रवाद विचारधारा कई

दशाब्दियों से क्षेत्रीय और जातीय वर्गों में पनप रही थी। लेकिन प्रारम्भ में यह राष्ट्र महाराष्ट्री, बंगाली या हिन्दू था। १८६७ ई० में नवगोपाल मित्र का चैत्रमेला हिन्दू मेला के नाम से जाना गया, जिसका अधिवेशन १८८० ई० तक चलता रहा। इसने नवयुवकों को नयी चेतना प्रसारित की।[१६] इससे उत्पन्न आत्म शक्ति बंकिम, विवेकानन्द तथा रवीन्द्रनाथ द्वारा व्यक्त होती है।[१७] सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उदारवादी थे। वे जाति को राष्ट्रीयता का प्रतीक मानते है। अरविन्द घोष के भवानी मन्दिर में धार्मिक राष्ट्रवाद व्यक्त होता है। विवेकानन्द सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक राष्ट्र का नेतृत्व करते हैं। राष्ट्र को विकसित करने वाली प्रस्तुत समग्र शक्तियाँ अंग्रेजी शासन एवं अंग्रेजी शिक्षा की देन है। इसमें एक ही अपवाद हैं स्वामी दयानन्द। वे गुजरात में उत्पन्न होते हैं और इन्हें अंग्रेजी का ज्ञान नहीं था।

धर्मसुधार एवं पुनर्जागरण के सन्दर्भ में भारतीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन, धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र में हुई। राजनीतिक चेतना का उदय इन्हीं का परिणाम है। यूरोप में पुनर्जागरण मुख्यतः बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक था। इसमें अतीत को पुनर्जीवित करने की प्रवृत्ति अधिक थी। इस युग के नेताओं ने खुले रूप से वेदों, उपनिषद्, गीता, पुराणों एवं प्राचीन धर्मशास्त्रों के आधार पर अपने वर्तमान जीवन की व्याख्या करनी चाही। हक्सले, डार्विग मिल और स्पेन्सर के विचारों से प्रभावित भारतीय विचारकों को अराष्ट्रवादी कहा गया। अतीत को पुनर्जीवित करने की यह भावना आक्रामक तथा अहंकारणी विदेशी सभ्यता की महान् चुनौती के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में प्रस्तुत करती हुई।

प्राचीन और नवीन की टकराहट से प्राचीन शक्तियाँ नये रूप में संगठित होने लगीं। प्राचीन ग्रन्थों का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से विवेचन किया जाने लगा। यह कार्य सबसे सशक्त रूप में स्वामी दयानन्द ने किया। उन्होंने विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति आर्य, सबसे महान् भाषा संस्कृत, सबसे श्रेष्ठ धर्म वैदिक, सारी मानवता, आर्यावर्त यहाँ तक कि सारे ज्ञान का भाण्डार वेद को माना। उत्तर भारत में पुनर्जागरण या धर्म सुधार आन्दोलन के सबसे सशक्त नेता थे दयानन्द। इनके अनुसार संसार अज्ञान एवं अविश्वास की श्रृंखला से जकड़ा हुआ है। उसे उस श्रृंखला को तोड़ना ही उनका मुख्य कार्य था। अरविन्द के अनुसार दयानन्द की राष्ट्रीयता का स्रोत वेद है। जिन दिनों ब्रिटिश साम्राज्यवाद दृढ़ता से जमा हुआ था, दयानन्द ने स्वराज्य का गौरवगान किया। आर्य समाज जैसी राष्ट्रवादी संस्था की स्थापना की, जिसमें स्वतन्त्रता संग्राम के अनेक योद्धा उत्पन्न हुए। आर्य समाज राजनीतिक संस्था नहीं थी। फिर भी समस्त उत्तर भारत में सामर्थ्य, शक्ति तथा स्वतंत्रता का सन्देश घर-घर पहुँचाया। रोमाँ रोलाँ के अनुसार आर्य समाज ने १९०५ ई० में बंगाल के विद्रोह का मार्ग प्रशस्त किया। दयानन्द पुनर्निर्माण तथा राष्ट्रीय पुनर्गठन के सन्देश-वाहक थे। जब सारा देश सो रहा था, तब उन्होंने अकेले ही देश की रक्षा में जागने का सन्देश दिया। दयानन्द ईसाइयों को सबसे बड़ा संकट मानते थे। उन्होंने भारतीय राजनीतिक स्वतन्त्रता की नींव तैयार की। आधुनिक हिन्दू समाज के संगठन को जो प्रवृति विद्यमान है, उसका मुख्य श्रेय दयानन्द को है। देश और जाति के सम्बन्ध में जो परिभाषा स्वामी दयानन्द ने की, वह उदारवादी राष्ट्रीय धारा से भिन्न नयी राष्ट्रीय धारा को जन्म देती है।

राष्ट्रीय चेतना का परिपाक :

नये संदर्भ ने पूरे देश में राजनीतिक जागरण जिस रूप में प्रारम्भ हुआ उसके प्रतिफल में सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक संगठनों का विस्तार प्रारम्भ हुआ। महाराष्ट्र में सामाजिक तथा बौद्धिक आन्दोलन की अभिव्यक्ति नये समुदायों एवं समाजों के द्वारा हुई। ज्योतिराव फुले: १८२७-१८६५ ने सत्यशोधक मंडल की, १८४९ ई० दावोदा पांडुरंग ने ब्रह्मसमाज की शाखा परमहंसक सभा की शुरुआत की। १८६७ ई० में केशवचन्द्रसेन ने प्रार्थना समाज की पहल दी। बम्बई में महादेव गोविन्द रानाडे और आर० जी० भंडारकर ने यह कार्य पूरा किया। इस पर ईसायत का भी प्रभाव रहा है। १९वीं सदी के दावोदा पाँडुरंग, बालशास्त्री आम्बेकर, न नाना संकरसेत, विष्णुशास्त्री, बम्बई के डाक्टर भाओदा जी, गोपाल हरिदेशमुख आदि पूना के हितवादी कहलाते थे। इनमें सबसे सशक्त रानाडे थे, जिन्होंने राष्ट्रीय चेतना के विकास में नेतृत्व किया। इसी परम्परा में विष्णुकृष्ण चिपलणकर भी थे।

बंगाली चेतना क्षेत्रीय थी। बंकिम के वन्देमातरम् तक से यह व्यक्त होती है। १८७२ ई० में उन्होंने बंग दर्शन की स्थापना की। राजनारायण बोस की "जातीय गौरव सम्पादिनी सभा ने" राष्ट्रीय चेतना को झकझोरा। १८६७ ई० में नवगोपाल मित्र ने "चैत्र मेला" की स्थापना की। जोगेशचन्द्र बागाल के अनुसार यह १८८२ ई० तक चलता रहा। सुरेशचन्द्र बनर्जी ने इस राष्ट्रीय चेतना में अत्यधिक महत्व दिया है। यही परम्परा बंकिम, विवेकानन्द, रविन्द्रनाथ टैगोर में विकसित होती है। २६ जुलाई १८७६ ई० को सुरेन्द्र बनर्जी ने आनन्द मोहन बोस और शिवनाथ शास्त्री की सहायता से इण्डिया असोसियशन की स्थापना की। जिसका उद्देश्य था प्रतिनिधि शासन की स्थापना करना। इसका आधार विरादराना से राष्ट्रीयता की ओर विकसित करना है।[२४] इस युग की कुछ यह प्रतिक्रिया धार्मिक राष्ट्रवाद को जो रूप देती है वह अरविन्द के भवानी मन्दिर में व्यक्त होती है इसे दार्शनिक रूप विवेकानन्द ने दिया था और बिपिनचन्द्रपाल ने भी किया।[२५] स्वामी विवेकानन्द ने सामाजिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि की व्याख्या में राजनीतिक और आर्थिक दर्शन की अभिव्यक्ति की। उन्होंने कहीं राजनीतिक का नाम नहीं लिया, वल्कि राजनीति की नयी विधा से हटते ही रपे विन्दुराष्ट्रवाद की जो विधा उन्होंने व्यक्त की वह पूरे राजनीतिक आन्दोलन का आधार प्रस्तुत करती है।

इस युग में धार्मिक सुधार के लिए ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियासोफिकल सोसायटी प्रार्थना सभा आदि ने जो पृष्ठभूमि तैयार की उसके फलस्वरूप राजनीतिक संगठनों का विकास प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों में यह चेतना धीमी थी।[२६] १८५७ ई० में हिन्दू मुसलमान दोनों साथ-साथ थे किन्तु इसके बाद साम्प्रदायिक राजनीति अलीगढ़ आन्दोलन के रूप में विकसित हुई। १८७७ ई० में समाचार पत्रों पर नियन्त्रण की नीति अपनायी गयी। वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट बनाया गया। इसी के साथ भारतीय शस्त्र ऐक्ट आया। इसके विपरीत जनता में उत्तेजना बढ़ी। लार्ड रिपन के कार्यकाल में इलबर्ट बिल ने इसे और उत्तेजित किया। हरिदास तथा उमा मुखर्जी ने तो यहीं से राष्ट्रीयता का विकास माना है। १८७७ ई० के दुर्भिक्ष के बाद जनता में उग्रता का भी विकास आने लगता है। इन तमाम गतिविधियों का परिणाम है। १८८५ ई० राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना—यह भारत का सबसे सशक्त राजनीतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करने की पृष्ठभूमि से लेकर सामने आयी। इस प्रकार भी राष्ट्रीय चेतना का परिपाक होता है।

1—M. A. Buch, Rise and growth of India Militant Nationalism (1940), P.23.
2—A. R. Desai, Sociological Background of Indian Nationalism, pp. 5–7.
3—Ibid. pp. 165, 173.
4—Ibid. pp. 175–176.
G. P. Gooch, Studies in Modern History, London, 1931, p. 217.
5—Hanorohn, Nationalism: Its Meaning and History, p. 10. Idea of Nationalism, pp. 324–325.
6—Vipin Chandra Pal : Writing and Speeches, 1958, VOl. Ip. 185.
7—A. R. Desai, op. cit. pp. 12–13.
8—Ekbal Singh, Ram Mohan Roy, ❀ 1958, p. 112.
9—Bankim Chandra Chtarji, Krishna Charitra, ed. By B. N. Bandopadhyaya and S. K. Das, 1940, pp. 20·21.
Ekbal Singh, op cit. pp. 6. 63.
C. Chkravarti, The Father of Modern India, Commemoration volume of Raja Ram Mohan Roy, Centinary Celebration,s, 1936, p92.
10-Speeches and Writing of Swami Vivekanand, pp. 406, 7, 15.
11–The Nawabs, (London, 1932) pp 236, 240.
12–G. Renkin, Background to Indian Law (Cambridge 1946) p. 9
E. Fyzee, A Modern Aproach to Islam, p 127–8.
13–T. Anesari, p. 35.
Mirza Hayat Dehlwai, pp. 127-8
14–W W Hanter, Indian Muslman, (London 1872) pp. 147, 166–67 181.
15 Syed Nurnllah and J. P. Nayak, History of Education in India, 1943, p. 179.
16–S. N. Benrjee, A Nation in Making, 1925, p. 7.
17–Haridas Uma Mukerjee, Growth of Nationalism in India, pp. 41.
18–Max Muller, Biogrophical Essays, p. 170.
19–Jawahar Lal Nehru, The Discovery of India, pp. 378–79.
20–Mr. Blunt, Census Report 1911, Quoted by Lala Lajpat Rai, The Arya Samaj, p. 168.
21–V. P. Verma, Modern Indian Political Thougth, p. 36.
22-Lala Lajpat Rai, op. cit. p. 168
23–Zacharia, H. C. R. Renescent India 1938 p. 28.
24–Edited by R.C. Palit, Speeches by Baboo Surendra Nath Banarje, Vol. I. pp. 1–14.
25–Vivekanand Lectures From Colambo to Almora, p. 8.
B. C. Pal, The soul of India, 1911, pp. 191–199.
B. C. Pal, Swadeshi and Swaraja, pp. 85–86.
Aurobindo Ghose, The Ideal of Karama yoga, p. 13.
26–Jawahar lal Nehru Discovery of India pp. 378–79.

भारत समाजवाद की ओर

डॉ० मोहनलाल तिवारी

१५ अगस्त १९४७ को राजनीतिक स्वतंत्रता के ठीक बाद गान्धीजी ने यह घोषणा की थी कि अब देश में 'रामराज' की स्थापना हमारा नया लक्ष्य है। रामराज्य एक महान् आदर्श के रूप में गाँधीजी की कल्पना में घूम रहा था। तुलसीदास के शब्दों में रामराज्य का संक्षिप्त चित्र यह था।

रामराज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप विषमता खोई॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति॥
अल्पमृत्यु नहिं कउनिउ पीरा। सब सुन्दर सब विरूज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥
फूलहिं-फलहि सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन॥
खगमृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लें चलि मकरन्दा॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी॥
सरिता सकल बहहिं वर वारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
दुइ सुत सुन्दर सीता जाए। लव कुस वेद पुरानन्ह गाए॥
दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे। भए रूप गुन सील घनेरे॥

(मानस, उत्तर काण्ड)

तुलसी या गान्धी का यह आदर्श टामसमूर की 'यूटोपिया' (आकाश कुसुम) की तरह एक प्रेरणा का स्रोत है, जिसकी कल्पना के अनुसार राष्ट्रीय जीवन तथा सामाजिक जीवन को मोड़ने तथा नई दिशा देने का संगठित चिंतन और प्रयास किया जा सकता है। देश काल के अनुसार आदर्शों को बदलते रहने की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि प्रत्येक आदर्श का सम्बन्ध जन जीवन के यथार्थ से जुटा रहता है। यथार्थ को बिना देखे मात्र आदर्शों के संसार में रहना वास्तव में या तो समाज और देश को धोखा देना है या पागलपन का प्रचार करना है। यही कारण है कि आदर्श निरंतर बदलते रहते हैं। अतीत में कितने ही प्रकार के आदर्श

समाज के सामने रखे गए, कितने ही प्रयोग में आए, किन्तु अब वे इतिहास की कब्र में जा चुके हैं। सुदूर भविष्य में आने वाले नए-नए आदर्शों की आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

१९५४ में अपनी चीन यात्रा से लौटने के पश्चात् पश्चिमी ढंग से संसदीय जनतंत्र के पोषक पं० जवाहरलाल नेहरू को अपने प्रशासनिक एवं राजनीतिक आदर्श में परिवर्तन का प्रस्ताव करना पड़ा। कांग्रेस के आवड़ी अधिवेशन (१९५५) में उन्होंने कांग्रेस और भारतीय प्रशासन के सम्मुख समाजवादी ढंग का समाज स्थापित करने के लिए एक प्रस्ताव रखा। एतदर्थ कांग्रेस दल के संविधान में संशोधन करना पड़ा। 'रामराज्य' के अति आदर्श में भूली-भटकी कांग्रेस ने एक वैज्ञानिक और संगठित आदर्श की ओर पहला कदम रखा। अँधेरे में एक रोशनी दिखाई पड़ी। तत्पश्चात् देश में 'योजना और समाजवाद' जनता की बातचीत का एक आम विषय बन गया। प्रायः सभी राजनीतिक दलों को भी किसी-न-किसी प्रकार के 'समाजवाद' की नीति अपनानी पड़ी। राष्ट्रीय जीवन के परिवेश में 'समाजवाद' लोकप्रिय होता गया। सरकारी और विरोधी दोनों पक्षों के लिए 'समाजवाद' शक्ति की प्रेरणा का स्रोत बन गया।

सन् १९५५ से १९७६ के २२ वर्षों की लम्बी अवधि पार कर लेने के बाद भी इस आदर्शात्मक शब्द को देश के वर्तमान संविधान में स्थान न मिल सका, किन्तु देश के इतिहास में महत्वपूर्ण परिवर्तन, राजनीतिक घटनाचक्रों के द्रुत प्रवाह एवं विश्व में शक्ति संतुलन में युगांतरकारी मोड़ को देखते हुए भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को संविधान में इस शब्द या आदर्श को प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा मिली। १९७६ में 'समाजवाद' ने हमारे संविधान में अपना स्थान और महत्व प्राप्त किया। अब हमारा संविधान 'प्रभुतासंपन्न, समाजवादी' धर्मनिरपेक्ष जनतांत्रिक भारतीय गणतंत्र (सावरेन सोशलिस्ट सेकुलर डेमोक्रेटिक रिपब्लिक आफ इण्डिया) का संविधान है, जो १९७७ में अनेक 'विरोधाभासों का समन्वय' जनता पार्टी के हाथों प्रयोग के लिए सौंप दिया गया है।

समाजवाद की अगणित परिभाषाएँ की जा चुकी हैं। तुलसी के ऊपर दिये 'रामराज्य' में भी इसकी परिभाषा की झलक मिलती हैं। 'बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप विषमता खोई।' वैर तो दूसरों के आर्थिक-राजनीतिक अधिकारों के अपहरण से होता हैं और विषमता का सामाजिक विषमता का एकमात्र कारण भी वही है। समाजवाद इसी विषमता के यथार्थ को राष्ट्रीय जीवन से सदा के लिए मिटा देना चाहता है। लेनिन ने सोवियत संघ में समाजवादी राज्य की स्थापना के साथ समाजवाद से आगे बढ़कर साम्यवाद की स्थापना के आदर्श की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया कि एक अवधि में उनका देश एक लक्ष्य से आगे बढ़कर दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति इस प्रकार करेगा।

(१) प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार एवं प्रत्येक उसके काम के अनुसार,
(२) प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार एवं प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार।

तात्पर्य यह कि ऐसी समाज व्यवस्था बनाई जाए जिसमें आरंभिक स्थिति में नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार आर्थिक उत्पादन में सहयोग प्रदान करें और उसी के अनुरूप अपने काम के अनुसार वेतन या पारिश्रमिक प्राप्त कर जीविकोपार्जन करें। यह राज्य का कर्तव्य होगा कि वह प्रत्येक नागरिक को उसकी योग्यता के अनुसार काम सौंपे। नागरिक के लिए काम प्राप्त करना उसका अधिकार होगा। यह स्थिति 'समाजवाद' कही जाएगी जो संक्रमणकालीन, प्रयोगात्मक एवं अस्थायी होगी।

चूंकि उत्पादन में सभी बयस्क स्त्री-पुरुष नागरिकों का सहयोग होगा, मुनाफा की स्थिति नहीं होगी, छंटनी-तालाबंदी का प्रश्न नहीं उठेगा, काम के अनुसार पारिश्रमिक मिलता रहेगा; अतः राष्ट्रीय उत्पादन में कल्पनातीत वृद्धि होगी। पूंजीवादी देशों के २ या ३ प्रतिशत वार्षिक उत्पादन वृद्धि का औसत बढ़कर १२ या १५ प्रतिशत, कहीं-कहीं २० या २५ प्रतिशत तक पहुँच जाएगा। अतः ऐसी स्थिति शीघ्र उत्पन्न होगी जब काम के अनुसार पारिश्रमिक की दर में परिवर्तन करना सुगम हो जाएगा। तब लेनिन द्वारा निर्देशित दूसरा सूत्र समाज पर लागू किया जाएगा और नागरिकों को वस्तुओं की आपूर्ति उनके काम के अनुसार ही नहीं, बल्कि आवश्यकता के अनुसार होगी। जब समाज में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जाएगी तो उसे 'साम्यवाद' कहा जाएगा। ये सारी बातें कार्य-कारण सम्बन्ध से लागू की जाएगी, सद्भावना या अनुकंपा से नहीं। उस स्थिति में आर्थिक विषमता घटते-घटते समाप्तप्राय: हो जाएगी। एक वैज्ञानिक या डाक्टर या प्रोफेसर को पेशे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औसतन कुछ अधिक पैसे देने की आवश्यकता पड़ेगी। एक व्यक्ति के काम के घंटे कम हो जायंगे। उसे अध्ययन, मनोरंजन एवं यात्रा के लिए अधिक समय मिलने लगेगा। शिक्षा, और चिकित्सा की सुविधा निःशुल्क होगी। खाद्य पदार्थों की आपूर्ति अधिक और मूल्य कम होता जाएगा। सोवियत संघ में १९७१ में एक डबल रोटी ११ कोपेक की थी, जो १९७४ में ९ केपेक की हो गई। आबादी में वृद्धि होने, अन्तरिक्ष प्रयोगों के व्यय में भारी वृद्धि होने तथा सामयिक बजट में अतिशय वृद्धि होने पर भी रेल-बस के किराये में वृद्धि नहीं हुई। बिजली एवं गैस की दर ज्यों की त्यों बनी रही। उधर तृतीय विश्व के पिछड़े देशों की आर्थिक सहायता में अपार वृद्धि हो गई। एक वर्ष में बोकारो जैसे दस कारखाने दुनियां को समर्पित किये गये।

भारत में रामराज्य, गांधीवाद, सर्वोदयवाद, सम्पूर्ण क्रान्ति, देशी समाजवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद जैसे अनेक भ्रामक आदर्श पूंजीवादी विचारकों एवं राजनीतिज्ञों द्वारा जनता के सामने उसे गुमराह करने के लिए समय-समय पर प्रचारित किये जाते रहे हैं। ये सब निरर्थक हैं। पूंजीवाद के शोषण और लूट-खसोट और अभाव से देश का गला नहीं छूट सकता। अतः भारत के उद्धार के लिए लेनिन के दो सूत्र ही एकमात्र विकल्प हैं। वही समाजवाद है, उसी ओर भारत की नई पीढ़ी को बढ़ना है।

—:०:—



'बन्दी'

सुशील कुमार त्रिपाठी
बी० एफ० ए० (अंतिम वर्ष)

यह भी एक संयोग है कि खुली वायु का चारा चुगने वाला पक्षी आज पिंजड़े के दूध-भात का मेहमान है। इस अप्रत्याशित सुख की चाह उसे कतई नहीं है पक्षी के फड़फड़ाते पंख और उसके चेहरे से उड़ती हवाइयों से यह स्पष्ट हो रहा है। इस जाल से छुटकारा पाने के लिए पंक्षी हर संभव प्रयत्न कर रहा है—जिसे तैल-रंगों के माध्यम से अभिव्यक्ति देने में चित्रकार सफल है। युवाचित्रकार सुशील कुमार के 'बन्दी' चित्र को देखकर सहसा ये पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं—

"अधीन होकर बुरा है जीना,
है मरना अच्छा स्वतन्त्र होकर।"



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित भारत कला-भवन में नटराज की प्रतिमा

भारत कला भवन की एक काँस्य नटराज प्रतिमा

कु० हंसा पटेल

शोधछात्रा, आर्ट एण्ड आर्टि टेक्चर

ॐ शि व य न मः

ॐ शिवयनमः के पंच अक्षर के माध्यम से शिव को स्मरण करके भारत कला भवन, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी के संग्रहालय में संग्रहित एवं पुरातत्व क्रमसंख्या २००८२ मद्रास सरकार से दान में प्राप्त प्राय: १४ वीं शती की एक अत्यंत ही सुन्दर नटराज की मूर्ति के विश्लेषण करने की चेष्टा यहाँ की जा रही है। भारत कला भवन के मूर्ति मंदिर के मध्य स्थल में यह मूर्ति वर्षों दर्शकों को बहुत ही आकर्षित करती आ रही है, परन्तु इस मूर्ति के बारे में विशद ज्ञान नहीं जानने के कारण दर्शकों के द्वारा जितनी इसकी प्रसंशा होनी चाहिए जो नहीं हो पायी है। कांस्य में बनायी नटराज की यह मूर्ति नृत्यरत शिव का स्तब्ध रूप है जो मूक मगर बहुत सारी कथायें अपने अन्दर छिपाये हुयी है। प्रस्तुत लेख में इस मूक देवता को स्पष्ट करने की कोशिश है।

जहाँ तक कांस्य का प्रश्न है जैसा कि हम लोग जानते कि काँस्य कला के इतिहास की शुरुआत सिन्धु घाटी से लेकर आज तक चली आ रही है। उत्तर भारत में शिव के नटराज रूप का अंकन गुप्तकाल में प्रचलित था। मेघदूत में उसकी कई झाँकियाँ है। पाषाण में भी उसके इस काल वाले उदाहरण विद्यमान है किन्तु इसका निखार चोल काल में, जो ९वी शती के मध्य से चला, कावेरी काँठे में हुआ। वहाँ इस रूप को धातु में अनूदित करने वाले कलाकारों ने एक नये साँचे में ढाला, एक नया स्पन्दन पैदा किया, उन्होंने इससे इसके तराशे घनेपन में एक साथ लोल लचक और तनाव-मरोड़ एवं गठे अंग, अंग की फड़कन देखते ही बनती है। नटराज मूर्तियों का भंग यद्यपि समभंग या अभंग ध्वनित होता है। अर्थात्, 'समकाय शिरोग्रीव' किन्तु वस्तुत: इनका भंग अतिभंग है, जो उनके कटि प्रदेश मुरेर या ऐठ से व्यक्त होता है और यही मुरेर नर्तन ध्वनित करती है।

जिस प्रकार नाचती हुई फिरकी की गति जब अपनी पूर्णता को पहुँच जाती है तो बिलकुल निकम्प हो जाती है, मानो वह जहाँ की तहाँ ठहरी हो और उस थिरकन में ही उसकी आकृति दीखने लगती है, वही भावना नटराज मूर्ति को देखने पर होती है।

प्राचीन काल से आज तक जो काँस्य मूर्तियों का निर्माण हुआ है वह ध्रुवेरा के लिए नहीं बनी है अर्थात् मंदिर में स्थापित या अचल मूर्ति नहीं है। ये चल मूर्तियाँ है, जिनका उपयोग उत्सवों की यात्रा और जुलूसों में होता है। इसी से इन्हे उत्सव मूर्ति या भोग मूर्ति कहते हैं। इनको सवारियाँ बड़े घूमधाम से निकलती है। दक्षिण भारत में जितनी भी काँस्य

मूर्तियों बनी उनमें सबसे उल्लेखनीय नटराज की मूर्तियाँ है। ये १० वीं ११ वीं शती से लेकर १८ वीं १९ वीं शती तक दक्षिण भारत में बनी है परन्तु चोल काल में बनी काँस्य मूर्तियाँ शिल्प की दृष्टि से सर्वोत्तम है। यद्यपि काल निर्धारित चोल कालीन मूर्ति बिल्कुल नहीं मिलती है, लेकिन मूर्तियों के शिल्प वैशिष्ट्य को देखते हुए कुछ मूर्तियाँ चोल कालीन नटराज की मूर्तियों के सबसे सुन्दरतम् उदाहरण माने गये हैं। जो मद्रास संग्रहालय, कोलम्बो संग्रहालय, अमरीका के बोस्तन तथा अन्य कई संग्रहालय, और एमस्टरडम ऐसाटिक आर्ट सेक्सन आदि में नटराज प्रतिमा के उत्कृष्ट उदाहरण फैले हुए है। इन सभी में सबसे सर्वोत्तम उदाहरण एमस्टरडम वाला है जो १३वीं–१४वीं शती का है।

जहाँ तक काँस्य प्रतिमाओं के तकनीक का प्रश्न है वह मधुयिष्ट विधान से बनी है। यह विधान बहुत प्राचीन हैं इसका उल्लेख कई प्राचीन पुस्तकों में मिलता। 'मानसार' मानसोल्लास, सुप्रभेदागम्, करुणागम, विष्णु संहिता, शिल्परत्न इत्यादि में मधुयिष्ट विधान से मूर्तियाँ कैसे बनायी जाती थी इसका विस्तृत विवरण है। 'ऋग्वेद' में भी इसका विवरण मिलता है जिसके अनुसार दो प्रकार से काँस्य मूर्तियाँ बनती है। प्रथम 'घन' यानि ठोस दूसरे, 'खोखला' यानि अन्दर से पोली बनायी गयी हो। उल्लिखित नटराज मूर्ति अन्दर से पोली है और प्रायः मधुयिष्ट विधान के द्वारा ही निर्मित की गयी है।

'कोइल' पुराण के अनुसार नटराज मूर्ति का निर्माण एक कथा से सम्बन्धित है। एक बार शिव और विष्णु मोहनी रूप में एक साथ तारक नामक वन के अन्दर से जा रहे थे। उस वन में कुछ साधु-संत तपस्या में लीन थे जब उन्होंने शिव को मोहनी रूप में आते देखा तो उनका ध्यान विचलित होने लगा। तब उन लोगों ने अपनी तेज शक्ति से एक बाघ को बनाया और उसे उन दोनों को मारने भेजा। शिव जी ने बाघ को मारकर उसकी खाल नाखूनों से साफ करके अपने निम्नास में धारण कर लिया। अब साधु-सन्तों ने अपनी तेज शक्ति के द्वारा एक जहरीला सर्प बनाकर उन्हें मारने के लिए भेजा। परन्तु शिव ने उसे अपने बस में लाकर अपने हाथों में धारण कर लिया। इसी समय से शिव का नाम 'फणीभूषण' हुआ। अब इन साधु संतों ने एक भयंकर एवं शक्तिशाली अपस्मार पुरुष या मल, को इन्हें मारने के लिये भेजा। शिव ने उसे लड़ाई से हराकर उसको कुचल करके अपने दाहिने पैर के नीचे रख लिया। अब साधु-सन्तों ने विचार किया कि जरूर यह कोई शक्ति-शाली पुरुष है। शिव जी ने देखा कि अब कोई उनकी तरफ नहीं आ रहा है तो उन्होंने नादन्त नृत्य शुरू किया। इस कारण उनके चेहरे पर कोई विक्रान्ति या क्रोधित भाव नहीं है।

संसृति की इस क्रिया को शैव आगमो (शास्त्रों) में पंचकृत्य कहा है जो इस प्रकार है। सृष्टि, स्थिती, संहार तिरोभाव (माया का आवरण) और अनुग्रह (मुक्ति) यह नृत्य अविद्या के नाश के ज्ञान की अवाप्ति का सूचक हैं। भाव पक्ष में यह नृत्य परम शिव के आनन्दातिरेक का मूर्त रूप है। भगवान शंकर स्वयं कहने हैं—

सोऽहं प्रेरयिता देवः परमानन्द-संश्रितः।
नृत्यामि योगी सततं यस्तद्वेद स योग वित्॥

कूर्म पुराण, २।४।३४।

भक्तों के अन्तस् में वही नटराज अहर्निश नाचा करते हैं जिससे उनका रोम-रोम पुलकित रहता है। कला, संगीत और शब्द शास्त्र का उद्गम भी नटराज नर्तन है।

वास्तव में ये पंचकृत्य पाँच विभिन्न देवताओं को सौंपा गया था। (१) सृष्टि के लिए ब्रह्मा (२) स्थिति के लिए विष्णु, (३) संहार या प्रलय के लिए रुद्र (४) अनुग्रह के लिए महेश्वर (५) तिरोभाव के लिए सदा शिव। मगर यहाँ पर पंचकृत्य नटराज स्वयं कर रहे हैं। यह जो पंचकृत्य है उसमें शिव का बीज मंत्र है जो उनसे संबंधित है ॐ शिवयनमः, पंच अक्षर पंचकृत्य से सम्बधित है। शि से डमरू, व से गजहस्त, य से अभय, न से अग्नि, म से पैर वह जो मोह का नाश कर रहे हैं। ॐ ओमकार है जो तिरुवासी है।

'वाक्यपुष्पोपहार' (महिम्नस्तोत्र) में नटराज का क्या ही सजीव अंकन है— "आपके पाँव की ठोकर से पृथ्वी की स्थिति संशय में पड़ जाती है। आकाश में भुज-परिधियाँ के घूमने से ग्रह नक्षत्र व्याकुल हो उठते हैं और जहाँ से टकरा कर स्वर्ग डगमगाने लगता है। फिर भी आप जगत की रक्षा के लिए नाचते हैं (क्योंकि इस विसृष्टि में ही नयी सृष्टि निहित है)। कैसी अटपटी है आपकी विभुता।

महो पादाघाताद्व्रजति सहस संशय पदम्।
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भु जपरिघरुगणग्रहगणम्॥
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं पात्यानिभृतजटाताडित त हा।
जगद्रक्षा चैत्वं नटसि ननुवामैव विभुता॥ ६॥

कला मर्मज्ञों का यह निरीक्षण बड़े ही मार्के का और बिल्कुल ठीक है कि भारतीय मूर्ति शिल्प केवल दो कृतियाँ निर्माण करने में समर्थ हुई है एक तो शान्ति और स्थिरता की अभिव्यक्ति बुद्धमूर्ति, दूसरी गति और सृष्टि का निदर्शन-नटराज मूर्ति।

भारत कला भवन की नटराज काँस्य मूर्ति में सबसे नीचे विश्व पद्म है विश्व पद्म के ऊपर गणरूप अपस्मार पुरुष पर नाचते हुए शिव वृत्ताकार ज्वालावलि से मंडित है जिसे दक्षिण भारत में 'तिरुवासी' कहते हैं। भव्य, सस्मित साथ ही गम्भीर मुख मण्डल, अंगों में फड़कन, हाथ पाँव की भरी गदोलियाँ, लचीली अंगुलियाँ—सुठार एवं बारीक तराशी हुई।

इनके तीन नेत्र हैं, चार भुजाएँ हैं। ये भुजाएँ कंधे से निकलती हैं—दो आगे और दो पीछे है। दक्षिणावर्त क्रम से अगला दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है। उसमें वलय के रूप में एक नाग लिपटा है, पिछले दाहिने हाथ में अंगूठे, तर्जनी और कनिष्ठा से पकड़ा और मध्यमा तथा अनामिका अंगुलियों पर आधृत डमरू बज रहा है। पिछले बाएँ हाथ की हथेली पर अग्निशिखा है। हाथ की इस मुद्रा का नाम अर्धचन्द्राहस्त है। अगला बायाँ हाथ वक्षस्थल के सामने गजहस्त या दन्डहस्त मुद्रा में तिरछा नीचे की ओर जाता हुआ लम्बायमान है।

दाहिना पैर अपस्मार को दाबे हुए हैं। अपस्मार अपने एक हाथ में सर्प लिये हुए हैं। ये अपस्मार पुरानी परम्परा भरहुत में यक्ष मूर्ति की याद दिला देती है। 'गुडीम्मल' के शिव मूर्ति में यही परम्परा दृष्टिगोचर होती है। बायाँ पैर नृत्य को गति में थोड़ा मुड़कर उठा हुआ है, पैर की यह मुद्रा कुंचित पाद कहलाती है।

अपस्मार पुरुष मूल अविद्या का रूप है जिसके नाश से सम्यक् ज्ञान का समुदय होता है। यह माया व मोह है यो कहें कि अहंकार का प्रतीक है जिसे निचोड़कर भक्तों को आगे बढ़ना है। मुद्राओं एवं आयुधों का भारतीय कला में प्रतीकात्मक अर्थ है। डमरू-सृजन का नाद करता, भगवन् के करतल-गति से। क्योंकि कहा जाता है कि डमरू से जो ध्वनि होती है उससे ब्रह्मा की सृष्टि हुई है। इसे वैज्ञानिक भी सही मानते हैं कि कम्पन से सृष्टि की रचना हुई थी। कुछ लोगों का मत है कि जिस प्रकार से शिव ने डमरू को पकड़ रखा है। उससे एक तरफ भविष्य दूसरी तरफ अतीत और बीच में सन्तुलन को बनाये रखा है। यदि डमरू को सृष्टि का प्रतीक मान कर चले तो शिव जगत में सृष्टि के कारण है। अभयमुद्रा भक्तों की भवभीती से रक्षा करती है। अग्नि-प्रलय का सूचक है। गजहस्त बायें चरण की ओर इंगित करता है जो ऊपर उठा हुआ है। उनकी शरण में जाने से जीव-मुक्ति प्राप्त करता है। ज्वाला-वली तिरोभाव का सूचक है।

नटराज का यह जो सम्पूर्ण रूप भक्तों एवं दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करता हैं वह मानो उनसे कह रहा है कि अगर जन्म और मृत्यु का जो निरन्तर चक्र चल रहा है यदि उससे मुक्ति पाना है तो जो उनकी शरण में जायेगा वह संसार के बंधन से मुक्त होगा तथा सदा अभय रहेगा। ज्वालावली तिरोभाव (माया का आवरण) का सूचक हैं कुछ पण्डितों के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अंतर्निहित शक्ति का प्रतीक हैं।

नटराज के मस्तक पर रत्न खचित उष्णीष भूषण है, केश कलाप अंशतः, जटामुकुट रूप में मंडित है जिसमें एक कपाल ग्रथित है उसका बंधन नाग है। उसके ऊपर पंखों का किरीट है बायी ओर चन्द्रकला है, नीचे धतूरे का तिहरा फूल है। पीछे जटा का अलंकृत जूड़ा है। उसके पीछे गरदन के पिछले अंश पर तेरह छल्लेदार लटें पड़ी है। जूड़े के अगल-बगल से जटा की दस-दस लटें हैं जो नृत्य की लय में दोनों ओर लहरा रही है जिसमें फूल और जड़ाऊ टिकरो का सिंगार है। दाहिने ओर की सबसे ऊपर वाली लट पर गंगा है जिनका निचला तन उर्मिमय है शेष खुले अंग आभूषित है।

यहाँ गंगा जी के बारे में कई विचार है। यह जीवन स्रोत का प्रतीक है। जीवन स्रोत के हर पहलु, हर घट, हर जगह शिवजी का आशीर्वाद चाहिए। गंगाजी शिवजी का जलमयी रूप है। जिसे क्रोध से शिवजी ने बाघ, सर्प और अपस्मार पुरुष का दमन किया है, यदि उस क्रोधित रूप को शान्त नहीं किया गया तो पूरे संसार का नाश हो जायगा। ऐसा प्रतीत होता है कि गंगा जी हाथ जोड़ कर उनके क्रोध को अपनी शीतलता से शान्त करती है। गंगाजी धी शक्ति की प्रतीक है। इतनी बड़ी विद्या के रूप को केवल महादेव जी ही अपने मस्तक पर धारण कर सकते हैं।

जटा मुकुट में जो कपाल दिखायी देता है वह हंसता हुआ प्रतीत होता है। जब नटराज ने अपना नादन्त नृत्य शुरू किया तो नृत्य को साथ देने के लिये संगीत देने का विचार हुआ। जब कपाल के अन्दर से हवा बहती है तो उसमें से एक अजीब सी भंयकर आवाज निकलती है। वह आवाज नटराज के नृत्य को और भी नाटकीय कर देती है। और यह भी माना जा सकता है कि हंसता हुआ कपाल उन लोगों को देखकर

कर हंस रहा है, जो यह नहीं समझते हैं कि एक दिन उन्हे भी मृत्यु के चक्र में आना है। हाथ एवं जटा मुकुट में जो सर्प है वह काल का प्रतीक है। शिवजी ने काल का जय कर लिया हैं; अर्थात वह मृत्युजंय है।

दाहिने कान में मकर कुंडल एवं बायें कान में पत्र कुंडल है। मध्यकाल से दो कानों में दो प्रकार के कुंडल पहनने की चलन चल पड़ी थी। इसके साथ ही यह अर्ध नारीश्वरत्व का सूचक भी है। कुण्डलों के पीछे से एक एक लट कंधे पर आयी है, जिसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर जड़ाऊ टिकरे लगे हुए है। कंधे पर लहराता उत्तरीय पड़ा है जो लटका हुआ है। सेल्ही के रूप में बाये कंधे से उपवीत दाहिने कटि प्रदेश तक पहुँचा है। कंठ में तिहरा हार और रुद्राक्ष की माला है। बाँह में भुजबन्ध और बाँक, हाथों में वलय (कंगन) अंगुलियों में अंगुठियाँ, एक पट्टीदार अलंकार के रूप में पेट पर कसा हुआ उदर बन्ध। कमर में लहरदार किनारी वाली व्याघ्राम्बर की कछनी कछी, जिसकी छत्राकृति काँच पीछे खुली हैं। कछनी पर छोटी-छोटी घंटिका और करधनी है। पिंडलियों के निचले अंश में एक घुँघरू वाली पतली चुस्त सिकड़ी है। पैरों में नूपर एवं उसकी अंगुलियों में छल्ले हैं।

अपस्मार पुरुष एक बौने के रूप में है वह कुचला हुआ दाहिनी करवट पड़ा है। घोर सत्वता सूचक दो आँखे मुँह के बाहर निकली है उसके दाहिने हाथ में नाग है। उसकी एक टांग सिकुड़ी हुई कुंचित पादमुद्रा में है; उसके नीचे पद्मपीठ है।

नटराज के चारो तरफ वृताकर में ज्वालावलि का प्रभामण्डल है जिसमें प्रज्वलित अग्नि शिखायें हैं। नाचते हुए शिव से उद्भूत ज्वाला का वर्णन कूर्मपुराण-गत ईश्वर गीता में है—

सृजन्तमनल ज्वालां दहन्तमखिलं जगत्।
नृत्यन्तं ददृशुर्देवं विश्वकर्माणमीश्वरम्॥
—२।५।११

ये अग्नि शिखायें प्रभामण्डल के निचले हिस्से से ऊपर की ओर उत्तरोत्तर बड़ी होती गई हैं।

शैली के अनुसार नटराज प्रतिमाओं को मुख्यतः दो कालों में बाँट सकते हैं। चोल शैली—९वीं से १३वीं शती तक और विजयनगर शैली १३वीं-१४वीं से आधुनिक काल तक। भारत कला भवन की नटराज कांस्यमूर्ति विजयनगर शैली की है। चोल शैली वाली नटराज मूर्तियों में मुख्य अंतर ये होते हैं—लम्बोतरी देह, लंबे हाथ-पाँव और लम्बोतरा चेहरा, घोड़े की नाल की शकल का ज्वाला मण्डल, उदर पर एक सकरे पट्टे का दुपट्टा जो बायी ओर की पैर से बँधा रहता है। उसके छोटे, नृत्य की गति में फहरते है। उन-मूर्तियों में अलंकरण कम-ज्यादा रहता है। विजयनगर शैली में क्रमशः अलंकरण की अधिकता और प्रवेग की न्यूनता होती गई।

ऐसा प्रतीत होता है कि नटराज नृत्य के माध्यम से सृष्टि नींव को तीन चित्र से अवगत करना चाहते हैं—इस नृत्य के माध्यम से अनन्य भक्तों को यह बताते है कि किस प्रकार मोह-माया के बन्धन को तोड़ कर मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर सकते हैं।

२—शिवजी का यह नृत्यरूप दृश्य का अवलोकन करता रहे। ३—यह ब्रह्माण्ड है उसकी इसमें वे समता एवं रक्षा कर रहे हैं।

एक तरफ सृष्टि तो दूसरी तरफ विध्वंस है। इस छद्ममयी क्रिया को नटराज अपने ढंग से करते आ रहे हैं।

यह नटराज मूर्ति रचनात्मक रूप में एक बहुत ही सुन्दर रूप लिए हुए है। इसे दूर से देखने से लगता है कि यह मूर्ति घूम रही है। इसमें जो विवर्तन गति है उसमें प्रचण्ड वेग है। इसका कोई आदि और अन्त नहीं है। यह नृत्य अविरल गति से चल रहा है, ऐसा प्रतीत होता है मानो हमेशा इसी तरह चलता रहेगा। इसकी गति को दिखाने के लिए शिल्पी ने बड़ी कुशलता का परिचय दिया है। जो प्रचण्ड गति ललकारती अग्न की शिखायें, ऊपर वाला बायाँ हाथ एवं दाहिना हाथ देखने से लगेगा कि हाथ ही एक चक्राकार रूप में घुम रहा है। इस गति को महाजाल की चंचलता ने और भी गतिशील कर दिया है। तिरुवासी (ज्वालावलि) में जो गति है, इसमें एक तरफ मूर्ति के बाहरी ओर और दूसरी तरफ जहाँ से गति निकलती है वह बहुत शान्त स्थिति में शरीर के मध्यभाग में स्थित है। एक तरफ उदान्त गति बीच में शान्ति, परस्पर विरोधी चित्र में ही इस मूर्ति की सुन्दरता निहित है।

मुख्य मूर्ति को एक रेखा से तीन रेखा में बाँटेंगे तो लगेगा स्वतिक में गति बँटी हुयी है। गतिशील स्वतिक में ही कलाकार ने मूर्ति को बाँटकर बनाया है। इस स्वतिक का दण्डसूत्र बिन्दु जिसमें मूर्ति घूम रही है वह दण्डसूत्र है, ऊपर के हाथ से पैर जो बहुत ही शक्तिशाली एवं सन्तुलन में हैं जिस पर मूर्ति की रचना की गयी है।

नटराज मूर्ति को शिल्पी ने बड़ी कुशलता एवं बारीकी के साथ अंकन किया है। इससे नटराज शक्तिशाली पुरुष को प्रवाहमयी शक्ति के साथ बनाया है—इसके शिल्पी की कुशलता परिलक्षित होती है। उसने शरीर के अंगों को एक आकार से दूसरे आकार में ले जाते समय वास्तविकता के साथ दिखाया है। हाथ व पैरों की उगुलियाँ बहुत ही वास्तविक जान पड़ती है। नुपूर इतने जीवन्त हैं कि लगता है कि ध्वनि कर रहे हैं। अपस्मार पुरुष की पीड़ा से बाहर निकल रही आँखे हैं—ये पीड़ामयी आँखे एक भयंकर समाप्ति की सूचना मुख से आँखों द्वारा प्रकाशित कर रही हैं।

उपरोक्त विवरण पर विचार करके भारत कला भवन में संग्रहित नटराज काँस्य मूर्ति को, संसार की नटराज की सुन्दरतम् मूर्तियों के सन्निकट ले जा सकते हैं। नटराज का यह नादन्त नृत्य कभी भी शान्त नहीं होगा। हमेशा इसी प्रकार से अविरल गति से चलता रहेगा इसका न कोई आदि और न कोई अन्त हैं।

●

काशी की प्रसिद्ध मृत्तिका कला

राजेन्द्र सिंह
एम. ए. अन्तिम वर्ष (कला–इतिहास)

भारत में मृढ़ मूर्तियाँ प्राचीन काल से बनती चली आ रही हैं। आरम्भिक मौर्य काल से गुप्त काल तक इनका विकास परिलक्षित होता है। जिसके उदाहरण भारत कला भवन, काशी में ही नहीं वरन् इलाहाबाद और लखनऊ के संग्रहालयों में भी है। वाराणसी के अगियावीर में बहुत सुन्दर मिट्टी के बर्तन, खिलौने जो शुंग व कुषाण काल के हैं पाये गये हैं। दिघवत, प्रहलादपुर, हाथी बरनी, हिंगुतार और अन्य जगहों पर इनके उदाहरण प्राप्त हुये हैं। इससे कहा जा सकता है कि वाराणसी के कुम्हार पहले से ही उच्चकोटि की कलाकृतियों का निर्माण करते थे; जिसका उल्लेख जातक में मिलता है।

गुप्त काल से ही यह कला बहुत उन्नत थी जिसके उदाहरण राजघाट की खुदाई में मिलीं मूर्तियाँ-गहने बर्तन इत्यादि हैं। यही नहीं बहुत ही छोटे जगह में काफी मात्रा में सामान प्राप्त हुए हैं जिनकी संख्या करीब २०६० हैं। इन पर जो रंग होते थे वे काफी सराहनीय हैं, य दो कारणों से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम ये उच्च स्तर के होते थे, सिर्फ भारत में ही नहीं बल्कि अन्यत्र भी क्योंकि इनमें उस समय के सामाजिक जीवन की झांकियाँ मिलती हैं। उसमें गुप्त काल के बहुत किस्म के कपड़े और बालों की डिजाइन देखने को मिलती है, यह उनकी विशेषता थी। यह कहना गलत नहीं होगा कि ये अपने आप में एक कविता हैं जो कवि ने सुन्दरता से प्रदर्शित किया है। गुप्त काल की औरतों के बाल कालिदास की नायिका अलका की तरह है। गुप्त काल की मूर्तियों के बाल को देखकर लगता है उनके सिरों पर तरह-तरह के बालों को टोपियाँ लगाई गयी है। कुछ ऐसे उदाहरण प्राप्त हुए हैं जिनके बाल मोर के पंखे की तरह के हैं। बाल को छल्ले की तरह काढ़कर बनाये गये हैं इसका उल्लेख मेघदूत में आया है। आँखें गोली, लम्बे नाक पूरे होठ और भरे गाल दिखाये गये हैं। औरतों के बाल मधुमक्खी के छत्ते की तरह बनाये गये हैं। कुछ मूर्तियों में बाल एक या तीन गांठ के साथ बांधे दिखाये गये हैं जो फूल, माला इत्यादि से सजाये हुये हैं। करीब ६ मूर्तियों के बाल जो दाहिने तरफ चटाई की तरह बने हुये तथा बायें घुँघराले हैं। परमेश्वर और पार्वती की तरह कहे जा सकते हैं।

ये सभी मूर्तियाँ साधारण मनुष्य व नारियों की हैं जो राजकुमारों एवं राजकुमारियों की तरह की हैं। बहुत सी मूर्तियाँ वाद्ययंत्रों के साथ कार्यों में तीन मूर्तियाँ प्राप्त हुयी हैं। इसी तरह झूला-झूलते हुये, बालक तथा आभूषणों से अलंकृत स्त्री इत्यादि प्रकार की अन्य

मूर्तियाँ प्राप्त हुयी है। इनसे उस समय की संस्कृति एवं प्रकृति से लगाव ज्ञात होता है। अन्य उदाहरण नृत्यरत दम्पत्ति, क्रीड़ारत, किन्नर मिथुन, शिकारी हरिन को घास (खिला रहा है ', वह बड़ा कोट पहना है इत्यादि तरह-तरह की मूर्तियाँ प्राप्त हुयीं हैं।

अन्य सभी कलाओं की तरह यह कला ७ वीं व ८ वीं शती के बाद ह्रास की ओर जाने लगी तथा मूर्तियों की सुन्दरता कम होने लगी। परन्तु जो इन मूर्तियों द्वारा सामाजिक जीवन की झांकी दिखायी पड़ती थी वह बाद के भी काल में कायम रही। इस ह्रास के बावजूद बनारस में मिट्टी के खिलौने बनते रहे, ये कृष्ण नगर की तरह बनते थे। यहाँ तक कि लखनऊ के कला को प्रभावित न कर सका तथा वाराणसी के सामने फीका रहा। यह शहर अपने खिलौने पूरे उत्तरी भारत में खासतौर पर दिवाली त्यौहार पर आज तक भी जाता है। १९ वीं शती में वाराणसी के कलाकारों ने महाराज बनारस ईश्वरी नारायण सिंह की मूर्ति बनाने का प्रयास किये एवं इसमें आशातीत सफलता प्राप्त हुयी। इसके बाद उन्होंने महाराजा प्रभुनारायण सिंह की भी मूर्ति बनायो। वर्तमान समय में पाँच साहित्यकारों की मूर्तियाँ बनाने का प्रयास हुआ। इस कार्य में कबीर, तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द्र और प्रहलाद की है। सिंह शीर्ष की भी सुन्दर कृतियाँ बन रही हैं।

वाराणसी विशाल पैमाने पर त्यौहार मेले पूरे वर्ष मनाता आ रहा है, जिनमें हर त्यौहार मिट्टी की मूर्तियाँ, खिलौनों से संबन्धित रहते हैं। जिससे खिलौने व मूर्तियाँ उसी उत्सव पर प्राप्त हो सकते हैं जिनसे संबन्धित रहते हैं यह परम्परा आज तक वर्तमान है। इस परम्परा में वाराणसी का एक महत्वपूर्ण त्यौहार दीवाली है इस अवसर पर मिट्टी के बर्तन व खिलौने दोनों प्राप्त होते हैं। बर्तन मांड़ जो कि विभिन्न आकार के होते हैं एक के ऊपर एक रख कर पूजा के लिये सजाये जाते हैं। इसमें दानें एवं मिठाइयाँ भर कर रखी जाती हैं जो पूजा के बाद बहनें अपने भाइयों को खिलाती हैं एवं उनके दीर्घायु होने की कामना करती हैं। ये बर्तन विभिन्न रंगों लाल, हरे. नीले से सफेद जमीन पर रंगे जाते हैं। इस उत्सव पर दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु दिया होती हैं जिसमें घी या तेल डालकर वत्ती कपड़े की डाल कर जलाते हैं। खिलौना इस त्यौहार का सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। यह सुनहले रंग से रंगी होती हैं। इसके हाथों में बने दिये में भी घी, वत्ती डालकर रात को जलाते हैं, इसे ग्वालिन कहते हैं।

दूसरा त्यौहार जो मिट्टी की मूर्तियों से संबन्धित है गणेश चौथ। इस त्यौहार के दिन गणेश की मूर्ति की पूजा की जाती है। इस अवसर पर बाजारों में काफी मूर्तियाँ बनाकर दुकानें लगाई जाती है। इसी प्रकार दुर्गा पूजा के अवसर पर काली की मूर्ति भी बनती है जो सिंह पर सवार आठ भुजाओं वाली होती है जिसके हर हाथ में अस्त्र होते हैं बनती हैं तथा बाद में इसे गंगा नदी में प्रवाहित कर देते हैं। सरस्वती पूजा के अवसर पर सरस्वती की मूर्ति तथा रथयात्रा मेले के अवसर पर तरह-तरह के खिलौने जिनमें जानवरों की मूर्तियां जिसमें घोड़े, हाथी, बैल, सिंह इत्यादि तथा पक्षियों की मूर्तियाँ जिनमें हंस, तोता, बत्तख इत्यादि की मूर्तियाँ बनाते हैं। इनके साथ-साथ विभिन्न देवी देवताओं की मूर्तियां जिनमें प्रमुख तथा शिव-पार्वती, शिवलिंग, हनुमान, दुर्गा, लक्ष्मी इत्यादि की मूर्तियाँ सुन्दर बनी हुयी

आकर्षक रंगों में रंगी हुयी देखने को मिलती हैं। कृष्ण जन्माष्टमी पर कृष्ण, गोपियाँ, वासुदेव कृष्ण को सिर पर टोकरी में लिये हुये नाग पाँच फन वाला, कंस की मूर्तियाँ बनती हैं।

अन्य प्रकार के खिलौने जिनमें सामाजिक जीवन की झलक मिलती है उनमें बालक क्रीड़ारत, नारियाँ नृत्यरत, वाद्ययंत्रों में लीन, पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ, वाद्ययंत्रों के साथ दल, युद्ध के हथियारों के साथ सैनिक तथा घुड़सवार इसी तरह समयानुसार सामाजिक जीवन की अन्य वस्तुएँ भी बनती हैं। वाराणसी के कुम्हार मृढ़ कला में अभी भी काफी निपुण हैं। इनके द्वारा निर्मित कृतियों में काफी सजीवता एवं कार्य कुशलता देखने को मिलती है। जिस प्रकार प्राचीन काल के सामाजिक जीवन से संबन्धित मूर्तियाँ बनती थी उसी प्रकार हर काल में यहाँ के कुम्हार उस समय के सामाजिक जीवन से संबन्धित वस्तुओं को बनाते चले आ रहे हैं।

वाराणसी में मूर्तियों एवं खिलौने के अलावा बर्तन भी बनते हैं जो नित्य प्रति के प्रयोग के लिए होते हैं। बर्तनों में प्रमुख है पानी भरने के लिये घड़े। बहुत बड़े आकार के बनते हैं जितने बड़े की आवश्यकता होती है उसके अनुसार बनाये जाते हैं। इनको बनाने के लिये इनके आकार का ढांचा बना रहता है उसके ऊपर मिट्टी को गीला करके परत लगा देते हैं। जितना मोटा बनाना होता है फिर उसमें मुंह एवं उसका रूप बाद में सूखने पर ढांचे से अलग होने पर बनाते हैं। अन्य पूरा सूख जाने पर उसे आग में तपा कर पकाते हैं। जिससे मजबूत हो जाता है। इसी प्रकार अन्य बर्तन बनाते हैं। अन्य बर्तनों में तश्तरी, सुराही, कुल्हड़ आदि बनाते हैं। कुल्हड़ को एक गोले पत्थर के चाक के बीच में मिट्टी गोला करके रख देते हैं और चाक को एक बीच के केन्द्र पर घुमाते हैं और हाथों से मिट्टी को आकार देते हैं; सूख जाने पर इसे आग में तपाते हैं। इस प्रकार बर्तनों को बनाते हैं।

खिलौनों को दो तरह से बनाते हैं कुछ को सांचे से बनाते हैं एवं कुछ को हाथ से डौलिया कर। साँचे से बनाने के बाद उसके अंगों या सजावट को अलग से हाथ से डौलिया कर बनाकर जोड़ते हैं फिर धूप में सूखने के लिए रख देते हैं। साँचे से बनाने के लिये पहले मोम की आकृति साँचे पर बहाकर उसके ऊपर मिट्टी से बनाते हैं एवं गर्म करने पर छेद से मोम निकल जाता है एवं मूर्ति तैयार हो जाती है। सूखने के बाद इन्हे पकाते हैं आँवें में। फिर इसके ऊपर सफेद रंग से पुताई होती है तथा उसके बाद इसके ऊपर सफेद रंगो से रंगाई करके शरीर के अंगों एवं अलंकरणों को दर्शाते हैं।

वाराणसी में पकी मिट्टी के अलावा ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ खास प्रकार के कच्ची मिट्टी के बर्तन भी बनते हैं जिसमें एक गोला सा बहुत बड़ा बर्तन होता है इसे कोठिला कहते हैं इसमें अनाज रखा जाता है इसके नीचे छेद होता है जिससे अनाज निकालते हैं। ऊपर ढक्कन से इसे बन्द कर देते हैं। अन्य बहुत से बर्तन इस प्रकार मिट्टी के बनते हैं जो नित्य के घरेलू उपयोग में आते हैं।

वाराणसी की मृढ़ कला एक परम्परागत कला है। यहाँ के गाँवों में कुम्हारों की बस्ती आज भी पायी जाती है। ये कुम्हार मृढ़ कला में बहुत ही निपुण होते हैं।

पालचित्र शैली और एशियायी चित्रकला पर इसका प्रभाव

माहेश्वरी लक्ष्मण दास
शोध छात्र, कला-इतिहास विभाग

दसवीं शताब्दी ईसवी से पहले भारतीय चित्रकला की प्राचीन परम्परा का प्रतिनिधित्व भित्ति चित्रों में मिलता है। ये भित्तिचित्र अधिकांश बौद्धकला से और अल्पांश में जैन और हिन्दू कला से अनुब्ध हैं। भित्तिचित्रों से निर्माण से पूर्व बौद्ध और जैन कला का समृद्ध रूप मूर्तियों तथा मंदिरों के शिल्प में व्याप्त हो चुका था। भित्ति चित्रों के निर्माण के बाद उसका पूरा रूप निखर गया। दसवी शताब्दी ईसवी से लेकर पन्द्रहवीं ईसवी तक के पाँच-सौ वर्षों के चित्रकला की उक्त परम्परा को जीवित बनाए रखने का श्रेय 'पारण' एवं 'अपभ्रंश' शैलियों को ही है। इन पाँच-सौ वर्षों के समय को विद्वानों ने चित्रकला की अवनति का समय कहा है। किन्तु इस सम्बंध में आज हमारे समक्ष इतनी अधिक सामग्री विद्यमान है जिसको देखकर हमें यह कहना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि पाँच शताब्दियाँ का यह समय चित्रकला के निर्माण को दृष्टि से पूर्वी क्षेत्र या किसी भी अंश में हीनत्व का परिचायक नहीं रहा।

इस युग में अधिकतर पुस्तकों के दृष्टान्त चित्र (Manuscript Painting) निर्मित हुए। ऐसी सचित्र पोथियों का निर्माण प्रायः बंगाल, बिहार और नेपाल में हुआ। 'नालन्दा' और विक्रमशिला' तत्कालीन विद्यानिकेतनों में ही अधिकतर इस प्रकार की सचित्र पोथियाँ लिखी गई। इन पोथियों में मुख्यतया प्रतिमानों और अनेक देवी-देवताओं के चित्र निर्मित हुए। उक्त दोनों केन्द्रों की शैली भी प्रायः समान थी। इस युग की चित्रशैली के सम्बन्ध में कलाविद् श्री रायकृष्ण दास जो का कथन है कि—इस में लाल, सिंदूर हिंगुल तथा महावर, पीला, नीला, सफेद एवं काला ये मूलरंग तथा इनके सम्मिश्रण से उत्पन्न हरे, गुलाबी, बैंगनी, फाखताई आदि रंगों का प्रयोग मिलता है। पटरों पर के चित्रों या उनकी रक्षा के लिए उनपर लाख चढ़ी होती थी।

इस तरह इस युग की दो प्रतिनिधि शैलियाँ रहीं है जिनके नाम 'पारण शैली' और 'अपभ्रंश शैली' है। इन दोनों शैलियों के चित्रों में कहीं-कहीं इतनी समानता है कि इनको पृथक करने और उनका उपयुक्त नाम देने के सम्बन्ध में बड़ा विवाद चला आ रहा है। लेकिन इन शैलियों में पारण चित्र शैली अपनी प्राचीन भित्तिचित्रों (अजन्ता) की परम्परा में होने के कारण अपना एक अलग ही अस्तित्व रखती है। नवीं शताब्दी में जिस नयी

शैली का आविर्भाव हुआ था। उसके प्रायः सभी चित्रों का सम्बंध पालदेशीय राजाओं से था। अतः उसको पाल शैली के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

भारतीय इतिहास में पालवंशीय राजाओं ने चार-सौ वर्षों तक सम्मानपूर्वक शासन किया और एक विशाल राज्य की स्थापना की। समस्त राजा बौद्धधर्म के उपासक थे, किन्तु अन्य धर्मों का भी उन लोगों ने सम्मान किया। धर्म के नाम पर उनलोगों ने किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया 'धर्म पाल' स्वयं एक धार्मिक सुधारक था। इस युग में चित्रकारी और ललित कला की भी उन्नति हुई थी और इसी वंश की उदारता से तिब्बत में भी बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। तिब्बती इतिहासकार लामा 'तारनाथ' ने लिखा है कि सातवीं शताब्दी में पश्चिम-भारत में जिस चित्रशैली का निर्माण हुआ उससे भिन्न नवीं शताब्दी में पूर्वी भारत में एक नई चित्र शैली का उदय हुआ था। पूर्वी चित्रकला का केन्द्र बंगाल था। धर्मपाल एवं देवपाल नामक राजाओं के संरक्षण में अजन्ता के अनुकरण पर जिस स्वस्थ शैली का बंगाल में निर्माण हुआ उसका मुख्य चित्रकार 'धीमान' एवं 'वित्तपाल' था। इस चित्रशैली का विकास तिब्बत तक हुआ। नेपाल की चित्रकला में पहले तो पश्चिमी-भारतीय शैली का प्रभाव बना रहा, बाद में उसका स्थान नवनिर्मित शैली ने लिया। नवीं शती में जिस नई शैली का आविर्भाव हुआ उसके प्रायः सभी चित्रों का सम्बन्ध पालवंशीय राजाओं से था। अतः उसे पाल शैली कहा जाता है।

पाल शैली में पुस्तकों के दृष्टान्त चित्र ही अधिकतर निर्मित हुए। इन दृष्टान्त चित्रों में पहला स्थान तो उन चित्रों का है जो 'प्रज्ञाचार मिता' आदि बौद्ध ग्रन्थों पर आधारित है। इस प्रकार के चित्रों का निर्माण दसवीं शती से बारहवीं एवं तेरहवीं शदी के भीतर बंगाल, बिहार (नालन्दा विक्रम शिला) और नेपाल में हुआ। इस काल की सभी पोथियों ताड़-पत्र (Palm Roof) पर है। इन ताड़-पत्रों की माप लम्बाई में—५.७ सेमी० और चौड़ाई में—६ सेमी० है। इन पर सुन्दर लिपि, तराशे हुए अक्षर और चमकीली स्याही का प्रयोग हुआ है। इस शैली के चित्रों पर 'अजन्ता शैली' का प्रभाव है। पाल शैली के प्रमुख दो केन्द्र थे, बंगाल बिहार और नेपाल। इन दोनों केन्द्रों में आज भी इस शैली के चित्र सुरक्षित हैं। इनके अलावा पाल शैली के अनेकशः उदाहरण देश-विदेश के कला संग्रहों में आज भी सुरक्षित हैं।

पालकालीन पोथियों के चित्रकार तथा लेखक नालन्दा, विक्रमशिला, ओदन्तीपुर तथा जगदल बिहार के पण्डित हुआ करते थे। लेकिन संभवतः कभी-कभी अनपढ़ चित्रकारों को भी केवल चित्र बनाने के लिए नियुक्त किया जाता था, जिससे लिपि को न पढ़ सकने के कारण चित्र उल्टे बन जाते थे। ऐसा एक चित्रित नक्शा 'भारत कला भवन' में सुरक्षित है। धार्मिक-विषयों से सम्बंधित होने कारण इनमें रंग आदि का प्रयोग बिलकुल प्रतिमा विज्ञान के अनुसार होता है। शिल्प (चित्रकार) अपने मन से कुछ भी नहीं कर पाता। यहाँ तक कि पात्रों की वेश-भूषा-उनसे सम्बन्धित पेड़-पौधे तथा अन्य सभी बातें प्रतिमा विज्ञान के अनुसार होती थी।

पोथी चित्र होते हुए भी यह सम्पूर्ण रूप से अजन्ता तथा अन्य क्लासीकल (Classical) भित्ति चित्रों के ढंग से बनते थे। चित्र आकार में छोटे होते हुए भी अजन्ता के चित्र जैसे हो है। ताड़ पत्रों पर चित्र चौकोर या आयताकार भाग को घेर कर बनाये गये हैं, इन्हें अलिख्य स्थान कहा गया है। इन चित्रों को बनाने की विधि भी अजन्ता जैसी है। जैसे— अलिख्य स्थान पर पहले लालरंग से स्केच कर लिये जाते थे। उसके बाद विभिन्न अंशों में विभिन्न रंग भर दिये जाते थे और डीटेल बनाये जाते थे। इसके पश्चात शरीर के विभिन्न अंशों में हल्के हरे रंग से माडलिंग (Modelling) की जाती थी, पर शरीर के सबसे ऊपर अंशों पर जो कि रोशनी पड़ने पर चमकते हैं, सफेद रंग से हाईलाइट (Highlight) डाला जाता था। हाईलाइट खासकर साँवले रंग के फीगर के ऊपर डाला जाता था। साँवले रंग को नीले या हरे रंग से बनाया जाता था। हाईलाइट लगाने के बाद चित्रों में Final out line कर दी जाती थी। ये Out line गोरी आकृतियों के लिए लालरंग से तथा साँवली आकृतियों के लिए पीले रंग से की जाती थी। आँखें पद्मपलाश की भाँति बनाई जाती थी।

पाल शैली और समकालीन अपभ्रंश शैली के सम्बन्ध की दृष्टि से एलोरा के चित्रों के पश्चात भित्ति चित्रों की परम्परा समाप्त हो चली थी। अतः इस समय के जो चित्र उदाहरण प्राप्त हुए हैं वह भित्ति चित्र नहीं हैं बल्कि ये उदाहरण पुस्तक या पोथी चित्र हैं। इनमें कुछ उदाहरण हमें बंगाल में लिखित और चित्रित बौद्ध पोथियों (पाल शैली) में और कुछ गुजरात या पश्चिमी-भारत में लिखित और चित्रित जैन पोथियों (जैन शैली) में प्राप्त हैं। प्रस्तुत पाल और गुजराती चित्र शैली मध्यकालीन पोथी चित्रों के सबसे पुराने निदर्शन हैं। इनमें पाल शैली का अरंग करीब एक सौ वर्ष पूर्व हुआ था। दसवीं और ग्यारहवीं शती में भी अधिक से अधिक चित्र और इसके बाद ११९७ ई० मुसलिम आक्रमण के पश्चात पाल शैली नष्ट हो गई लेकिन पश्चिमी भारत में पोथी चित्र अठ्ठारहवीं शती के आरम्भ तक पाये जाते हैं। दोनों ही शैलियों में हमें ध्यान से देखने पर कुछ समानतायें और कुछ असमानतायें द्रष्टव्य होती हैं।

शैली की दृष्टि से दोनों ही शैलियों के चित्र भिन्न-भिन्न है किन्तु दोनों शैलियों के उद्देश्य एक हैं। दोनों ही शैलियों की पोथियों के चित्र ताड़पत्र पर बने हैं किन्तु जैन शैली (अपभ्रंश शैली) में आगे चलकर कागज और कपड़े का प्रयोग हुआ। दोनों ही शैलियों में चित्र अलिख्य स्थान में चित्रित किये और यूरोपीय शैली के विपरीत चित्रों के साथ प्रायः लिखित विवरण का कोई सम्बन्ध नहीं हैं। दोनों ही शैलियों के चित्र धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित थे। श्री स्टेला क्रामिस ने पाल शैली को Classical Indian तथा जैन शैली (अपभ्रंश शैली) को Modern Indian कहा हैं। इस दृष्टि से 'पालकला' का सीधा सम्बन्ध 'अजन्ताकला' से है तथा जैन शैली का 'एलोरा कला' से हैं।

अजन्ता के भित्तिचित्रों के समान पाल पोथी चित्रों में रेखायें सबल हैं, अंग-प्रत्यंग में किसी प्रकार की कोणियता नहीं हैं। रंग के द्वारा Modeleing की जाती थी तथा अन्त में Out line की जाती थी। किन्तु अपभ्रंश (जैन) पोथी चित्रों में modeleing का

अभाव है और शरीर के अंग कोणीय हैं। Out line को सम्पूर्ण रूप से कांतिरंग द्वारा बनाया गया है। रेखायें भी पाल शैली की तरह गतिशील नहीं हैं। पाल शैली के चित्र 'प्रतिमा विज्ञान' के कारण एक दम बंधे हैं। उनमें शिल्पी की कल्पना का कोई प्रभाव नहीं है। जबकि जैन-शैली के चित्र अधिक स्वच्छन्द हैं और उसे बनाते समय शिल्पी अपनी इच्छा से भी कुछ जोड़ सकता था। जैन चित्रों में देवी-देवताओं के चित्र पाल चित्रों की अपेक्षा कम हैं। जैन चित्रों में रूपाचरण चेहरों की अधिकता है। नाक लम्बी है, आँखें बड़ी-बड़ी तथा पास-पास हैं। हाथों आदि की मुद्राओं में जकड़ है।

रंगों की दृष्टि से पाल चित्रों में लाल (सिन्दूर, हिंगुल तथा महावर), पीला (हरलाल या संभवतया प्याजी), नीला (लालवर्दी तथा नीला), सफेद एवं काला ये मूल रंग तथा इनके मिश्रण से उत्पन्न हरे, गुलाबी, बैंगनी, फाखतई आदि रंग से खुलाई की गई हैं। कहीं-कहीं खुलाई (Out line) के लिए काले रंग का भी प्रयोग मिलता है। पाल चित्र शैली के चित्रों में सुनहरे (gold) और रूपहले (silver) रंगों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ हैं जब कि जैन चित्रों में सुनहरे और रूपहले रंगों का प्रयोग खुलकर हुआ हैं यहाँ तक कि किसी-किसी चित्र में लिपि सुनहरे रंग से लिखी गई। जैन चित्रों में प्रयुक्त रंगों की संख्या बहुत कम हैं। जैन में लाल और पीले रंगों की प्रधानता है। पाल चित्रों में 'गोल्डन से' मुख्य गुण है और जैन चित्रों में 'डेकोरेशन' तथा धन का प्रदर्शन मुख्य उद्देश्य रखता है। इस कारण सोने और चाँदी के पानी का प्रयोग अधिक है।

इस प्रकार पाल शैली अपनी विभिन्न विशिषताओं के साथ दसवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक चला। ग्यारहवीं शताब्दी तक बंगाल पूर्व रूप से मुसलमानों के अधिकार में आ गया। मुसलमानों के अत्याचारों के कारण असंख्य पोथियाँ नष्ट हो गई और उनके शिल्पी (चित्रकार) भागकर नेपाल चले गये। इनमें से कुछ आसाम और नेफा की तरफ भी भागे। मुसलिम आक्रमणों के द्वारा नालन्दा, उद्दन्तिपुर आदि विश्वविद्यालयों को नष्ट कर देने के कारण भारत में पाल कला का अन्त हो गया। लेकिन भारत में इस शैली के अन्त होने पर भी चौदहवीं और पन्द्रहवीं शती तक नेपाल, बर्मा और तिब्बत में यह शैली बनी रही तथा वहाँ इस शैली में चित्र बनते रहे। इस बात की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए तिब्बती इतिहासकार लामातारनाथ का विवरण महत्वपूर्ण माना गया हैं। लामा-तारनाथ ने अपने विवरणों में कहा है कि तिब्बत के दक्षिण (बंगाल-बिहार) में उल्लेखनीय चित्रकारों में जय, विजय और पराजय नाम के तीन शिल्पी थे। एक अन्य विवरण से ज्ञात होता है कि बिहार में स्थित 'किए' नाम के 'संघाराम' में 'किरनसिंह' नाम के एक भिक्षु थे जो पोथी चित्रों से सम्बन्धित थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि बारहवीं शताब्दी में पाल शैली का अन्त भारत में हो गया लेकिन भारत के बाहर नेपाल आदि में इस शैली के चित्र शुद्ध रूप में लगभग चौदहवीं शदी तक रहे और शैली का विस्तार एशिया के विभिन्न देशों में हुआ। पाल शैली का सबसे अधिक प्रभाव बर्मा नेपाल और तिब्बत की चित्र शैलियों पर हुआ। तिब्बत से यह प्रभाव आगे 'मंगोलिया' तक पहुँचा। इस प्रकार फिर से पाल कला और पालकालीन संस्कृति इन

देशों की संस्कृति और कला पर छा गई। वर्मा के 'पगान' के मन्दिरों में जो भित्ति चित्र हैं उन पर पाल शैली का पूर्ण प्रभाव है। नेपाल में बिलकुल पाल शैली में पोथियाँ चित्रित होने लगी। विषय वस्तु भी पूर्वी भारत में बनने वाली पोथियों की तरह ही थे। इनमें 'अष्ट खष्टशिला प्रज्ञापारशिला', 'भटामपूरी', 'गण्डव्यूह' एवं 'गुष काण्ड व्यूह' आदि उल्लेखनीय पोथियाँ हैं जो आज भी देश-विदेश के विभिन्न कला संग्रहालयों में संग्रहित एवं सुरक्षित हैं। भारत में ये कृतियाँ—'एशियाटिक सोसायटी-कलकत्ता' 'भारतीय संग्रहालय'-कलकत्ता, 'भारत कला भवन'-वाराणसी, 'राष्ट्रीय संग्रहालय' नई दिल्ली, प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई तथा पटना, बड़ौदा, बीकानेर, अहमदाबाद आदि कला-संग्रहालयों में सुरक्षित है। कुछ पोथियाँ भारत में तथा बाहर विदेशों के व्यक्तिगत संग्रहों में भी संग्रहित हैं। नेपाल तिब्बत तथा वर्मा में भी इन पोथियों का संग्रह है। आधुनिक 'बंगलादेश' पाल कला का प्रमुख क्षेत्र था।

नेपाली चित्रकला पर पाल शैली का प्रभाव कोई नया प्रभाव नहीं है। नेपाली शैली आरंभ से ही पाल शैली में हैं। पालशैली के चित्रों में नेपाली शैली को भी गिना जाता हैं। नेपाल से प्राप्त पालशैली से प्रभावित चित्रित पोथियों में २०२८ ई० की 'अष्ट सहस्मिका प्रज्ञाधारमिता' है जो राणा 'रूद्रदेव' के समय का हैं। यह १०१५ ई० में राणा 'मध्विपाल' के समय चित्रित 'प्रज्ञापारमिता' की पोथी के बहुत निकट लगती है। यह पोथी 'केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी म्यूजियम' में सुरक्षित हैं। कम्पोजर, डिटेल अलंकरण एवं मनुष्याकृतियों में दोनों के चित्रों में काफी सादृश्य है। नेपाली शैली का आरंभ ११४८ ई० की एक 'प्रज्ञापारमिता' पोथी में देखा जाता है जो इस समय कलकत्ता के 'एशियाटीक सोसायटी' में सुरक्षित हैं। नेपाली शिल्पी 'अनिक' के द्वारा पाल शैली तिब्बत में पहुँची। नेपाली शिल्पी चीन तक चित्रकारी के लिए बुलाये जाते थे। उस समय की नेपाली शैली अधिक पाल और नेपाली कम थी। इससे चीनी शैली पर भी पाल शैली का प्रभाव प्रमाणित होता है।

तिब्बत की चित्रकला पर पाल शिल्पी का प्रभाव नेपाल चित्रकारों (नेपाली शैली) के माध्यम से पहुँचा। तिब्बत के बौद्ध बिहार आदि में पहले-पहल नेपाली एवं पाल शैली के चित्र बने। इनके साथ कुछ स्थानीय लक्षणों ने मिलकर तिब्बती शैली को जन्म दिया। यह शैली ग्यारहवीं शती में तिब्बत में प्रचलित थी और बहुत-सी पोथियों में चित्र बनाये गये। 'स्ट्रैला क्रमरिस' के अनुसार—अनिक अपने चालीस शिल्पियों (चित्रकारों) के साथ चीन गये और वहाँ जाकर तिब्बती शैली आरंभ की। नेपाल से सम्बन्ध की यह परंपरा जारी रही और १४२९ ई० में नेपाली शिल्पी ने तिब्बत के 'तोर विहार' में चित्र बनाये। पश्चिमी तिब्बत में 'मूंगे' नामक विहार में नेपाली शिल्पियों ने काम किया था।

वर्मा के 'पगान' नामक स्थान पर असंख्य मन्दिरों का निर्माण सदियों तक होता रहा। इन मन्दिरों में पूर्वी भारतीय शैली (पाल शैली) के मूर्ति तथा चित्र बनाये जाते थे। आरंभिक चित्रों में पाल शैली का प्रभाव बहुत अधिक है। यद्यपि पाल शैली के भित्ति चित्र

भारत में नहीं मिलते हैं। पगान के भित्ति-चित्रों से हम पाल शैली के भित्ति चित्रों का अंदाज लगा सकते हैं बाल पोथी चित्र व 'पगान' के भित्ति-चित्र एक ही शिल्प हैं। पाल शैली का घनिष्ट सम्बन्ध अजन्ता के साथ था, क्योंकि पालचित्र छोटे होने पर भी भित्ति चित्रों के गुणों से युक्त हैं।

उपरोक्त विवरणों एवं प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि 'वृहत्तर भारत' और खासकर दक्षिण पूर्व एशिया की कला पर पाल-कला का प्रभाव पूर्ण रूपेण था और अजन्ता के बाद इसी शैली ने विदेशी कला को प्रभावित किया तथा उनकी कला पर अपनी अमिट छाप छोड़ी जो आज भी यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

आयेगा कब मेरा प्रियतम् !

प्रमोद चन्द्र श्रीवास्तव
विधि संकाय

तेरी प्रतीक्षा में समय बीतता
हर पल लगता ऐसा—
कोई आता है कोई आता
आवाजें परिचित सीं—
हवा के हल्के झोकें से
आती है और जाती है, पर वो नहीं आता
जिसका आना मन को भाता।
पल लगता है घंटे सा, घंटे में तो युग बीत गया,
एक दिन फिर ऐसे बीता, सारा जीवन ज्यों बीत गया।
तुझ बिन जीवन मेरा सूना,
बाग-बगीचे-गलियारा सूना।
आयेगा कब मेरा प्रियतम् !

चिकित्सालयों में वैज्ञानिक चिकित्सा : रोगियों की अपनी इच्छा

डॉ० अखिलेश्वर लाल श्रीवास्तव
प्रवक्ता–समाजशास्त्र

भारतवर्ष एक ऐसा देश है जहाँ व्यवहार का परम्परागत मूल्य एवं प्रतिमान मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करता है। मानव जीवन का प्रत्येक क्रिया-कलाप समाज द्वारा निर्धारित सामाजिक निषेधों एवं वर्जित कर्मों से संचालित एवं नियंत्रित होता है। उपर्युक्त निषेधों का प्रभाव समाज के सदस्यों के स्वास्थ्य एवं रोग पर विशेष रूप से पड़ता है। परम्परागत दृष्टिकोण से रोग एवं व्याधि ईश्वर की कुदृष्टि एवं प्रेतात्माओं के प्रभाव का परिणाम माना जाता है। रोग के प्रति इस अतार्किक विचारों के कारण 'पुरातन व्यवहार' एवं 'असामयिक रीतियाँ' उपचार के अभिकरण के रूप में प्रचलित हो रही हैं। देवी-देवताओं की उपासना, प्रेतात्माओं को प्रसन्न करने का प्रयास, धार्मिक ग्रन्थों का पठन आदि रोग को दूर करने के प्रयासों में महत्वपूर्ण माना जाता है। आधुनिक चिकित्सा का तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण आज भी निरीह रोगियों के धर्मान्धता से प्रभावित है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार 'स्वस्थ व्यक्ति' शारीरिक, मानसिक, एवं सामाजिक रूप से स्वस्थ रहता है। रोग एवं उसके लक्षणों का गायब हो जाना ही 'उत्तम स्वास्थ्य' का परिचायक नहीं है। साधारणतया स्वास्थ्य एक सामाजिक मूल्य है जिसकी तुलना अन्य सामाजिक मूल्यों से की जाती है। स्वास्थ्य से सम्बन्धित सामाजिक मूल्य प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न होता है। समाज के प्रत्येक स्तर में व्यक्ति का रोग एवं उपचार के प्रति दृष्टिकोण उससे सम्बन्धित संस्कृति से प्रभावित होता है। आज भी भारतीय संदर्भ में रोग एवं अन्य स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएं, धार्मिक विश्वास, रूढ़िवादिता, हठधर्मिता आदि विचारों से प्रभावित होता है।

प्रस्तुत सर्वेक्षण में वाराणसी में आए हुए रोगियों से रोग एवं निदान के प्रति स्वास्थ्य सम्बन्धी मूल्यों को जानने का प्रयास किया गया है। इस सन्दर्भ में वाराणसी के प्रमुख चिकित्सालय श्रीराम लक्ष्मीनारायण मारवाड़ी चिकित्सालय, हिन्दू सेवा सदन चिकित्सालय एवं वल्लभराम शालिग्राम मेहता चिकित्सालय को सर्वेक्षण हेतु चयन किया गया है। तीनों चिकित्सालय वाराणसी शहर के केन्द्र में स्थित हैं तथा एलोपैथिक, होमियोपैथिक एवं आयुर्वेद तीनों चिकित्सा पद्धति से पूर्ण हैं। धर्म प्रधान नगरी होने के कारण यहाँ पर अधिकाधिक संख्या में नगरीय एवं ग्रामीण रोगी आते हैं।

सर्वेक्षण के अन्तर्गत जव रोगियों से रोग के 'कारणों' के वारे में पूछा गया अधिकांश रोगियों ने अपने 'शारीरिक गड़बड़ी' की अपेक्षा रोग का कारण 'सामाजिक सांस्कृतिक तथ्यों' को वताया। रोगियों ने 'ईश्वर की कुदृष्टि' एवं 'अधिकांशतः सामानों का नकली होना' रोग का प्रमुख कारण वताया। ग्रामीण एवं अल्प आय वाले रोगियों ने 'ईश्वर की कुदृष्टि' पर विशेष वल दिया। वाराणसी में आकर इलाज कराना रोगियों ने इसलिए पसन्द किया कि अगर वच गए तो ठीक है नहीं तो 'शिव की नगरी' में मरने पर भी स्वर्ग ही मिलेगा। रोगियों से वार्तालाप करने पर यह स्पष्ट हुआ कि रोगी रोग के प्रारम्भिक स्तर में विशेष जागरूक नहीं होते। वे उसे साधारण समझ कर छोड़ देते हैं परिणाम स्वरूप वह धीरे-धीरे भयंकर बन जाता है।

चिकित्सालयों के अन्तरंग एवं बहिरंग रोगियों से चिकित्सा एवं निदान के अन्तर्गत अन्य प्रकार के क्रिया-कलापों के वारे में पूछा गया तो अधिकांश रोगियों ने यह विचार व्यक्त किया कि रोगी के कल्याण के लिए 'धार्मिक एवं आध्यात्मिक' आशीर्वचनों को प्राप्त करना चाहिए। अपने निदान के अन्तर्गत ही रोगियों ने इस बात पर भी बल दिया कि 'इलाज चाहे कितना ही वैज्ञानिक' क्यों न हो, रोगी को धार्मिक स्थानों जैसे मंदिर, मस्जिद, गिरिजाघर आदि में जाना चाहिए। इससे रोग एवं व्याधि का असर कम हो जाता है। आध्यात्मिक समर्थन प्राप्त करने के लिए धार्मिक क्रिया-कलाप जैसे कथा, कीर्तन, हवन आदि कराना चाहिए। इससे देवी-देवता तो खुश होते हैं, मन को शान्ति भी मिलती है। रोगियों ने देवी देवताओं के आशीर्वाद के साथ-साथ 'पंडित' 'मौलवी' आदि के 'आशीर्वादों' तथा 'झाड़-फूँक' को भी महत्व दिया तथा उनके द्वारा बताए घरेलू दवाओं को सेवन करने पर भी बल दिया।

रोगियों से जब चिकित्सालय एवं चिकित्सक के विकल्प के वारे में पूछा गया तो रोगियों ने बताया कि चिकित्सक 'दूसरा ईश्वर' होता है। चिकित्सालय तो एक मंदिर है, सेवा का स्थान है। यहाँ पर पीड़ित लोग अपना इलाज करने आते हैं। परन्तु कुछ ग्रामीण रोगियों ने कहा कि हमारे वेश-भूषा को देखकर तथा अपढ़ समझकर चिकित्सक बात-चीत करने में परेशानी का अनुभव करते हैं। अपनी दयनीय दशा के कारण ही उनको चिकित्सक की कभी-कभी खरी खोटी भी सुननी पड़ती है।

चिकित्सक के पर्याप्त समझाने के बाद भी रोगी अपने अतार्किक क्रिया-कलापों को करने में पीछे नहीं रहते। यदि चिकित्सक रोगी को अधिक समझाने का प्रयास करते हैं तथा औपचारिक व्यवहार को ही महत्व देते हैं, तो रोगी उसे अपने लिए हितकर न समझकर अहितकर समझने लगता है। अतः आधुनिक चिकित्सा पद्धति कितना ही प्रगति क्यों न करें, परन्तु इस चिकित्सा में रोगियों के संस्कृति, दृष्टिकोण एवं सामाजिक समूह को न समझा गया तो रोगी आधुनिक साज-सज्जा एवं उपकरणों से युक्त चिकित्सालयों में भी अपना गोरखधन्धा दिखाने लगेंगे तथा अपनी इच्छानुकूल इलाज करने लगेंगे।

विभिन्न चिकित्सालयों के सर्वेक्षण के अन्तर्गत, रोगियों के व्यवहार एवं चिकित्सकों से अपने रोग के प्रति 'माँग' के आधार पर रोगी के निम्नांकित 'वर्गीकरण' अनुमोदित किये जा सकते हैं :—

क—यथार्थ-उन्मेषित रोगी—इस प्रकार के रोगी वे होते हैं जो चिकित्सालयों में चिकित्सकों का रोगी के निदान के प्रति अवधान की सीमाओं एवं चिकित्सा द्वारा प्रदत्त 'देख-रेख' की परिधि से अवगत होते हैं। ऐसे रोगियों का यह विचार है कि चिकित्सक एक विशेषज्ञ के रूप में अनेक कार्यों के भार से दबा व्यस्त व्यक्ति होता है। ऐसे रोगी चिकित्सक से अपनी चिकित्सा के सन्दर्भ में कोई विशेष माँग न करते हुए सिर्फ प्रभावोत्पादक निदान की अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार के रोगी की दशा में उत्तरोत्तर सुधार होता रहे तो वह चिकित्सक एवं अन्य अधीनस्थ कर्मचारियों का शिकायत करना पसन्द नहीं करता।

ख—आश्रित-उन्मेषित रोगी—इस प्रकार के रोगी 'मनोवैज्ञानिक प्रकार' के होते हैं जो चिकित्सकों से वे अपने निदान के प्रति व्यक्तिगत अवधान की माँग करते हैं। ऐसे रोगियों को चिकित्सक यदि दिन में कई बार देखते हैं, उसके स्वास्थ्य लाभ के बारे में पूछते हैं तो रोगी को आत्मिक सन्तोष प्राप्त होता है। यदि रोगी की दशा में उपचार के उपरान्त भी कोई सुधार नहीं होता तो इसका दोषारोपण वह चिकित्सक पर करता है। रोगी अपने निदान के लिए चिकित्सक को जिम्मेदार बनाता है। ऐसा रोगी चिकित्सालय के कर्मचारियों के व्यवहार-एवं रोगियों के सामान्य देख-रेख की निन्दा करता है। चिकित्सालयों में ऐसे रोगी की अधिकता होती है।

ग—छिद्रान्मेषण-उन्मेषित रोगी—चिकित्सालयों में ऐसा रोगी समस्यामूलक-मनोवैज्ञानिक प्रकार का होता है जो चिकित्सालय के प्रत्येक गतिविधियों की शिकायत करता रहता है। ऐसे रोगियों के अनुसार चिकित्सक लापरवाह, निदान में दक्षपूर्ण न होना तथा रोगियों का समुचित देख-रेख न करने वाला होता है। ऐसा रोगी यदि रोग से मुक्त हो जाता है तो यह संयोग या उसके भाग्य की चीज होती है। यदि रोगी ठीक नहीं होता तो वह चिकित्सालय व्यवस्था एवं उसके पर्यावरण को दोष देता है। चिकित्सालय ऐसे रोगियों से भी सुशोभित होता है।

घ—अर्पण-उन्मेषित रोगी—ऐसे रोगी का चिकित्सक एवं उसके निदान से कोई माँग नहीं होती। वह अपने ठीक होने के प्रति बहुत ही कटु होता है। वह पूर्णरूपेण अपने भाग्य पर भरोसा रखता है तथा बीमारी से उत्पन्न परिणामों को कम महत्व देता है। यदि ऐसा रोगी ठीक हो जाता है तो वह उसके भाग्य की चीज है। अगर वह ईश्वर का हाथ पकड़ लेता है तो इसके लिए उसे दुख भी नहीं होता।

अतः चिकित्सालयों में जहाँ इतने प्रकार के रोगी होते हैं, उनके ऊपर वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने का भार जोर-दबाव से नहीं डाला जा सकता। अपनी स्थानीय सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण वे रोग को अपने दृष्टिकोण से देखते हैं तथा चिकित्सक के निदान के होते हुए अपने गतिविधियों को क्रियाशील रखते हैं।

●

कहानी

माईकेल एँजिलो,

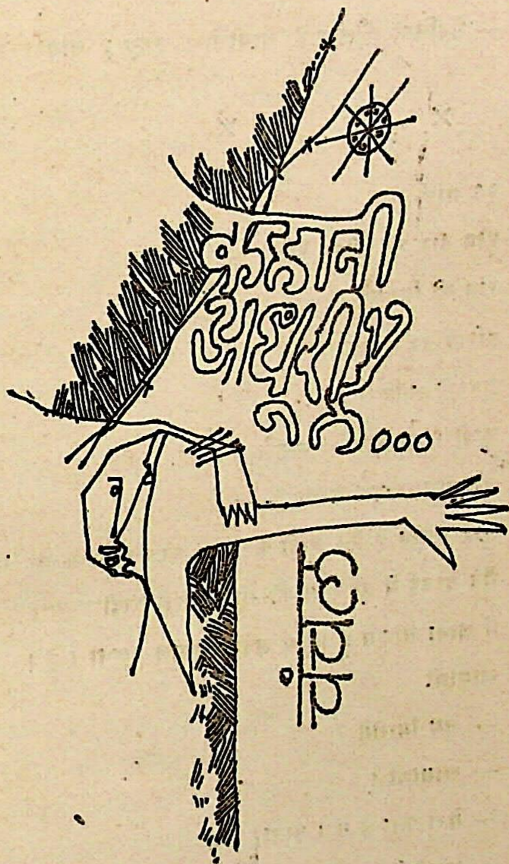
सुशील कुमार त्रिपाठी
(पंचम वर्ष, चित्रकला) ललित कला विभाग.

माईकेल एंजिलो की गणना इस समय विश्व के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में की जाती है। यह अपने समय में इटली का प्रख्यात कलाकार था। माईकेल एंजिलो का जन्म इटली के फ्लोरेंस नामक शहर में सन् १४७४ में हुआ था इसके पिता न्यायाधीश थे जिसके वजह से इसकी प्रारम्भिक शिक्षा घर के लोगों का विरोध करके हुई। इसे बचपन से ही पत्थर काटने का शौक था। तेरह साल की उम्र से ही इसने कला के क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसकी कला पर इसके गुरू दोनेनिकोघिर लैंडिया का प्रभाव था। माईकेल एंजिलों मुख्य रूप से मूर्तिकार था लेकिन इसके अलावा वह एक सफल चित्रकार भी था। इसे स्थापत्य कला की भी अच्छी जानकारी थी।

माईकेल एँजिलो ने जितने भी चित्र या मूर्तियां बनाईं सबमें बॉडी के मसल्स को दिखाता है यहाँ तक कि इन्हीं मसल्स के कारण उसके नारी फिगर में भी पुरुष का का आभास होता है। किसी भी फिगर को काफी नाप-जोख के बनाता था, डिस प्रपोर्सनेट नहीं होता था। उसके चित्रों का सबसे खास गुण यह था कि वह चित्रों को डायमेन्सन—**Three Diamentional** बनाता था। छाया तथा प्रकाश का भरपूर प्रयोग करता था। इन सबके अलावा उसके चित्र और मूर्तियाँ भावना प्रधान होती थीं। पोजेजे हमेशा अस्वाभाविक और कठिन होते थे।

विषय की दृष्टि से वह हमेशा दुःख दर्द का विषय चुनता था। धार्मिक दृष्टि से जोसेस क्राइस्ट और मदर मेरी के ऊपर किया गया काम काफी महत्वपूर्ण है। लड़ाई के ऊपर इसने बहुत सारी मूर्तियाँ और स्केच किया है। जनजीवन के साथ सम्पर्क रखता था और उसके ऊपर काफी काम भी किया। यह जिस समय लास्ट जजमेन्ट नामक चित्र बना रहा था उसी समय रोम पर विदेशी आक्रमण हुआ। इस आक्रमण का उसकी कला पर स्पष्ट असर दिखता है। इसकी कला पर दृष्टि डालने से ऐसा लगता है कि इसने दो भागों में अध्ययन किया। पहला चित्रों और स्केचों का दूसरा मूर्तियों और स्थापत्य कला का। इन चीजों के द्वारा कलाकार के अध्ययन और मेहनत का पता चलता है।

माईकेल एंजिलो हमेशा अकेले काम करता था। कोई भी चित्र बनाने के पहले उसका स्केच करता था तथा उसके आधार पर अपनी भावनाओं को व्यक्त करता था। अपने जिन्दगी का सबसे पहला काम उसने १४ साल की अवस्था में संगमरमर पर किया मेडोना आफ द स्टेयर्स। माईकेल के कुछ महत्वपूर्ण कार्य (१) डेविड—१५०१—इस मूर्ति की ऊँचाई साढ़े तेरह फीट थी। (२). जुलियस II—१५१३—ऊँचाई ८ फीट. (३) पिट्टी मेडोना १५०० (४) नाइट एण्ड डे. (५) डाउन एण्ड टिवलाइट. (६). डोनी मेडोना (७). लास्ट जजमेंट। जीवन के अन्तिम क्षण तक यह कला की सेवा में था, इसकी मृत्यु सिस्टाइन चैपेल में काम करते वक्त सन् १५६४ में हुई। यही उसका अन्तिम काम था जो आजतक महत्वपूर्ण बना हुआ है।



१३ अगस्त ७१
चिल्ड्रेन पार्क का एक कोना
एक अदद मैं और एक अदद वह
एक दूसरे की बात
एक दूसरे की तारीफ
एक दूसरे का प्यार
एक दूसरे का हाथ
        उँगलियाँ
        उगलियाँ
५ उँगलिया
१० उँगलियाँ
५ उँगलियाँ, बाल का गुच्छा,
चेहरे पर झुक आती लट को बार-
बार ऊपर कर देन की प्रक्रिया।
बहुत कुछ
करीब
बहुत करीब
वह कहना शुरू करती है—
.... -- जानते हो जब मैं छोटी
सी थी, और जुहू से पैदल स्कूल
जाती थी तो हर खम्भे को (बिजली
के या टेलीफोन के इसे न तो
उसने बताया, और नहीं मैंने पूछा, आप कारण जानना चाहते होंगे कि मैं पूछा क्यों नहीं,
सोधी सी बात है. उस समय उसे केवल बोलना था और मुझे मात्र सुनते रहने का बहाना
करना था) छूकर आगे जाती थी, जिस दिन कोई भी खम्भा छूट जाता था बड़ी तकलीफ
होती थी।

— तुम सुन नहीं रहे हो ?

— नहीं मैं सुन रहा हूँ।

— तुमने कुछ कहा नहीं कि क्या पागलपन हैं ?

— बिल्कुल नहीं यह भी एक मानसिकता है, तुम अच्छी लग रही हो।

वगैरह

वगैरह

— उँगलियाँ। ओठ। खामोशी। टाटा। बाय। बाय।

× × × ×

२६ मार्च ७७

क्रीम वार को अँधेरी कैन्टीन।

रात की सियाही।

दूरियों का सिलसिला

एकाकी आखिरी साँस

चुप्पी। खामोशी। औठ।

वह बोलना शुरू करती है—

तुम्हें मालूम है मैंने शादी करने की सोच ली। अच्छा लड़का है। मेरा खूब खयाल रखता है। मैंने बम्बई में ही रहने की सोच ली है शादी.......।

मैं जाना चाहती हूँ। तुम अपना खयाल रखना। हूँ।

खामोशी

— तुम मिलोगे ?

— खामोशी।

— मेरा पता हैं न। तुम्हारे पास ?

— खामोशी।

— टाटा। बाय। बाय।

सियाह होती जा रही रात में एक लकीर उठती है दूर होती जाती, है, मैं देखता हूँ कोई खम्भों को छूते हुये जा रहा था, एक खम्भा छूट गया है।

संदर्भ अधूरा लगता है।

●

अपने के लिए

सुरेश भ्रमर

मैं पांचवीं वार लिखे हुए अक्षरों को दुहराने की कोशिश करता हूँ। हर शब्द के साथ लगता है जैसे कोई 'आक्टोपास' मेरी गरदन पर चढ़कर चिपकता चला जा रहा हो। हर वार जब भी मैंने इस कहानी को दुहराया है, और मेरे अंदर यह अनुभूति अपनी तेजी को पकड़ती गयी है। जितनी कांट-छांट एवं संशोधन मैंने किया उतनी हो तेजी से अधिक तेज का भय मेरे अन्दर समाता गया है। पता नहीं क्यों? मुझे ऐसा लगने लगा है कि यदि कहानी का नायक मर गया तो स्वयं मेरी मृत्यु हो जाएगी, या मेरी हत्या हो जाएगी। न जाने क्यों हत्या और आत्महत्या शब्द से मुझे बराबर चिढ़ रही है। इसकी कल्पना मात्र से मेरे अन्दर अनजाना भय व्याप्त हो जाता है एवं मैं सिहर उठता हूँ। हालांकि कोई कारण नहीं है। कितनी हत्यायें रोज होती हैं, कितने लोग आत्महत्या करते हैं, कौन इनका हिसाब रखता है? कितने लोग इसे गहराई तक महसूस करते हैं? मुझे ही क्यों हमेशा यही लगता कि वह आदमी मर, मेरी हत्या कर गया है। हमेशा मेरे अन्दर का आदमी भयाक्रांत होकर अधिक कमजोर हो जाता है। कायरपन की स्थिति तक। हर वार मेरे अन्दर का लेखक उसे बचाने की कोशिश में आहत हो जाता है। मैं सोच नहीं पाता हूँ कि वह कायर आदमी मुझे इतना प्रिय क्यों है? मैं उसकी हत्या या आत्महत्या की कल्पना तक नहीं कर पाता हूँ।

मेरी निगाहें फिर उस कहानी पर टिक जाती हैं। फिर सिरे से पढ़ने की कोशिश करता हूँ। मैं समझ नहीं पाता हूँ कि नायक से आत्महत्या ही क्यों करवाई? प्रेमिका का वियोग कोई इतनी बड़ी घटना तो नहीं जिससे अपने जीवन का अन्त कर लिया जाए। दोनों को अलग-अलग जिन्दगी जीने के लिए बाध्य भी किया जा सकता था। लगता है मेरे लेखक ने नायक से आत्महत्या कराकर शरारतन मेरी हत्या की योजना बनाई है, जानबूझकर। जब कि वह जानता है कि मैं इन शब्दों से ही कितना भयभीत रहता हूँ मुझे क्रोध हो आता है उस पर। मैं बिना पूरी तरह पढ़े ही स्क्रिप्ट एक ओर फेंक देता हूँ पर लगता है नायक को नहीं फेंक सकूंगा वह अधिक तेजी के साथ मेरे पोर-पोर में समाने लगता है। मजबूरी के साथ, कहानी से अधिक मजबूरी के साथ।

मजबूरी—इसका आडम्बर सभी रचते हैं, अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार सभी मजबूर हो सकते हैं, हो जाते हैं। मैं भी मजबूर हुआ था अपनी सुविधा के लिए इरा के साथ।

पार्क में झाड़ियों से घिरी बेंच पर इरा बैठी थी, मेरे साथ। केवल हम दोनों। वह बहुत खुश थी। इतना खुश उसके पहले मैंने उसे कभी नहीं देखा था। सारी खुशी उसकी चुहलबाजी से व्यक्त हो रही थी। सभी बचपने से भरी हुयी। मैं उसे सीरियस करने की

गरज से पूछता हूँ 'इरा ! तुम मुझे प्यार करती हो ? 'नहीं तो, बिल्कुल नहीं'—कहकर वह हँस देती है। फिर एकाएक भावुक हो जाती है—'लेकिन तुमसे बातें करना, तुम्हारे पास बैठना बड़ा अच्छा लगता है।'

मैं कुछ नहीं कह पाता हूँ। कहना ही नहीं चाहता हूँ।

'तुम जब नहीं मिलते हो, उदासी सी रहती है, पर तुम्हारे लिए, तुम्हारे साथ के लिए मैं वैसा कुछ भी नहीं महसूस करती हूँ।

मैं बोलने की जरूरत नहीं समझता हूँ केवल उसके शब्दों को महसूसता जाता हूँ जो धीरे-धीरे मेरे अन्दर धसकते चले जा रहे थे। न जने क्यों, सब कुछ के बावजूद हम दोनों पास बेठने एवं अकेले बात करने की स्थिति को लांघकर कभी नहीं बढ़ पाए। आगे बढ़ने की चाह ही नहीं जनमी थी। कितने दिनों तक, शायद एक अरसे तक, हम यही स्थिति झेलते रहे थे। अब कुछ याद भी नहीं है। केवल एक क्षीण सी याद है इरा की—इरा के शब्दों की, जो मेरे कायरपन को साहस न दे पाए थे।

शादी से पहले वह आई थी मेरे पास, 'विनय। पापा मेरी मैरीज सेटल कर रहे हैं।'

'कहाँ ?' न जाने क्यों मैं पूछ बैठा था।

'देहरादून में किसी डाक्टर के साथ'—उसने उदासी के बीच कहा था।

'अच्छा तो है। बिना मेहनत के डाक्टरनी बन जाओगी मैंने सहज होने के भाव में कहा था पर शायद वह मेरे अंतर को भेद चुकी थी। वह जान गयी थी कि मैं कहना क्या चाहता था।

'तुम पापा से मिल लो ना !'—इतना आग्रह था। 'वह जानते हैं हम दोनों के 'टर्म्स' को विश्वास है फिर से सोचेंगे—इरा ने यही कहा था।

लेकिन मेरे दिमाग में तुरंत अपने पिता जी का चेहरा घूम गया था—जिससे मैं हमेशा डरा हूँ वह चेहरा हमेशा मुझे दब्बूपन के अधिक करीब ले जाता। वह दब्बूपन मेरे ऊपर उस समय भी अपने पूरे दबाव के साथ हावी हो गया था। 'नहीं इरा—यह संभव नहीं है, तुम्हारे पापा शायद मान भी जाएँ पर मैं अपने पिता जी के सामने जाने का साहस नहीं जुटा पाऊँगा—क्योंकि वह कभी भी हमारे अंतरजातीय रिश्ते को नहीं स्वीकारेंगे और मुझे अपनी जिन्दगी जीने के लिए उनकी मान्यता मेरी अपनी आवश्यकता है।

'कायर हो तुम—बिल्कुल कावर्ड' कहकर उसने अपनी निगाहें फेर लीं थीं। उससे ज्यादा कुछ नहीं कहा था, पर मैंने महसूस किया था कि वह निर्जीव सी हो गयी है जैसे किसी ने उसका गला घोंट दिया हो। मैं अपने को अपराधी नहीं समझ पाया।

उसके बाद इरा ने मिलने की कोशिश नहीं की। मैं भी साहस नहीं कर पाया। शादी के बाद वह डाक्टरनी बन कर कहाँ हैं मुझे पता नहीं था। चार साल बाद वह एकाएक मुझे मिली। मिली क्या, दिखलाई पड़ गयी थी। पिक्चर देखकर निकला ही था। उसी भीड़ में वह जा रही थी। मैंने पृष्टभाग से ही पहचान लिया था। शरीर कुछ अधिक मांसल हो गया

था, पर इतना नहीं कि पहचान ही न सकूँ। एक तीव्र इच्छा हुई कि उसके सामने से निकलू और वह मुझे देख ले। वह रिक्शा तय करने ही जा रही थी। न जाने क्यों और कैसे ? बिना कुछ कहे ही उसी रिक्शे पर बैठ गया था—'गोदौलिया चलो।'

'बाबूजी ! रिक्शा खाली नहीं है—बीबीजी ने तय कर लिया है।'—रिक्शे वाले के कहने पर मैं अपरिचित की सी स्थिति में इरा की ओर मुखातिब हुआ। मेरे कुछ कहने के पहले ही वह बोल पड़ी थी—'अरे विनय तुम ?' बिना किसी भाव के अजनबी की सी स्थिति में मैंने उसे देखने का प्रयत्न किया था।

'मुझे पहचान नहीं रहे हो क्या ? मैं इरा हूँ इरा।'

'शायद आपको गलतफहमी है, मैं वो नहीं, जिसे आप खोज रही हैं।' मैंने उसे एवं अपने आपको झुठलाने की बलात् कोशिश की थी।

'तुम विनय नहीं हो !' जैसे वह मेरे झूठ पर विश्वास न कर पाती हो। 'तुम झूठ बोल रहे हो। तुम सच क्यों नहीं बोलते। तुम विनय ही हो।'—झुँझलाहट में उसने रुआँसी होकर कहा था।

'माफ कीजिएगा मेरा नाम विनय नहीं—मेरा नाम सुधीर खन्ना।'

'तुम····आप····मुझे नहीं पहचानते हो ?" कहते-कहते उसकी आँखे छलछला आयीं थीं जैसे अपनी हार पर वह रो देगी। 'नही तो बिल्कुल नहीं ?" कहते समय मुझे लगा था जैसे मैंने खुद ही अपना गला घोंट दिया हो। आगे कुछ भी न कह सका था। मेरे अंदर का कमजोर आदमी छटपटाने लगा था—जैसे अब वह इस स्थिति को अधिक नहीं मिल पाएगा। इरा की आँखों का सामना नहीं कर पाएगा। मैं स्वयं भयभीत हो गया था और अपनी दृष्टि दूसरी ओर घुमा ली थी। मरे हुए, निर्जीव इन्सान की तरह रिक्शे से उतर कर सामने की ओर चल पड़ा था—शायद इरा की निगाहें पीछा करती रही हों, पर अपने लिए उसको मार दिया।

फिर कभी याद नहीं आई। बिल्कुल सहज जैसे मैंने वह जिन्दगी जिया ही न हो कभी।

'इरा को मन से निकालने की कोशिश में मेरी निगाहें इधर-उधर भटक कर फिर कहानी पर केन्द्रित हो जाती हैं। मुझे महसूस होता है कि खुद को बचाने के लिए नायक को जिन्दा रखना पड़ेगा। यदि नायक ने आत्महत्या कर ली तो मैं नहीं बच पाऊंगा। मेरे हाथ अनजाने ही कहानी के कागजों पर पूरी तरह कसजाते हैं।····कसते जाते हैं, यहाँ तक कि वे मुड़कर फट जाते हैं। मैं उसे टुकड़े-टुकड़े करके रद्दी की टोकरी में फेंक देता हूँ। मुझे बहुत ही मानसिक शांति मिलती हैं, जैसे अनचाहे भय से मुक्त हो गया होऊँ। लेखक को मारकर, नायक को, अपने अंदर के कायर आदमी को, अपने आपको बचा लेता हूँ मैं।

●

आत्महत्या

सुदिष्ट नारायन लाल
सांध्य महाविद्यालय

रमेश एक स्वस्थ लड़का था। सब बातों में वह सबसे आगे था। चेहरा भी उसका दारा सिंह से कम न था। कालेज में इन्हें दादा कह कर पुकारते थे। शहर में कोई फिल्म क्यों न लगा हो। पहला दिन पहला शो का टिकट उसके हाथ में रहता था। किस फिल्म में कौन से हीरो हीरोइन ने काम किया है। यह बात उसे बीजगणित के सूत्र (फार्मूला) के समान जबान पर याद रहती थी कहने तात्पर्य कि वह फिल्म देखने का बड़ा शौकीन था। यानी वह सब कामों में आगे थे और पीछे केवल पढ़ाई में। दसवीं कक्षा में वह चार साल से लगातार फेल हो रहा था उसे यही विश्वास इस वर्ष भी था।

कल सवेरे ही उसका परीक्षाफल निकलने वाला था। पिछली रात से ही उसे नींद नहीं आ रही थी। वह सोचता था कि इस बार फेल हो जाने पर किसी को कैसे मुँह दिखलायेगा। एक ही कक्षा में चार वर्ष तक रिसर्च करने के कारण उसका छोटा भाई सुरेश उससे अगली कक्षा में पहुँच गया था। इसलिए उसने रिज़ल्ट निकलने के पहले ही आत्महत्या करने का निश्चय किया फिर सोचा आत्महत्या कैसे की जाय। क्यों न रेलगाड़ी के इंजन के सामने कूदा जाँय, मगर नहीं, बिजली का करेन्ट ही लगाकर आत्महत्या कर लें। सब प्रकार से सोचने के बाद उसने विचार किया कि वह मरेगा तो जहर खाकर। फिर क्या था शाम को उसने चूहा मारने की दवा लाने का विचार किया। वह ज्योंही साइकिल से हाट जाने को तैयार हुआ तो उसका छोटा भाई सुरेश भी उसके साथ हो लिया। लाख मना करने पर भी वह ध्रुव की तरह अटल रहा। हाट पहुँचते हो उसने साफ सुना कि कोई कह रहा था 'धड़ा-धड़ मारो, फटा-फट मारो', ले लो भाइयों मुरारी चाचा की दवाई। झट रमेश उसके पास गया और दस पैसे की एक पुड़िया लिया। यही दवा खाकर वह मरना ठीक समझा। क्योंकि कुछ दिनों पहले उसके पड़ोस में एक लड़का चूहा मारने की दवा खाकर मर चुका था।

जब वह दवा लेकर साइकिल से घर आ रहा था। तो उसके छोटे भाई सुरेश ने पूछा—क्यों भइया, यह दवा क्या करोगे ? रमेश को सुरेश के ऊपर पहले से ही गुस्सा आ रहा था। फिर भी वह गुस्से को छिपाकर बोला—अरे ! जहाँ पर मैं पढ़ता हूँ वहाँ पर एक छोटा चूहा आता है और हमारे किताबों को अपना भोजन बना लेता है। सोचा इसी दवा से उसे साफ कर दूँ। सुरेश को अपने भाई की इस बात पर कुछ शक हो गया। और

तुरन्त सोचने लगा कि कहीं ऐसा न हो कि उसका भाई अपनी 'आत्महत्या' कर ले। घर आने पर वह चुपचाप देखता रहा कि उसका भाई उस दवा को कहाँ छिपाकर रखता है। रमेश घर आया और वह दवा को अपने तकिये के नीचे छिपाकर रख दिया। सुरेश यह सब काम शान्तिपूर्वक खिड़की के रास्ते देख रहा था। रात को उसने बिना खाना खाये ही उस जहर को खाने का विचार किया। अतः वह यों ही पेट दर्द का बहाना करके सोने चला गया। तकिए के नीचे तो जहर पड़ा हुआ था। उसने एक गिलास पानी में जहर को घोलकर मेज के नीचे रख दिया। और किवाड़ बन्द करके पत्र लिखने का विचार किया ताकि आत्महत्या के बाद पुलिस वाले उसके माँ-बाप और किसी पर मार डालने का शक न कर सके। झट से वह एक सफेद कागज पर पत्र लिखने लगा—

पूज्य पिताजी,

यह कागज का टुकड़ा उस समय आपके हाथ में होगा जब मैं आप लोगों से दूर हो चुका हूँगा। जहाँ से लौटकर आना मुश्किल है। मेरे आत्महत्या का कारण बहुत साधारण सा है। केवल चार वर्ष तक एक ही कक्षा में फेल होना। यह पत्र इसलिए लिख दे रहा हूँ कि मेरे मरने के बाद पुलिस वाले आप लोगों पर कोई जुर्म न लगा सके।

नोट :—

पुलिस अधिकारी को मालूम हो कि मैं आत्महत्या अपनी मर्जी से स्वयं कर रहा हूँ। मेरे मरने के बाद आत्महत्या के जुर्म में किसी को दोषी न ठहराया जाय।

रमेश

रमेश पत्र लिखने के बाद उस जहर को पी लिया और अपनी रजाई में मुँह ढँककर सो गया कुछ देर बाद उसे नींद आ गयी। और स्वप्न में देखा कि चार भयानक आकृति वाले लाल कपड़े पहने हुए यमलोक के दूत लोग आये और उसे उठाकर चल दिए। डरते-डरते रमेश-बोला—अरे! तुम लोग मुझे कहाँ लिये जा रहे हो। एक मोटा सा दूत बोला—चुपचाप रहो तुम्हें जो कुछ बात करना है सब यमलोक में करना, पहले तुम यमपुर स्टेशन चलो। डरते हुए रमेश फिर बोला—अरे! वाह क्या जाने के लिए भी टिकट लेना पड़ता है।

एक यमदूत गुस्साते हुए बोला—खामोश! रमेश भयभीत होकर चुप हो गया। वह यमपुर स्टेशन पर पहुँच गया। वहाँ पर उसने देखा कि दफ्ती पर नरक और स्वर्ग का टिकट मिलता है। रमेश का पूछने का मन किया परन्तु भय के कारण ख़ामोश रहा। वहाँ देखा कि पानी बहुत कम है परन्तु यमलोक में कुछ दूत ऐसे थे जो एक दूत चार-चार को पकड़े हुए थे फिर दूतों ने गाड़ी आने पर रमेश को एक डब्बे में बन्द कर दिया और सब बाहर आकर हँसने लगे। रमेश को अंधेरे डिब्बे में बन्द रहने के कारण बड़ा गुस्सा आ रहा था फिर भी वह खामोश था। कुछ देर बाद उसे ऐसा लगा कि गाड़ी किसी स्टेशन पर आकर रुक गयी है। तभी सब यमदूतों ने उस अंधेरे डिब्बे को खोलकर रमेश को बाहर निकाला और कुछ दूर पैदल ही ले गये। उसको वहाँ की प्रत्येक वस्तु विचित्र लग रही थी। यह सब देख कर वह डर

गया और देखा कि यमदूत उसे दफ्तर की ओर ले जा रहे हैं पर वहाँ बहुत से डिपार्टमेंट थे। एक दफ्तर के सामने लिखा था 'डेथ फार लव' दूसरी तरफ लिखा था 'डेथ फार इक्जामिनेशन' इस प्रकार बहुत से डिपार्टमेंट थे। दूत उसे पकड़ कर डिपार्टमेंट में लिए जा रहा था, जहाँ लिखा था 'डेथ फार लव' वह घबरा गया और दूत से बोला—अरे भाई तुम मुझे इस डिपार्टमेंट में कहाँ लिये जा रहे हो। मैं तो परीक्षा असफल होने के कारण मरा हूँ। मुझे उधर ले चलो। पर दूत ने एक न मानी और जबरदस्ती उसे लड़कों की लाइन में खड़ा कर दिया। रमेश ने देखा वहाँ तो यमलोक के जज बैठे हुए हैं। एक जज लड़कों से कुछ पूछ रहा है और दूसरा लड़कियों से। जब रमेश लाइन में खड़ा था तो एकाएक पड़ोस की लड़की मीना को देखकर आश्चर्य चकित रह गया। यमपुर का जज मीना से पूछ रहा था बेटी—तुमने आत्म-हत्या क्यों किया ?

रमेश ने देखा मीना डर के मारे सिर झुकाये हुए थी और सिसकती हुई बोल रही थी मेरे पड़ोस में एक लड़का है जिसका नाम रमेश है। मैं उससे प्रेम करती हूँ जब कल मैं उसके घर गयी तो उसकी माँ मुझे एक लड़की का फोटो दिखाते हुए बोली कि देखो—यह लड़की कैसी है। मेरे लड़के के योग्य है या नहीं। इतना कहने के बाद रमेश की माँ हंसने लगी और मैं उदास चेहरे के साथ घर आयी और जहर खा लिया। इतना सुनने बाद जज ने कहा बेटी तुम्हारे समक्ष धोखा हुआ। जिस लड़की का फोटो रमेश की माँ दिखा रही थी उस लड़की की शादी रमेश के छोटे भाई सुरेश से होने वाली है। जाकर बाग में बैठो कल फैसला सुनायेंगे।

यह सब सुनने के बाद वह बिल्कुल घबड़ा सा गया और मन में सोचने लगा कि मैं तो आत्महत्या कर ही चुका हूँ, साथ ही मीना को भी उसी के कारण आत्महत्या करनी पड़ी। रमेश यह सोच ही रहा था कि उसका नम्बर आ गया। जज ने धीरे से उसका नाम पूछा रमेश ने अपना नाम बताया, फिर जज उसका नाम रजिस्टर में ढूँढ़ने लगा लेकिन उसका नाम उस रजिस्टर में था ही नहीं, गुस्साते हुए एक दूत को बुलाया और गरज कर बोला—इडिएट, नानसेन्स इसका नाम रजिस्टर में क्यों नहीं है ? घबड़ाओ मत, तुम सबको नौकरी से अलग कर देंगे। इसी बीच रमेश धैर्य से बोला—साहब मेरा नाम रजिस्टर में होगा ही नहीं। मैंने अपनी हत्या प्रेम के कारण नहीं बल्कि परीक्षा में असफल होने कारण किया। मैंने तो इससे पहले यह बात कहा था मगर वह माना ही नहीं, जज गुस्साते हुए एक दूत से बोला—जाओ पूरी फाईल ले आओ। जज ने पूरी फाईल उठाकर देखा और रमेश से बोला तुम्हारा नाम यहाँ किसी फाईल में नहीं है।

जज बोला—बालक तुमको गलती से दूत उठाकर लाए हैं। तुम्हारी मृत्यु तो हुई नहीं है। तुम जीवित हो और जज ने एक दूत को आर्डर दिया इसको संसार में फिर से पहुँचा आओ। मैंने जज से बहुत सिफारिश किया मैं चार वर्षों से कक्षा दस में फेल हो चुका हूँ और अब अपना मुँह माता-पिता, भाई-बहन तथा अपने क्लास-फेलो के दिखाने योग्य नहीं हूँ। कृपया मुझे यहीं रहने दीजिए। आयु के बाकी दिन यहीं आपके सेवा में बिता दूँगा। मगर

मेरी एक न सुना, जज कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और एक दूत ने मुझे इतनी जोर से धक्का दिया कि मैं आकाश से गिरकर जमीन पर आ गया और घबराकर जब मेरी आँख खुली तो घर का नौकर कमरे का दरवाजा पीट रहा था।

रमेश के दरवाजा खोलते हुए दिमाग घबराया देखा उसका नौकर वृद्ध हाथ में झाड़ू लिये खड़ा है। उसके पीछे उसका छोटा भाई सुरेश भी खड़ा है झट से सुरेश रात का लिखा पत्र जो टेबुल पर पड़ा था उठा लिया और छत पर भागा। रमेश भी उसका पीछा करते हुए छत पर पहुँच गया। झट से रमेश अपना हाथ जोड़कर बोला—सुरेश मैं तुम्हारा पांव पकड़ता हूँ। यह पत्र किसी को न देना, अभी इस पत्र को फाड़ दो वरना जुर्म हो जायेगा और मेरी कसम खाओ कि हम किसी से नहीं बतायेंगे। सुरेश ने उसी समय पत्र फाड़ दिया और बोला जब तुम कल शाम को चूहा मारने वाली दवा लेने गये थे, हमको उसी समय सन्देह हो गया था कि तुम शायद आत्महत्या करोगे। अतः मैंने कल शाम को ही पुड़िया से जहर फेंककर उसमें आटा और थोड़ा-सा लाल रंग डालकर पुड़िया बनाकर रख दिया था। अच्छा चुपचाप नीचे चलो।

दोनों छत से नीचे आ गये तभी देखा कि मीना हाथ में परीक्षा-फल का अखबार लिए खुशी के साथ दौड़कर आयी और बोली रमेश तुम तो प्रथम श्रेणी से पास हो गये। चलो खिलाओ मिठाई। अच्छा हुआ कि तुम्हारी पंचवर्षीय योजना पूरी नहीं हुई। रमेश की इच्छा हुई कि रात वाला सारा स्वप्न मीना को सुना दे लेकिन पोल खुलने की डर से सब छिपाये रखा। पास होने से अधिक खुशी उसे इस बात की हुई कि उसके भाई ने उसकी जान बचा ली।

पृ० २८६ का शेष

समझ नहीं सका और मेरे कदम स्वतः उसकी ओर चल पड़े, उस दिन यह पता चला कि उसने मुझे प्रेम की परीक्षा में पास कर दिया है, मैंने उसे अपने घर पर बुलाया जिसे उसने सहमे दिल से मान लिया।

मैंने दोस्त को बहुत समझाया था, अपने एकाकीपन की बात बतायी थी, कविता समझती रही कि अपने को वक्त के साथ ढाल लिया होगा लेकिन ऐसा मुझसे हो न सका और अब तक.....

कविता के घर आने पर सारी बातें फिर से उभर आयीं और मैंने समय का ज्ञान भुलाकर उसे अपने बाहों के घेरे में ले लिया, वह कुछ पल के लिए स्थिर-सी हो गयी, खुद को विश्वास नहीं हुआ कि यह सब कुछ कैसे हो गया।

जाते वक्त मैंने उसे बहुत गौरपूर्ण नजर से देखा था, मन में एक सुखद एहसास था, दिये गये अधिकारों का बोझ था, एहसासों ने अपना करवट बदलकर उसे अपने पास कर लिया था।

एहसासों का सामाजिक सम्बन्ध अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके गहरे निजीपन में बदल गया, अपने अपेक्षाकृत अनजान और व्यस्त छात्र जीवन में कविता ने कब कितना महसूस किया, परन्तु उसने जो समय के प्रारम्भिक चोटों से असमय ही वयस्क बन गया। सुखद पलायन का सम्बल बनाकर सहज ही अपने कल्पना के सपनों में प्रतिष्ठित कर डाला। आज की कविता मेरे लिये आशा की सुदूर देखने वाली मंजिल जिस तक पहुँचने का रास्ता नहीं है........।

एहसास

प्रभात कुमार
एम. ए. एल. एल. बी. (अन्तिम वर्ष)

"……न जाने क्यूँ आज तुम्हारी बहुत याद आयी, यह जरूरी भी नहीं कि तुम्हें भी मेरी याद आये—आज कालेज में लोगों की नजर बचाकर कई बार मैंने तुमसे बात करना चाहा, लेकिन तुम लोगों के बीच इस तरह से घिरी रही कि तुम्हें बात करने तक का भी अवकाश नहीं था, ठीक ही तो है, हर बात करने वाले से स्नेह भी तो नहीं किया जा सकता।

अचेतन मन से कविता……कविता यह शब्द निकलकर कई बार स्मृतियों के भँवर में फँसकर अनायास ही मुँह से निकल पड़े, जब आँख खुली तो मन को ऐसा एहसास हुआ कि स्नेह का सागर बिना किनारे का होता है, खामोशी के चन्द्रमा ने एहसासों के सूरज से दोस्ती कर ली, पिछले दिनों की याद में, मैं तड़पता रहा एहसासों का तपन असह्य हो उठा।

होली का वह प्रभात जब मैं तुम्हारे घर पर कुछ आशाओं के साथ गया था, और तुमने मेरा रंगों से स्वागत किया था मन अपनी खुशी और कशिश लेकर वापस लौटा था।

……और शाम को लोगों के बीच उमंगों का एक शोर देखा था; आपस में लोगों को गले मिलते देख, एक ही बार मन यह चाहा कि करीब लाकर तुम्हें भी अपने सीने से लगा लूँ—लेकिन विवशता के पैर बहुत असहाय थे, चल पड़ने के लिए।

पूरे शहर को नये-नये कपड़ों में देखा था। उस वक्त शहर जवान था अब थककर सो चुका है, खामोशी के चादर को ओढ़ मैं अब सो चुका हूँ।

आइने के सामने अपने चेहरे पर कल के रंगों के दाग को देखता हूँ, विभिन्न प्रकार की रेखाओं से बना चेहरा मिट गया है, अतीत के मधुर यादों के साथ अपने को जोड़ने में असहाय पाता हूँ।

रात को १२ बज चुके हैं, मन घड़ी के सूइयों के नोंक पर ठहर सा गया है, थोड़ी देर पहले जगमगाता हुआ शहर अब रूठकर शांत हो गया है।

× × × ×

शाम को जब उसे हरी साड़ी में देखा था, वह काफी सुन्दर नज़र आयी थी, चेहरे पर सुबह के लाल रंग के निशान अब भी कुछ रह गये थे, जिसे देखं तुरन्त मैं वापस घर लौट आया था, लौटते वक्त दरवाजों के ओट से उसे झांकते हुए मैंने पाया था।

दूर से गाड़ी मोटरों की आवाज और उसमें से निकलते हुए धूँओं में मेरा चेहरा खो सा गया, उसका मुझे बड़ा विचित्र-सा लगा था और मैं सब-कुछ हारकर एक जड़ बनकर वापस लौट आया था।

वक्त हर जख्म को भर देता है, और फिर सभी कुछ मिट गया।

आज उसे देख भी नहीं सका और न बात ही हो सकी, वैसे मैंने पूरी कोशिश की थी।

कालेज में एक दोस्त के कहने पर, बहुत कुछ जान लेने की उत्सुकता मन में पैदा हुई, लेकिन यह लाचार कदम उस तरफ जा नहीं सके और दोस्त के ही कहने पर मैंने क्लास़ नोट्स़ उस तक पहुँचा देने के लिए दे दिया था।

........दूसरे दिन दोस्त से ही उसकी भावनाओं का पता चला, जिसमें शिकायत भी थी और स्नेह भी, मन में ऐसा डर था कि कहीं वह मुझे गलत न समझती हो।

× × × ×

वैसे बदले हुए समय में सबसे पहले यही लड़की मेरे जीवन में एक प्रेरणा बनकर आयी और जिन्दगी की एक कविता बनकर ठहर सी गयी। मैं स्वयं ही नहीं समझ सका कि हमारी आत्मीयता का राज क्या है, और सच ही है जो आत्मीय होते हैं उनपर कभी प्यार नहीं आता, उन्हें जब-तब खो देने का डर लगा रहता है।

मैंने दोस्त के जरिये उस तक उसके मन के पूर्वाग्रह को दूर करने हेतु अपनी सफाई में बहुत कुछ बात पहुँचा देने के लिए कहा था मन में इस बात का भी डर रहा कि कहीं उसके मन में यह पूर्वाग्रह हमेशा के लिए न रह जाय और वह मुझे गलत ही समझती रहे।

स्नेह का सागर कभी भरता नहीं बल्कि रह-रहकर उछालें भरा करता हैं, मैंने इस बात का कई बार प्रयास किया कि मैं खुलकर हर बात उससे कह दूँ कि वह मेरे जीवन के लिए एक प्रेरणा बन चुकी है और उसके बिना मेरी जिन्दगी अधूरी ही रह जायेगी, लेकिन ऐसा मेरा सोचना है।

वैसे मैं निराश हो चुका था और सीने में एक दबा हुआ एहसास था। दोस्त के छेड़ने पर बीती बातें फिर से मन को कुरेदने लगती थी। वह मुझमें रूचि रखती है, इस बात को मैं उसके व्यवहारों से नहीं समझ पाया था।

दोस्त के शब्दों को मैं चुप होकर सुन लेता हूँ साथ में इस बात का भी डर है कि कहीं कविता मुझे गलत न समझ ले कि मैं उसका क्यूँ इतना पक्ष लेता हूँ।

वैसे मैं हमेशा अपने अवचेतन से उस पर अपना पूरा अधिकार समझता रहा, मैं नहीं जानता कि यह मेरी भूल थी, कभी-कभी अपने इस चेष्टा पर भय भी होता था।

दोस्त को भी कविता के बारे में बात करने में मजा आता था, और जब भी अवसर मिलता वह मुझसे उसके बारे में बात करने की चेष्टा करता था, क्योंकि वह जानता था कि कविता मेरे व्यक्तित्व की सबसे बड़ी कमजोरी है, कविता से मेरा प्रथम परिचय मोमबत्तियों के उजाले में किसी के घर पर हुआ था और उस समय हमलोग कालेज में एक साथ पढ़ने वाले दोस्त नहीं थे। दोस्त को, ढेर सारी बातें मालूम नहीं थी कि हमारी आत्मीयता का राज क्या है।

.......वैसे मैंने अपने प्रयासों से कई बार यह चाहा कि मैं कविता के मन के काम-पेलेम्स को दूर कर दूँ, जिसके कारण मुझे अपने अधिकारों के सीमा को और बढ़ाना पड़ा और उसके व्यक्तिगत जिन्दगी से कुछ रिश्ता जोड़ना पड़ा।

कविता भी मेरे इस रिश्ते से अनभिज्ञ थी या बनी रही, यह मैं नहीं जानता क्योंकि उसके भी मन में समाज के कुछ लोगों का भय था, पूरे समाज का नहीं, ऐसा मैंने उसके शब्दों और व्यवहारों से जाना।

....मैं टूट चुका था, आशाओं के सारे रास्ते बन्द हो चुके थे, क्योंकि उसके सम्बन्धों की चर्चा कहीं और शुरू हो गयी थी, उसके सम्बन्धों की चर्चा जहाँ पर शुरू हुई, वह उसके व्यक्तित्व और कल्पना के परिधि के अन्तर्गत बिल्कुल नहीं आती थी जिसे जानकर मुझे काफी दु:ख हुआ।

कालेज के टूर के समय मैंने कई बार कविता से इस सम्बन्ध में पूछना चाहा, लेकिन परिस्थितियों ने मौका नहीं दिया और हृदय की अभिलाषा वक्त की मुहताज बन बैठी, एक बार मैंने आत्मीयतावश ही उससे कुछ पैसे माँगे, जिसे उसने बड़े स्नेह से दे दिया था और उसका यह निश्छल व्यवहार मेरे लिए एक पहेली बन गयी।

और टूर से वापस आने पर रिश्तों ने एक नया मोड़ अपने आप बिना पूछे ही ले लिया, जिसके पीछे मैं दौड़ने लगा। सम्भवत: कविता ने भी इसे महसूस किया होगा और शब्द अब एक हल्का-सा स्पर्श ढूँढ़ने लगे।

एहसासों के सागर में दो साल का समय विलीन हो गया और हम लोग कालेज के दुनिया से बाहर निकल आये, मैंने इधर बीच पहली बार दिन के सूरज में एक नयी चमक महसूस की और रात के यौवन में एक नया नशा पाया।

समय धीरे-धीरे खिसकता रहा और कविता धीरे-धीरे बाहों के बनाये हुए घेरों से दूर होती गयी थी।

और एक दिन वह जिन्दगी के एक दूसरे चौराहे पर खड़ी हो गयी, मैं उसकी रफ्तार देखता रहा, क्योंकि उसके पास अपनी एक सीमा थी और एक दूसरी बाहों का प्रश्न था।

वक्त की मार को मैं सह न सका और मैंने एक दूसरी जिन्दगी जीने की कसम खा ली। कसम ने अपना सफर तय करना शुरू कर दिया, शब्द मरने लगे, शेष सिर्फ एक चाहत कविता के स्पर्शों का रह गया।

एक काफी लम्बे अन्तराल के बाद कविता को शहर के बाजार में कुछ खरीदते देख मैं भौचक्का-सा रह गया और वह मुझे देख मुस्कुरा रही थी। उसके इस मुस्कुराहट को मैं

उपलब्धि

एक और कविता

विजय राय
स्नातकोत्तर (अंतिम वर्ष) अंग्रेजी विभाग

[प्रस्तुत कवितांश विजय राय की सद्यः प्रकाश्य दूसरी लम्बी कविता पुस्तक 'जूझने की जिद' का है]।

बुद्ध-बुद्ध इसलिए बनें
क्योंकि
उन्हें सहूलियत थी
बुद्ध बनने की
और हमारे साथ ये है कि
हम जो हैं
वो भी न रहें
विकृत का तंग पथ
जब भी कभी चौराहा बन जाता है
मैं भागकर जिस घर में होता हूँ
वहाँ कविता नहीं तो क्या
'आत्मने पद' के बोल ?
किन्तु वे भी झुलसकर
कविता ही बन जाते हैं
और हम खड़े-खड़े
आपको देखते रहते हैं
आपके ही गुरुत्वाकर्षण में भस्म यथा
तीन बजे से दो बजे तक
फ़ीवर के हाई डिलेरियम में पड़े-पड़े
सूफियाना गज़लों या जिन्दगियों को
दुहराने के अलावा
जिसने कुछ सीखा नहीं
उसका और कुछ…?
जब कि लोग ज्यादातर
'अपने लोग' होते हैं
कि हम भी
तभी अपनी मंजिल देखते हैं
और अपनी तो बस कुछ यूं ही
कि क्षणों को दस्तावेज़ बनाकर
रामायण अपनी ही पढ़ना चाहे
वह भी चैन से
हम, खरीद फरोख्त में मिले
आदिम मांस को
नीलाम होते देख
शरीर के स्वधर्म की पहचान करते
जिस मुकाम पर होते हैं
वहाँ केवल हमारी लाश के कफन की
चोरबाजारी होती है
लेकिन
किसी फैसले की बात तक
हमारी इच्छाओं का रक्तस्राव हो
चुकता है
और हम
ज्यामिति की उपास्थापना के मध्य
लावारिश मरीज बन जाते हैं
जटिलताओं के मध्य
हमें केवल चुप और
प्रौढ़ मरीज की भूमिका में होना होता है
इसलिए
हम दवा की जगह कागज
और
परहेज की जगह कविता उगलते हैं

●

कैकेयी※

डॉ० कमलिनी मेहता
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग

'कैकेयी' कई वर्षों से मेरे मानस को उद्वेलित कर रही थी किन्तु मेरा आलसी स्वभाव उसके बाहर आने में बाधक हो रहा था। अन्त में उसकी विजय हुई— उसकी छटपटाहट कुछ इतनी तीव्र हो उठी कि उसने मेरे मस्तिष्क को झकझोर दिया और मुझे लेखनी उठाने के लिए विवश होना पड़ा।

'कैकेयी' के जिस स्वरूप को मैं आपके सम्मुख रखने जा रही हूँ वह थोड़ा परंपरा से हटकर है। यों राम कथा के पात्रों का रूप यथावत् है और कथा को भी कहीं तोड़ा नहीं है। परन्तु समाज द्वारा तिरस्कृता कैकेयी के अन्तर की गहराई में जब झाँका तब प्रश्न उठा क्या सचमुच कैकेयी कुलघातिनी और राम विद्रोहिणी है? वाल्मीकि ने तो कुछ ऐसी ही कैकेयी का चित्र उपस्थित किया है। स्वयं उनके राम, जब विराध सीता को हर कर अपने अंक में लेता है तब लक्ष्मण कैकेयी की निन्दा करते हुए कहते हैं—

अत्यंत सुसंवृद्धा राजपुत्री मनस्विनाम्।
यदभिप्रेत्मस्मासु प्रियंवर वृत्तं चयत॥ (अ० द्वि० सर्ग-१८)

[कैकेयी ने इस अभिप्राय से वन भेजा है कि सीता राक्षसों द्वारा हरी जायगी और मैं उसकी रक्षा में राक्षसों द्वारा मारा जाऊँगा, तब उसका भरत निष्कलंक भाव से राज्य भोगेगा।]

राम का यह कथन एक 'झटका' देता है। क्या यह सत्य है? परन्तु जब हम तुलसी के 'मानस' के पृष्ठ खोलते है और राज्याभिषेक के पूर्व की कैकेयी का दर्शन करते हैं तब पुनः एक प्रश्न सम्मुख उभर आता है—राम कैकेयी को प्राणों से प्रिय हैं, वह नित्य देवता से मनाती है कि यदि कृपा कर पुनर्जन्म दो, तो राम सा पुत्र और सीता सा पुत्रवधू देना —क्या ऐसी सुशीला, स्नेहमयी राम की उपासिका उनकी विद्रोहिणी हो सकती है? यदि ऐसा ही

※ नगर छात्र निकाय एवं श्री नागरी नाटक मंडली के संयुक्त तत्वावधान में 'कैकेयी' नाटक का प्रथम बार २४ फरवरी '७७ को श्री मुरारी लाल प्रेक्षागृह से मंचन हुआ। इसमें भाग लेने वाले कलाकार का० हि० वि० वि० के छात्र एवं अध्यापक थे। प्रेक्षागृह में स्थानाभाव होने के कारण जो इसका मंचन नहीं देख सकें उनके लिए यह प्रस्तुत है।

होता तो वह क्यों बार-बार महाराज दशरथ से राम को राजपद देने का हठ करती रहती ? निःसंदेह एक विकट समस्या है।

यही प्रश्न क्या तुलसी के मानस में भी रचना-क्रिया के काल में नहीं उठा होगा ? राज्याभिषेक का प्रसंग आने पर क्या वे भी उत्तर ढूँढने के लिए व्याकुल नहीं हुए होंगे ? कई दिन और रातें उलझन में नहीं बीती होगी ? 'कथा कैसे आगे बढ़ाऊँ ?'—क्या यह प्रश्न बार-बार मानस को नहीं झकझोर रहा होगा ? और तब क्या यह संभव नहीं कि उनके 'मानस' की कैकेयी प्रेरणा स्रोत बनकर उनके सामने आई हो। 'राम के लोकनायकत्व का प्रश्न सुलझाना होगा'—वह बलिदान के लिए प्रस्तुत हुई होगी, पर तुलसी का हृदय उस पवित्रता की देवी के चरित्र को कलंकित करने के लिए तैयार नहीं हो रहा होगा—विचित्र संघर्ष उठा होगा—'पर राम को राम (सबमें रमण करने वाला) तो बनाना ही है'—'सब जन हिताय सब जन सुखाय' आहुति पर चढ़ गई कैकेयी—सबने एक स्वर से उसे धिक्कारा—स्वयं उसके पुत्र भरत ने भी उसका तिरस्कार किया—उस समय क्या उस महान नारी की चीख के साथ तुलसी की अन्तरात्मा भी नहीं चीखी होगी 'मैं निर्दोष हूँ।'

'कैकेयी' तुलसी की रचना क्रिया की प्रतिक्रिया के साथ यात्रा करने वाली लेखिका की कल्पना है। अब प्रश्न यह है कि कैकेयी ने राम को १४ वर्ष के लिए वन क्यों भेजा ? १४ वर्ष एक निश्चित अवधि कैकेयी के सुस्थिर संकल्प को व्यंजित करना है। कैकेयी राम-शक्ति और पराक्रम को पहचानती है। अतः अनुभव करती है कि लोकनायक का स्थान सिंहासन नहीं संसार है। राजतन्त्र की इस परम्परा को तोड़ना होगा और इसके लिए आवश्यक है एक महायज्ञ की। फलतः अनुकूल वातावरण उपस्थित करने के लिए उसने अपने प्रति लोगों के हृदय में घृणा की अग्नि दहकाई तथा स्वयं को आहुति पर चढ़ा दिया। निसंदेह राम का जननायकत्व तब प्रकट होता है जब राजतन्त्र से दूर अयोध्या की सीमा के बाहर, श्रृंगवेर से चित्रकूट तक निवास करने वाली भोली-भाली ग्रामीण जनता उनके वनवास पर अपना सहज विक्षोभ प्रगट करती हुई उनके साथ सहानुभूति दिखाती है। फलतः राम का कष्ट विश्वजनीन हो जाता है। क्या यह एक असाधारण एवं आश्चर्यजनक बात नहीं है कि साधारण नर-नारी अयोध्या के युवराज और युवराजी से रंचमात्र भी भयभीत न होकर उनके साथ सहज आत्मीयता के सूत्र में बँध जाते हैं ?

'भरत राजा हो'—वस्तुतः यह तो उस महायज्ञ को भूमिका मात्र थी। सीताहरण को निमित्त बनाकर रावण संहार करवाया तथा देवताओं और ऋषि-मुनियों को अभय किया। राम को अनुकरणीय, आदर्शवान और यशस्वी बनाया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि राम के राज्याभिषेक के समय अनार्यों का उत्पात बढ़ा हुआ था तथा आर्य संस्कृति संकट में थी। वाल्मीकि रामायण में उसके कुछ प्रमाण मिलते हैं, इसके अतिरिक्त जैमिनी भरत तथा अन्य इतिहासकारों ने भी इसका उल्लेख किया है।

जैसा कि मैं ऊपर कह चुकी हूँ कि तुलसी का हृदय भी अवश्य चीखा होगा—इसलिए उन्होंने कैकेयी की निर्दोषिता प्रमाणित करने के लिए उसे 'सुरमाया' कहा, देवताओं को दोषी

ठहराया जिन्होंने सरस्वती को मंथरा की मति फेरने के लिए विवश किया। किन्तु सच्चाई तो यह थी—

प्रेम अमिअ मंदर विरहु, भरत पयोधि गंभीर,
मथि प्रगटेउ सुर साधुहित, कृपासिंधु रघुबीर ।।

तात्पर्य यह कि यह सागर साधारण न था। अतः विरह मंदर की सृष्टि के लिये प्रभु ने ही कैकेयी को सूत्रधार बनाया। निश्चयतः यदि रामवनगमन की घटना न घटती तो भरत का प्रेम संसार न जान पाता और 'राम भगत अब अमिय अघाहु' का आमंत्रण भी न प्राप्त होता।

कैकेयी राम कथा की रीढ़ है। विष पीकर उसने अमृत दिया। उसका जीवन अपूर्व बलिदान की गाथा है।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' की स्थापना करने वाली जगदम्बा कैकेयी का उज्ज्वल चरित्र और संत तुलसी की अंतर की छटपटाहट ही इस लघुनाटक का विषय है। मैंने इसमें पूर्वरंग का प्रयोग कर किंवदंती के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि वाल्मीकि ही तुलसी हैं—कैकेयी के शाप ने उन्हें पुनर्जन्म दिया।

यदि सहृदय सामाजिक वर्ग को मेरी 'कैकेयी' पसंद आवेगी तो उसी के शब्दों में मैं भी अनुभव करूँगी कि 'मेरी साधना पूर्ण हो गई।'

पात्र-परिचय

१. राम	डॉ० रघुनाथ घत्ते (हड्डी विशेषज्ञ)
२. लक्ष्मण	श्री मुहम्मद सलीम (छात्र-हिन्दी विभाग, एम० ए० अन्तिम वर्ष)
३. भरत	डॉ० प्रदीप दीक्षित (प्राध्यापक, संगीत महाविद्यालय)
४. दशरथ	डॉ० अशोक उलाभांजे (प्राध्यापक)
५. वाल्मीकि	कमलेशदत्त त्रिपाठी साहित्याचार्य (प्राध्यापक—संस्कृत महाविद्यालय)
६. तुलसी	डॉ० सुरेश भृगुवार (प्राध्यापक—मराठी विभाग)
७. रावण	डॉ० पी० जे० देशमुख (चिकित्सा संस्थान)
८. कैकेयी	डॉ० कमलिनी मेहता (प्राध्यापिका हिन्दी-विभाग)
९. कौशल्या	श्रीमती कमल कुलकर्णी (पत्नी—ललित कला संकाय-प्रमुख)
१०. मन्थरा	श्रीमती पद्मा देशपांडे (पत्नी—डॉ० देशपांडे एवं शिक्षिका—से० स्कूल)
११. सीता	श्रीमती अर्चना दीक्षित (पत्नी—श्री पी० दीक्षित एवं शोध छात्रा)
१२. माण्डवी	कु० अरुन्धती देशपांडे (छात्रा बी० ए० द्वि० व०)
१३. रत्नावली	श्रीमती सुनीता घत्ते (पत्नी—डॉ० घते एवं बी० एड० की छात्रा)

पूर्व रंग

[महर्षि वाल्मीकि का आश्रम—दाईं ओर एक पर्णकुटी है—उससे थोड़ा हटकर मंच के बीच में एक शाल वृक्ष है। वृक्ष के नीचे एक हवन कुंड है जिसमें से धुँआ निकल रहा हैं। कुंड के पास हवन की सामग्री रखी हुई है। एक कुशासन पर महर्षि ध्यानावस्थित बैठे हैं।]

वाल्मीकि— आब्रह्मन ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम
आराष्ट्रे राजमयः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम।
दोग्ध्री धेनुर्वोदानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योधा
जिष्णुरथेष्ठाः सभेयोयुवास्य यजमानस्य वीरो जायताम।
निकामे निकामेनः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो
न ओषधयः पच्यन्ताम् योग क्षेमोनः कल्पताम्।

[श्लोक समाप्त होते ही नेपथ्य से एक नारी कंठ सुनाई पड़ता है।]

नारी कंठ—तुमने मेरे साथ अन्याय किया है।

वाल्मीकि— (चकित होकर नेत्र खोलते हैं) यह किसका स्वर है ? कौन हो तुम देवी ? किसने तुम्हें सताया है ?

नारी कंठ—तुमने ! तुम्हारे अविवेक ने।

वाल्मीकि— यह कैसा आरोप ? मैं तो तुम्हें जानता भी नहीं।

नारी कंठ अपने हृदय पर हाथ रखो, अपने मानस को टटोलो। पहचाना, मैं कौन हूँ ?

वाल्मीकि—मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है। मैं तुम्हें नहीं पहचान पा रहा हूँ। तुम्हारा कंठ मेरे लिए पूर्णतः अपरिचित है।

नारी कंठ— यही तो विडंबना है। तुम मुझे कैसे पहचानोगे ? पहचानता तो वह है, जिसके हृदय में करुणा है, समवेदना है।

वाल्मीकि—पहेली न वनो देवी। मेरे समक्ष आओ, मुझे अपना परिचय दो।

नारी कंठ—पहेली, ठीक कहते हो। नारी सदा से पुरुष के लिए पहेली ही बनी रही—क्योंकि वह उसे पहचानना नहीं चाहता, इसीलिए तो वह स्वार्थपूर्ति के लिए सदा उसका हनन करता रहा है।

वाल्मीकि—यह कैसा लांछन। मैंने तो नारी को श्रद्धा की दृष्टि से देखा है। वह माँ है, पूज्या है।

नारी कंठ—(डपटकर) चुप रहो। माँ शब्द का उच्चारण न करो। तुमने माँ की महिमा

ही कब जानी ? क्या भरत जननी कैकेयी माँ न थी ? क्या तुमने उसके साथ अन्याय नहीं किया है ?

वाल्मीकि—मैंने तो राम कथा लिखी और राम को वन भेजने के लिए मुझे एक निमित्त चाहिए था ।

नारी कंठ—और उसके लिए तुम्हें कैकेयी ही मिली जिसे राम प्राणों से अधिक प्रिय थे । जिसने अपने पुत्र को अधिकार वंचित कर महाराज से राम को राजपद देने का हठ किया ? बोलो, उस नारी के साथ तुमने क्या न्याय किया ?

वाल्मीकि—बलिदान वही कर सकता है जो सबसे अधिक प्यार कर सकता है ।

नारी कंठ—ठीक कहते हो ! पर प्यार का उसे क्या प्रतिदान मिला ? तुमने उसे पुत्र भरत द्वारा तो लांछित करवाया ही और जिस राम के लिए वह बलि का पशु बनी उससे भी उसकी निंदा करवाई ।

वाल्मीकि—नहीं तो ।

नारी कंठ—स्मरण करो, जिस समय विराध ने सीता का हरण किया था [वाल्मीकि को राम के वे शब्द सुनाई पड़ते हैं जो राम ने कैकेयी के प्रति कहे थे—

अत्यंत सुसंवृद्धा राजपुत्री मनस्विनाम् ।
यद्भिप्रेत्मस्मासु प्रियंवर वृत्तं चयत ॥
कैकेयथास्तु सुसम्पन्नं क्षिप्रमद्यैव लक्षमय ।
यान तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घ दर्शिनी ॥]

नारी कंठ—और कैकेयी रघुकुल का कलंक बन इतिहास में प्रसिद्ध हो गई । बलिहारी है तुम्हारी सूझ की ।

वाल्मीकि—नहीं, देवी । यह सत्य नहीं है । कैकेयी महान है—उसने ही राम को राम बनाया और स्वयं राष्ट्रहित पर बलिदान हो गई ।

नारी कंठ—पर कहाँ है तुम्हारी रामायण में कैकेयी का यह उज्ज्वल चरित्र, महर्षि ?

वाल्मीकि—रामायण तो मैंने एक भविष्य द्रष्टा के रूप में लिखी है ।

नारी कंठ—पर तुम तो कवि भी हो । क्या अपनी कल्पना का प्रयोगकर तुम कैकेयी के महान रूप को प्रकट नहीं कर सकते थे ?

वाल्मीकि—मुझसे भूल हुई है । पर अब तो वह सुधर नहीं सकती है । मुझे दंड दे सकती हो ।

नारी कंठ—दंड नहीं, मैं तुम्हें शाप दूँगी । कलियुग में तुम्हें पुनर्जन्म लेना होगा और लोकभाषा में पुनः रामकथा लिखकर कैकेयी की अन्तर्व्यथा और त्याग से संसार को परिचित कराना होगा ।

वाल्मीकि—शिरोधार्य है तुम्हारा शाप ! हे अदृश्य, अब तो प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दो ।

नारी कंठ—प्रतीक्षा करो, समय आने पर मिलूँगी ।

(यवनिका पतन)

प्रथम अंक

[तुलसीदास का कक्ष-- मंच के दाँये किनारे पर एक पीठासन है जिसके सामने एक चौकी है । चौकी पर एक लाल कपड़ा बिछा है, उस पर एक दावात, एक नरकट का कलम तथा एक पोथी रखी है । पास ही एक दीवट पर दीपक जल रहा है । तुलसीदास बेचैनी से कक्ष में टहल रहे हैं । पीठासन पर बैठ कर पोथी से एक पृष्ठ उठाते हैं और धीरे-धीरे दोहे को दुहराते हैं—

राम राज अभिषेकु सुनि हियँ हरषे वर नारि ।
लगे सुमंगल सजन सब विधि अनुकूल विचारि ।।

पृष्ठ को वापस रखकर कलम उठाते हैं, कुछ लिखने का प्रयास करते हैं, सोचते हैं फिर कलम उठाकर रख देते हैं]

तुलसी—नहीं, कोई उपाय ढूँढना होगा । कल प्रातः प्रभु राम का राज्याभिषेक हो जायगा, वे अयोध्या नरेश हो जाँयगे, और....................।

कैकेयी—(प्रवेश करके) और तुम्हारा काव्य अधूरा ही रह जायगा ।

तुलसीदास—(चौंककर) आप ? आप कौन हैं देवि ?

कैकेयी—(मुसकरा कर) पहचाना नहीं ? मैं तुम्हारे मानस की कैकेयी हूँ ।

तुलसीदास—(श्रद्धा से नतमस्तक होकर) अंबा कैकेयी ! दास तुलसी चरणों में सादर प्रणाम करता है ।

कैकेयी—आयुष्मान ! सफलता और कीर्ति के भागी बनो ।

तुलसीदास—(फीकी मुसकान के साथ) सफलता और कीर्ति । ये दोनों तो मुझे अपने से बहुत दूर दिखाई पड़ रही है । बड़े असमंजस में पड़ गया हूँ ।

कैकेयी—यह तो मैं भी देख रही हूँ । तीन दिन हो गए, तुम्हारी लेखनी मौन पड़ी है, तुमने एक शब्द भी आगे नहीं लिखा ।

तुलसीदास—(आश्चर्य से) आपने कैसे जाना ?

कैकेयी —वत्स । मैं भी तुम्हारे ही जैसी राम भक्त हूँ । रात्रि में जब तुम सो जाते हो, तब मैं आकर तुम्हारा काव्य पढ़ जाती हूँ पर इधर ....।

तुलसीदास—बड़ी दुविधा में पड़ गया हूँ देवि । भगवान राम ने ऋषि-मुनियों और देवताओं के आग्रह से, राक्षसों का विनाश करने के लिए अवतार लिया हैं । जन्म से विवाह तक की कथा तो निर्विघ्न चलती रही किन्तु अब राज्याभिषेक होने जा रहा है । यदि वे राजा बन गए तो...........।

कैकेयी —प्रजावत्सल, नीतिवान राम अयोध्या की प्रजा की सुख-समृद्धि में खो जायेंगे और रामावतार की कथा झूठी हो जायगी—क्यों यही असमंजस है न ?

तुलसीदास—माता ! आप तो अंतर्यामी हैं, मुझे मार्ग दिखाइए ।

कैकेयी —तुम्हारी ही भाँति मैं भी इधर दो दिन से बड़ी उद्विग्न हूँ। नित्य रात्रि में स्वप्न में देवता और ऋषिगण आ आकर मुझसे विनय करते जा रहे हैं कि मैं किसी प्रकार इस राज्याभिषेक को रोक दूँ।

तुलसीदास—पर अब यह कैसे संभव है ?

कैकेयी —क्यों नहीं सम्भव है ? मैंने उपाय ढूंढ लिया है।

तुलसीदास—तो कृपा कीजिए माँ।

कैकेयी —राम को वन भेज दो।

तुलसीबास—(चौंककर) यह आप क्या कह रहीं है ? वन भेज दूँ। पर क्यों और कैसे ?

कैकेयी —सुनो, मैं तुम्हें एक रहस्य को बात बतला देती हूँ। महाराज ने एक बार देव-दानव युद्ध के समय मेरी सहायता से प्रसन्न होकर मुझे दो वर देने का वचन दिया था। वे उनके पास धरोहर हैं। कैकेयी द्वारा उन्हीं वरों का प्रयोग करवा डालो।

तुलसीदास—वह कैसे ? मेरी समझ में तो-कुछ भी नहीं आ रहा है।

कैकेयी — एक वर में राम को वनवास और दूसरे में भरत के लिए राज्य माँग कर।

तुलसीदास—राम, राम। भला मैं यह अनर्थ कैसे कर सकता हूँ। आप का पवित्र चरित्र मैं कैसे कलंकित होने दूँगा ?

कैकेयी —इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। वत्स ! लक्ष्य से हटना पुरुषार्थ नहीं; कर्तव्य पालन के लिए कुछ कठोर बनना ही पड़ता है।

तुलसीदास—(आत्मग्लानि से) मुझसे यह न हो सकेगा माता। मेरा हृदय इसे स्वीकार नहीं करता।

कैकेयी —तो सुनो, अब तुम मूक द्रष्टा बने रहो। आगे का कार्य मैं स्वयं किए डालती हूँ।

तुलसीदास—माँ (घुटनों के वल वैठ जाते हैं।)

कैकेयी —(तुलसी के सिर पर हाथ रखकर) निश्चिंत रहो भक्त ! जनता जनार्दन भक्त वत्सल राम सहायक हों।

(मंच पर धीरे-धीरे अंधकार हो जाता है)

हृदय परिवर्तन

(महारानी कैकेयी का कक्ष। कैकेयी एक सुवर्ण जटित पर्यङ्क पर बैठी हैं, पर्यंक के नीचे एक छोटी सी चौकी है। नेपथ्य में मंद मन्द वीणा बज रही है। सिर लटकाये हुए मन्थरा का प्रवेश।)

कैकेयी—मंथरा ! आज तू इतनी उदास क्यों दिखाई दे रही है ? (मंथरा रोने का नाट्य करती है।)

कैकेयी—जान पड़ता है आज लक्ष्मण ने तुझे फिर कुछ सीख दे डाली है। है भी तू इस योग्य। तू बहुत बढ़-बढ़ कर बोला करती है।

मन्थरा—(निःश्वास खींचकर) हे माई ! हमें कोई क्यों सीख देगा ? मैं किसके बल पर बढ़-बढ़ कर बोलूंगी ?

कैकेयी—तो फिर यह रोनीमूरत क्यों बनाए चली आई है ? (उत्तर नहीं देती)

कैकेयी—(खींझ कर) बोलती क्यों नहीं ? पुत्र राम, महाराज, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न सब कुशल से तो हैं ?

मन्थरा—(भारी स्वर में) आज राम को छोड़कर और किसकी कुशल है। कल महाराज उनका राज्याभिषेक कर रहे हैं।

कैकेयी— है ! सच क्या ? कल राम का राजतिलक है ? (आनन्द विभोर होकर) हे प्रभु, तुमने मेरी प्रार्थना सुन ली। आनन्द मनाओ, बधाइयाँ गाओ। (अपने गले से हार उतार कर मन्थरा की ओर बढ़ाती है।) ले, यह शुभ समाचार देने का उपहार।

मन्थरा— उपहार दे रही हो ? तुम कितनी भोली हो रानी। कुछ भी नहीं समझ पा रही हो। तुम्हारा पुत्र परदेश में है और महारानी कौशल्या विधाता को अपने अनुकूल जानकर अवसर का लाभ उठा रही हैं।

कैकेयी—क्या बक रही है ?

मन्थरा—ठीक कह रही हूँ। महारानी कौशल्या अपने पुत्र को राजा बनवा रही है। तुम उनकी कपट भरी चतुराई को समझ नहीं रही हो। तुम सोचती हो महाराज तुम्हारे वश में हैं, पर है नहीं ऐसी बात। रानी तुम्हारे सुख के दिन बीत गए।

कैकेयी—(क्रोधित होकर) बस, बस चुप रह घर फोड़नी। यदि आगे कुछ और बोली तो जीभ खींच लूँगी। सच ही कहा गया है, काने, कुबड़े और लँगड़े बड़े ही कुटिल और कुचाली होते हैं।

मन्थरा—(अपने गालों पर थप्पड़ मारकर) हे भगवान ! मेरा तो यह अभागा कपाल फोड़ने ही योग्य है। मुझे क्या पड़ी थी, जो मैंने यह बात चलाई। मेरा क्या ? कोई भी हो राजा, मैं तो दासी छोड़कर अब रानी होने से रही।
(सिर पर हाथ रखकर बैठ जाती है और रोने का नाट्य करने लगती है)

कैकेयी—(खींझकर) मुझे तेरा यही चरित्र तो नहीं भाता। सच-सच कह तूने ऐसी अशुभ बात मुँह से निकाली ही क्यों ? राम राजा बने इससे बढ़कर शुभ और मंगल समाचार और क्या हो सकता है और फिर यही तो रघुकुल की सुहावनी रीति है कि बड़ा भाई स्वामी होता है और छोटे भाई सेवक। और राम, राम का तो मुझ पर इतना प्रेम है, इतना प्रेम है कि कहा नहीं जा सकता। मेरा राम राजा बने इससे बढ़कर और आनन्द क्या हो सकता है ? माँग, मन्थरा माँग, जी भर कर माँग ले आज जो भी माँगेगी वही उठाकर दे डालूंगी।

मन्थरा—(मुँह फुलाकर) मैं तो घरफोड़नी हूँ न। कौन-सा मुँह लेकर माँगू ? यहाँ तो मेरा जी जला जा रहा है और तुम हो कि आनन्द मना रही हो। हाय रे पापी मन। यदि बचपन से ही तुम्हें पाला-पोसा न होता तो आज मुझे ये आँसू क्यों बहाने पड़ते ? ये अपशब्द क्यों सुनने पड़ते ? (आँसू पोंछती है।)

कैकेयी—(नम्र होकर) तुझे भरत की सौगन्ध। छल-कपट त्यागकर सच-सच कह कि ऐसे हर्ष के अवसर पर तू विषाद के आँसू क्यों बहाए डाल रही है?

मन्थरा—मेरी सारी आशाएँ तो एक ही बार में पूरी हो गईं। अब तो कहीं से दूसरी जीभ लाकर लगाऊँ तभी कुछ कह सकूँगी। फिर कहने से क्या, मेरी तो अच्छी बात भी तुम्हें बुरी लगती है। नहीं, नहीं क्षमा करो देवि! (कान पकड़ती है)।

कैकेयी - फिर स्वांग करने लगी? सच कह तूने जैसी अशुभ बातें मुँह से निकाली उसे सुनकर क्रोध आना क्या स्वाभाविक नहीं था? मुझे तुझ पर विश्वास है और मैं जानती हूँ कि तू कभी मेरा अहित नहीं सोचेगी। तू बुरा न मान और निष्कपट होकर कह कि तूने ऐसी अभद्र बातें कहीं क्यों?

मन्थरा—तुम पूछती तो हो पर अब मुझे कहने में डर लग रहा है।

कैकेयी—(रोष से) जब मैं भरत की सौगन्ध दिला चुकी हूँ तब क्यों इतना मुँह फुलाए जा रही है?

मन्थरा—(निःश्वास खींचकर) रानी, समझ लो अब तुम्हारे अच्छे दिन बीत गए। बुरे दिन आने पर मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। महाराज का तुम पर अनन्य प्रेम बड़ी महारानी को बराबर चुभता जा रहा है। उन्हें भय है कि कहीं महाराज तुम्हारे प्रेम के वश होकर भरत को राज्य न दे दें और तुम राजमाता न बन जाओ। इसीलिए भरत की अनुपस्थिति में राम का राजतिलक करवा डाल रही हैं।

कैकेयी—यह तू कह क्या रही है? मुझे विश्वास नहीं हो रहा है। राम राजा हो यह तो मेरी ही इच्छा है और इसके लिए मैं स्वयं महाराज से कई बार हठ कर चुकी हूँ। फिर बहन कौशल्या को यह शंका क्यों?

मन्थरा—राम राजा हो यह तो कुल के अनुकूल की बात है और सभी को सुहाती भी है। मुझे तो बहुत ही अच्छी लगती है पर सौतिया डाह बड़ा ही घातक होता है। सभी तुम्हारी तरह निश्छल थोड़े ही हैं, इसीलिए अब आगे की बात सोचती हूँ तो हृदय काँप उठता है। और तब यही इच्छा होती है कि ईश्वर से मनाऊं कि वह बड़ी महारानी के कुचक्र का फल उलट कर उन्हें ही दे डालें।

कैकेयी —सच, कह रही है मन्थरा?

मन्थरा - रानी। तुम सचमुच बड़ी भोली हो। अपना बुरा भला तो पशु भी सोचते हैं। अयोध्या में एक पखवारे से राम के राजतिलक की तैयारियाँ हो रही हैं पर क्या महाराज ने एक बार भी उसकी भनक लगने दीं? भरत को ननिहाल से बुलाने के लिए दूत भेजा? मैं तुम्हारी दासी हूँ, तुम्हारा दिया खाता हूँ, फिर मैं तुम्हारा अनिष्ट कैसे देख सकती हूँ। विश्वास करो राम का राजतिलक तुम्हारे लिए विपत्ति का बादल बनकर घहराने वाला है।

कैकेयी —मन्थरा। तेरी बातें सुनकर तो मेरा हृदय बुरी तरह काँप उठा है। यदि यह सब सत्य है, तो मेरा क्या होगा?

मन्थरा —मैं झूठ नहीं बोल रही हूँ। मेरी बात गाँठ बाँध लो–अब तुम दूध की मक्खी बना दी जाओगी। यदि पुत्र सहित राजमाता की चाकरी करोगी तो सुख से रह सकोगी अन्यथा दोनों को बंदीगृह में डाल दिया जायगा।

कैकेयी —तू ठीक कह रही है मंथरा। इधर कई दिन से मेरी दाईं आँख भी रह रह कर फड़कती रहती है, रात्रि में बुरे-बुरे स्वप्न दिखते हैं।। अज्ञान वश मैं कुछ समझ नहीं पा रही थी पर आज तूने मेरी आँखे खोल दी। मैं क्या करूँ? मेरी तो समझ में कुछ नहीं आ रहा है।

मन्थरा —दुखी न हो स्वामिनी। भगवान तुम्हारा सुख और सौभाग्य दिन दूना रात चौगुना करें।

कैकेयी —मैंने तो स्वप्न में भी कभी किसी का अनिष्ट नहीं सोचा, फिर मेरे साथ यह कुटिलता क्यों? (एकाएक उत्तेजित होकर) नहीं, नहीं मैं अपने पिता के घर चली जाऊँगी, भले ही वहाँ मुझे दुःख उठाना पड़े परन्तु प्राण रहते सौत की चाकरी नहीं करूँगी, नहीं करूँगी, नहीं करूँगी।

मन्थरा —रानी। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। मेरी सुनो तो एक उपाय बताऊँ।

कैकेयी —(आशा भरे स्वर में) कह, इस विपत्ति में तू ही एक मात्र अवलम्ब है, तू जो कहेगी, मैं वही करूँगी।

मन्थरा —(इधर उधर देखकर) तो सुनो। तुम्हारे दो वर महाराज के पास धरोहर रखे हुए हैं न। आज उन्हें माँग कर शत्रु का मुँह कुचल दो।

कैकेयी —वह कैसे?

मन्थरा —पहले वर में पुत्र के लिए राज्य और दूसरे में राम को चौदह वर्ष का वनवास माँग कर।

कैकेयी —(अपने आप) भरत को राज्य और राम को वनवास। नहीं, नहीं यह दूसरा वर मुझे खटक रहा है। राम को वन भेजना, यह मुझसे न होगा।

मन्थरा —रानी। इसी में तुम्हारे पुत्र का कल्याण है। यदि अपने पुत्र का राज्य निष्कंटक देखना चाहती हो तो निःसंकोच दूसरा वर माँग लो। पर हाँ, एकदम से वर न माँग लेना। जब महाराज राम की सौगन्ध ले लें तभी माँगना। अच्छा, तो मैं चली। महाराज के आने का समय हो रहा है।

(मंथरा का प्रस्थान। कैकेयी कुछ क्षण विचार मग्न खड़ी रहती है।)

कैकेयी—मंथरा। नहीं नहीं यह नाटक मुझसे नहीं होगा। (सोचकर) पर राम को मुझे लोकनायक बनाना है। ठीक है। (अपने केश खोलती है, आभूषण उतार कर इधर उधर फेंकती है और पर्यङ्क के नीचे रखी चौकी पर औंधे मुँह लेट जाती है।)

दशरथ —(प्रवेश करके) यह क्या! (आभूषण उठाते हुए) ये बिखरे हुए आभूषण (सिर पर हाथ रखते हुए) ये खुली हुई सुन्दर केश राशि। (कैकेयी हाथ झटक देती है।)

दशरथ—(मुस्कराकर) तो देवि रुष्ट है। पर क्यों? दास से ऐसा कौन सा अक्षम्य अपराध

हो गया है ? (उठाने का प्रयास करते हैं) उठो, आज मैं तुम्हें एक बहुत ही प्रिय और तुम्हारे मन को भाने वाला समाचार सुनाने जा रहा हूँ।

(कैकेयी उठती है पर मुँह फेर कर बैठ जाती है।)

दशरथ— आर्ये ! आज तुम्हें हो क्या गया है ? (ढ़ोड़ी पकड़ कर मुँह फेरने की चेष्टा करते हैं। कैकेयी पुनः हाथ झटक देती है।) कुछ तो बोलो। क्या किसी ने तुम्हारा अपमान किया है अथवा कुछ अहित किया है ? बोलो, किसकी मृत्यु उसे पुकार रही है ?

(कैकेयी उत्तर नहीं देती, महाराज प्यार से उसका हाथ पकड़ते हैं)

दशरथ— (अधीर होकर) प्रिये, तुम्हारा यह उदास चन्द्रमुख, ये अश्रुपूरित कमलनयन मुझे अधीर किए डाल रहे हैं। कुछ तो कहो, तुम्हें सौ बार राम की सौगंध।

(दशरथ की ओर देखकर कुटिलता के साथ मुसकराती है। महाराज उनका हाथ पकड़कर उसे पर्यङ्क पर बिठाते हैं।)

कैकेयी— एक पखवारे से अयोध्या में राम के राज्यतिलक की तैयारियाँ हो रही हैं, घर-घर में आनन्द मनाया जा रहा है, पर मुझे अभी तक महाराज ने इस शुभ समाचार की सूचना तक न दी।

दशरथ —(मुसकरा कर) ओह। तो यह कारण है रुठने का। किन्तु आर्ये अभी तक यह मंगल समाचार अन्तःपुर में किसी को भी नहीं दिया जा सका है, स्वयं राम की जननी भी यह नहीं जानती कि कल प्रातःकाल क्या हो रहा है ? तुम्हीं पहली हो जिसे मैं यह सुखद समाचार देने आया था, पर जान पड़ता है मुझसे पूर्व हो कोई भाग्यवान आकर देवि के मधुर हास का लाभ उठा ले गया। अच्छा, अब तो प्रसन्न हो जाओ। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो रही है। आज जो चाहो मुझसे माँग लो।

कैकेयी —(मुस्कराकर) आर्यपुत्र। आप माँगो-माँगो तो कहते रहे हैं पर देते कभी नहीं।

दशरथ —क्यों झूठा दोषारोपण करती हो ? सच कहो, तुमने मुझसे कुछ भी माँगा कब। चलो, आज माँग कर परीक्षा ले लो।

कैकेयी —माँगू, दे सकियेगा ?

दशरथ —क्या विश्वास नहीं हो रहा है ?

कैकेयी —आपको स्मरण है, देव दानव युद्ध के समय आपने मुझे दो वर देने का वचन दिया था।

दशरथ —हाँ, हाँ, तो आज उन्हें माँग लो।

कैकेयी —नहीं, पहले आप राम की सौगंध खाइए।

दशरथ —(हंसकर) प्रिये। आज तुम्हें मुझपर इतना अविश्वास क्यों हो रहा है ? रघुवंशी अपने प्रण के सच्चे होते हैं, प्राण चले जाँय पर वे अपने वचन को नहीं तोड़ते। फिर भी तुम्हारे संतोष के लिए मैं राम की सौगंध खाता हूँ। निःसंकोच जो चाहो आज मुझसे माँग लो।

कैकेयी —(कठोर होकर) तो सुनिये आर्य पुत्र। मेरे मन को भाने वाला पहला वर तो यह है कि राम के स्थान पर भरत को युवराज पद दें।

दशरथ —(चौंककर किन्तु तत्परता से) ठीक है, दिया।

कैकेयी —और और (आँखे बन्द करके ओठ भींचती है, फिर झटके से) दूसरे वर में राम को चौदह वर्ष का वनवास दें।

दशरथ —(उठकर) यह कैसा विनोद है आर्ये ?

कैकेयी —विनोद। विनोद नहीं महाराज यह मेरी इच्छा है।

दशरथ —कैकेयी। मुझे विश्वास नहीं हो रहा है कि तुम ? राम की प्रशंशिका यह कर रही हो ?

कैकेयी —हाँ, मैं राम की प्रशंसिका यह कह रही हूँ। क्यों क्या भरत आपका पुत्र नहीं है ? क्या मैं मोल लाई दासी हूँ। देना हो तो ये ही दो वर दीजिए। आप तो सत्य प्रतिज्ञ रघुवंशी हैं न ?

दशरथ —(मर्माहत होकर) क्यों व्यंग्य बाण छोड़े जा रही हो। राम और भरत तो मेरी दो आँखें हैं। मैं तो रघुकुल की रीति का निर्वाह कर रहा था और तेरी भी तो यही इच्छा थी कि राम को राजपद दिया जाय, फिर मैंने कौन सी अनीति कर डालो है ?

कैकेयी —नीति-अनीति की बात मैं नहीं जानती। आप चाहें तो 'नहीं' कह कर अपनी प्रतिज्ञा तोड़ सकते हैं।

दशरथ —ठीक है तेरी ही इच्छा पूर्ण हो, भरत राजा बने। मैं कल प्रातः दूत भेजकर भरत को बुलवाए लेता हूँ और फिर एक दिन शुभ मुहुर्त में डंका बजवा कर उसे युवराज पद सौंप दूँगा। पर.................।

कैकेयी —पर क्या ? मेरे पुत्र का राज्य निष्कंटक रहे अतः मेरी दूसरी इच्छा भी पूर्ण कीजिए।

दशरथ —इतनी कठोर न बनो रानी। राम को राज्य का लेशमात्र भी लोभ नहीं है और न राम की माता का ऐसा स्वभाव है। मैं भगवान शंकर की शपथ खाकर कहता हूँ। क्रोध छोड़ दो, विवेक से काम लो। अपना दूसरा वर लौटा लो।
(कैकेयी मुँह फेर लेती है, उत्तर नहीं देती हैं।)

दशरथ —मुझे आश्चर्य हो रहा है कि जिस कैकेयी की जिह्वा राम की प्रशंसा करते नहीं अघाती थी, वही साधु कोमल हृदया आज इतनी कठोर कैसे हो गई ?

कैकेयी —बस, बस। यह ठकुर सुहाती आप अपने पास ही रखिये। मुझे ये सब प्रपंच नहीं भाते। या तो मेरी कामना पूर्ण कीजिए या अपयश के भागी बनिए।

दशरथ —ओह कैकेयी। तू मानवी नहीं दानवी है। मैं तुझसे अपने प्राणों की भीख मांग रहा हूँ। राम के वियोग में मैं एक पल भी जीवित नहीं रह सकूँगा मैं भी भरत का यौवराज्याभिषेक देख सकूँ इसलिए अपना दूसरा निष्ठुर वर लौटा ले और उसके स्थान पर अन्य कोई उचित वर माँग लो।

कैकेयी —(क्रोधित होकर) तो मेरा भी निश्चय सुन लीजिए महाराज। यदि प्रातः काल होते ही मुनि वेष धारण करके राम वन को नहीं चले जाते तो मैं भी अपना प्राण त्याग दूँगी।

दशरथ —हा राम (अपना मुख दोनों हाथों में छिपा लेते हैं)।

कैकेयी —यदि अन्त में आपको यही करना था तो किसलिए माँग-माँग कहा था। अब या तो वचन निभाइये या झूठे बनिये।

दशरथ —(क्रोध से) चुप रह पिशाचिनी। जो तेरे जी में आये वह कर, पर इतना सुन ले एक दिन राम राजा होगा, तीनों भाई उसकी सेवा करके लोक में यशस्वी होंगे किन्तु तेरा कलंक और मेरा पश्चाताप मृत्यु पर्यन्त भी न मिटेगा। हत्यारिनी, जा, दूर हो जा मेरी आँखों के आगे से। हाय राम।

(मूर्छित हो जाते हैं कैकेयी खड़ी रहती है। नेपथ्य में एक करुण धुन बज उठती है—मंच पर धीरे-धीरे अंधकार होता है।)

दृश्य परिवर्तन

(तुलसीदास अपने कक्ष में पीठासन पर बैठे 'मानस' के पन्ने उलट रहे हैं। चौकी पर कोहनी टेक कर सिर पर हाथ धरते हैं)

तुलसी —(धीरे-धीरे सिर उठाते हुए) प्रभु राम को वनवास दे ही दिया। (उठकर टहलते हैं) क्या यह उचित हुआ ? नहीं, नहीं। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। भगवन् मुझे शक्ति दें कि मैं माता कैकेयी को इस अनर्थ से बचा लूँ।

कैकेयी —(प्रवेश करके) धनुष से छूटा तीर वापस नहीं आता।

तुलसी —(प्रणाम करके) यह आपने क्या किया अम्बा ?

कैकेयी —वही, जो चाहिए था।

तुलसी —पर आप, इतनी कठोर कैसे हो गयीं ? लौटा लो अपना वर माँ।

कैकेयी —जो होनी थी सो हो गयी।

तुलसी —यह आप क्या कहती हैं ? नहीं माँ—प्रभु को वन मत भेजो। कोमल तन मेरे राम वन के कष्ट कैसे सहन करेंगे ?

कैकेयी – अपना महाकाव्य पूरा नहीं करना चाहते ?

तुलसी —इतने बड़े मूल्य पर ? यह कैसे सम्भव है ?

कैकेयी —भक्त यह मत भूलो कि जिस राम की तुम कथा लिख रहे हो वह कोई ऐश्वर्य भोगी-विलासी राजा नहीं है। वह तो लोकनायक है, पृथ्वी का कष्ट दूर करने के लिए ही तो उसने जन्म लिया है। राजा बनने से पूर्व उसे जन-जन के बीच जाना होगा, उनकी पीड़ा की अनुभूति प्राप्त करनी होगी, तभी वह सच्चा जन-नायक बन सकेगा।

तुलसी —पर संसार तो यह जानेगा नहीं। वह तो आपकी ही निन्दा करेगा।

कैकेयी —सागर मथने पर पहले विष ही निकलता है—उस विष का पान करने के बाद ही अमृत प्राप्त होगा।

तुलसी —मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है।

कैकेयी —तुम्हें अमृत चाहिए न ?

(तुलसी निरन्तर एकटक देखते हैं।)

कैकेयी —अभी तो लीला का प्रारम्भ हुआ है। प्रारम्भ में ही धैर्य खो दोगे तो राम-कथा कैसे पूरी होगी।

तुलसी —मुझे रामकथा नहीं पूरी करनी है। महाराज दशरथ पुत्र वियोग में प्राण त्याग देंगे, आपको पतिघातिनी का भी कलंक लग जायगा।

कैकेयी —महाराज दशरथ बड़े धीर-गम्भीर और विवेकशील पुरुष हैं। राम के वियोग में वे प्राण नहीं त्यागेंगे।

तुलसी —किन्तु भरत भी तो अयोध्या का सिंहासन नहीं ग्रहण करेंगे।

कैकेयी —मैं जानती हूँ। मेरा पुत्र, राम का अनन्य भक्त भरत राजसिंहासन कभी स्वीकार न करेगा, किन्तु जब तक राम वन में रहकर दानवों का संहार करेंगे तब तक भरत के अतिरिक्त उनकी थाती और सम्हाल भी कौन सकेगा ? तुलसी ! राम और भरत एक हैं।

तुलसी —ओह ! यह कैसी विडंबना है। माता यह अनर्थ रोक लो।

कैकेयी — अनर्थ के मूल में ही नवसृष्टि छिपी है और फिर भरत के लिए राज्य माँगकर मैं महाराज को एक बहुत बड़े अधर्म से बचा रही हूँ।

तुलसी - आप कैसी आश्चर्यजनक बातें कर रही हैं ?

कैकेयी —तुम नहीं जानते, कोई नहीं जानता कि महाराज ने मेरे पिता को मुझसे विवाह करने के पूर्व यह वचन दिया था कि मेरा ही पुत्र युवराज होगा।

तुलसी —पर प्रभु राम को राजा बनाने का हठ भी तो आप ही का था।

कैकेयी —ठीक कहते हो। यही रघुकुल की रीति है, और फिर राम मुझे प्राणों से अधिक प्रिय हैं परन्तु……………………।

तुलसी —चुप क्यों हो गयी ?

कैकेयी —अब परिस्थिति बदल गयी है—ममत्व का स्थान कर्त्तव्य ने ले लिया है। राम को लोकनायक बनाना है। कैकेयी अपयश की भागिनी बने—यही भवितव्यता है।

(वेग से प्रस्थान)

तुलसी —(चीखकर) नहीं, नहीं, अपना वर लौटा लो।

(मंच पर अंधकार हो जाता है, तुलसी का स्वर अंधकार में डूब जाता है और छाया चित्र में राम, लक्ष्मण, सीता वन को जाते दिखाई पड़ते हैं। नेपथ्य से गंभीर स्वरों के कवितावली की एक पंक्ति सुनाई पड़ती है—'राजीव लोचन राम चले तजि बाप को राजु बटाऊ की नांईं'।)

द्वितीय अंक

(कैकेयी का कक्ष, शरीर पर कोई आभूषण नहीं है, उसने श्वेत वस्त्र धारण कर रखे हैं। वातायन से बाहर की ओर देख रही है।)

कैकेयी—महर्षि ने सूचना भेजी है कि आज भरत आ रहा है। कैकेयी, आज तेरी सबसे कठोर परीक्षा है (खिड़की से दीखती सरयू नदो को लक्ष्य करके) सरयू ! राम, लक्ष्मण और सीता के साथ वन चले गए, महाराज देवलोक सिधार गए, सम्पूर्ण अयोध्या शोकमग्न हो गयी पर तू निरन्तर बहती चली जा रही है। मुझे भी अपनी शक्ति दे—मैं कर्तव्य पथ पर पत्थर की शिला हृदय पर धारण किये अनवरत चलती रहूँ। मेरी सहनशक्ति तेरे प्रवाह के विद्युत से अनुप्राणित होती रहे।

(भरत का प्रवेश)

भरत—माता जी प्रणाम !

कैकेयी—आयुष्मन्। सुखी होओ। (प्यार से सिर सूँघती है)

भरत—माता ! यह तुमने कैसा वेश बना रखा है ? पिता जी कहाँ हैं ?

कैकेयी—राम के वियोग से तुम्हारे पिता ने प्राण त्याग दिये।

भरत—यह क्या कहती हो पिता जी नहीं रहे ? भइया राम कहाँ गए हैं ?

कैकेयी—मैंने उन्हें वनवास दिला दिया।

भरत—(आश्चर्य से अचकचा कर) क्या ? तुमने……उन्हें……वनवास दिला दिया। पर क्यों ?

कैकेयी—अब तुम अयोध्या के राजा हो। निष्कंटक राज्य करो और सुखी होओ।

भरत—यह तुम कह क्या रही हो ? तुम्हारा मस्तिष्क विकृत तो नहीं हो गया है ?

कैकेयी—नहीं वत्स ! मैं पूर्ण चेतन हूँ। जब मुझे पता चला कि महाराज राम को राजपद दे रहे हैं तब मैंने तुम्हें अयोध्या का राजा बनाने के लिए महाराज के पास धरोहर में रखे अपने दोनों वरों में से एक तेरे लिए राज्य और दूसरे में राम के लिए वनवास माँग लिया।

भरत—(आत्मग्लानि से) हे भगवन् ! यह मैं क्या सुन रहा हूँ ?

कैकेयी—प्रसन्न हो और निर्विघ्न राज्य करो बेटा। (प्यार से पीठ पर हाथ रखती है।)

भरत —(हाथ झटकते हुए) मुझे बेटा मत कहो। पापिष्ठे ! तूने मुझे जन्म देते ही क्यों नहीं मार डाला ? मैं अपना यह काला मुख कहाँ छिपाऊँ ? (दोनों हाथ से मुख ढँक लेते हैं।)

कैकेयी —अधीर न हो, पहले मेरी सुनो तो।

भरत —(तिरस्कार से) अब और क्या शुभ समाचार सुनाना शेष है ? भइया राम को

वन भेजा, पिता की हत्या। हत्यारिनी ! तू मानवी नहीं डाकिनी है। तभी तो तेरा वज्र हृदय फटा नहीं। (शोक से कातर होकर) हे पृथ्वी ! तू फट जा और मैं इस कलंकिनी के कलंक को लिए हुए तुझमें समा जाऊँ।

कैकेयी --भरत। ऐसे अपशब्द मुँह से न निकालो। मैं तुम्हारी माता हूँ और माता अपने पुत्र का अपकार कभी नहीं करती।

भरत --(व्यंग्य से) ठीक कहती हो तभी तो तुमने मेरे लिए राज्य माँगा और अब राम विरोधी मारण मंत्र मुझे पढ़ा रही हो।

कैकेयी --बेटा। राम से मेरा कोई विरोध नहीं है। मैं तो राम की जननी को उनके द्वेष का फल चखाना चाहती हूँ। तुम नहीं जानते तुम्हारी अनुपस्थित में राम के राज्याभिषेक का कुचक्र रच कर वे मुझे और तुम्हें कारागृह में डालना चाहती थी।

भरत --(क्रोध से) चुप रहो। जाह्नवी से भी पवित्र माता कौशल्या के प्रति ऐसे कटु शब्द कहते तुम्हारी जिह्वा गल नहीं जाती ? तुम विष भरी नागिन हो, आज तुमने सबको डस लिया है।

(कौशल्या का प्रवेश)

कौशल्या--वत्स भरत ! माता को ऐसे कटुशब्द नहीं कहे जाते।

भरत --यह माता नहीं, मेरी शत्रु है। इसने मुझे कहीं का न रखा। (कौशल्या के चरण पकड़कर) माता। मैं तुम्हें मुँह दिखाने लायक नहीं रहा। मैं ही सारे अनर्थों की जड़ हूँ। मैं तुम्हारा अपराधी हूँ, मुझे दण्ड दो माँ।

कौशल्या--(भरे कण्ठ से) उठो वत्स। (भरत को उठाती है, प्यार से सिर पर हाथ फेरती है।) बेटा, होनी बड़ी बलवान होती है। बहन कैकेयी निर्दोष है। यह भी हम जैसी ही अभागिनी है। तुम्हारे पिता की मृत्यु का कारण ऋषि का शाप है।

भरत --ऋषि का शाप ?

कौशल्या--हाँ वत्स। एक बार महाराज मृगया को गए हुए थे, भ्रमवश घट में जल भरने की ध्वनि को उन्होंने पशु का स्वर समझकर तीर चला दिया और वह तीर श्रवण कुमार को जा लगा।

भरत --यह श्रवण कुमार कौन था ?

(कैकेयी भी आश्चर्य से सुनती है)

कौशल्या--यह अंधे वृद्ध तापस श्रवण का एकमात्र पुत्र था। काँवर में माता-पिता को बिठाकर उन्हें तीर्थ यात्रा कराने निकला था।

भरत --तो क्या उसकी मृत्यु हो गयी ?

कौशल्या—हाँ। उसकी चीख सुनकर जब महाराज उसके पास पहुँचे तब वह अन्तिम साँस ले रहा था।

भरत—ओह। भ्रमवश कभी-कभी कितनी बड़ी भूल हो जाया करती है। फिर क्या हुआ ?

कौशल्या—महाराज श्रवण कुमार की इच्छानुसार जब तापस दम्पत्ति को जल पिलाने गए और वास्तविकता का पता चला तो उन्होंने महाराज को शाप दिया।

भरत—शाप। कैसा शाप ?

कैकेयी—जाओ हमारी तरह तुम भी पुत्र वियोग में तड़प-तड़प कर प्राण त्यागोगे।

भरत—ओह। और यह जानते हुए भी मेरी मां ने.................

कैकेयी—नहीं बेटा नहीं। मुझे यह रहस्य नहीं विदित था अन्यथा................

भरत—चुप रहो, मैं तुम पर विश्वास नहीं करता, तुम हत्यारिनी हो।

कौशल्या—पुत्र ऐसा न कहो। माँ को क्षमा कर दो, कोई भी नारी स्वयं अपने हाथ अपना सुहाग नहीं उजाड़ती।

भरत—जिसके हृदय में ईर्ष्या और स्वार्थ का विष भरा हो वह क्या नहीं कर सकती ? आप राम जननी हैं न, आपकी महता इसे क्षमा कर सकती है, पर मैं प्रभु राम से विद्रोह करने वाली कुलघातिनी को क्षमा नहीं कर सकता।

कौशल्या—वत्स। शांत हो। धैर्य धारण करो। यही भवितव्यता थी। अब पिता का संस्कार करो ओर उनके वचन का निर्वाह करो। समस्त अयोध्या की तुम्हीं तो एक आशा हो।

भरत—अयोध्या की आशा मैं नहीं भइया राम हैं। मुझे तो आज सभी संदेह की दृष्टि से देख रहे हैं। कौन विश्वास करेगा कि कैकेयी का पुत्र भरत निर्दोष है।

कौशल्या—मैं विश्वास करूँगी। मैं तुम्हारी अन्तर्वेदना को समझती हूँ। तुम भगवान शंकर के मस्तक के चंद्र की भाँति निष्कलंक हो। तुम पर अविश्वास करने वाला रामद्रोही ही होगा। जानते हो वन जाते समय राम ने कहा था—।

भरत —क्या कहा था ?

कौशल्या—माता मैं तुम्हें भरत की शरण में छोड़े जा रहा हूँ। भरत, मुझे तुम पर पूर्ण विश्वास है। मेरे लिए तुम्हीं राम हो। (नेत्र अश्रुपूरित हो उठते हैं)

भरत —(घुटने टेककर) माता। मैं तुम्हारे चरणों की शपथ खाकर कहता हूँ कि जब तक मैं भइया राम को अयोध्या लौटा कर नहीं आऊँगा, मैं भी अयोध्या में पैर नहीं धरूँगा। मुझे आशीर्वाद दो। (कौशल्या के चरण स्पर्श कर नेत्रों से लगाते हैं—कौशल्या सिर पर हाथ फेरती है। कैकेयी आत्मग्लानि से सिर झुका लेती है। भरत और कौशल्या का प्रस्थान। कैकेयी को ऐसा प्रतीत होता है जैसे चारों ओर से आवाज आ रही हो—'कैकेयी पतिघातिनी है' 'कैकेयी पतिघातिनी है।' वह घबड़ा कर कान बन्द कर लेती है और चीख पड़ती हैं, 'नहीं, मैं निर्दोष हूँ' मंच पर अंधकार हो जाता है और सिसकने की ध्वनि सुनाई पड़ती है।)

दृश्य परिवर्तन

(तुलसी का कक्ष--रत्नावली अंजलि के पुष्प चौकी पर रखी पोथी पर चढ़ाती है।)

रत्नावली—(हाथ जोड़कर) प्रभु राम। मेरे स्वामी को अपनी भक्ति और यश देना।
(तुलसी दास का रामायण की चौपाई गुनगुनाते हुए प्रवेश, कंधे पर गीली धोती है।)

तुलसी —(चौंककर) कौन हो तुम ?

रत्नावली—(घूमकर) स्वामी। (चरणस्पर्श करती है)

तुलसी —रत्नावली। तुम ? यहाँ ?

रत्नावली -धन्यभाग। आपने मुझे पहचाना तो ?

तुलसी —तुम्हें नहीं पहचानूंगा। तुम तो मेरी गुरु हो। तुमने ही तो मुझे राम मंत्र की दीक्षा दी है।

रत्नावली—हाँ, और उसी का यह दण्ड है कि आपने मेरा परित्याग कर दिया।

तुलसी —नहीं रत्ना ऐसा न कहो (कंधे पर से गीली धोती उठाकर एक ओर रख देते हैं, रत्ना उसे झटक कर डोरी पर डालती है) तुमने मुझे मिथ्या जगत से निकाल कर अध्यात्म जगत का दर्शन कराया है। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ रत्ना।

रत्नावली—(फीकी हंसी-हँसकर) पति और पत्नी का ऋणी। अब तो बड़ी ऊँची बात करने लगे स्वामी। यह नहीं पूछा रत्ना तुम कैसी हो ? कैसे दिन काट रही हो ?

तुलसी—व्यंग्य न करो। तुम यहाँ कब और कैसे आई ?

रत्नावली—पिता जी काशी-तीर्थ के लिए निकले तो मैं भी उनके साथ तुम्हें ढूँढने के लिए निकल पड़ी। यह मेरा सौभाग्य था कि परसो मैंने तुम्हें अपने से थोड़ा हटकर गंगा में स्नान करते देखा-और जब तुम स्नान करके लौटे तो मैं भी तुम्हारे पीछे पीछे तुम्हारा आवास आकर देख गई।

तुलसी—तो मेरी अनुपस्थिति में तुम्हीं आकर मेरी कुटिया बुहार जाती हो और ये पुष्प मेरी पोथी पर चढ़ा जाती हो ? मैं जब स्नान करके लौटा तो चकित था। पिता जी कहां हैं ?

रत्नावली—चले गये।

तुलसी—तुम नहीं गई ?

रत्नावली—जिस तीर्थ को ढूँढने निकली थीं वह मिल गया; अब कहाँ जाऊं ?

तुलसी—यहाँ कहाँ ठहरी हो ?

रत्नावली—पास की धर्मशाला में।

तुलसी—अभी तक अपने को छिपा क्यों रखा था ?

रत्नावली—स्वामी, एक परित्यक्ता की व्यथा को आप क्या समझेंगे ? मुझे भय था कि कहीं साक्षात्कार होने पर आप मुझे छोड़कर किसी अज्ञात स्थान को न चले जायँ और

जो मुझे थोड़ा-सा दर्शन तथा सेवा का सुख मिला है मैं उससे पुनः वंचित हो जाऊँ। मैंने सोचा था जब आप भोर में स्नान के लिए गंगातट की ओर जायेंगे तब मैं द्वार की ओर से आपके दर्शन करके अपने नेत्रों को तृप्त कर लूँगी तथा आपकी कुटिया को बुहार कर अपने को धन्य समझूँगी।

तुलसी—रत्ना, तुम घर लौट जाओ।

रत्नावली—पत्नी का घर पति के चरणों में है। स्वामी। अपने चरणों में पड़ी रहने दीजिए और मेरा सेवा अधिकार मुझे लौटा दीजिए।

तुलसी—साधु को पुनः गृहस्थ बनाना चाहती हो?

रत्नावली—क्या साधु में आत्म विश्वास नहीं है?

तुलसी—जब देवर्षि नारद नारी मोह में पड़ सकते हैं और महर्षि विश्वामित्र का तप भंग हो सकता है तब मैं-मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूँ और फिर तुम मेरी पत्नी हो।

रत्नावली—तो मुझे आश्रय नहीं मिलेगा? साधु को भय है कि यदि उसकी पत्नी सीता का अनुकरण करती है तो उसका आध्यात्म बिगड़ जायगा। ठीक है, नारी का जीवन बलिदान के लिए ही होता है।

तुलसी —रत्ना, मुझे क्षमा करो।

रत्नावली—क्षमा नहीं स्वामी–आप राम कथा लिखकर भी लक्ष्मण की भार्या उर्मिला की व्यथा नहीं समझ सके। आप मुझे सीता नहीं बनने देना चाहते, उर्मिला का आदर्श ग्रहण करूँगी–वह राम भक्त लक्ष्मण के वियोग को चुपचाप सह रही है, मैं भी उसी प्रकार राम भक्त तुलसी का वियोग सह लूँगी।

तुलसी —यह क्या कह रही हो।

रत्नावली—हम दोनों ही तो परित्यक्ता हैं–पर उर्मिला को तो चौदह वर्ष बाद लक्ष्मण मिल जायेंगे और मुझे – – – –।

तुलसी —मैं वचन देता हूँ कि राम कथा समाप्त होने पर मैं तुझसे मिलने आऊँगा।

रत्नावली—मिलने आओगे–आना, यदि रत्ना जीवित रही तो अवश्य तुम्हारा स्वागत करेगी।

तुलसी —रत्ना। ऐसा न कहो।

रत्नावली—स्वामी आर्शीवाद दो कि तुम्हारी रत्ना अपने व्रत को निभा सके, पर एक विनती है।

तुलसी —कहो।

रत्नावली—(चरण स्पर्श करते हुए) अपनी यह खड़ाऊँ स्मृति चिन्ह में दे दो। इसी के दर्शन कर तुम्हारी बाट जोहूँगी।

(तुलसी खड़ाऊँ उतारते हैं, रत्ना उन्हें सिर से लगाती है और चुपचाप चली जाती है। तुलसी एकटक उसे जाते देखते हैं–अचानक उसे बुलाने को आतुर हो पुकार उठते हैं 'रत्ना' –पर रत्ना जा चुकी होती है।)

तुलसी —(एक गहरी निश्वास खींचकर) क्या मैंने रत्ना के साथ अन्याय किया है?

उ० निकाय १:

कैकेयी —(प्रवेश करके) नारी जीवन की यही विडंबना है। वह त्याग करती है, अन्याय सहती है।

तुलसी —(चौंककर) माता आप ? (प्रणाम करते हैं।)

कैकेयी —हां वत्स। यदि तुम्हारे पास आँखे हों तो मेरा मर्म भेद कर देखो उसमें कितनी व्यथा है। तुमने सुना नहीं उसने, भरत ने, मेरे पुत्र ने मुझे वज्रहृदया कहा। मैं डाकिनी हूँ, हत्यारिनी हूँ, कुल कलंकिनी हूँ।
(पीड़ा से तिलमिला कर आँखे बन्द कर लेती है।)

तुलसी —माता। क्या सच मैं, आपको शाप की कथा नहीं विदित थी ?

कैकेयी —(फीकी करुण मुस्कान के साथ) तो तुम्हें भी मुझ पर विश्वास नहीं है। हाय रे मेरा दुर्भाग्य।

तुलसी —क्षमा करें अम्बे। मैं आपका संताप अनुभव कर रहा हूँ यदि मैं आपकी वेदना को बांट सकता।

कैकेयी —आह। भरत के तिरस्कार ने मुझे झकझोर दिया है। मेरी अंतरात्मा चीख उठी है। परन्तु नहीं, मुझे विचलित नहीं होना है, अपने लक्ष्य की पूर्ति करनी है।

तुलसी —देवी। पर आर्य भरत ने तो प्रतिज्ञा की है कि वे प्रभु को लौटा लावेंगे और प्रभु भरत का अनुरोध कभी नहीं टालेंगे।

कैकेयी - तुम्हारा संदेह उचित है। पर निश्चित रहो। राम कथा अधूरी नहीं रह सकती। राम अपने वचन का निर्वाह करेंगे और चौदह वर्ष बाद ही अयोध्या लौटेंगे।

तुलसी —तब तो आर्य भरत भी अयोध्या नहीं लौटेंगे ?

कैकेयी —नहीं भरत लौटेगा। राम का आदेश नहीं टाल सकता। राम उसे लौटा देंगे, वह लौट आयेगा।

तुलसी —भरत का संताप तो मिट जायेगा पर माता क्या आपको उनका प्यार मिल जायगा ?

कैकेयी —हां, भरत का संताप और कलंक तो मिट जायगा-किन्तु मेरा संताप और मेरा कलंक तो राम के लौटने पर भी नहीं मिट पावेगा। पर राम की कृपा तो मुझे मिलेगी ही चाहे भरत का प्यार मिले या न मिले।

तुलसी — ओह। इतना बड़ा बलिदान। चौदह वर्ष तक आप अंतर की ज्वाला में धधकती रहेंगी ?

कैकेयी — हाँ यह आवश्यक है। तुम्हें स्मरण है मैंने सागर मंथन की बात कही थी—वह मथा जा चुका है और उससे निकले हलाहल का मैंने पान कर लिया है अब भक्तों की अवलम्ब, तुम्हारे भरत की आदर्श राम भक्ति सुधा रूप में प्रकट हो रही है।

तुलसी —धन्य हो भरत जननी। तुम्हारा बलिदान अप्रतिम है।
(पृष्ठभूमि में छाया चित्र उभरता है—राम लक्ष्मण और सीता खड़े हैं, भरत राम की पादुका सिर से लगाए घुटने के बल बैठे हैं, कुछ हटकर शत्रुघ्न हाथ जोड़े खड़े हैं। मंच पर अंधकार छा जाता है।)

उ० निकाय ॥

दृश्य-परिवर्तन

(पंचवटी का दृश्य, एक किनारे पर्णकुटी बनी है। सामने एक छोटी-सी फुलवारी है, सीता पुष्प चुन रही है, राम अपनी कुटी के द्वार पर बैठे धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा रहे हैं। लक्ष्मण थोड़ा हट कर प्रहरी की भाँति खड़े हैं। एक सुवर्ण मृग चौकड़ी मारता आता हैं, सीता उसे देखकर चकित होती है, उसकी ओर बढ़ती हैं। वह उछल कर भाग जाता है।)

सीता —(राम के पास जाकर) देखिए, देखिए, कितना सुन्दर मृग है वह।

राम —कहाँ, कहाँ है ?

सीता —(संकेत करके)वह देखिए। वह झाड़ी के पीछे से निकला। इस स्वर्ण मृग की छाल मिल जाय तो।

सीता —(राम के पास जाकर) देखिए। वह झाड़ी के पीछे से निकला। इस स्वर्ण मृग की छाल मिल जाय तो–

राम —तो क्या करोगी ?

सीता —मैं उसकी मृगछाला बनाऊँगी। क्या देव मुझ पर कृपा करेंगे ?

राम —तुम कहो और मैं न करूँ, यह कैसे हो सकता है ?

सीता —वह कहीं लुप्त न हो जाय। कितना प्यारा है ?

(राम धनुष कंधे पर धारण कर लक्ष्मण को पुकारते हैं।)

राम —लक्ष्मण।

लक्ष्मण —मैं अभी उसे मारे लाता हूँ।

राम —नहीं तुम यहीं ठहरे रहो। मैं ही उसे मार लाऊँगा। (चलने को उद्यत।)

लक्ष्मण – जो आज्ञा प्रभु की।

राम —पर सुनो। सावधान रहना। इस वन में अनेक निशाचर दिन रात घूमते रहते हैं। वे बड़े ही मायावी हैं और हमारे बैरी भी हैं। सीता की रक्षा का भार तुम पर है।

लक्ष्मण —आप निश्चिंत रहे देव। लक्ष्मण के रहते किसी भी राक्षस का साहस नहीं जो यहाँ पैर धरे।

राम —तो मैं चलता हूँ।

(राम का प्रस्थान। सीता उत्सुकता के साथ उसी ओर देखती हैं।)

सीता —देखो लक्ष्मण, अब तो वे आँखों से ओझल हो गए हैं।

लक्ष्मण —चिंता न करो देवि। तब तक लक्ष्मण आपका प्रहरी है आप पूर्णतः सुरक्षित हैं।

सीता —आर्य पुत्र उस मृग के पीछे न जाने कहाँ चले गए।

लक्ष्मण —भइया राम शीघ्र ही लौट आवेंगे। हरिण उनके संधान के बाहर नहीं जा सकता। आप कुटीर में विश्राम करें।

(कुटीर की ओर जाने लगती हैं, तभी नेपथ्य से 'हा लक्ष्मण' सुनाई पड़ता है।)

सीता — (चौंककर) यह क्या ? लक्ष्मण तुमने सुना ? आर्यपुत्र तुम्हें पुकार रहे हैं। जान पड़ता है वे संकट में पड़ गए हैं।

लक्ष्मण —नहीं भाभी। यह किसी मायावी का स्वर है, जो हमें छलना चाहता है। यह भइया का स्वर नहीं है।

सीता —नहीं, नहीं यह आर्य पुत्र का ही स्वर है, मैं पहचानती हूँ। जाओ लक्ष्मण, विलम्ब न करो। वे निश्चय ही संकट में पड़ गये हैं।

लक्ष्मण —भाभी आप निश्चिंत रहिए। भइया राम का कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता।

सीता —निश्चिन्त रहूँ। नहीं, नहीं मेरा हृदय काँप रहा है। लक्ष्मण, तुम तत्काल जाओ, यह मेरी आज्ञा है।

लक्ष्मण —क्षमा करें भाभी। मुझे आपकी आज्ञा टालने का अधिकार नहीं है किन्तु भइया का आदेश है कि मैं आपको अकेला न छोड़ूँ।

सीता —(उत्तेजित होकर) लक्ष्मण। तुम्हारे मन में पाप तो नहीं है। मैं सीता हूँ, प्राण त्याग दूँगी पर तुम्हारी दूषित कामना पूर्ण न होने दूँगी।

लक्ष्मण —(दोनों कान पर हाथ धर कर) यह क्या कह रही हो माता ? यह सुनना भी पाप है। मैं तो आपका पुत्र हूँ।

सीता —तो तत्काल मेरी आज्ञा का पालन करो।

लक्ष्मण —(सिर झुकाकर) जो आज्ञा। (रेखा खींचते हैं, मुनि वेश में रावण प्रवेश करके छिपकर देखता है) मैंने यह रेखा आपकी सुरक्षा के लिए खींची है। वचन दीजिए, इसके बाहर नहीं जायगी। यदि कोई दुष्टात्मा इसके भीतर प्रवेश करेगा तो वह भस्म हो जायगा।)

(सीता कुटी में जाती है)

लक्ष्मण —(चारों ओर देखते हुए) वन देवताओं ! वन देवियों ! मैं आप सबके हाथ माता सीता को सौंपे जा रहा हूँ।

(लक्ष्मण का प्रस्थान। रावण का चोरों की भाँति इधर-उधर झाँकते हुए प्रवेश। रेखा के बाहर खड़े रहकर खाँसता है।)

रावण —भवति भिक्षाम् देहि।

सीता —(फल लेकर कुटी के द्वार पर आती है।) भिक्षा ग्रहण कीजिए मुनिवर।

रावण —ओह। यहाँ तो रेखा खींची है। हम बंधन की भीख नहीं लेते देवि।

सीता —मैं रेखा के बाहर नहीं आ सकती मुनिवर। मुझे क्षमा कीजिए और भिक्षा ग्रहण कीजिए।

रावण —नहीं। रेखा के बाहर आकर यदि भीख दे सकती हो तो दो अन्यथा हम भी बंधी भिक्षा ग्रहण करने से असमर्थ हूँ। बिना भिक्षा लिए ही लौट जाऊँगा।

(लौटने का उपक्रम)

सीता —ठहरिये मुनिवर। अतिथि जिसके द्वार से निराश होकर लौट जाता है वह उसके पुण्य लेकर पाप छोड़ जाता है। मुझे पाप का भागी न बनाइये।
(सीता रेखा के बाहर आती है रावण हाथ पकड़ लेता है।)

रावण —हे त्रैलोक्य सुन्दरी तुम यहाँ कहाँ इन निठल्ले तपस्वियों के साथ अपना जीवन नष्ट कर रही हो। चलो मेरे साथ। मैं तुम्हें पटरानी बना कर रखूँगा।

सीता —(क्रोधित होकर हाथ झटकती है भिक्षा गिर जाती है।) नराधम। जानता नहीं मैं कौन हूँ। अभी प्रभु राम आकर तुझे इस धृष्टता का दण्ड देंगे। तू उनकी शक्ति को नहीं जानता। रावण उसे उठा लेता है और अट्टहास करता है।)

रावण —सीते। मैं लंकापति रावण हूँ। (सीता को उठाकर चलता है।)

सीता —(छूटने को प्रयास करती हुई, विलाप करती है।) आर्यपुत्र। मेरी रक्षा कीजिए। नीच रावण मुझे हरण कर लिए जा रहा है। हाय लक्ष्मण। मैंने तुम पर अविश्वास किया। अब प्रभु को मेरी विपत्ति कौन सुनायेगा।

(जटायु का प्रवेश)

जटायु —हैं, यह कौन सीता को खींचे लिए जा रहा है? पुत्री सीते डर मत। मैं अभी इस रावण को मार कर तेरा उद्धार करता हूँ।

(जिधर से रावण गया है उधर से भीतर जाता है तथा दूसरे पट से उसे खींचकर मंच पर लाता है। रावण गिर पड़ता है। भयभीत सीता एक ओर खड़ी हो जाती है।)

जटायु —तू समझ बैठा था कि सीता की रक्षा करने वाला यहाँ कोई नहीं है।

रावण —(उठकर) अच्छा। तू है बुढ़ा जटायू। तू सीता को बचाने आया है (हँसकर) जान पड़ता है तेरी मृत्यु मेरे हाथों लिखी है।

जटायु —देख रावण, यदि अपना भला चाहता है तो सीता को छोड़ कर चुपचाप चला जा अन्यथा चोंच मार-मार कर तेरी अंतड़ियां खींच निकालूंगा।

रावण —चल-चल बुढ़े गिद्ध। तेरे जैसे बहुत देखे हैं।

(जटायु रावण पर झपटता है, दोनों में युद्ध होता है (नृत्य नाट्य द्वारा) अन्त में जटायु के दोनों पंख कटने पर वह घायल होकर गिर पड़ता है।)

सीता —(चीख मारकर दौड़कर) नहीं, नहीं। (जटायु से लिपट जाती है। और रोने लगती है। रावण सीता को खींच कर उठाता है और खींचते हुए ले जाता है।)

सीता —हा राम। हा लक्ष्मण मेरी रक्षा करो।

(नेपथ्य से वे यही स्वर एक करुण रागिनी के साथ सुनाई पड़ता है।)

तृतीय अंक

(पूजा गृह—श्वेत पत्थर की चौकी पर सूर्य की प्रतिमा खड़ी है—सामने पूजन की सामग्री एक थाल में सजी धरी है-एक ओर दीपक जल रहा है दूसरी ओर धूपदान में अगरबत्तियाँ जल रही हैं, बीच में सुगंधित धूप का धूंवा उठ रहा है। कैकेयी दाईं ओर हाथ जोड़े आँखें बन्द किये बैठी हैं। मूर्ति पर फूल चढ़ाती हैं, सिर टेकती है।)

कैकेयी — हे कुलदेव। आज मेरा मन बड़ा ही उद्विग्न है, दाईं आँख फड़क रही है। प्रभु, मेरे राम, लक्ष्मण और पुत्रवधू सीता का मंगल करना।

(मांडवी का प्रवेश)

मांडवी —(मर्रायें कंठ से, माँ (प्रणाम करती है)

कैकेयी —कौन ? मांडवी। क्या भोर हो गई ?

मांडवी —नहीं मां, अभी एक प्रहर शेष है। आप यहाँ ?

कैकेयी —आज मुझे नींद नहीं आ रही, मन बड़ा उद्विग्न है। पूजा में भी ध्यान नहीं लग रहा है। (अचानक सम्हल कर) पर तू कैसे आ गई ? सब कुशल तो है ?

मांडवी —हां माँ ! पर - - - - (नेत्रों में आँसू छलछला आते हैं)

कैकेयी —चुप क्यों हो गई ? नेत्रों में आँसू क्यों ? भरत तो कुशल से है न ?

मांडवी —हां माँ ! मैं बहुत ही दुखद समाचार नंदीग्राम से सुन कर आ रही हूँ।

कैकेयी —क्या समाचार है ?

मांडवी —आर्या सीता को लंका का राजा रावण हर ले गया है। आर्या राम ने वानर सेना के साथ लंका पर चढ़ाई कर दी है और - - और (गला रूँध जाता है।)

कैकेयी —(ध्यान मग्न होकर; राम विजयी होगा। सीता वापस आवेगी। संसार का कष्ट मिट जायेगा।

मांडवी —नहीं माँ। वहाँ तो अनर्थ हो गया है।

कैकेयी —(चौंक कर) क्या ? अनर्थ।

मांडवी —आर्य लक्ष्मण ! इन्द्रजीत की शक्ति से अचेत हो गये है। उनकी दशा बड़ी गम्भीर हैं।

कैकेयी —यह समाचार किसने दिया ?

मांडवी —एक विशाल बन्दर ने जो अपने को राम भक्त हनुमान कहता है। मध्य रात्रि के समय वह एक पहाड़ सा हाथ पर उठाए आकाश मार्ग से जाता दिखाई पड़ा था। आर्य पुत्र ने निशाचर समझ कर उस पर बाण छोड़ा तो वह प्रभु राम का नाम लेकर भूमि पर उतर आया। उसने ही सारा वृतांत सुनाया।

कैकेयी —पर वह पहाड़ क्यों उठाए जा रहा था ?

मांडवी —वह द्रोण पर्वत था जिस पर संजीवनी बूटी उगती है। भोर होने से पूर्व यदि आर्य लक्ष्मण को संजीवन नहीं सूँघा दी गई तो उनकी चेतना नहीं लौट पावेगी। (रोने लगती है)

कैकेयी —यह सम्भव नहीं हो सकता।

मांडवी —माँ भोर होने जा रही है, यदि हनुमान को विलम्ब हो गया तो........

कैकेयी —राम भक्त के कार्य में कभी विलम्ब नहीं हो सकता। उर्मिला का सुहाग अखंड है।

मांडवी —मैं माता सुमित्रा और उर्मिला को यह दुखद समाचार कैसे सुनाऊँ।

(चरणों से लिपट कर रोने लगती है)

कैकेयी —(प्यार से सिर पर हाथ फेरते हुए) क्या कह रही हो। सुमित्रा वीर माता है और उर्मिला वीर पत्नी है। रघुकुल की वीर नारियाँ ऐसे अधीर नहीं हुआ करतीं। जाओ यह समाचार उन्हें सुना देना। सुमित्रा जीजी गर्व से झूम उठेगी और उर्मिला हर्ष विभोर हो उठेगी। उनका पुत्र राम के कार्य आया है और उसके पति ने राम के लिए शक्ति झेली है। उसका कोई अनिष्ट नहीं होगा। (पूजन की थाली से रोली उठाकर) ले, यह मंगल कुंकुम उर्मिला के मस्तक पर लगा देना।

मांडवी —(रोली लेकर जाने को उद्यत, दो चार पग जाकर, लौटती हैं।) माँ! आर्य पुत्र ने कहा है (चुप हो जाती है और सिसकती है।)

कैकेयी —क्या कहा है, चुप क्यों हो गयी ?

मांडवी —कैसे कहूँ ? बड़े कठोर शब्द हैं ? मुझसे कहा नहीं जाता है पर उन्होने मुझे अपनी शपथ दिलाई है।

कैकेयी —निर्भीक होकर कह। मुझे सब सुनने और सहने की शक्ति है।

मांडवी — (रुक–रुककर कहती है) उन्होंने कहा है. यदि लक्ष्मण को कुछ हो गया और ....और भइया राम नहीं लौटे तो ....तो मैं भी—अपने प्राण त्याग दूँगा और—और——(फफक कर रो पड़ती है)।

कैकेयी —(नेत्रों में आँसू भरकर) और मैं उसका मुख न देख सकूँगी—क्यों ? यही कहा है न ?

(मांडवी सिर हिलाती है)

कैकेयी —(मूर्ति के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ी होती हैं) प्रभु, यह कैसी कठोर परीक्षा है। आज मेरे पुत्र, राम भक्त ने मुझे चुनौती दी है–मेरी लाज रखना। (चेहरे पर दृढ़ता के भाव आते हैं, आकाश की ओर देखकर) हे रघुकुल के कुल देवता सूर्य ! सुनो यदि मैं मनसा, वाचा और कर्मणा राम को अपना पुत्र मानती हूँ तो तुम भी तब तक उदय न होना जब तक लक्ष्मण की चेतना न लौट आवे। (नेत्र बन्द हो जाते हैं, मुख पर एक दिव्य प्रकाश छा जाता है, मांडवी स्तब्ध देखती रहती है–मंच पर धीरे-धीरे अंधकार हो जाता है।)

(दृश्य परिवर्तन)

(तुलसीदास का कक्ष—तुलसीदास बाँए किनारे एक चौकी पर सो रहे हैं— कैकेयी का हाथ में 'मानस' के कुछ पृष्ठ लिए हुए प्रवेश। वह तुलसीदास को जगाती है)

कैकेयी —उठो भक्त !

तुलसी —(हड़बड़ा कर उठते हैं) माता आप ! इस समय ?

कैकेयी —हाँ आज मैं प्रसन्न हूँ। आज मेरे हृदय का आनन्द समस्त विश्व को अपने में समेट लेना चाहता है। मेरा जीवन सार्थक हो गया। मेरा स्वप्न साकार हो गया।

तुलसी —क्या प्रभु राम अयोध्या लौट आए ?

कैकेयी —लौट आवेंगे। लंकाधीश रावण मारा गया। देखो, स्वर्ग से देवता गण पुष्प वर्षा कर रहे हैं और ऋषिगण स्तुति कर रहे हैं।

(परदे पर उड़ते हुए बादलों के बीच देवगण छाया चित्र में पुष्प वर्षा करते और ऋषिगण करबद्ध दिखाई पड़ते हैं, मानस पर पुष्प गिरते हैं। तुलसी और कैकेयी भी हाथ जोड़ कर खड़े हो जाते हैं। नेपथ्य से राम की स्तुति सुनाई पड़ती है।

जय जय राघवराममनन्यम्।

शिव उर रूचिर विराजित मूर्तिः उमानाम नयहृदयसुधन्यम् ।। जय०
आदि काव्यभावित यशगाथैः शरणागत जन सदाशरण्यम् ।। जय०
रामनाम भवभीति विनाशम् भक्ति भाव प्रेरक सुखजन्यम् ।। जय०
अतुलित तुलसी हृदकृतवासम् : मुक्ति मुक्ति प्रदपरम सुपुण्यम् ।। जय०

स्तुति समाप्त के साथ छाया चित्र लुप्त हो जाता है और पुष्पवर्षा भी बन्द हो जाती है।)

तुलसा —माँ, आप रामभक्ति की गरिमा हैं। तुलसी आपका नगण्य दास है। (घुटने टेक-कर प्रणाम करते हैं।)

कैकेयी —उठो वत्स! चौदह वर्ष पूर्ण होने में केवल तीन दिन और शेष है। यदि ठीक समय पर राम अयोध्या नहीं लौटते तो रामभक्त भरत अपने प्राण त्याग देगा। (मानस के पृष्ठ तुलसी को देते हुए) लो अब आगे की कथा तुम पूर्ण करो। मेरा कार्य समाप्त हो गया।

तुलसी —नहीं माँ, कथा का समापन भी आप ही करें।

कैकेयी —नहीं कथा का आरम्भ तुमने किया है, अब पूर्णाहुति भी तुम्हीं करो। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। (जाने को उद्यत)

तुलसी —ठहरो माँ।

कैकेयी —नहीं तुलसी! अब मैं नहीं रुक सकती। वह देखो, मेरा भरत समस्त अयोध्या-वासियों के साथ कितनी आतुरता से अपने आराध्य के लौटने की प्रतीक्षा कर रहा है। मैं भी एक प्रजा हूँ, मुझे भी अब उनमें मिल जाने दो। मेरी साधना पूर्ण हो गयी।

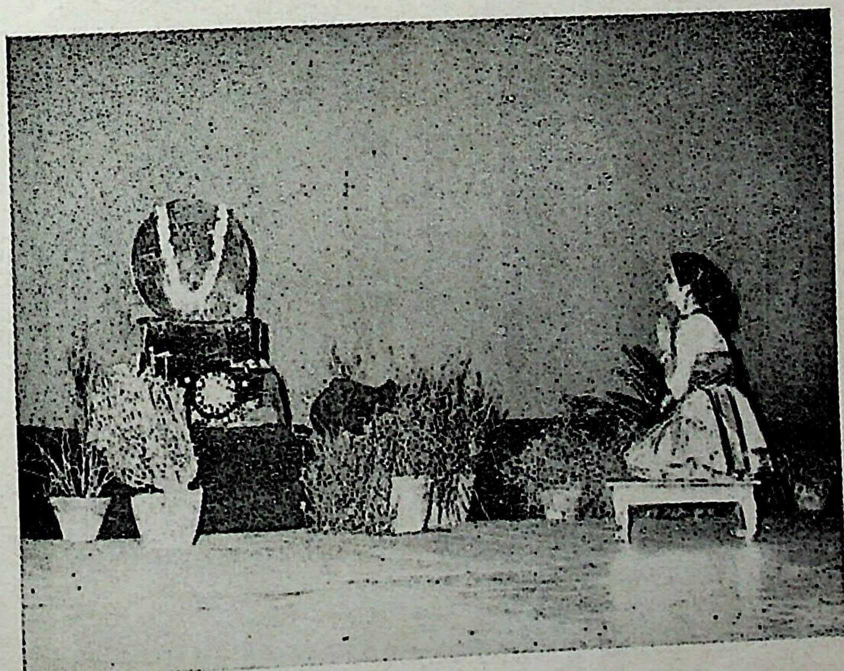
तुलसी —हे त्यागमयी देवी, संसार तुम्हारी उपासना करे या नहीं पर मुझे तो अपनी पूजा कर लेने दो।

(तुलसी आरती उठाते हैं। छाया चित्र में सिंहासन पर बैठे राम-सीता, छत्र धारण किये भरत, चंवर झुलाते लक्ष्मण और शत्रुघ्न तथा चरणों के निकट हाथ जोड़े बैठे हनुमान दिखाई पड़ते हैं।)

।। समाप्त ।।



वाल्मीकि की भूमिका में श्री कमलेश दत्त त्रिपाठी, साहित्याचार्य
(प्राध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय)



कैकेयी की भूमिका में डॉ॰ कमलिनी मेहता (प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग)



रत्नावली एवं तुलसीदास (श्रीमती सुनीता धत्ते एवं डॉ० सुरेश भृगुवार)

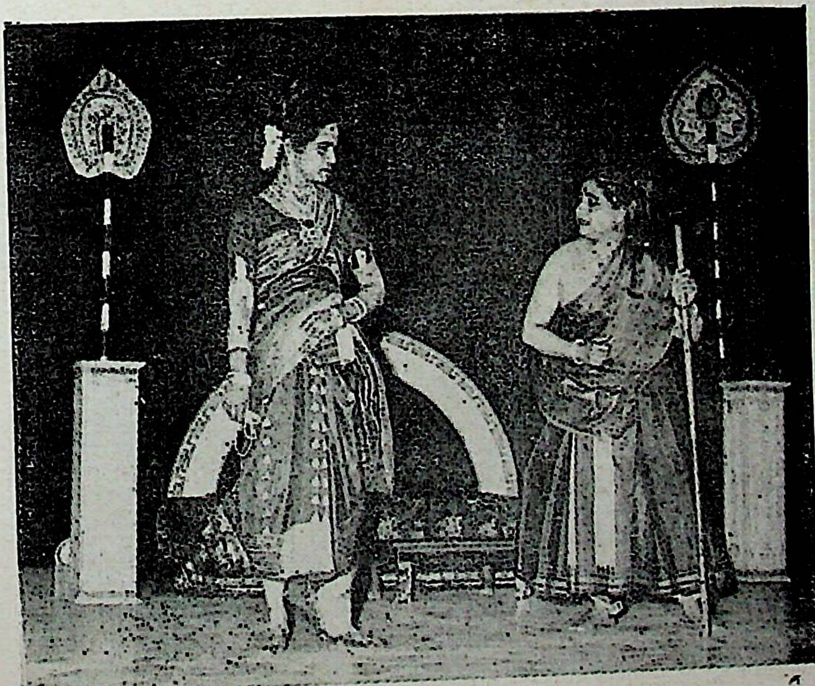


कौशल्या एवं भरत (श्रीमती कमल कुलकर्णी एवं डॉ० प्रदीप दीक्षित)

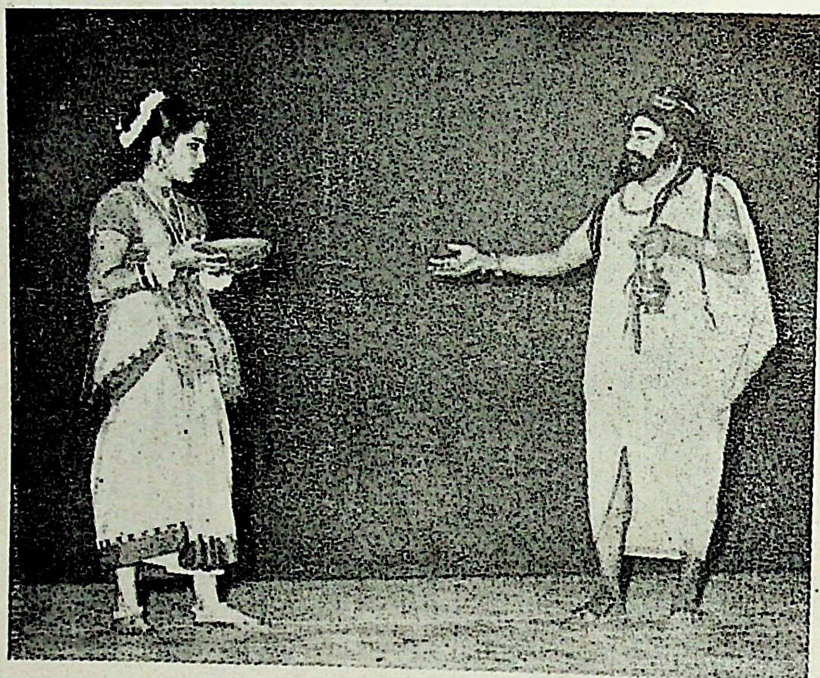
'निकाय' परिवार



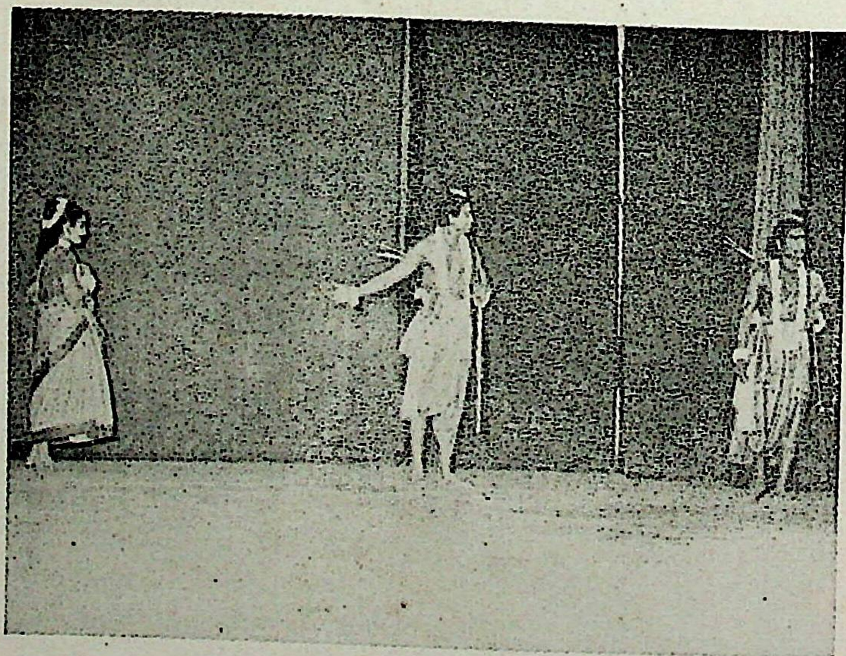
दशरथ और कैकेयी की भूमिका में
डॉ० अशोक उलामांजे एवं डॉ० कमलिनी मेहता



कैकेयी एवं मंथरा (डॉ० कमलिनी मेहता एवं श्रीमती पद्मा देशपाण्डे)



सीता एवं रावण (श्रीमती अर्चना दीक्षित एवं डॉ० पी० जे० देशपाण्डे)



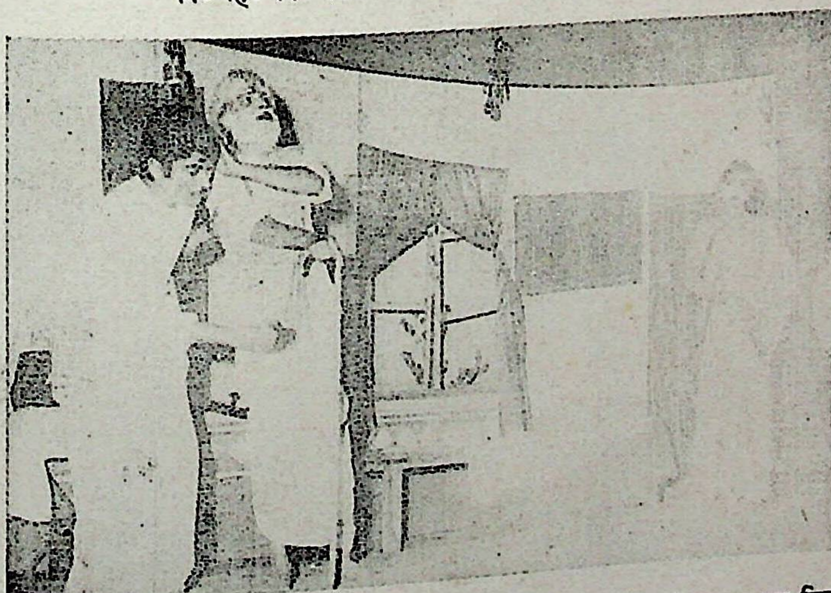
सीता, राम एवं लक्ष्मण (श्रीमती अर्चना दीक्षित, डॉ० रघुनाथ घत्ते एवं मु० सलीम)



मांडवी एव कैकेयी (कु० अरुंधती पाण्डे एवं डॉ० कमलिनी मेहता)

'मोहभंग' एकांकी

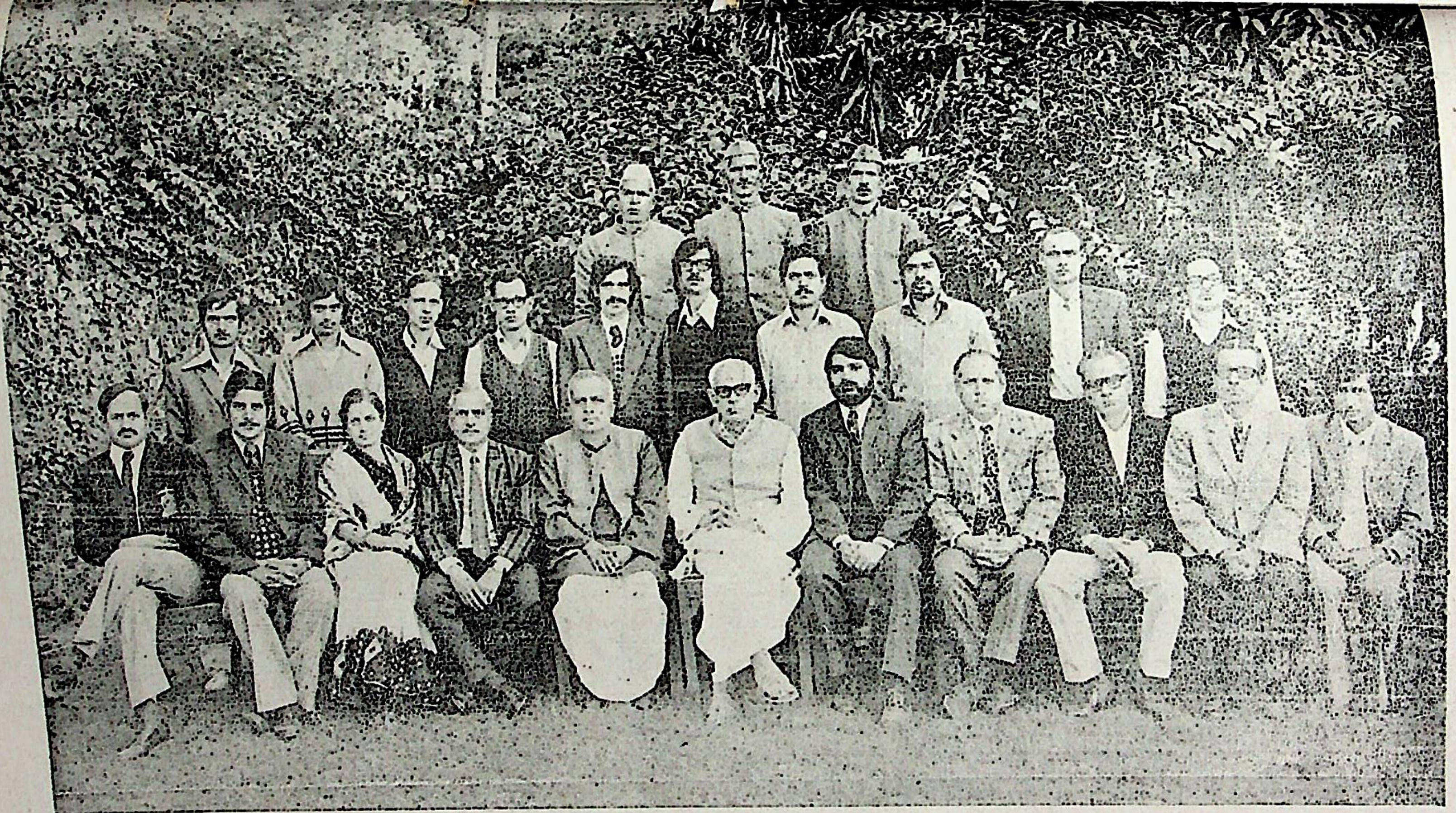
का० हि० वि० वि० चिकित्सा संस्थान द्वारा प्रस्तुत एकांकी



बायें से हेमन्त की भूमिका में श्री बाजपेयी, अंधे पिता की भूमिका में डॉ० कमलाकर त्रिपाठी (एकांकी के रचनाकार) एवं अलका के रूप में पुष्पा। निर्देशन—डॉ० टी० एस महापात्रा (उड़िया फिल्म अभिनेता)।



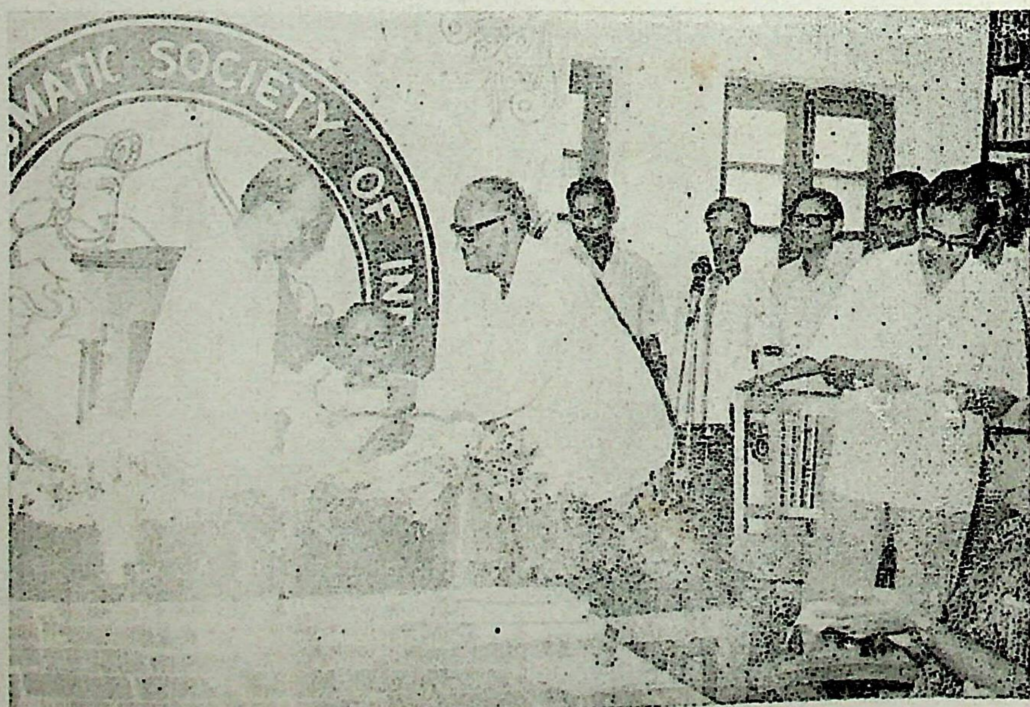
दायें से डॉ० के० पी० सिंह, डॉ० त्रिभुवन सिंह, श्री एन० ओ० जोशी (दूसरी पंक्ति में प्रथम), नाटक में भाग लेने वाले सभी कलाकार एवं डॉ० भानु शंकर मेहता (बायें से प्र०न)



प्रथम पंक्ति—सर्वश्री चन्द्रगुप्त, मु० सलाहुद्दीन खाँ, डॉ० कमलिनी मेहता (संरक्षक पश्चिमी निकाय), डॉ० जे० चौबे (संरक्षक उत्तरी निकाय), डॉ० त्रिभुवन सिंह (वरिष्ठ संरक्षक), डॉ० कालूलाल श्रीमाली (तत्कालीन कुलपति), अशोक कुमार पटेल (अध्यक्ष पूर्वी निकाय), डॉ० आर० बी० सिंह (संरक्षक, मँडुवाडीह-रामनगर निकाय), डॉ० विन्ध्यवासिनी प्रसाद (संरक्षक पूर्वी निकाय) डॉ० रवीन्द्र कुमार बनर्जी (संरक्षक दक्षिणी निकाय), श्री राजेन्द्र सिंह (अध्यक्ष, दक्षिणी निकाय)।

द्वितीय पंक्ति—सर्वश्री विजय शंकर सिंह, रवि कुमार, श्री एस० एन० लाल, बी० एन० त्रिपाठी, अशोक कुमार बिलगैया, श्रद्धानन्द, कैलाशनाथ चौबे, आर० वैंकटराम, रविशंकर दीक्षित, रामदरश मौर्य। तृतीय पंक्ति—सर्वश्री हरदेव, भैरव प्रसाद यादव, श्यामराज।

दायें से बायें––डॉ० विजयपाल सिंह (साहित्य समीक्षा सिद्धांत गोष्ठी, संयोजक अध्यक्ष, हिन्दी विभाग), डॉ० कालूलाल श्रीमाली (तत्कालीन कुलपति) डॉ० नगेन्द्र (अध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय) एवं श्रद्धानंद तुलसी शोध संस्थान



तुलसी शोध संस्थान के अध्यक्ष डॉ० रामलोचन सिंह संस्था द्वारा प्रकाशित 'तुलसी : सन्दर्भ एवं समीक्षा' ग्रंथ को शिक्षामंत्री डॉ० प्रताप चन्द्र चन्दर को समर्पित करते हुये। बीच में कुलपति डॉ० मोतीलाल धर तथा दायें डॉ० के० पी० सिंह (कोषाध्यक्ष तु० शो० संस्थान)

साहित्य-समीक्षा-सिद्धान्त

उद्घाटन

साहित्य-समीक्षा-सिद्धांत पर सात दिन की इस अखिल भारतीय परिचर्चा गोष्ठी का शुभारम्भ एक सादे समारोह के साथ १७ दिसम्बर को सवेरे अपने निर्धारित समय से लगभग पौन घण्टे विलम्ब से कला संकाय के प्रेक्षागृह में हुआ। माल्यार्पण, जूड़ों में फूल लगाए चार सजी-धजी युवतियों द्वारा कुलगीत गान और सामूहिक वंदेमातरम के बाद हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० विजयपाल सिंह ने आमंत्रित विद्वानों और अतिथियों का स्वागत किया और तत्कालीन कुलपति डॉ० कालूलाल श्रीमाली तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी प्रोफेसर डॉ० नगेन्द्र की विद्वत्ता-महानता पर बीस मिनट तक प्रकाश डालने के बाद गोष्ठी की दस बैठकों के लिए प्रस्तावित विषयों के नाम लिए। फिर उन्होंने हिन्दी में भारतेन्दु से रामचन्द्र शुक्ल तक काशी की देन की चर्चा की और हिन्दी में अब तक अपने ढंग की इस पहली गोष्ठी को विश्वविद्यालय के हीरक जयन्ती वर्ष की एक उपलब्धि मानते हुए आशा व्यक्त की कि इसमें विद्वान लोग जो निर्णय लेंगे, उससे हिन्दी साहित्य समीक्षा को बहुत बल मिलेगा।

गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए डॉ० श्रीमाली ने पहले ही साफ कह दिया कि "हिन्दी साहित्य से मेरा गहरा परिचय नहीं है, समीक्षा से तो और भी नहीं, लेकिन देश में एक रवैया चल पड़ा है·······आदमी योग्य हो या न हो, उसे उद्घाटन करना पड़ता है। मुझे समालोचना का कोई ज्ञान नहीं है, एक साधारण आदमी की दृष्टि से ही मैं अपने विचार व्यक्त करूंगा।" लोगों का हंस पड़ना अपनी जगह ठीक था, लेकिन यह उस तथ्य की स्वीकृति थी जिससे पूरा हिन्दी संसार आक्रांत और दूषित है। बहरहाल, डॉ० श्रीमाली के विचार उन्हीं के शब्दों में यों रखे जा सकते हैं। "१९३१ में शिक्षा पर एक लेख लिखकर मैंने आक्सफोर्ड के जर्नल में भेजा। लेख वापस कर दिया गया और उसके साथ लेख की जो समालोचना (संपादक का पत्र) मुझे मिला उससे मैं निरुत्साहित न होकर उत्साहित हुआ।····इसलिए उत्साह वर्द्धन अच्छे समालोचक का कार्य होना चाहिए। समालोचना का पहला सिद्धांत यह होना चाहिए कि समालोचक को लेखक के प्रति सहानुभूति हो जो समालोचक यह समझने लगता है कि दुनिया भर का ज्ञान उसी के पास है, वह साहित्यकार को ध्वस्त करने लगता है। इसलिए वह टीका-टिप्पणी तो करे, लेकिन लेखक से सहानुभूति रखकर करे और यह तब सम्भव है जब लेखक के साथ उसकी कुछ आत्मीयता हो। इस तरह की आत्मीयता के लिए समालोचक

को स्वयं भी एक ऊँचे दर्जे का लेखक होना चाहिए। जिसने क्रियात्मक, रचनात्मक कार्य किया ही नहीं, उसे समालोचना करने का कोई अधिकार भी नहीं। अगर वह समालोचना करता है, तो ध्वंसक हो जाता है। इन दो सिद्धांतों को ध्यान में रखकर ही अच्छे समालोचक हो सकते हैं क्योंकि समालोचक का कार्य ध्वंस करना नहीं, निर्माण करना और निर्माण को बढ़ावा देना है।"

उद्घाटन समारोह के अध्यक्ष डॉ० नगेन्द्र के साथ कठिनाई यह थी कि उन्हें निर्विषयक भाषण करना था, वे अध्यापक थे और तैयार होकर नहीं आये थे। इसलिए उन्होंने डॉ० श्रीमाली के भाषण के केन्द्रीय विषय से शुरू किया और एक प्रसंग छेड़ दिया, जिसमें एक परीक्षा के प्रश्न पत्र में कहा गया था कि एक साहित्यिक निबन्ध लिखिए और जवाब में एक परीक्षार्थी ने सबसे पहले लिखा, 'आपने किसी एक विषय का निर्देश नहीं किया, इसलिए थोड़े-थोड़े सभी विषयों पर लिख रहा हूँ।' डॉ० नगेन्द्र ने अपने लिए भी यही तरीका अपनाया और काव्यशास्त्र के भारतीय सिद्धांतों, आचार्यों। (दंडी, विश्वनाथ, भरत, कालिदास, कुन्तक, मम्मट आदि) की चर्चा करते हुए गोष्ठी के विषयों पर भी प्रकाश डाला—"जीवन की आधार-भूत अनुभूतियों का फलितार्थ ही शास्त्र है और साहित्य के सार्वभौम नियमों की संहिता का नाम ही काव्यशास्त्र है, जिसे काव्यानुशासन भी कहा गया है। जीवन धारा से सम्बन्ध टूट जाने पर यह शास्त्र अथवा काव्यशास्त्र जड़ हो जाता है। इस काव्यशास्त्र के दो रूप हैं, एक बाह्यरूप जिसका सम्बन्ध देश-काल, भाषा तत्व और बाहरी नियमों उपनियमों से होता है। काव्यशास्त्र का यही रूप जीवन-धारा से सम्बद्ध न रहने पर निरर्थक होता है। किन्तु उसका एक आंतरिक स्वरूप भी है जिसका सम्बन्ध मौलिक, सार्वभौम सिद्धांतों और दार्शनिक तत्वों से होता है। ये तत्व शाश्वत होते हैं। इन्हीं तत्वों के आधार पर मैं इस मत का समर्थक हूँ कि भारतीय काव्यशास्त्र समय सापेक्ष नहीं है।

शास्त्र वह तत्व है जो देश काल से संबद्ध होते हुए भी दोनों से अतीत तत्व का आचरण करता है, जैसे अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत। क्या इसकी सीमा यूनानी काव्य है? यदि यह मान लें तो उसका संबंध खंडित हो जाता है और त्रासदी के साथ उसका संबंध टूट जाता है। यह मानने पर परंपरा का विकास ही रुक जाता है। अतः सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश से संबद्ध होते हुए इनसे अतीत होने में ही सिद्धांत का महत्व है ताकि वह चिरंतन परंपरा का अंग बन सके। भारतीय काव्यशास्त्र की प्रकृति यही है कि वह पूर्ववर्ती परंपरा का आकलन करता है, उसका सारग्रहण करता है और परवर्ती परंपरा का मार्ग प्रशस्त करता है। इस संबंध में आधुनिक कहलाने के लिए सिद्धांत की प्रासंगिकता को नकारना 'शास्त्र' शब्द को न समझना है।"

रचनाकार और समीक्षक के बीच परंपरागत प्रतिस्पर्धा पर प्रकाश डालते हुए डॉ० नगेंद्र ने एक को 'कुंतलमेघ' कलाकार और दूसरे को 'खल्वाट ज्ञानी' नाम दिया, "असल में यह संघर्ष नहीं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सर्जना में समीक्षा के तत्व रहते हैं और समीक्षा में भी सर्जना के तत्व निहित रहते हैं। दूसरी ओर एक रचनाकार भी दूसरे रचनाकार की समीक्षा करता है, जैसे रचनाकार द्वारा बिहारी सतसई की टीका।

इसी तरह प्रत्येक समर्थ कवि अपनी रचना की समीक्षा करता हैं। शब्द, पद, प्रतीक, बिंब, छंद आदि का चुनाव करता है। बिना समीक्षा के रचना अपने आप में नहीं बनती।... साहित्यकार जिस प्रकार रचना द्वारा जीवन की पुनः सृष्टि करता है उसी प्रकार आलोचक काव्य की पुनः रचना करता है। यह क्रिएटिव क्रिटिसिज्म (रचनात्मक आलोचना) है। प्रतिस्पर्धा आदि से ही है, पर यह वाह्य और कृत्रिम है। समीक्षा को सर्जनात्मक होना होगा, बिना इसके समीक्षा में शक्ति और गरिमा नहीं आ सकती। साहित्य के समीक्षक का वास्तविक कार्य चालू मतवादों और व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त होकर रचनात्मक भावना और सहानुभूति के साथ कृति और कृतिकार का विवेचन तथा प्रस्तुतीकरण है। इसके विपरीत ध्वंसात्मक प्रवृत्ति अपनाना या कृतिकार को स्थापित करने का दावा करना समीक्षा को पथ भ्रष्ट करने के साथ ही स्वयं समीक्षक का भी पतन है। दुर्भाग्य की बात है कि पिछले दो-ढाई दशकों में हिन्दी के कुछ समीक्षक व्यक्तिगत आग्रहों के कारण अपने दायित्व को भूलकर पथ-भ्रष्ट हो गए हैं जिससे रचना और समीक्षा में शत्रुतापूर्ण संघर्ष दिखायी देने लगा है। इसलिए मतवाद, व्यक्तिगत आग्रह और कृतिकार का निर्माता या प्रतिष्ठापक होने का मिथ्याभिमान छोड़कर यह मानकर समीक्षा की जानी चाहिए की आलोचक रचनाकार का केवल प्रस्तोता होता है। लेकिन हिन्दी के, इधर के कुछ-कुछ आलोचकों में मतवाद और व्यक्तिगत रागद्वेष इतना बढ़ गया है, हमारे चिंतन की वैचारिक भूमि इतनी ग्रस्त हो गयी है कि हम व्यक्ति से हटकर ग्रंथ या ग्रंथकार को नहीं देख सकते। इससे ग्रंथ-समीक्षा की परंपरा ही टूटती जा रही है। इसलिए मेरा आग्रह है कि मतवादों से ऊपर उठकर शुद्ध साहित्यिक भावना से समीक्षा की जाय, और मेरा विश्वास है कि निर्वैयक्तिक तथा सार्वभौम व्यक्तित्व बनकर आलोचना करना संभव भी है।"

गोष्ठी के प्रस्तावित विषयों की चर्चा में जब समकालीन कहानी की समीक्षा की बात आयी तो डॉ० नगेंद्र ने उसी रागद्वेष को पूरी तरह अपनाते हुए (जिससे बचने का उपदेश उन्होंने अपने लंबे और लगभग प्रसंगेतर भाषण में दिया था) कह दिया, कहानी पंडितों का विषय नहीं है, यह कम पढ़े लिखे लोगों का विषय है।" उस समय कक्ष में केवल हंसी सुनी गयी; लेकिन काश, डॉ० नगेंद्र सैकड़ों साहित्यकारों-समीक्षकों के बीच आते और समझ पाते कि इस टिप्पणी के बाद स्वयं वे कैसी-कैसी टिप्पणियों और शब्दावली के विषय बन गये हैं। तत्काल जवाब न दिये जाने का एक कारण यह भी था कि वे अतिथि थे।

अंत में धन्यवाद देने की औपचारिकता निभाते हुए डॉ० विजय शंकर मल्ल ने कहा कि साहित्यकार और आलोचक एक दूसरे के पूरक तो हैं ही, लेकिन बिना इन के कार्य में हिस्सा लिए हम इनकी मुश्किलें नहीं समझ सकते। गोष्ठी के संबंध में डॉ० मल्ल का कहना था कि पुराने सिद्धांतों को नये सिद्धांतों से समन्वित करने की समस्या सामने है।

हिन्दी समीक्षा : सन् '५० के बाद

विधिवत गोष्ठी १८ दिसम्बर को निर्धारित समय से कोई आधे घण्टे बाद शुरू हुई। इस दिन दो बैठकों का विषय था हिन्दी समीक्षा, सन् '५० के बाद। पहली बैठक कुमारी सुनन्दा बनर्जी कीश्लोकबद्ध वन्दना के साथ शुरू हुई। प्रारम्भ में डॉ० विजयपाल सिंह ने गोष्ठी के अध्यक्ष और भाग लेनेवाले विद्वानों का जो परिचय दिया उससे श्रोताओं ने जाना कि गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष डॉ० भगवती प्रसाद सिंह इसी विश्वविद्यालय और इसी विभाग के छात्र तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य रह चुके हैं, वे सबसे पहले भक्त हैं, उनके हाथ का लिखा कोई भी कागज का टुकड़ा ऐसा नहीं जिस पर सबसे पहले 'श्री राम' न लिखा हो, वे हमेशा अध्यात्म की चर्चा करते रहते हैं। इस परिचय में यह बात एकदम नहीं बतायी गयी कि सन् '५० के बाद की हिन्दी समीक्षा से डॉ० भगवती प्रसाद सिंह का क्या सम्बन्ध रहा है।

इसके तुरन्त बाद अध्यक्ष महोदय ने फरमाया, 'सन् '५० के बाद की अपेक्षा स्वतन्त्रता के बाद की समीक्षा को विषय बनाया जाना चाहिए था। स्वतंत्रता भारतीय जीवन परिवर्तन की अग्रदूत थी। आजादी के बाद हमने अपनी खिड़की तो खोली, पर हम बाहर की हवा में ही बहने लगे और अपनी हवा, अपनी परम्परा को उपेक्षा तथा हिकारत की दृष्टि से देखते चले गए। विद्वानों को देखना है कि क्या हमारी समीक्षा पुराने आचार्यों से कुछ आगे बढ़ी है? जब कि हम पश्चिमी समीक्षकों की दी हुई लकीर पर चले जा रहे हैं, क्या हमारी समीक्षा वास्तव में समीक्षा रही है? हमें अकविता, अकहानी और नयी समीक्षा की वास्तविकता को ढूँढ़ना है।"

इस बयान से प्रारम्भ में ही पता चल गया कि बैठक के अध्यक्ष का रुख सन् '५० के बाद की हिन्दी समीक्षा को नकारना है। लेकिन संचालक डॉ० त्रिभुवन सिंह सन् '५० के बाद की हिन्दी समीक्षा में सक्रिय भागीदार होने के कारण इस दौर की जटिलताओं, खूबियों और खामियों को जानते थे और इस पर बहस की अहमियत समझते थे, इसलिए उन्होंने अध्यक्ष महोदय की बातों को काटने के बजाय तोपते-ढँकते हुए एक छोटी सी टिप्पणी कर दी, 'जिस समीक्षा के दौर से हम गुजर रहे हैं, उस पर विचार करने से हम भाग नहीं सकते। गोष्ठी की पहली बैठक का विषय होने से ही इसका महत्व स्पष्ट हो जाता है। हमारे विषय प्रवर्तक स्वयं सन् '५० के बाद की हिन्दी समीक्षा के प्रवर्तकों में से एक हैं।'

विषय स्पष्ट करते हुए डॉ० विजयशंकर मल्ल ने बताया, "पिछले २५-२६ वर्षों में हिन्दी के समीक्षक बहुत सक्रिय रहे हैं। इस दौर में एक ओर पांडित्य प्रदर्शन और दूसरी ओर नयी दृष्टि से साहित्य की व्याख्या करने की प्रवृत्ति रही है। इसी दौरान सबसे पहले सवाल उठा कि साहित्य का अंतिम उद्देश्य क्या आनंद देना ही है? परवर्ती समीक्षा में इस

पर अनेक रूप से विचार हुए। इधर यह स्थिति स्पष्ट हुई कि साहित्य में जीवन की छिपी संभावनाओं का उद्घाटन होता है। किस कृति में यह उद्घाटन किस रूप में हुआ है, समीक्षा में इसका मूल्यांकन होना चाहिए। समीक्षा के कार्य पर भी नये सिरे से विचार हुआ—समीक्षा का कार्य पाठकों के साहित्यिक अवबोध को बढ़ाना, साहित्य को आस्वाद योग्य बनाना, इसका मूल्य बढ़ाना या आत्म साक्षात्कार करना है। भारतीय साहित्यशास्त्र की महत्वपूर्ण व्याख्याओं के क्षेत्र में भी कुछ नया कार्य हुआ और अन्य देशों; जैसे, यूनान, रोम, इंगलैंड, फ्रांस आदि की आलोचना पद्धतियों की व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में की गयी और देशी-विदेशी समीक्षाओं को समकालीन साहित्य के संदर्भ में विश्लेषित करने का प्रयास किया गया। डॉ० नगेन्द्र ने शास्त्र को सार्वभौम कहा (उनकी समझ से) यह ठीक है, लेकिन उसे सार्वभौम बनाये रखने के लिए संस्कार-परिष्कार की भी आवश्यकता होती है। इस दौर में शास्त्र के सूत्रों की नयी व्याख्याएँ हुईं, साथ ही मनोवैज्ञानिक, रूपवादी, संरचनात्मक समीक्षाएँ आईं। कथा साहित्य की समीक्षा और काव्य साहित्य की समीक्षा में टकराव भी हुआ।

इस तरह इन २५ वर्षों में साहित्य को अनेक प्रकार से विश्लेषित और मूल्यांकित करने की चेष्टाएँ हुईं। कई तरह के वादों ने कई तरह के सवाल उठाये और परिणामतः साहित्य की भंगिमाएँ बदलीं। छायावाद के बाद प्रगतिवाद ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में साहित्य की उपयोगिता का सवाल उठाया और साहित्य की तत्कालीन परिधि लांघकर देखने-दिखाने का प्रयास किया कि पूंजीवादी व्यवस्था से कला में कितनी विकृति आई है। प्रयोगवादी समीक्षा ने नयी-नयी राहों की खोज पर जोर दिया और रचना की बुनावट को महत्व दिया। नयी समीक्षा के अर्थापन पर ज्यादा ध्यान दिया। उसका जोर रचना के अवयवी तथा अंतरंगी तत्वों पर रहा है। फिर शैली विज्ञान आया जो आधुनिकतम दृष्टिकोण होने का दावा कर समीक्षा पर हावी होने का प्रयास कर रहा है और रचना को पूर्ण इकाई मानने पर जोर देता है। किन्तु मैं यह मानता हूँ कि शैली विज्ञान आधुनिक समीक्षा का सबसे बड़ा भटकाव है।"

संक्षेप में डॉ० मल्ल ने समीक्षा जगत का यह परिदृश्य प्रस्तुत करने के बाद अपना दृष्टिकोण भी रखा, "समीक्षा का सम्बन्ध रचना, रचयिता, पाठक सबसे है। इसलिए कार्य-कारण और परिणाम को ध्यान में रखकर समीक्षा करने की जरूरत है; तभी वह रचना, रचनाकार, पाठक और स्वयं के प्रति ईमानदार रह सकती है।"

ले-देकर विषय साफ हो गया था और यह संकेत भी मिल गया कि शैली विज्ञान के पक्षधर और प्रगतिवादी समीक्षकों में टकराव है, क्योंकि शैली विज्ञान ने रचना में ही रचनाकार, पाठक और देशकाल को समाहित मानकर प्रगतिवादी समीक्षकों के सामाजिक अतिवाद के आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया है और इसलिए अगर रूठे ही प्रगतिवादी समीक्षक शैली को 'समीक्षा का सबसे बड़ा भटकाव' कहें तो कम से कम अस्वाभाविक नहीं लगता। देखने की बात यह रह जाती है कि क्या यह तोहमत सही है?

उधर एक निबन्ध के जरिए बहस शुरू करते हुए डॉ० त्रिभुवन सिंह ने प्रगतिवादी अतिवाद को ही 'बड़ा भटकाव' करार दिया, "सन् '५० के बाद जो विविधता और परिवर्तन आए, समीक्षा तथा साहित्य के विषय और शिल्प दोनों इनके शिकार हुए। फलतः सन् '५० के बाद की हिन्दी समीक्षा में अराजकता व्याप्त हो गयी। प्रगतिवादी का हाथ इस अराजकता में सबसे अधिक था, क्योंकि इसने मार्क्सवाद के प्रति अपने सत्याग्रह के कारण समीक्षा और रचना दोनों को राजनीतिक खेमों में बाँटकर भटकाया और खूब भटकाया। बाद में इस समीक्षा में कुछ उदारता आई और शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा आदि समीक्षकों के आगे आने पर मार्क्सवादी ध्वंसात्मक समीक्षा की उपेक्षा शुरू हुई।.... सामयिकता और आधुनिकता में अन्तर होता है। सामयिक परिस्थितियों को स्वीकार करने वाला साहित्यकार ही जागरूक रचनाकार होता है। मानव मूल्यों पर आधारित साहित्य ही महान होता है और सामयिक मूल्यों को जीवित रखना ही समीक्षा का कार्य है जिसमें रचना-कर्म का नियमन करना, रचनाकार को प्रोत्साहित करना कृति की संस्तुति करना और पाठकीय रुचि तथा समझ को बढ़ाना शामिल है। लेकिन समीक्षा की इस अराजकता में गैर साहित्यिक दबावों से समीक्षा इतनी आक्रांत हो गयी कि वह अपने कार्य को ही भूल गयी। रचनाकार और समीक्षा के बीच खाईं इतनी बढ़ी कि समीक्षा तरह-तरह के सामान्यीकरणों में फँस गई। प्रकृतवाद, बिम्बवाद आदि इसी तरह के सामान्यीकरणं समझे जाने चाहिए। इधर गुटबन्दी बढ़ी तो उधर विश्वविद्यालयी सुविधा प्राप्त समीक्षक अपने आस-पास के रचनाकारों को उछालने में लग गए, जिससे रचनाकार और पाठक की परेशानी और बढ़ गई है। इस बीच कई अच्छे समीक्षक भी सामने आए और वे आज भी अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में यह बात मान ली जानी चाहिए कि सामयिक संदर्भ में रचना और समीक्षा बहुत दूर तक एक दूसरे से अलग रहकर अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकती।

बहस के नाम पर डॉ० कमलिनी मेहता ने भी नाटक और नाटक की समीक्षा पर एक निबन्ध पढ़ा—बहुत कुछ प्रसंगेतर निबन्ध जिसमें उन्होंने दिखाया कि इस अवधि में हिन्दी रंगमंच एक विशेष मोड़ पर समकालीन सत्य का बर्बर आयाम बनकर सामने आया। इस दौर की समीक्षा ने नाट्य रचना और रंगमंच पर नाटकों की प्रस्तुति को निखारा और दिखाया कि युग-साहित्य में युगात्मा की पुकार होती है।

असली बहस जीवंत सर्जक (कथाकार) और जानदार समीक्षक डॉ० काशीनाथ सिंह ने शुरू की। जिन्होंने डॉ० केदारनाथ सिंह की कविता 'एक पारिवारिक प्रश्न' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की—

"छोटे से आँगन में मां ने लगाए हैं
तुलसी के बिरवे दो
पिता ने उगाया है बरगद छितनार....
मैं अपना नन्हा गुलाब
कहाँ रोप दूँ?"

और अपनी मुट्ठी के प्रश्न को बहुत से सहधर्मी लोगों का प्रश्न बताया, "यह प्रश्न है कि क्या पी-एच० डी० और डी० लिट० के संदर्भ ग्रंथों के रूप में लिखी जाने वाली पुस्तकें समीक्षा हैं ? सन् ५० के बाद का यह महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि सन् ५० के बाद अध्यापक अलग और समीक्षक अलग हो गया है। अब अध्यापक होना समीक्षक होना नहीं है। 'आलोचना' 'लुच्' धातु से बना शब्द है जिसका मतलब लोचन है, यानी समीक्षा आँख है। अध्यापकों ने लोचन के अभाव में हमारी पुस्तकों को साहित्यालोचन नहीं होने दिया। सन् ५० के पहले आलोचना के केन्द्र में कविता थी, बाद में केन्द्र में कहानी आ गयी, जो इसके पहले उपेक्षित थी। आलोचना के सारे मुद्दे अब कहानी पर स्थित किये गये। कविता को जब आलोचना का आधार बनाया गया था तो रस सिद्धान्त को स्थिर किया गया था। यह सिद्धान्त छायावाद तक को लागू होता है, लेकिन आगे चलकर यह काम नहीं देता। उदाहरण के लिए—

"इस वक्त
जब कि कान नहीं सुनते हैं
कविता पेट से सुनी जा रही है
आदमी गज़ल नहीं गा रहा है
गज़ल आदमी को गा रही है,
इस वक्त जब कि
कविता मांगती है समूचा आदमी
अपनी खुराक के लिए
उसके मुँह से खून की बू आ रही है....

(—धूमिल)

इस कविता के विश्लेषण के लिए किस रस सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है ? इसलिए विद्वानों से मेरा आग्रह है कि वे रस सिद्धान्तों को सार्वभौम या शाश्वत मानते हैं तो मानें; पर अपने सिद्धान्त को काव्य सिद्धान्त न मानें। आचार्यों का यह कहना भी गलत है कि ग्रंथ समीक्षा की परम्परा टूट रही है। सन् ५० के बाद हिन्दी की कोई पत्रिका नहीं है जिसमें रिव्यू (समीक्षा) न रहती हो। आधुनिक समीक्षा का विकास इस रिव्यू से ही हुआ है....।

आलोचना रचना की आस्वादपरक व्याख्या है और सौन्दर्यशास्त्र मूल्यपरक मीमांसा।.... जिस मार्क्सवादी आलोचना को हिन्दी में डा० रामविलास शर्मा ने शुरू किया वह, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के लोक-मंगल पर आधारित थी, उसी का विकास रचनात्मक या सर्जनात्मक समीक्षा के रूप में हुआ जिसके प्रथम समीक्षक मुक्तिबोध हुए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद विचार धारा के रूप में दो सिद्धान्त बनाये गये; एक श्री अज्ञेय का प्रयोगवाद जो काव्य को स्वायत्त सत्ता और रचना-प्रक्रिया को रहस्यपूर्ण मानसिक व्यापार मानता है, और दूसरा प्रगतिवादी समीक्षा सिद्धान्त जो साहित्य को जगत से बाहर नहीं मानता। दोनों विचारधाराएँ सन् ५० के बाद और तेज हुईं। प्रयोगवाद के साथ चलनेवाली

कलावादी या प्रत्ययवादी समीक्षा सन् ५० के बाद नयी समीक्षा के नाम से, सन् ६० के बाद भाषायी संरचनात्मक समीक्षा के नाम से और सन् ७० के बाद शैलीवादी समीक्षा के नाम से चली जिसमें मूल्य बोध, आधुनिकता बोध तथा दूसरे महायुद्ध के बाद स्थिर किये गये सौन्दर्य सिद्धान्तों को ले लिया गया और समीक्षा को एक गलत दिशा दी गयी। संरचनात्मक समीक्षा में भाषा पर और शैलीवादी समीक्षा में शैली पर अधिक जोर दिया गया जो आलोचना में भाषा विज्ञान की घुसपैठ है। उधर मार्क्सवादी (प्रगतिवादी) समीक्षा जनवादी या सर्जनात्मक समीक्षा के रूप में आगे बढ़ी। इस सन्दर्भ में मैं चार मान्यताएँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ— (१) कलावादी समीक्षकों ने कला मूल्यों को अलग-अलग बाँट रखा था, लेकिन रचनात्मक समीक्षा की मान्यता है कि यदि कविता या कला सामाजिक जीवन की उपज है तो उसके बाहर आकर 'उनको' देखने का मतलब समाज और जीवन के भीतर बैठकर उनको देखना। (मुलाहजा हो यह उलझाऊ मुहावरा, क्योंकि इसका एक-एक शब्द डा० काशीनाथ का ही है।) इसलिए किसी का भी यह सोचना कि साहित्य की समीक्षा का कोई साहित्येतर प्रतिमान भी होता है, सरासर गलत है। (२) संसार में जो कुछ सुन्दर तथा श्रेष्ठ है, वह आदमी की मिहनत की उपज है। इस मिहनत या काम की प्रक्रिया ही सभी भावों और विचारों का स्रोत है। इस प्रकार जिस रचना प्रक्रिया को कलावादी समीक्षक रहस्यमय मानस व्यापार मानता है, उसे रचनात्मक समीक्षा में बाह्य का आभ्यंतरीकरण मानकर विकसित किया गया है। उदाहरण के लिए डा० शर्मा की पुस्तक 'निराला की साहित्य साधना ली जा सकती है। (३) वास्तविकता से बाहर किसी आदर्श भाव जगत में सौन्दर्य की खोज करना व्यर्थ है, क्योंकि सौन्दर्य की अवस्थिति वास्तविकता में ही है। इसलिए मुक्ति बोध के शब्दों में 'वास्तविक जीवन की संवेदन ज्ञानात्मक और ज्ञान संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति का अर्जन जितना रचनाकार के लिए जरूरी है, उतना ही आलोचक के लिए भी।' (४) समकालीन परिस्थिति की यह मांग है कि हमें रचनात्मक संभावनाओं की तलाश करने वाला सौन्दर्यशास्त्र चाहिए, केवल अतीत की उपलब्धियों का मूल्यांकन करने वाला सौन्दर्यशास्त्र नहीं। रचनात्मक व्यवहार से पीछे रह जाने वाला सौन्दर्यशास्त्र अतीतजीवी होता है।

बहस का वातावरण अभी ही बना था, पर अब समय नहीं था। डा० काशी नाथ ने प्रगतिवाद की तरफदारी की अथवा संरचनावाद-शैलीवाद का विरोध, इससे परे महत्वपूर्ण यह है कि समसामयिक साहित्य लेखन और साहित्यालोचन दोनों में जहालत पैदा करने वाले महन्तों और आचार्यों के लिए ये विचार चुनौती हैं। डॉ० नगेन्द्र ने कहानी के नाम पर जो शगूफा छोड़ा, इस बयान में उसका सटीक उत्तर भी है—कम से कम यह कि कम पढ़ा-लिखा कौन है।

डॉ० भगवती प्रसाद सिंह ने संभवतः यह महसूस किया था कि इस युवक सर्जक और समीक्षक ने अपने विचारों से श्रोताओं को प्रभावित किया है; इसलिए इसका विरोध करना बेतुकी बात होगी। फिर विरोध के लिए तगड़े तर्क और तथ्य भी तो चाहिए। इसलिए उन्होंने प्रवचन की शैली अपनायी, काव्य में मूल स्वर की अवहेलना समीक्षा के किसी भी

रूप द्वारा नहीं होनी चाहिए। जहाँ समीक्षक इस बात में चूकता है, वहीं गुटबन्दी शुरू होती है। समीक्षक न्यायाधीश होता हैं, वादी या प्रतिवादी नहीं। इसलिए आलोचक या भावक में तत्व ग्रहण करने की दृष्टि और पाठक तक प्रेषित करने की क्षमता होनी चाहिए। यहाँ यह बात स्पष्ट हो गयी है कि समकालीन आलोचना समकालीन रचना के समानांतर चल रही और समीक्षा का सूत्र आलोचक के हाथ में ही नहीं, रचनाकार के हाथ में भी उतना ही है। रचनाकार का समालोचक के रूप में आना एक सुखद स्थिति है।

इस दिन अपराह्न की बैठक में भी बहस का यही विषय था। अध्यक्ष डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा थे और विषय प्रवर्तक डॉ० विद्यानिवास मिश्र जिनकी ओर इशारा करते हुए संचालक डॉ० महेन्द्रनाथ दूबे ने शुरू में ही कहा कि एक मूर्धन्य आलोचक की अध्यक्षता में होने वाली यह गोष्ठी, जिसमें विषय का प्रतिपादन एक मूर्धन्य रचनाकार और समीक्षक द्वारा हो रहा है, पूर्णतः उपयुक्त गोष्ठी है।

विषय स्पष्ट करने के लिए खाली हाथ आए डॉ० मिश्र ने अपने प्रथम वाक्य में तुलसीदास जैसी नम्रता दिखाई, जो लोग शैली विज्ञान को कम पढ़े-लिखे लोगों का शास्त्र कहते हैं उनसे क्षमा मांगते हुए मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि मैं एसे ही कम पढ़े-लिखे लोगों में हूँ।" फिर उन्होंने आचार्य मम्मट, आनन्दवर्धन आदि को भी ऐसे ही लोगों में शामिल कर लिया, क्योंकि शैली विज्ञान के उत्स इन भारतीय आचार्यों में भी हैं। डॉ० मिश्र ने तर्क और तथ्यों के साथ सन् '५० के बाद भारतीय (खास कर हिन्दी) और पाश्चात्य समीक्षाओं के विकासक्रम को सामने रखते हुए सामाजिक-ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक, रूपवादी, भाषा-संरचनात्मक आदि आलोचना पद्धतियों पर प्रकाश डाला और कहा कि विज्ञान, गणित, जीवविज्ञान आदि कई वैज्ञानिक और समाजवैज्ञानिक क्षेत्रों से पुष्ट होकर पश्चिम की नयो आलोचना की लहर के साथ आया शैली विज्ञान का सिद्धांत रचना की अखण्डता की दृष्टि प्रदान करता है। भाषा एक जैव सामाजिक वस्तु है जिसमें निरन्तर परिवर्तन करने की क्षमता है। किन्तु उस पर एक नियन्त्रण भी है, कि वह एक समूह द्वारा एक क्षेत्र में व्यवहृत होती है। भाषा साहित्य की जमीन है। पर साहित्य में आने वाले तनाव को वह महत्त्व नहीं देती। संरचना में शब्द और अर्थ दोनों समाहित हैं। हिन्दी में जब यह सिद्धांत आया तो लगा कि यह सामाजिक-ऐतिहासिक विवेचन के विरोध में है। लेकिन शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि सामाजिक-ऐतिहासिक या अन्य प्रणालियों पर जोर देने वाली दृष्टियों का आनुषांगिक महत्व ही हो सकता है। ये प्रणालियाँ रचना के केन्द्र तक पहुँचने में कुछ सहायक जरूर हो सकती हैं। लेकिन स्वयं केन्द्र तक नहीं पहुँच सकती। इसलिए साध्य दृष्टि को प्रस्तुत करती हैं, सिद्ध दृष्टि को नहीं। समीक्षा के लिए सिद्ध दृष्टि संरचनात्मक समीक्षा में है, क्योंकि यह रचना के साथ तादात्म्य बनाकर, उसे पहचानने और व्याख्यायित करने पर जोर देती है। जब तक मूल पाठ को हम नहीं समझ पाते तब तक साहित्य के केन्द्र को नहीं पा सकते। आज की संरचनावादी समीक्षा ने केवल इतना आग्रह किया है कि साहित्य को समझने के लिए मूल पाठ को अपने आप में एक पूर्ण

अभिव्यक्ति मानकर उसे समझने का सबसे अधिक महत्व है। कोई भी रचना अपने आप में एक पूर्ण संघटना है और उसे इसी रूप में देखकर उसकी सही समीक्षा की जा सकती है। समीक्षा के केन्द्र में रचना की एक पूर्ण इकाई के रूप में जब तक नहीं रखा जायगा तब तक उसकी वास्तविक परख नहीं हो सकती। यह समीक्षा किसी के विरोध या समर्थन में नहीं, बल्कि भारतीय चिंतनधारा के चिरन्तर आयाम को प्रस्तुत करती है। अतः साहित्य को पूर्ण संघटना मानकर उसे पढ़ने, उसमें डूबकर उसका मर्म पहचानने की परम्परा कायम रखी जानी चाहिए।

डॉ० मिश्र ने इतने निर्द्वन्द्व और प्रभावशाली विश्लेषण के साथ ये विचार रखे कि मार्क्सवादी समीक्षा की दीवार ही हिलती नजर आने लगी। स्वाभाविक था कि इस खेमे के विचारक तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते, लेकिन मार्क्सवादी समीक्षा के पक्षधरों ने जो तरीका अपनाया वह सम्भवतः किसी को भी पसन्द नहीं था। बहस शुरू करते हुए प्रयाग विश्वविद्यालय के शोध छात्र रामजी राय ने गुस्से से ऐंठते हुए मात्र इतना कहा था कि 'शैली विज्ञान एक साजिश है, तभी उनके रंग-ढंग से तनाव की स्थिति पैदा हो गयी और विभाग के दर्जन से अधिक युवक उन पर नियन्त्रण के लिए खड़े हो गए। शीघ्र ही उन्हें मंच से हटा दिया गया (क्योंकि व्यक्तिगत रूप से डॉ० विद्यानिवास को लांछित करने पर उतर आए थे) और हाल के बाहर भी शोरगुल होने लगा। थोड़ी देर बाद फिर बहस शुरू करने के लिए डॉ० भगवती प्रसाद राय ने मंच पर आकर परम्परागत पद्धति में नये ज्ञान के समावेश और समीक्षक के लिए रचनाकार की मनोभूमि की जानकारी पर जोर देते हुए कहा कि पाश्चात्य समीक्षा से हमारे यहाँ जो कुछ आया है, उसमें कुछ ऐसा नहीं है जो भारतीय शास्त्रों के किसी अवयव से विरोध रखता हो।

मार्क्सवाद के पक्षधर डॉ० रामनारायण शुक्ल को इस बात का दुःख था कि गोष्ठी अपने केन्द्रीय विषय से हटकर हो रही है। उन्होंने डॉ० विद्यानिवास मिश्र को श्रेय दिया कि डॉ० मिश्र ने संरचनावादी समीक्षा को बहस का केन्द्रीय विषय बना दिया। लेकिन डॉ० शुक्ल इस विचार पर दृढ़ थे कि "कोई भी रचना पूर्ण नहीं होती क्योंकि जीवन के बहुत से पक्षों को वह उपेक्षित करती हैं। इसलिए अगर रचना कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है और उसका कोई प्रयोजन होता है तो रचना के विश्लेषण के लिए सामाजिक दृष्टिकोण को कत्तई नकारा नहीं जा सकता।"

अध्यक्ष डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा समाजवादी दृष्टि और संरचनावादी दृष्टि दोनों से (कहा तो यह जाना चाहिए कि सन् ५० के बाद विकसित किसी भी समीक्षा प्रणाली से) परे रहने वाले विद्वान थे। इसलिए उन्होंने नयी रचना और नयी आलोचना के तालमेल का उपदेश दिया, "समीक्षा साहित्य की व्याप्ति से बाहर जाकर अधिक नहीं की जानी चाहिए। सब जगह और सभी कालों में एक ही प्रकार की समीक्षा नहीं संभव है। कुछ आधारभूत मूल्य ऐसे होते हैं जो सभी देशों और सभी कालों में जीवंत रहते हैं। इस समय नये-नये कला सिद्धान्त और वैज्ञानिक-प्राविधिक सिद्धान्त साहित्य पर आक्रमण कर रहे हैं। ऐसे में

भारतीय समीक्षा परम्परा का यह कार्य है कि वह आने वाली सभी नयी विचार धाराओं को समझे, ग्राह्य को ग्रहण करे और अग्राह्य को त्याग दे।

संचालक डॉ० महेन्द्रनाथ दूबे की भूमिका यह थी कि बहस जब भी विषयांतर होती, वे केन्द्रीय विषय की ओर ध्यान आकृष्ट करते और वक्ताओं के बोलने के बाद उनके विचारों के मुख्य बिन्दुओं को दुहरा देते थे। तनाव की स्थिति को टालने में भी उनकी भूमिका थी। इस बैठक के अन्त में धन्यवाद की रस्म डा० शंभुनाथ पांडेय ने पूरी की।

समकालीन कहानी, कविता की संरचनात्मक समीक्षा

१६ दिसम्बर की परिचर्चा के लिए पहली बैठक में 'समकालीन कहानी की संरचनावादी समीक्षा' को विषय बनाया गया। तनाव यहाँ भी था, भाषा-संरचना तथा मार्क्सवाद के पक्षधर गुटों के ही बीच था, लेकिन यह तनाव वैचारिक और संयत था। विषय का प्रतिपादन शिमला विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० बच्चन सिंह ने बड़ी सफाई से किया और कहा कि संरचनात्मक समीक्षा भाषा विज्ञान से संबद्ध शैली वैज्ञानिक समीक्षा नहीं बल्कि साहित्य की आलोचना के भीतर की बात है। उन्होंने अपने निबंध में मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' और प्रेमचन्द की कहानी 'सवा सेर गेहूँ' के विश्लेषण द्वारा स्पष्ट किया गया कि "समकालीन कहानी और कविता एक दूसरे के काफी निकट पहुँच गयी हैं और दोनों की समीक्षा में बुनियादी, कम से कम क्लासिकल फर्क नहीं है। फिर भी कहानी में कविता की तरह शब्दों पर जोर नहीं दिया जाता। कविता की भाषा अतार्किक और कहानी की भाषा तार्किक होती है। कहानीकार कवि की तरह वाह्य जगत को रूपांतरित भी करता है और ज्यों का त्यों भी रख सकता है।.... लेखक का मंतव्य या पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव कहानी का 'एस्थेटिक्स' नहीं है, 'एस्थेटिक्स' संरचना ही है। कहानी की समीक्षा के लिए मनोवैज्ञानिक और रूपवादी दृष्टियाँ हैं। रूपवादी दृष्टि को मानते हुए मैं इस समीक्षा को अस्वीकृत करता हूँ क्योंकि यह दृष्टिकोण भाषा को रसायन मानता है। कहानी का प्रतिपाद्य जानने के लिए उसकी पूरी संरचना का विश्लेषण आवश्यक है। कहानी भाषा के माध्यम से एक तथ्यात्मक संसार की सृष्टि करती है। अतः भाषा-संरचना ही वह कुंजी है जिससे कहानी की लघुता या विशालता की माप की जा सकती है।"

इस स्थापना के विरोध में बहस शुरू करते हुए डॉ० काशीनाथ सिंह ने सवाल उठाया कि 'सवा सेर गेहूँ' थीम की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहानी है, संरचना की दृष्टि से सपाट है, लेकिन समीक्षा की दृष्टि से ? उन्होंने जोर देकर कहा कि संरचनात्मक समीक्षा एक अंतर्विरोध से पीड़ित है—एक ओर वह साहित्य बना रहना चाहती है तो दूसरी तरफ विज्ञान भी बना रहना चाहती है। भाषिक संरचना को डाक्टर की पोस्टमार्टम रिपोर्ट की तरह निर्णायक न मानकर डा० काशीनाथ ने उसे निरर्थक करार देते हुए कवि धूमिल की पंक्तियाँ उद्धृत की—

"नहीं, वहाँ कोई अर्थ ढूंढ़ना व्यर्थ है
पेशेवर भाषा के तस्कर संकेतों और
बैलमुत्ती इमारतों में कोई भी अर्थ ढूंढ़ना व्यर्थ है।"

इसके बाद ही तत्कालीन संसदसदस्य सुधाकर पांडेय—और अधिकांश श्रोता चौंककर फुसफुसाने लगे, 'यह सब क्या रहा है ?' वे विषय से एकदम अलग होकर करीब दस मिनट तक बोलते रहे, लेकिन वहाँ सुनता कौन था ? बाद में डॉ० बच्चन सिंह ने विंटर्स विक्टरह्यूगो और फ्रेंच उपन्यासकार बाल्ज़ाक तथा प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' के हवाले देते हुए डॉ० काशीनाथ सिंह की आपत्तिका उत्तर दिया, यानी भाषिक संरचना में मूल्य का मूल्य नहीं होता और संरचनात्मक समीक्षा अंतर्विरोध से ग्रस्त नहीं है।

भुवनेश्वर की कहानी 'भेड़िये' का भाषिक विश्लेषण करते हुए कहा कि आज की कहानी एक भाषिक रचना है और यह केवल संरचना के जरिए ही समझी जा सकती है। डॉ० शिवकरण सिंह ने भी 'गोदान' के एक अंश का विश्लेषण कर इस मान्यता की पुष्टि की।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के निदेशक डॉ० हरवंश लाल शर्मा ने पूरी बहस को समेटते हुए डॉ० बच्चन सिंह की बात को कहानी की सैद्धांतिक समीक्षा की एक दृष्टि, डॉ० काशीनाथ को बात को संवेदनात्मक समीक्षा दृष्टि, डॉ० शुकदेव और डॉ० शिवकरण की बात को व्याख्यात्मक समीक्षा तथा श्री सुधाकर पांडेय की बात को होमियोपैथिक दवा की तरह किसी भी संदर्भ में कही जाने वाली बात करार दिया। फिर उन्होंने द्वितीय महायुद्ध के बाद से अब तक के कथा साहित्य के विकास पर एक लम्बा भाषण दिया और विदेशी प्रभाव से मुक्त होने तथा स्वस्थ्य समीक्षा विकसित करने की आवश्यकता पर जोर दिया। इस बैठक का संचालन डॉ० भोलाशंकर व्यास और अन्त में धन्यवाद प्रकाश डॉ० बब्बन त्रिपाठी ने किया।

दूसरी बैठक ढाई बजे के बजाय करीब-करीब तीन बजे से शुरू हुई। इसमें समसामयिक कविता के लिए संरचनात्मक समीक्षा पर बहस चली। संचालक डॉ० शुकदेव सिंह ने प्रारंभ में ही सूत्र रूप में विषय को सामने रख दिया, "कविता मूलतः और अन्ततः भाषा ही है। कविता को रचनात्मक भाषा बनने के पहले कई स्तरों से गुजरना होता है। आत्म-बोध के भीतर कवि भाषा का जैसा इस्तेमाल करता है, वही उसकी शैली है। अतः शैली विज्ञान समीक्षा संरचनात्मक समीक्षा के भीतर ही होती है, अलग नहीं।"

एक भारी भरकम निबन्ध के साथ मंच पर आए सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी रीडर डॉ० चन्द्रभान रावत संरचनात्मक समीक्षा को फ्रांस से, शैली विज्ञान को अमेरिका से और रूपवादी समीक्षा को रूस से जोड़ते हुए तीनों में फर्क किया और कहा कि दार्शनिक अद्वैत से द्वैत का भाव होने के साथ ही संरचना का उदय होता है, "मैं भाषा को साहित्य की सामग्री मानता हूँ। किन्तु साहित्य का अपना पूरा शास्त्र संरचनात्मक समीक्षा में ही दिखायी देता है। भरत का रस सिद्धांत, भामह के शब्द और अर्थ का, रीतिवादी दृष्टिकोण, वक्रोक्तिवादी तथा ध्वनिवादी दृष्टिकोणों को भी इसमें समाहित पाया जा सकता है।

साहित्य की समीक्षा को भाषा विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र, आचार-शास्त्र के दृष्टिकोणों और मार्क्सवाद के खतरे से मुक्त कर शुद्ध साहित्यिक स्वरूप देने की आवश्यकता हैं। इसके लिए समीक्षा को पूर्णतः स्वतन्त्र करना होगा। यह स्वतन्त्रता संरचनात्मक प्रणाली अपनाने से ही सम्भव है। साहित्य भाषा की विशिष्ट संरचना है। उसकी वस्तु महत्वपूर्ण नहीं है, छोटी से छोटी वस्तु महान संरचना पाकर महान हो जाती रचनागत अलौकिक सत्य का लौकिक प्रमाण देना भी संरचनात्मक प्रक्रिया ही है।''

इस निबंध के बाद डॉ० बच्चन त्रिपाठी को लाचार श्रोताओं की ऊब और समय की सीमा की ओर वक्ताओं का ध्यान आकृष्ट करना पड़ा। बहस जारी करते हुए प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० रघुवंश की टिप्पणी थी, ''यहाँ ऐसे विद्वान् हैं जो कहीं से भी विषय उठा सकते हैं और कहीं तक ले जा सकते हैं। ऐसे में यह कहना कठिन है कि मैं किस स्थिति में हूँ।'' बाद में उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन के मानदंड और उसकी प्रणाली को महत्व देते हुए कहा कि किसी भी रचना को एक कृति के रूप में लिया जाय, यह मान लेने पर हमारे लिए रचना एक यथार्थ हो जाती है, ठोस वस्तु बन जाती है। ऐसे में रचना को ही विश्लेषण द्वारा देखना ठीक होता है, तब हम उसके संघटनात्मक तत्वों का ही विवेचन कर सकते हैं। समीक्षा के लिए शैली विज्ञान का सिद्धान्त भी एक प्रणाली है जिसका आग्रह है कृति को स्वयं में महत्व देना। उसकी मान्यता है कि साहित्य भाषिक रचना और शाब्दिक कला है। इस प्रणाली पर बल देना आवश्यक इसलिए है कि साहित्य की कलात्मकता पर इसी प्रणाली से सही विचार किया जाना सम्भव हो सका। भाषा का इतिहास और समाज से निरन्तर संबंध रहा है। भाषा न तो माध्यम है और न सामग्री, बल्कि यह मनुष्य के सामाजिक स्तर पर ऐतिहासिक संस्कार की परम्परा में पूरे विकास को द्योतित करती है।

जहाँ तक भारतीय सिद्धान्त की बात है, यहाँ के विचारक मूल्यवादी नहीं थे, वे भाषा की संरचना पर ही जोर देते थे। संरचना का सिद्धान्त मूल्य दृष्टि के विपरीत पड़ता है। रस-सिद्धान्त में जिस दार्शनिक मूल्यवत्ता पर बल दिया गया, जो भक्ति काल में विकसित हुआ, उसे भारतीय आचार्यों ने साहित्य नहीं माना। यूरोप में दर्शन शास्त्र और सौंदर्य शास्त्र दोनों रहे हैं, इसलिए वहाँ शुरू से ही मूल्य दृष्टि विकसित होती रही है। बाद में सामाजिक विज्ञानों के विकास से यह दृष्टि और पुष्ट हुई और साहित्य में मूल्य दृष्टि का अतिवाद आया जिसका विरोध भी यूरोप में ही शुरू हुआ। इसी विरोध में समीक्षा भाषिक संरचना और शैली से जुड़ी। इस ओर भी अतिवाद फैल सकता है।.... रचना तीन आयामों वाली होती है—(१) कृतिकार, (२) सामाजिक—भाषिक स्वरूप या रचना—प्रक्रिया और (३) संप्रेषण। शैली विज्ञान से कृति पर पूरा विचार हो सकता है, पर ऐसे भी विचारक हैं जो मानते हैं कि रचना में एक उद्देश्य, एक संदेश होता है जो कई मानवीय संदर्भों से जुड़ा होता है। अतः इस पर विचार के लिए नया व्याकरण बनाना होगा। कृति का विवेचन उसके आंतरिक तत्वों के आधार पर ही हो सकता है। भाषिक संरचनात्मक समीक्षा में इन तत्वों, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा

उ० निकाय ::

व्यक्तित्व सम्बन्धी संदर्भों को भी शामिल किया जा सकता है। यह सिद्धान्त अनुभव संदर्भ को भी व्यक्त करता है। फिर भी शैली विज्ञान समीक्षा का 'अथ और इति' नहीं है, समीक्षक को और आगे जाना होगा।....

और इस तरह डॉ० रघुवंश ने 'समकालीन कविता के सन्दर्भ में संरचनात्मक समीक्षा' (मुख्य विषय) को छूए बिना ही अपनी विद्वत्ता दिखायी। डॉ० भोलाशंकर व्यास का कहना था कि भारतीय काव्यशास्त्र भाषिक संरचना को प्रश्रय जरूर देता है, लेकिन वह मूल्य की उपेक्षा नहीं करता। साथ ही संरचनावादी समीक्षा के अपने गुण जरूर हैं, पर उसके अतिवादी औजार खतरनाक भी हो सकते हैं इसकी अमेरिकी दृष्टि भारतीय दृष्टि से मेल नहीं खाती। संरचनावादी समीक्षा क्षणबोध की छोटी कविताओं पर जितनी लागू होती है उतनी बड़ी कविताओं पर नहीं।

संचालक डॉ० महेन्द्रनाथ दूबे का विचार था कि जैसे समय एक शब्द नहीं है वैसे ही कविता कत्तई भाषा नहीं है। कविता एक कथ्य है, एक वस्तु है जिसे रचनाकार भाषा में इसलिए बाँधता है कि वह लोगों के सामने अपने कथ्य को प्रभावी ढंग से पेशकर सके। उदाहरण के लिए निराला की 'भिक्षुक' कविता को लें। निराला स्वयं या भिखारी के माध्यम से कुछ नहीं कहते, वे एक कविता दे देते हैं और कविता ही आप से कहने लगती है। डॉ० दूबे का कहना यह भी था कि संरचनात्मक समीक्षा हिन्दी में छोटी कविताओं की बड़ी भूमिका से आई और यह सन् '५० के बाद की सबसे सशक्त समीक्षा नहीं है।

लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० हरेकृष्ण अवस्थी के लिए, जो बैठक के भी अध्यक्ष थे, समय बहुत कम रह गया था और उधर कुलपति डॉ० श्रीमाली के निवास पर जलपान का समय भी हो गया था। अतः डॉ० अवस्थी ने जल्दीबाजी में अपना भाषण समाप्त करते हुए उपदेश के लहजे में मात्र इतना कहा कि रचना को संरचना नहीं, संस्कार महत्वपूर्ण बनाता है।

रचनाधर्मी समीक्षा की खोज

परिचर्चा गोष्ठी के चौथे दिन रचनात्मक साहित्य और आलोचना की प्रतिस्पर्द्धा पर विचार किया गया। बहस बहुत देर तक इस बात पर चलती रही कि सन् '५० के बाद रचना और आलोचना में प्रतिस्पर्द्धा है या नहीं। जो लोग केवल समीक्षक थे वे या तो प्रतिस्पर्द्धा मान के लिए तैयार नहीं थे या अगर तैयार थे तो उसे अस्वाभाविक करार देने में लगे रहे। लेकिन अधिकांश वक्ताओं, खासकर रचना और समीक्षा दोनों में सक्रिय वक्ताओं के सामने नक्शा एकदम साफ था कि सन् '५० के बाद के रचनाकारों ने शुद्ध आलोचकों, अध्यापक आलोचकों अथवा गुटबाज अध्यापकों को एकबारगी अस्वीकृत कर समकालीन साहित्य लेखन की समीक्षा का कार्य भी अपने हाथ में ले लिया। बहस में जब यह बात साफ हो

गयी तो प्रतिस्पर्द्धा के कारणों और उसकी प्रकृति पर भी किसी-किसी वक्ता ने विचार किया। बहुमत इस बात का हिमायती था कि रचनाकार और आलोचक में एक-दूसरे से आगे निकल जाने की होड़ तो स्वाभाविक है, लेकिन समकालीन हिन्दी में यह होड़ नहीं है, बल्कि एक-दूसरे को नकारने की प्रवृत्ति ज्यादा है। इस नकार का एक कारण यह भी है कि रचनाकार अब परंपरावादी अथवा आग्रहग्रस्त आलोचकों की पकड़ में नहीं आ रहा है। जो कुछ है, वह अस्वाभाविक प्रतिस्पर्द्धा है जो लेखक और समीक्षक दोनों के लिए अहितकर है। तेरह में से छह वक्ताओं ने रचना और समीक्षा दोनों को परस्पर पूरक बनाने पर जोर दिया और इसके लिए रचनाधर्मी समीक्षा अपनाने का सुझाव दिया।

पूर्वाह्न की बैठक में विषय स्पष्ट करते हुए दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ० ओमप्रकाश ने एक तर्कसंगत निबंध पढ़ा जिसमें लेखक और समीक्षक के बीच प्रतिस्पर्धा के लिए आलोचक के आग्रह को जिम्मेदार ठहराया गया था और कहा गया कि समीक्षा का कार्य सृजन की परीक्षा करना ही नहीं, सर्जक को प्रोत्साहित करना भी है।

मुख्य वक्ता कश्मीर विश्वविद्यालय के डॉ० रमेशकुमार शर्मा ने भी समकालीन साहित्य और समीक्षा में प्रतिस्पर्द्धा को स्वीकार किया और रचनात्मक साहित्य को अधिक अहमियत दी। उनका आरोप था कि समीक्षक रचना से ही उत्पन्न और विकसित होकर जब रचना को सिद्धान्तों की जंजीर में पकड़ने का प्रयास करने लगता है तो आज का लेखक इस जबर-दस्ती को सहने के लिए तैयार नहीं हो सकता। डॉ० शर्मा का सुझाव था कि रचना अब समीक्षा के पीछे-पीछे चलने के लिए विवश नहीं है। अतः समीक्षा में रचनात्मक स्वतंत्रता को महत्व दिया जाना जरूरी हो गया है।

बहस को आगे बढ़ाते हुए डॉ० चौथीराम यादव ने भी इस मत का समर्थन किया और रचना पर समीक्षा को लादे जाने की प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना की। उन्होंने समीक्षक के लिए ईमानदारी, तटस्थता और सहानुभूति को जरूरी गुण बताया, रचना को समीक्षा से अधिक गतिशील माना और कहा कि समीक्षा में रचना की संरचना को ही सब कुछ मानकर उसके कथ्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

डॉ० शिवकरण सिंह ने प्रत्येक सर्जक में एक सक्रिय आलोचक की स्थिति मानते हुए उखाड़-पछाड़ वाली समकालीन समीक्षा को गलत बताया और अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा के लिए आलोचकों की गुटबंदी तथा सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि के अभाव को दोषी ठहराया।

डॉ० बब्बन त्रिपाठी का कहना था कि रचना और आलोचना के बीच प्रतिस्पर्द्धा का होना ही दोनों की जीवंतता का प्रमाण है और यह जीवंतता समकालीन मानसिकता और रचनात्मक सहधर्मिता से आती है। डॉ० रघुवंश ने रचना और समीक्षा में प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति को अस्वीकृत करते हुए शब्द को सही संदर्भ और अर्थ देने पर जोर दिया।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए सागर विश्वविद्यालय के डॉ० भगीरथ मिश्र ने साहित्य रचना और आलोचना को एक दूसरी को पूरक बताते हुए व्यवस्था दी कि समीक्षक को

रचना में जीवन ढूँढ़ना चाहिए। इस बैठक का संचालन डॉ० काशीनाथ सिंह ने किया और धन्यवाद की औपचारिकता हिन्दी विभाग के छात्र सुधाकर सिंह ने पूरी की।

अपराह्न की बैठक में विषय प्रस्तुत करते हुए डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा (राजस्थान) ने साहित्य रचना और आलोचना के आपसी मतभेद को अस्वाभाविक मानते हुए कहा कि दोनों की प्रतिस्पर्द्धा उन साहित्येतर व्यवस्थाओं (राजनीति, विज्ञान आदि) से हो सकती है जो आज दोनों के लिए बाधक बन गयी हैं।

डॉ० महेन्द्रनाथ दूबे ने तेज-तर्रार शब्दों में रचना और समीक्षा के बीच प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति, स्वरूप और प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से दिखाते हुए कहा कि अब आलोचना रचनात्मक साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी है। डॉ० काशीनाथ सिंह ने रचनाकार और पाठक के बीच आलोचक की दखल अन्दाजी को अवांछनीय बाधा करार दिया। क्योंकि लेखक अब सीधे अपने पाठक से मिलने की स्थिति में है।

डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल ने अपने निबन्ध का वाचन करते हुए समालोचना को लेखक और पाठक के बीच एक सेतु के रूप में स्वीकार किया।

प्रसिद्ध लेखक और आलोचक डॉ० देवराज ने समीक्षा को आवश्यक बताते हुए कहा कि समीक्षक, लेखक और पाठक के बीच में आने के लिए नहीं, बल्कि समाज में कृति और कृतिकार का स्थान निर्धारित करने के लिए होता है। जो आलोचक अपने इस दायित्व की उपेक्षा कर देता है, वह फिर आलोचक न रहकर कुछ और हो जाता है।

इस बैठक के लिए कालीकट विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० मलिक मुहम्मद का नाम प्रस्तावित था, लेकिन उनकी अनुपस्थिति में दिल्ली के डॉ० ओमप्रकाश ने अध्यक्षता की। उन्होंने समीक्षक के महत्व को स्वीकार किया और कहा कि समीक्षक के विचार की व्यापकता के अनुरूप ही समीक्षा के परिणाम हो सकते हैं।

आलोचना का दायित्व और हिन्दी समीक्षा

श्रोताओं को पौन घण्टे तक बेकार उबाने के बाद शुरू हुई पाँचवें दिन की बहस का विषय था आलोचना का दायित्व और हिन्दी समीक्षा। यह बहस शुरू से आखिर तक उबाऊ ही बनी रही। खास बात यह रही कि आलोचना के परम्परा से माने जाते दायित्वों और परम्परागत आलोचना पर ही बहस चली। सन् '५० के बाद जिस आलोचना ने रचनात्मक साहित्य बनने का दावा किया उस पर तथा उसके लिए निर्धारित दायित्वों की प्राय: उपेक्षा की गयी। नयी बात इतनी थी—अध्यापक, आलोचकों और साहित्यिक आलोचकों के बीच तनाव बना रहा। पूरी बहस का सारांश यह था कि आलोचकों द्वारा प्रस्तुत कई-कई

बाधाओं, विसंगतियों और विडंबनाओं से टकराने के बाद हिन्दी का लेखक अब समीक्षा के रूढ़ और आरोपित प्रतिमानों को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है और अब समीक्षक के लिए दो ही रास्ते हैं—या तो वह रचनात्मक परिवेश और रचनाकार की मनोभूमि को जान-पहचान कर समग्र कृति का आकलन करे अथवा लेखक और पाठक के बीच से हट जाय।

इस दिन की पूर्वाह्न की बैठक के लिए प्रस्तावित अध्यक्ष विश्वभारती के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० रामसिंह तोमर के न आने के कारण कश्मीर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० रमेश कुमार शर्मा ने अध्यक्ष पद सँभाला। विषय का परिचय देते हुए संचालक डॉ० विजयशंकर मल्ल ने कहा कि समीक्षक का दायित्व पाठक की आस्वाद योग्यता और साहित्यिक अवबोध को बढ़ाना तथा जीवन के संदर्भों में कृति का मूल्यांकन करना है। विषय का विस्तृत प्रतिपादन करते हुए कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल ने 'दायित्व' की अपेक्षा 'कार्य' को ज्यादा सही शब्द ठहराया और आलोचना के तीन सोपानों—आस्वादन, विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन पर जोर देते हुए कहा कि समकालीन समीक्षा में अपनी-अपनी प्रवृत्तियों और प्रतिबद्धताओं को आरोपित करने से शिविर बन्दी बढ़ने लगी है।

बहस चालू करते हुए डॉ० महेन्द्रनाथ राय ने रचना और आलोचना के बीच बढ़ती हुई दूरी और असम्बद्धता को स्पष्ट करते हुए दोनों में सम्वाद की जरूरत पर जोर दिया। डॉ० गोपालनारायण मिश्र का आरोप था कि आज का आलोचक कुछ तो परिस्थितियों के कारण और ज्यादातर अपनी वासना से अभिभूत होकर अपना दायित्व भूल गया है। डॉ० जनार्दन उपाध्याय की राय थी कि प्राचीन मानदण्डों की परम्परा में ही आलोचना के नये मानदण्ड स्थापित किये जाने चाहिए।

डी० ए० वी० डिग्री कालेज के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० शितिकंठ मिश्र को यह बात खल रही थी कि अधिकांश वक्ता विश्वविद्यालयीय आलोचना और अध्यापक आलोचकों पर कुछ छींटाकशी करने के बाद ही अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं। इसलिए विषय को छोड़कर उन्होंने रक्षात्मक मोर्चा बनाया और विश्वविद्यालयीय शोध प्रबन्धकों के रूप में चालू आलोचना को उचित और सन्तोषप्रद ठहराया। उधर बेलाग बात करनेवाले दढ़ियल युवक विजयकुमार बोहरा ने गोष्ठी में चल रहे निबन्ध पाठों और एक पक्षीय प्रवचनों के उद्देश्य पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया। उनका विचार था कि आज का आलोचक केवल पाठकों को भटका रहा है जब कि बात साफ हो गयी है कि समग्र रूप में रचना को सही-सही शैली विज्ञान समीक्षा प्रणाली द्वारा ही व्याख्यायित किया जा सकता है।

सभी विचारों को समेटते हुए बैठक के अध्यक्ष डॉ० रमेशकुमार शर्मा ने मूल्यांकन में पुरानी मान्यता के 'शिव' (लेखक, पाठक और समाज के कल्याण) पर जोर दिया, "आलोचना का मुख्य कार्य जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में कृति का मूल्यांकन करना और कृतिकार का दिशा निर्देश करना है। लेकिन आज की हिन्दी समीक्षा में कान पकड़कर

रचनाकार को अपने सिद्धान्तों की लकीरों पर चलाने का प्रयास किया जा रहा है, निर्देशन का दायित्व बहुत कम निभाया जा रहा है।

अजीब बात यह भी हुई कि युवा विचारक डॉ० राजेन्द्र उपाध्याय को जहाँ बहस में शामिल किया जाना चाहिए था, वहाँ उन्हें धन्यवाद देने की औपचारिकता सौंप दी गयी।

अपराह्न की बैठक में विषय का प्रवर्तन मैसूर विश्वविद्यालय के डॉ० राजेश्वरैया ने किया। अपने वक्तव्य में उन्होंने कवि-कर्म और समीक्षा-कर्म दोनों को समानधर्मा माना और कहा कि सफल आलोचक वही है जो साहित्यिक कृति में जीवन की व्याख्या के स्वरूप की खोज करता है और व्यक्तिगत अथवा गुटगत पूर्वग्रहों से मुक्त तथा पूर्णतः निःसंग होकर कृति की समीक्षा करता है।

डॉ० शम्भूनाथ पाण्डेय ने बहस शुरू की और दायित्व को सामाजिक परिप्रेक्ष्य से जोड़ते हुए कहा कि समीक्षक की समर्थता रचनाकार की त्रासदी और उसके सामाजिक परिवेश को आत्मसात कर अपना निर्णय देने और नयी कृति को नयी भूमि पर स्थापित करने में है। युवा वक्ता कुमार पंकज ने एक निबन्ध लिख रखा था जिसमें झूठ या सच यह दिखाया गया था कि आलोचक और यहाँ के वक्ता किस तरह दूसरे लेखकों के बयानों की चोरी करते हैं। पंकज ने समसामयिकलेखन के सन्दर्भों से समीक्षक के पलायन तथा नये वैज्ञानिक प्रतिमानों की स्थापना का विरोध करते हुए कहा कि आज का लेखक निर्धारित प्रतिमानों को लांघ कर ही लिखता है।

डॉ० शम्भूनाथ त्रिपाठी ने विषय से अपरिचित विद्वानों के साथ चल रही गोष्ठी की सार्थकता पर सवाल तो उठाया, लेकिन विषय से स्वयं के परिचय का कोई खास संबूत नहीं दिया। बहरहाल उनका विचार था कि आज के लेखन का मूल्यांकन इस लेखन को प्रभावित करनेवाली सामाजिक और राजनीतिक प्रतिबद्धताओं के विश्लेषण के बिना सम्भव नहीं है।

इस बैठक के अध्यक्ष थे काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० केशवप्रसाद सिंह जिन्होंने व्यवस्था दी कि आज की हिन्दी समीक्षा की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि समीक्षक अपना पूर्वग्रह लादने के लिए कटिबद्ध है, वह साहित्य या समीक्षा से प्रतिबद्ध नहीं है, इसीलिए समीक्षा कभी तो रचना से बहुत आगे निकल जाती है और कभी रचना के बहुत पीछे लटक जाती है, जब कि जरूरी यह है कि समीक्षा साहित्यिक रचना के साथ चले या समानान्तर चले।

बैठक का संचालन डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल ने और धन्यवाद प्रकाश का कार्य हिन्दी विभाग के छात्र अरविन्द कुमार चतुर्वेदी ने किया। इस बैठक के कुछ जल्दी में समाप्त किये जाने का कारण यह था कि पांच बजे शाम से नगर छात्र निकाय की ओर से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की अध्यक्षता में नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र की जयन्ती का आयोजन किया गया था जिसमें अतिथि विद्वानों को भी शामिल होना था।

भारतीय काव्यशास्त्र : आधुनिक संदर्भ में

परिचर्चा गोष्ठी के छठें दिन आधुनिक संदर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र की सार्थकता और प्रासंगिकता पर विचार किया गया। पहली बैठक में वल्लभ विद्यापीठ गुजरात के डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने विषय की प्रस्तुति में जो निबंध पढ़ा उसमें बेलौस और बेलाग तौर पर बात नहीं कही गयी; फिर भी आधुनिक रचनात्मक, अध्ययन-अनुसंधान, समीक्षात्मक और आधुनिक संवेदनाओं-अपेक्षाओं के संदर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र अपने दोनों दायित्वों को नहीं निभा पा रहा है। इसके कई कारणों में एक यह भी है कि भारतीय काव्यशास्त्र में आनन्दवादी तथा सौंदर्यवादी मूल्यों का विकास तो हुआ है। पर आज की संवेदना जिस बोधवादी और जनवादी मूल्यों का विकास चाहती है, उनके लिए भारतीय काव्यशास्त्र अपने को समर्थ नहीं बना पाया। यह काव्यशास्त्र परिवर्तन और विकास को प्रक्रिया से से नहीं जुड़ पाने के कारण आज भी सैकड़ों वर्ष पहले की लीक पर ही चल रहा है और आधुनिक संदर्भ में इसलिए भो निष्क्रिय हो गया है। अतः इस काव्यशास्त्र को जीवित तथा सार्थक बनाये रखने के लिए इसे विकासात्मक प्रक्रिया से जोड़कर जड़ता से मुक्त करने की आवश्यकता है।

बहस की शुरूआत के लिए डॉ० राधेश्याम को बुलाया गया या वे खुद आए, यह महत्व की बात नहीं थी, खास बात यही थी कि विषय पर बहस के लिए उनके पास कोई खास बात थी ही नहीं-सिवा इस सुझाव के कि आधुनिक संदर्भ में अव्यावहारिक और नकार बन गए भारतीय काव्यशास्त्र को एकदम खारिज न किया जाय, बल्कि उसे इस रूप में विकसित किया जाय कि वह आधुनिक रचना की समीक्षा में सार्थक हो सके।

उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद के डॉ० राजकिशोर पाण्डेय का कहना था कि कवि कर्म के लिए काव्यशास्त्र का आधार कभी नहीं रहा है, इसलिए काव्यशास्त्र के आधार पर आज की मान्यताओं को पहचानने का प्रयास ही असंगत है। देखना यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र युगधर्म को निभा पा रहा है या नहीं। इसमें बात इतनी ही है कि भारतीय काव्यशास्त्र का विकास एक विशेष युग धर्म के साथ हुआ। बीसवीं सदी में वह युग धर्म तो परिवर्तित हो जाय, लेकिन भारतीय काव्यशास्त्र वहीं छोड़ दिया गया। लेकिन इस काव्य-शास्त्र के लिए जो सिद्धांत और प्रणाली अपनायी गयी वह पाठक, आलोचक और अध्यापक के लिए अब भी उपयोगी है और आधुनिक कविता को समझने में भो बहुत उपयोगी है और आधुनिक कविता को समझने में भी बहुत उपयोगी हो सकता है। अतः भारतीय काव्यशास्त्र कूड़ा समझकर फेंक देने योग्य नहीं है। निराशा, अनास्था और कुंठा के काव्य को काव्य की परिधि में रखना युक्ति संगत नहीं।

स्पष्ट है कि इस तरह का तर्क रहित निर्णय देना जड़तावादी शास्त्र के प्रति विशेष मोह का ही परिचायक है। इसके विपरीत डॉ० भोलाशंकर व्यास ठोस तर्क और गंभीर अध्ययन-चिंतन के साथ बहस में आये, "मेरा अनुरोध है कि भारतीय काव्यशास्त्र को संस्कृत काव्यशास्त्र का पर्याय न माना जाय। संस्कृत काव्यशास्त्र पंडितराज जगन्नाथ से रीतिकाल

की कविता तक तो कुछ हद तक लागू हो सकता है, किंतु भारतेंदु से आजतक के साहित्य पर तो उस काव्यशास्त्र को लागू नहीं किया जा सकता। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिस कड़ी को लिया और डॉ रामविलास शर्मा ने जिसे आगे बढ़ाया वहीं से हमें भारतीय काव्यशास्त्र का विकास मानना चाहिए। फिर भी मेरा अनुरोध है कि नयी पीढ़ी भी प्राचीन मूल ग्रंथों को पढ़े, उनकी खामियों को संकेतित करे। काव्यशास्त्र के दो पक्ष होते हैं—सिद्धांत पक्ष या चिंतन पक्ष और विश्लेषण अथवा प्रायोगिक पक्ष। इसमें दूसरा पक्ष देश-काल के साथ परिवर्तित होता है, लेकिन चिंतन या दर्शन का पक्ष कभी पुराना नहीं पड़ता। अतः उससे जुड़े रहने की सिफारिश मैं करता हूँ। दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि लक्ष्यग्रंथ (रचना) पहले रहती है और लक्षण ग्रंथ (काव्यशास्त्र) बाद में बनते हैं। रचनाकार की चयन और संगुंफन वृत्ति समीक्षा नहीं है। रचना के क्षण में वह रचनाकार है। समीक्षक वह बाद में हो सकता है। ...... मुझे ग्यारह-बारह वर्ष पहले का एक प्रसंग याद आता है। एक गोष्ठी में डॉ० जगदीश गुप्त (प्रयाग विश्वविद्यालय, सुपरिचित कवि, समीक्षक एवं चित्रकार) ने मुझे ऐसी परिस्थिति में डाल दिया कि मुझे रस-सिद्धांत का विरोध करना पड़ा जो इस सिद्धांत के पक्षधर डॉ० नगेंद्र को नहीं भाया। उन्होंने कहा, 'तुमने तो संस्कृत भी पढ़ा है, तुम ऐसा क्यों कहते हो ?' मैंने जवाब दिया, 'इसीलिए कि मैंने संस्कृत भी पढ़ी है (असलियत से वाकिफ हूँ)। वही बात मैं यहां भी कहता हूँ कि रस सिद्धांत छायावाद की कविता तक आंशिक रूप में ही लागू होता है, बाद के संपूर्ण साहित्य पर तो पुराना काव्यशास्त्र एकदम लागू नहीं हो सकता। पुराने काव्यशास्त्र में भी कई विरोधाभास हैं, मम्मट और कुंतक के पारस्परिक विरोध को लिया जा सकता है। दोनो में किसकी बात मानी जाय ? वास्तविकता यह है कि मेरे लिए प्रमाण न मम्मट हैं, न कुंतक और न अभिनव गुप्त। मैं स्वयं अपनी रचना और अपने काव्यशास्त्र का प्रमाण हूँ। जहाँ तक कविता की बात है, आज की कविता आस्वाद नहीं कराती, हमारी मेधा को झकझोरती है, उसे रसवाद के मानदंड से कैसे परखा जा सकता है ? हमें तो उसे छात्र बनकर ही समझना है और उसके लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल की तरह भारतीय-पाश्चात्य-सामंजस्य के जरिये नयी शब्दावली का विकास करना है। अब कृति के संपूर्ण प्रभाव को लेकर चलने का समय है और आवश्यकता इस बात की है कि हम एक ऐसा विश्वजनीन मानदंड बनायें जिससे समकालीन विश्वसाहित्य को परख सकें क्योंकि आज का भारतीय साहित्य कोई अलग-थलग चार दीवारों का साहित्य नहीं, बल्कि वह विश्वसाहित्य के साथ अथवा समानान्तर है।"

इस निर्णायक विश्लेषण के बाद भी बहस चली और विश्वविद्यालय की एक मात्र युवा महिला विचारक डॉ० पुष्पा अग्रवाल सामने आयीं और जो कुछ 'आधुनिक' है उसे भ्रामक शब्दजाल करार देते हुए (हालांकि बहस में उनका शामिल होना भी आधुनिक था) रसवाद के आधार पर डॉ० नगेन्द्र द्वारा व्याख्यायित 'अभिनव रसवाद' पर एक अप्रासंगिक निबंध पढ़ गयीं जिसे डॉ० नगेंद्र की प्रशस्ति में एक लम्बा अभिनंदन पत्र कहना ज्यादा सही है। इसी प्रकार एक निबंध हृदयपाल सिंह ने भी पढ़ा। श्रोताओं की बोरियत

तब टूटी जब युवा विचारक डॉ० राजेन्द्र उपाध्याय ने प्राचीन काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक क्रम को सामने रखते हुए जानदार भाषा में उसकी खबर ली, "आधुनिक संदर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र की बात बाप को सिर चढ़ाने जैसी बात है। मेरे विचार से भरत का 'रस' अतींद्रीय और ब्रह्मानन्द सहोदर नहीं था, वह भौतिक महत्व की चीज थी, क्योंकि उनके सामने रंगमंच का यथार्थ था। बाद मे मम्मट तक शास्त्रीय विवेचन से उसे अतींद्रिय बना दिया गया और विवेचन की भाषा जनजीवन से कट कर सामंती व्यवस्था की वाटिका बनी। संस्कृत बुद्धि विलास की वही भाषा रही है। मध्यकाल में नया पैंतरा लिया गया जब आचार्य और कवि दोनों लक्ष्य तथा लक्षण दोनों बाँटते रहे, वाग्छल करते रहे। वहीं से यह परम्परा चली कि काव्यशास्त्री स्कूल प्रवन्ध पर बैठकर नायिका भेद समझाता रहा और जनता को बरगलाता रहा। आधुनिक युग में उस परम्परा के पक्षधर भी वही कर रहे हैं। इन षड्यंत्रों का पता तब चला जब आज के सजग रचनाकार ने इस परम्परा की खिलाफत की।"

डॉ० उपाध्याय को संभवत: डॉ० पुष्पा के प्रशस्ति पत्र से नाराजगी थी, लेकिन डॉ० उपाध्याय की बात भी शायद डॉ० विजयपाल सिंह के लिए कुछ कड़वी थी। इसलिए उन्होंने हस्तक्षेप के लहजे में कुछ कह देना जरूरी समझा, "ऐसी हठ धर्मिता छोड़ दी जानी चाहिए कि जो पुराना है वह सबका सब बेकार है और जो नया है वह सबका सब अच्छा है। आधुनिकता शब्द सापेक्ष है......पर मैं समन्वयवादी हूँ।"

अध्यक्ष पद से दिल्ली विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष डॉ० उदयभानु सिंह ने व्यवस्था दी कि भारतीय काव्यशास्त्र में पूरी तरह जड़ता नहीं है, वह प्रगतिशील भी रहा है। साहित्य-शास्त्र का उद्देश्य समाजवादी और व्यक्तिवादी सिद्धान्तों को परखना ही नहीं हैं। साहित्य-लोचन समीक्षक द्वारा पाठक को दी गयी दृष्टि है। भारतीय काव्यशास्त्र ऐसी दृष्टि देता है, भले उसके बहुत से तत्व आज निरर्थक हो गये हैं। इसलिए भारतीय काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या और अभिनव गुप्त के साधारणीकरण जैसे ग्राह्य तत्वों को ग्रहण करने की आवश्यकता है। इलियट, सार्त्र, कामू आदि विदेशी विचारकों के सिद्धान्तों को ज्यों के त्यों स्वीकार करने के बजाय हमें प्रस्तुत साहित्य और परम्परागत सिद्धान्त के आधार पर अपना सिद्धान्त कायम करना चाहिए, क्योंकि प्राचीन सिद्धान्तों के देश-काल बदल गए है, पर भारतीय काव्य-शास्त्र ने मानव मन की जिन मूल वृत्तियों को परखा था, वे आज भी ज्यों की त्यों हैं। इस बैठक के अन्त में डॉ० सूर्यनारायण द्विवेदी ने धन्यवाद प्रकाश किया।

अपराह्न की बैठक में विषय का प्रवर्तन आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र करने वाले थे, पर उनके न आने पर डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने यह बीड़ा उठाया। उनका कहना था कि भारतीय काव्य शास्त्र के शाश्वत पक्ष को नकारने का सवाल नहीं है। लेकिन उसका व्याव-हारिक पक्ष काल सापेक्ष है जो अब उसी रूप में काम नहीं दे सकता, "वह काव्यशास्त्र नागरजन को सम्बोधित था, वह ग्राम्यदोष को 'दोष' मानता था, जब कि मध्ययुग से आज तक की कविता साधारण जन को सम्बोधित है और ग्राम्य दोष आज का एक अलंकार हो गया है। वह काव्यशास्त्र वहीं छूट जाता है जहाँ मधुसूदन सरस्वती 'भक्ति रसायन' सामने रखकर संस्कृत काव्यशास्त्र का अतिक्रमण करते हैं और मध्ययुगीन संवेदना को उजागर करते

हैं। काव्यशास्त्र की वस्तुवादी दृष्टि आज भी मूल्य रखती हैं। भाषिक यथार्थ के युग में प्रासंगिक भाषा का अर्थ होता है, सामाजिक यथार्थ नहीं। इसी पीठिका पर ध्वनि संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय भी आते हैं। सिद्धान्त रूप में यह दृष्टि आज भी प्रासंगिक है, लेकिन उसके साँचे में परिवर्तन हुआ है, परिवर्तन अपेक्षित भी है। नवीन औचित्य का निर्धारण पुरानी कोटियों से सम्भव नहीं है, इसके लिए नयी कोटियाँ बनानी होंगी। जहाँ मूल उद्देश्य की बात है, कहा गया है कि 'कवि सहृदयक्षमतत्व: विजयते' कवि और सहृदय का तादात्म्य होना चाहिए। इस उद्देश्य के स्तर पर उस काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता में कोई कमी नहीं आई है। लेकिन अधिक सार्थक है भाषिक दृष्टि। भाषा यह साफ कर देती है कि उसका प्रयोक्ता वस्तुतः सामाजिक है या नकली सामाजिक है। भाषिक संरचना सामाजिकता की उपेक्षा नहीं करती। किसी सिद्धान्त से भाषा नहीं सीखी जा सकती, पहले भाषा ही सीखनी होगी, उसके माध्यम से ही सिद्धान्त सीखा जा सकता है। इस भाषिक दृष्टि का संकेत सूक्ष्म स्तर पर देकर भारतीय काव्यशास्त्र हमारे भीतर एक बहुत बड़े मूल्यबोध को जगाता है जिससे हम एक पूर्ण साँचा बना सकते हैं। आज का समीक्षक उन व्यवस्थित साँचों में विश्वास नहीं करता। फिर ये साँचे इतनी तेजी से नहीं बदलते जितनी तेजी से कविता आगे बढ़ती है। एक साँचा बनते-बनते कविता उस साँचे को तोड़कर आगे बढ़ जाती है। भाषिक साँचे के लिए यह खतरा नहीं है।"

मतलब यह कि भारतीय काव्यशास्त्र की वस्तुवादी दृष्टि को भाषा के स्तर पर ग्रहण कर डॉ० विद्यानिवास मिश्र भाषिक संरचना के काव्यशास्त्र को विकसित करना चाहते हैं। यहीं डॉ० रामनारायण शुक्ल ने आरोप लगाया कि पंडित जी ने विषय प्रस्तुत करने में थोड़ी कठिनाई पैदा कर दी है, क्योंकि उन्होंने आधुनिक संदर्भ को विश्लेषित नहीं किया, "आधुनिक दृष्टि की चर्चा करते समय हमें डार्विन के विकासवाद और आइन्स्टीन के सापेक्षवाद को ध्यान में रखना चाहिए। आज की दुनिया पुरानी दुनिया के मुकाबले एकदम नयी माँगें करने लगी हैं। विचारों की टकराहट और अंतर्राष्ट्रीय चेतना आधुनिक संदर्भ के मुख्य कारक हैं। भारत में यह प्रक्रिया अंग्रेजी शासन काल में शुरू हुई। साम्राज्यवादी चेतना और राष्ट्रीय चेतना के संघर्ष में हमारी आधुनिक चेतना बनी। अफसोस की बात यह है कि इस चेतना के साथ हमने जब एक सामाजिक अथवा जनवादी साहित्यशास्त्र की जरूरत महसूस की तो पूँजीवाद के उस ह्रासोन्मुख काल में, अन्तर्राष्ट्रीय चेतना के पतझड़ के रूप में अज्ञेयवादी चेतना का प्रचार किया गया और साहित्यशास्त्र फिर भटक गया।"

अबकी बारी थी आर्य महिला महाविद्यालय के डॉ० परमहंस के निबन्ध पाठ की। लेकिन संचालक डॉ० बच्चन त्रिपाठी ने जब उनसे मौखिक रूप से ही विचार व्यक्त करने को कहा तो जैसे उन्हें पक्षाघात हो गया हो, वे लड़खड़ाते नजर आने लगे। जैसे-तैसे दो-चार वाक्य बोलकर उन्होंने अपने परंपरागत मूल्यों से जुड़े रहने का सुझाव दिया।

डॉ० रामनरेश वर्मा ने अपने निबन्ध में धूमिल तथा मुक्तिबोध के उद्धरण तथा अज्ञेय की 'सोन मछली' कविता सामने रखते हुए आधुनिक रचना के लिए सापेक्ष समाजवादी, प्रयोगवादी और रूपवादी समीक्षा को अनुपयुक्त और आनन्दवादी समीक्षा को उचित

ठहराया। शोधछात्र श्री नकछेद राम ने अपने लेख में कहा कि रचना की नब्ज पकड़ने में आलोचना हमेशा पीछे रही है और आज भी है, भारतीय काव्यशास्त्र तो और पीछे का इतिहास बन चुका है। शोधछात्र अवधेश प्रधान ने गहरे अध्ययन और चिन्तन का परिचय देते हुए कई तर्क देकर रससिद्धांत का आज भी काव्य संमीक्षा के लिए समर्थ दृष्टिकोण बताया। आर्य महिला महाविद्यालय के डॉ० कपिलदेव पांडेय ने भी भारतीय काव्यशास्त्र को प्रासंगिक माना। डॉ० बब्बन त्रिपाठी का कहना था कि कोई भी काव्यशास्त्र महान नहीं होता, महान उसे उपयोग में लाने वाला व्यक्ति होता है। दूसरी ओर काव्यशास्त्र को जीवंत और समर्थ बनाये रखने के लिए लीक तोड़कर बाहरी सिद्धांतों से सामंजस्य भी करना होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यही महानता थी जिन्होंने सिद्ध कर दिखाया कि कोई भी काव्यशास्त्र समर्थ आलोचक के हाथ में पड़कर ही युगीन संदर्भों से जुड़ता है।

इस बैठक के अध्यक्ष थे संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के उप-कुलपति पं० करुणापति त्रिपाठी। उन्हें भी भारतीय काव्यशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष में किसी तरह के जोड़-तोड़ से कुछ लेना-देना नहीं था। उन्होंने यह तो माना कि व्यापक स्तर पर आलोचना का मानदंड निर्धारित करना होगा, पर यह मानदंड उस काव्यशास्त्र में से निकालना होगा जिसे आज के विचारक निरर्थक, जड़ और निर्जीव मानते रहे हैं, क्योंकि "भारतीय काव्यशास्त्र गतिशील और अनेकायामी रहा है। लोक-कल्याण और औचित्य उसके आधार हैं जिन्हें कभी भी छोड़ा नहीं जा सकता।" इस बैठक के धन्यवाददाता डॉ० विजयशंकर मल्ल थे।

समापन : सार्वभौम मानदंड के लिए

समीक्षा संगोष्ठी के अन्तिम दिन २३ दिसम्बर को इस बात की कोई जरूरत महसूस नहीं की गयी कि पिछले छः दिनों में प्रस्तुत विषयों और विचार बिन्दुओं को सरसरी तौर पर एक बार दुहरा दिया जाय ताकि श्रोता कुछ लेकर जाँय। यह समापन समारोह था जिसके संचालक डॉ० महेन्द्रनाथ दूबे ने शुरू में ही कह दिया कि साहित्य की आलोचना दृष्टि देती है, टीका-टिप्पणी आलोचना नहीं है।" शायद इस आखिरी मुहावरे के कारण ही मुख्य वक्ता आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के दिमाग में एक बहम पैदा हो गया कि नये समीक्षक समीक्षा को ही हटाने पर तुले हुए हैं। हर आचार्य एक बहम लेकर चलता है। आचार्य जी टीका-टिप्पणी से ही चालू हो गए, "टीका-टिप्पणी सुई लगाना नहीं है। यदि आलोचक टीका-टिप्पणी नहीं करेगा तो आलोचना क्या करेगा? टीका-टिप्पणी अनिवार्य है, परम अपेक्षित है, बिना इसके काव्य के वास्तविक रहस्य को नहीं समझा जा सकता।....

भारतीय परम्परा समीक्षा को एक दृष्टि के रूप में स्वीकार करती है। अगर केवल रचनाकार है, समझने वाला समीक्षक नहीं है तो सब कुछ बेकार है। समीक्षक ही है जो कवि की दृष्टि को देखता है, अपनी दृष्टि से देखता है। उसमें दोहरी दृष्टि होती है और वह अपनी दृष्टि से निर्णय देता है।" इसी बात को देर तक फेंटते रहने के बाद चेतावनी देते हुए आचार्य जी ने अपना बहम जाहिर किया, "अगर समीक्षा गयी तो ज्ञानही चला जायेगा।"

शुक्र है आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जिन्होंने बुरी तरह उत्तरते हुए श्रोताओं को

उवारा। प्रारम्भ में उन्होंने अपने पूर्व वक्ता के लिए एक व्यंग्योक्ति रखी, जो कि उनकी वक्तृत्व कला की विशेषता है, "इच्छा तो मेरी भी थी कि कोई मंगलाचरण करूँ, पर जो कुछ सोचा था वह पंडित जी कह गए। सात दिन के भाषण सुनकर आपके दिमाग में कुछ गड्ड-मड्ड, कुछ विभ्रम हो गया होगा, अतः आप लोग थोड़ी दया के भी पात्र हैं, पर मैं जो कुछ कहूँगा उससे कुछ विभ्रम और बढ़ जायेगा।"

हँस-मुस्कराकर श्रोता जब कुछ हल्के हो गये तो डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने वह सारगर्भित अध्यक्षीय भाषण शुरू किया जो सबका सब स्वीकार कर लेने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। भाषण का सार-संक्षेप यह है :

"ग्रंथ पढ़ने से अपने पर पड़े प्रभाव को ही समीक्षक सामने रखता है।......भारतीय काव्यशास्त्र की दो ऐतिहासिक त्रुटियाँ हैं, (१) यह मध्ययुग की उपज है, जब लोगों ने यह मान लिया था कि जो कुछ अच्छा था वह प्राचीन आचार्यों ने लिख दिया है, हम केवल टीका और भाष्य कर सकते हैं। इस जकड़ी हुई मनोवृत्ति ने प्रचार तो किया लेकिन उस काव्यशास्त्र को जड़ भी बना दिया। (२) यह भारतीय काव्यशास्त्र जब अपने विकास के चरम उत्कर्ष पर पहुँचा तभी हमारी परंपरा ही टूट गयी और हम भूल गए कि हमारा अपना कुछ था भी। परंपरा केवल कुछ जड़तावादी पंडितों के हाथ में रह गयी और शिक्षा-दीक्षा, पठन-पाठन-की धारा से कट गयी। पश्चिम की शिक्षा के साथ ही यहाँ वहीं की काव्य-समीक्षा दृष्टि भी आगे बढ़ गयी। भारतीय काव्यशास्त्र हमारे सामाजिक ऐतिहासिक विकास का अंग नहीं बन पाया। फिर सैकड़ों वर्षों बाद, वह भी अंग्रेजी दृष्टि से हो हमने जाना कि यहाँ कवि-कर्म और समीक्षक-कर्म के लिए एक निश्चित शास्त्र रहा है। लेकिन उस शास्त्र को इतने लंबे अंतराल के बाद आधुनिक काव्य पर लागू करना न तो उचित था और न संभव। जो कुछ किया जा सकता है वह इस अवधि में प्राप्त नयी समीक्षा-दृष्टि और परंपरागत समीक्षा दृष्टि में समन्वय के सिवा कुछ नहीं हो सकता।

समीक्षा में आधुनिक युग की एक बड़ी देन पाठालोचन है। समीक्षक से यह माँग करना कि वह रचना और रचनाकार के बारे में सब कुछ कह दे, ठीक नहीं है। बड़े-बड़े टीकाकारों और आलोचकों से भी बहुत कुछ छूट जाता है। समीक्षा में अपनाये जाने वाले विभिन्न अनुशासनों से भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। भिन्न-भिन्न अनुशासन पहले भी रहे हैं, भविष्य में भी रहेंगे। लेकिन काव्य के लिये जो सार्वभौम सिद्धांत बनेंगे। उनमें (१) शब्द और अर्थ (भाषा तत्व) की चर्चा होगी, (२) कुल मिलाकर बनने वाले संपूर्ण प्रभाव को महत्व दिया जायेगा, जो कि बोध और अनुभूति का विषय है। छंद और वचन भंगिमा भी उसमें रखी जा सकती है। अन्त में मैं कहना चाहता हूँ कि समालोचक होने की अपेक्षा सहृदय होना और पाठक को सहृदय बनाना ज्यादा जरूरी है।"

अन्त में कुलपति के सलाहकार श्री के० एल० जोशी ने आयोजकों के सामने एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखा, "मैं चाहता हूँ कि इस विश्वविद्यालय में साहित्य के शाश्वत मानदंड पर ही एक गोष्ठी हो। मैं आयोजक लोगों पर भार डालता हूँ कि ऐसी गोष्ठी करायी जाय जिसमें संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के साहित्यकार और समीक्षक मिलकर काव्य के शाश्वत मानदंड पर विचार करें।" प्रस्तुतकर्ता—वशिष्ठ मुनि ओझा

●

तुलसी संदर्भ और समीक्षा

अधिकांश निबन्ध पूर्णतः मौलिक और गवेषणात्मक है। इनसे तुलसी-साहित्य के अध्ययन के अनेक आयाम तो उद्घाटित हुए ही है, साथ ही नयी व्याख्याओं के द्वारा उनके अनेक अब तक अनबूझे पत्र भी उजागर होकर सामने आ सके हैं। सम्पूर्ण ग्रंथ संकलन-ग्रंथ होते हुए भी अपने शीर्षक के अनुरूप एकान्वित और समग्र रूप ग्रहण करने में सफल रहा है।

डॉ० टी० नरसिंहाचारी

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, श्री वेंकेटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति

इस ग्रंथ में चिन्तन की अनेक परम्पराएँ, भाषा की अलग-अलग शैलियाँ, लोक और शास्त्र के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण और समीक्षा की विकसित और विकासमात्र बहुविध पद्धतियाँ गोचर होती है।

श्रीराम वर्मा

प्राध्यापक, डी० ए० वी० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़

तुलसी के संदर्भ में प्रायः सभी पहलुओं पर विचार किया गया है। प्रत्येक पहलू पर विद्वानों के लेख सचमुच सराहनीय है।

डॉ० बालमुकुन्द

हिन्दी विभाग, सेण्ट एण्ड्यूज स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोरखपुर

'तुलसी संदर्भ और समीक्षा' सचमुच बहुत महत्वपूर्ण संकलन है।

डॉ० धर्मवीर भारती

सम्पादक, धर्मयुग (साप्ताहिक)

'तुलसी : संदर्भ और समीक्षा' हिन्दी का बेजोड़ एवं अनूठा ग्रंथ है। इससे एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति होती है।

डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, दयानन्द महाविद्यालय, आजमगढ़

तुलसी पर ऐसी सर्वांगपूर्ण रचना सुरुचिपूर्ण कलेवर में इससे पूर्व देखने में नहीं आई।

विष्णुदत्त राकेश

गुरुकुल विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गोस्वामी तुलसीदास के विराट् व्यक्तित्व के अनुरूप पहली बार विराट् आयोजनों से समुद्भूत विराट ग्रंथ प्रकाशित हुआ है।

डॉ० वचनदेव कुमार

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची

ग्रंथ में तुलसी के मूल्यांकन की नयी संभावनाएँ भी बनी है।

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव

हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

मेरे विचार से मानस चतुश्शती के उपलक्ष्य में प्रकाशित ग्रंथों में आकार तथा प्रकार दोनों दृष्टियों से इसका स्थान अन्यतम है।

डॉ० भगवती प्रसाद सिंह

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

तुलसी के ऊपर एक अच्छा ग्रंथ हिन्दी जगत को उपलब्ध हो गया है जिसकी अधिकांश सामग्री उच्चस्तरीय है।

डॉ० प्रेम स्वरूप गुप्त, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय

यह एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है।

डॉ० हरि कृष्ण अवस्थी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

इस पुस्तक में सार्वदेशिक आधार एवं परिप्रेक्ष में तुलसी साहित्य की विवेचना एवं मीमांसा की गई है।

वासुदेव सिंह, भू० पू० अध्यक्ष विधान सभा, उ० प्र०

'तुलसी: संदर्भ और समीक्षा' प्रत्येक दृष्टि से महत्वपूर्ण एवं आकर्षक है।

प्रो० कल्याण मल लोढ़ा, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में तुलसी शोध संस्थान की यह प्रथम श्रेयस्कर उपलब्धि है।

पारसनाथ तिवारी हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतीय भाषाओं में उपलब्ध रामायणों के संबंध में विशद जानकारी इसके द्वारा प्राप्त होती है। यह प्रयास श्लाघनीय है।

प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी, हिन्दी विभाग, आन्ध्र विश्वविद्यालय

तुलसी साहित्य सम्बन्धी चिन्तनात्मक एवं शोधपरक महत्वपूर्ण निबन्धों का सुव्यवस्थित और सुचारु रूप में जो प्रकाशन किया उसके लिए मैं हिन्दी जगत, भारतीय हिन्दी परिषद् एवं अपने विश्वविद्यालय की ओर से विशेषतम् आभार प्रकट करता हूँ।

डॉ० जगदीश गुप्त, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

मानस ग्रंथ एक मानक प्रकाशन बन गया है।

आनन्द शरण रतूड़ी, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली

इसे तुलसी चिन्तन एवं तुलसी साहित्य के विविध पक्षों की आविष्कृति का "इन्साइ-क्लोपीडिया' कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

बाबू लाल गर्ग

अध्यक्ष–हिन्दी विभाग, जयदेव वैष्णव संस्कृत स्नातकोत्तर महाविद्यालय करवी (बाँदा) उ०प्र०

सभी लेख विचारपूर्ण एवं ज्ञानवर्द्धक हैं। मेरा विश्वास है कि इस ग्रंथ से सभी काव्य-प्रेमी लाभान्वित होंगे।

ठाकुर जयदेव सिंह

ग्रंथ के विषय में क्या लिखूँ। एकदम नूतन शैली से सुसंपादित, सुसज्जित और अति-शय स्पृहणीय। सामग्री अनुपम, अलभ्य, दुर्लभ और असाधारण।

डॉ० जी एन शुक्ला

भू० पू० अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़

तुलसी के संदर्भ में आपने जितनी मूल्यवान व महनीय सामग्री एकत्रित की है उतनी शायद ही अन्यत्र की गई हो।

डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा, निदेशक

'तुलसी : संदर्भ और समीक्षा' जैसी सभी दृष्टियों से अच्छी पुस्तक हिन्दी में मुझे अभी देखने को नहीं मिली।

डॉ० सुरेन्द्र सिंह, कुलपति, अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद

मोहभंग : बिसरते जीवनक्रम में नया मूल्य

रविकेश मिश्र
शोध छात्र, हिन्दी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय चिकित्सा विज्ञान संस्थान के रंगमंच पर खेले गये एकांकी 'मोहभंग' में कई ऐसे पहलू हैं जो इसे महत्वपूर्ण बनाते हैं। काशी के रंगमंच पर यह पहला एकांकी था जो बिना व्यावसायिक कलाकारों की सहायता और बिना किसी विख्यात रचनाकार की ख्याति की वैशाखी के सफल रहा।

'मोहभंग' आज के इस आस्थाहीनता के दौर में टूटते-टूटते बच गया-सा एक आदर्श है और उसपर ठहरे हुए करार की दोप शिखा है। प्रारम्भ से समाप्ति के कुछ पहले तक कई बार सामाजिक रूढ़ि (दहेज-प्रथा) की धार पर हमारी सभ्यता और उसका तथाकथित महान आदर्श बिखर-बिखर जाता रहा, किन्तु समाप्ति के प्रति, बल्कि यह कहा जाय, अपनी मूलगत भावधारा के प्रति लेखक स्वयं संशयी हो जाता है—और एक निहायत हल्के विश्वास पर इस सामाजिक रूढ़ि को ध्वस्त कर देता है।

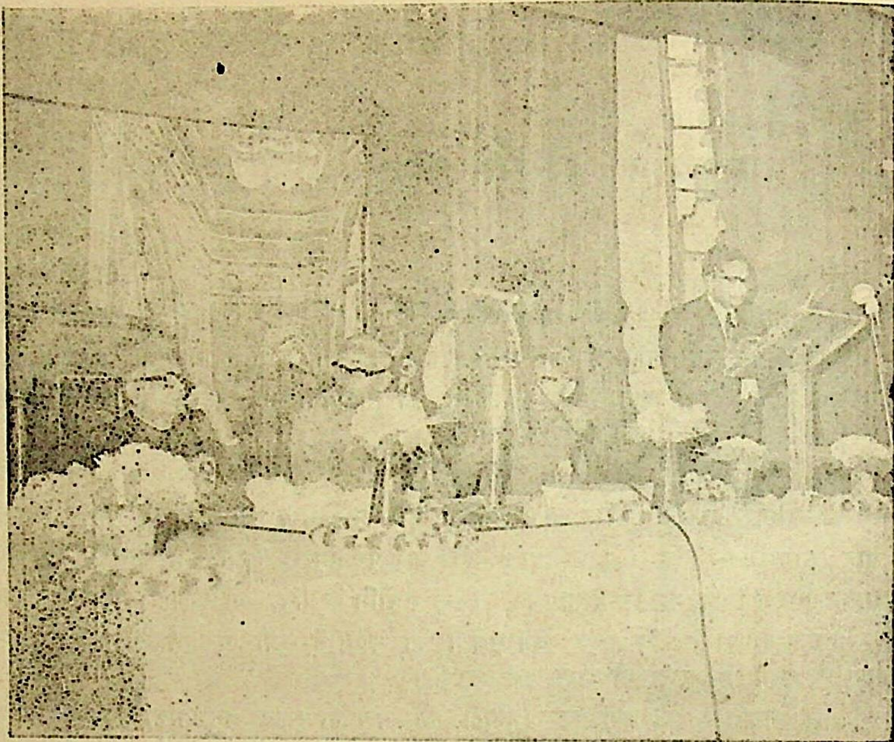
रचनाकार डा० कमलाकर त्रिपाठी को मंच का पुराना अनुभव है, अतः कथोपकथन में जो नाटकीयता, जो तारतम्य अपेक्षित होता है—उसका पर्याप्त निर्वाह किया गया है। एकांकी का भाषा निश्चित रूप से एक संस्कारवान परिवार की भाषा रही है। कथानक अपने छोटे कलेवर में भी अपना अभिप्रेत सम्प्रेषित कर सका है—यह उनकी रचना पटुता है। उड़िया फिल्मों के चर्चित अभिनेता डा० टी० एस० महापात्रा ने एकांकी के निर्देशन में फिल्मों के कतिपय गुणों का सफल समावेश कराया है। लीक से हटकर पात्रों का नाम स्लाइड पर दिखलाना सुन्दर और रोचक प्रयोग रहा। पात्रों के उच्चारण-क्षेत्र, तकनीकी साधनों की अपर्याप्तता, कम समय में अधिक शर्तों की ठूसम-ठूस से उत्पन्न किञ्चित विसंगति के बावजूद इस एकांकी के सफल प्रस्तुतीकरण का सर्वाधिक श्रेय अगर किसी को दिया जा सकता है तो वह है डा० महापात्रा का कुशल निर्देशन।

चूँकि नाटककार परिवेश और प्रसंग के तनाव और उससे उत्पन्न उतार-चढ़ाव को बखूबी जानता है, बल्कि रचना काल में ही उसे अपने भीतर भोग चुका होता है—अतः जब वह स्वयं अभिनय करता है तब सफलता की प्रायः अधिक सम्भावना रहती है। इस लिहाज से डॉ० कमलाकर त्रिपाठी का अंधे पिता का अभिनय, जिसने सारी जिंदगी निशुल्क संगीत शिक्षा दी हैं-और जिसके पास उसकी एकमात्र बेटी और उसके विवाह की समस्या है, काफी असरदार बन पड़ा है। विशेषतः उसका वह आवेशपूर्ण संवाद जिसमें उसमें उसके पिता रूप के साथ-साथ उसके कलाकार और उसका कला साधन को तिरस्कृत किया जाता है। शब्दों के उच्चारण के दृष्टिकोण से मंचपर वे एक सफल कलाकार थे।

'अलका' के रूप में 'पुष्पा' का अभिनय जिस स्वच्छन्दता की माँग करता था उतना नहीं मिला और हेमन्त के रूप में 'वाजपेयी' परिवेश से कम ही जुड़ पाये। न तो उन्होंने अपने चरित्र का रोमेण्टिक रूप ही प्रस्तुत किया और न अपने चरित्र का दृढ़ पक्ष ही दिखाया—जिसका अनपेक्षित प्रदर्शन उन्होंने एकांकी के अंतिम दृश्य में किया।

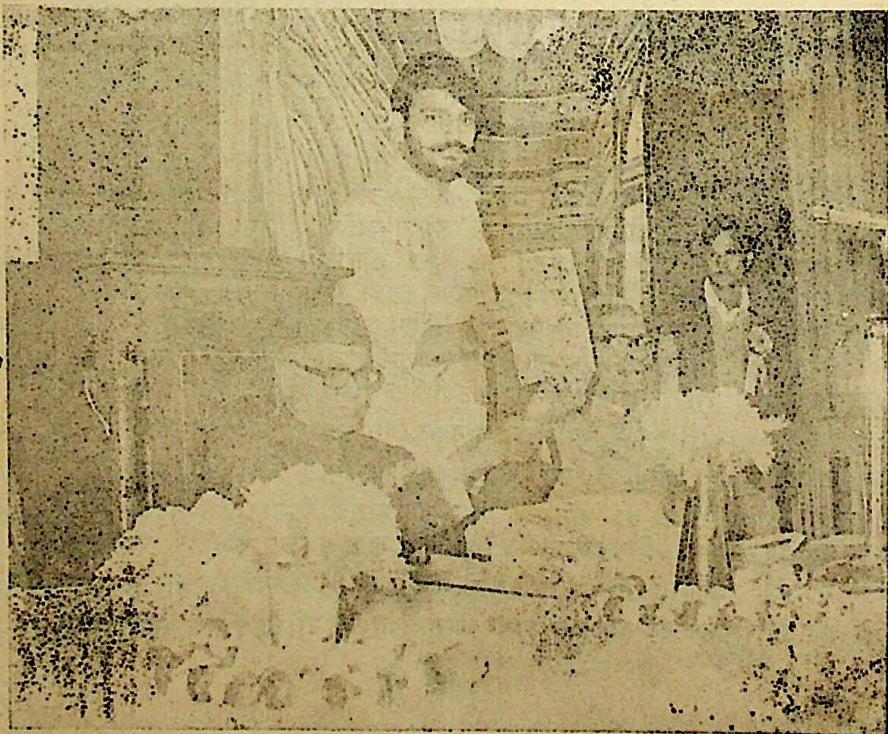
इसके बावजूद यह एकांकी अपने मूल्य' में काफी स्वच्छ है और कबीर, भारतेन्दु के बाद तीसरी बार बड़े साहस से काशी की मोक्षदायिनी गरिमा को नकारती है।

मानस चतुश्शती समारोह



बायें से दायें—सर्वश्री जयप्रकाश नारायण, डॉ० रामलोचन सिंह, डॉ० विजयपाल सिंह (अध्यक्ष हिन्दी विभाग) एवं डॉ० के पी० सिंह।

स्मारिका विमोचन



श्री जयप्रकाश नारायण से स्मारिका का विमोचन कराते हुये श्री अशोक कुमार पटेल (अध्यक्ष, पूर्वी निकाय) एवं डॉ० रामलोचन सिंह।

अपूर्व उपलब्धि—

मानस चतुश्शती समारोह

'निकाय' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित मानस चतुश्शती समारोह हिन्दी जगत के लिए ही नहीं वरन् राष्ट्रीय स्तर पर एक अपूर्व आयोजन था। यह आयोजन ७ से १० जनवरी ७४ को सम्पन्न हुआ।

इस समारोह का उद्घाटन सर्वोदयी नेता, भारत स्वतंत्रता संग्राम के अप्रतिम सेनानी श्री जयप्रकाश नारायण (जो अब लोक नायक) की अध्यक्षता में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा हुआ।

इस समारोह में कुल छः गोष्ठियाँ हुई। जिनके विषय ये थे—भारतीय जीवन का वर्तमान सामाजिक संदर्भ और मानस मूल्यों की सार्थकता, कथावाचकों की राजनीति और मानस के मूल्यांकन की समस्याएँ, युवापीढ़ी का मानस विराग और मानस चतुश्शती की प्रासंगिकता। इन विषयों पर दो पालियों में गोष्ठियाँ हुई। छठी और अन्तिम गोष्ठी समापन के रूप में सम्पन्न हुआ। इस परि-चर्चा गोष्ठियों में देश के अधिकांश विद्वान वक्ताओं ने भाग लिया।

इस समारोह में कुछ विशिष्ट विद्वानों को ताम्रपत्र से सम्मानित किया गया। उनके नाम हैं—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० शंकर राजू नाइडू (मद्रास विश्व-विद्यालय), डॉ० उदय भानुसिंह (दिल्ली वि० वि०) और डॉ० नामवर सिंह (जोधपुर वि० वि० अब ज० ने. वि० दिल्ली)।

इस समारोह की सफलता में डॉ० रामलोचन सिंह, डॉ० के० पी० सिंह, डॉ० विजयपाल सिंह डॉ० त्रिभुवन सिंह (संयोजक) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। छात्रों की भूमिका इस समारोह में जबरदस्त रहीं। विद्यार्थी भावना से प्रोत हो सभी ने काम किया। फिर भी छात्रों में विशेष उल्लेखनीय के पात्र थे—सर्वश्री छात्र संयोजक अशोक कुमार पटेल, मु० सलाहुद्दीन खाँ, अवधेश नारायण त्रिपाठी, इन्द्रमणि मिश्र।

इस समारोह में 'स्मारिका' का प्रकाशन हुआ। जिसका विमोचन जय प्रकाश जी ने किया।

इस समारोह के उपरांत ही तुलसी शोध संस्थान की स्थापना हुई। जिसमें तुलसी साहित्य पर शोध जारी है। इस संस्थान द्वारा डॉ० त्रिभुवन सिंह संपादित तुलसी; संदर्भ और समीक्षा प्रकाशित हुई। जो आज साहित्यिकों के लिए एक अनुपम ग्रंथ के रूप में साबित हुई।

—श्रद्धानन्द

'निकाय' वाचनालय



वाचनालय का उद्‌घाटन करते हुये डॉ० श्रीमाली (तत्कालीन कुलपति)। चित्र में दायें से सर्वश्री राजेन्द्र सिंह (अध्यक्ष, दक्षिण निकाय) चन्द्रगुप्त, डॉ० श्रीमाली, श्रद्धानन्द, अशोक कुमार पटेल अध्यक्ष, पूर्वी निकाय।

